समकालीन
हिन्दी
आलोचना

# समकालीन हिन्दी आलोचना

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ—रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं, इसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है। भारत में लेखन-कला का सम्भवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख।

नागार्जुन कोण्डा, दूसरी सदी ई.
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

# समकालीन हिन्दी आलोचना

सम्पादक
परमानन्द श्रीवास्तव

साहित्य अकादेमी

**Samkaleen Hindi Alochana** : Collection of critical writings in Hindi, edited by Parmanand Srivastava. Sahitya Akademi, New Delhi

PUBLIC LIBRARY
SL/R.R.R.L.F. NO
MR. NO. (R.R.R.L.F./ 53378

साहित्य अकादेमी

**प्रधान कार्यालय**
रवीन्द्र भवन, 35, फ़ीरोज़शाह मार्ग, नयी दिल्ली 110 001
**विक्रय विभाग** : स्वाति, मन्दिर मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

**क्षेत्रीय कार्यालय**
172, मुम्बई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुम्बई 400 014
जीवनतारा बिल्डिंग, चौथा तल, 23 ए/44 एक्स, डायमंड हार्बर रोड, कलकत्ता 700 053
304-305, अन्ना सालई, तेनामपेट, चेन्नई 600 018
ए डी ए रंगमन्दिर, जे. सी. मार्ग, बंगलौर 560 002

ISBN 81-260-0309-X

मूल्य : दो सौ साठ रुपये

मुद्रक : सविता प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली 110 032

# अनुक्रम

# भूमिका

वर्ष 1955 में साहित्य अकादेमी ने *आधुनिक हिन्दी समीक्षा* नामक आलोचनात्मक निवन्धों का एक संग्रह (सं. निर्मला जैन, प्रेमशंकर) प्रकाशित किया था, जिसमें महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', प्रेमचन्द, नन्ददुलारे वाजपेयी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नगेन्द्र, देवराज, रामविलास शर्मा, अज्ञेय, गजानन माधव मुक्तिबोध, विजयदेव नारायण साही, नामवर सिंह, निर्मल वर्मा और राजेन्द्र यादव के निवन्ध संकलित थे। साहित्य अकादेमी द्वारा यह चयन *समकालीन हिन्दी आलोचना* इस उद्देश्य से प्रकाशित है कि पाठकों को पिछले तीन-चार दशकों में समकालीन आलोचनात्मक परिदृश्य में घटित उल्लेखनीय कृतित्व से परिचित कराया जा सके। यहाँ सभी तरह के प्रवृत्तिगत उदाहरण संकलित करना उद्देश्य नहीं है। उद्देश्य है अपने समय की रचनाशीलता और रचनात्मक संवेदना से गहरी सम्पृक्ति प्रमाणित करने वाली, अपने युग के तीखे प्रश्नों से टकराती रचना से सीधा उत्तेजक संवाद सम्भव करने वाली आलोचना का वह सार्थक सक्रिय परिदृश्य उपस्थित करना जो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे महान गम्भीर तथा स्वतन्त्र आलोचक की परम्परा का विकास भी है और एक अर्थ में सार्थक प्रस्थान भी। इसी दृष्टि से हमने कतिपय पूर्व संकलित आलोचकों को इस नये चयन में शामिल करने की अनिवार्यता महसूस की, जिनका हमारे अपेक्षाकृत कठिन समय के रचनात्मक-आलोचनात्मक परिदृश्य में सीधा हस्तक्षेप या सक्रिय हिस्सेदारी है।

जहाँ इस चयन का पहला निवन्ध 'भाषा और कला के रूपों का कोई पार नहीं है' अपने ढंग के अकेले महत्त्वपूर्ण कवि शमशेर का *दूसरा सप्तक* में संकलित वक्तव्य है, वहाँ दूसरा निबन्ध '*मुसद्दस* और *भारत भारती* की सांस्कृतिक भूमिका' शमशेर द्वारा लिखित ऐसी सांस्कृतिक आलोचना का उदाहरण है, जिसे मुक्तिबोध की भाषा में सभ्यता-समीक्षा कहा जायेगा। यदि इस सांस्कृतिक भूमिका की याद दिलाना आज के सन्दर्भ में ज़रूरी न होता तो शायद उसे इतने अन्तराल के बाद चयन में सम्मिलित करने की अनिवार्यता भी न होती। यह हिन्दी आलोचना की अपनी परम्परा है जिसके अन्तर्गत मार्क्सवादी आलोचक रामविलास शर्मा भवभूति और कालिदास के रचना-संसार का मार्मिक साक्षात् कर सके हैं, दूसरी ओर उनके सर्वाधिक प्रिय कवि

निराला ने ग़ालिब और मीर की कविता से नया सम्बन्ध बनाने की कोशिश की है। इससे यह भ्रम दूर हो जाना चाहिए कि आधुनिक हिन्दी आलोचना पर पश्चिमी आलोचना का ऐसा आतंक है कि उसे उसकी अनुकृति, छाया या उपनिवेश कहा जा सके। आचार्य शुक्ल की आलोचनात्मक प्रज्ञा की स्वतन्त्रता का मर्म ही यह है कि उस पर संस्कृत काव्यशास्त्र की रूढ़ियों या पश्चिमी आलोचना के मानदण्डों और मुहावरों का कोई आतंक नहीं है। यह चयन हिन्दी की समकालीन आलोचना के अपने स्वतन्त्र विवेक और मुक्त पद्धतियों के उपयोग या प्रयोग का उदाहरण है। इधर कुछ अन्य भारतीय भाषाओं के महत्त्वपूर्ण आलोचकों और चिन्तकों की कृतियाँ या कुछ महत्त्वपूर्ण निबन्ध हिन्दी में उपलब्ध हो सके हैं। आगे यह भी सम्भव हो सकेगा कि इस तरह के सम्पर्क-संवाद के ज़रिए हम भारतीय आलोचना का अपना व्यापक चरित्र ठीक-ठीक पहचान सकें। अभी तो स्थिति यह है कि 'भारतीय आलोचना' पद को संस्कृत आलोचना या काव्यशास्त्र का ही पर्याय माना जाता है।

इस चयन का बहुलांश समकालीन आलोचकों की विचारधारा, जीवनदृष्टि और साहित्यिक विवेक से तथा व्यावहारिक रूप में साहित्य-विश्लेषण तथा मूल्यांकन की पद्धति (या पद्धतियों) से परिचित कराने वाला है। यहाँ कवियों या लेखकों की स्वकीय विशेषताओं का विश्लेपण करनेवाली और उनकी अन्तःप्रकृति की छानबीन करनेवाली उच्चकोटि की आलोचना, जो आचार्य शुक्ल के लिए आलोचना का आदर्श थी, प्रतिभा की एक नयी चमक के साथ मौजूद है, जो अनिवार्यतः बदले हुए समय और सामाजिक सन्दर्भ के वग़ैर असम्भव थी। एक नया समय अक्सर नये सवालों और चुनौतियों के साथ आता है जिनके साक्षात् से रचनाकारों और आलोचकों की संवेदना अपरिवर्तित नहीं रह जाती। यह परिवर्तन हमेशा गुणात्मक होता हो, ज़रूरी नहीं, पर ज़रूर ही, यह गुणात्मकता ऐसे लेखकों-आलोचकों की अपनी प्रतिभा, संवेदना, साहस और विवेक पर निर्भर करती है। कहने की ज़रूरत नहीं कि अक्सर यह गुणात्मक तेवर युग-विशेप की अपनी निजता या विशिष्टता से प्रतिकृत होकर (और जब-तब असहमत होकर भी) मूल्यवान बनता है। आलोचना की मूल्यवत्ता सहमति या असहमति पर नहीं, सहमति-असहमति के ठोस कारणों और तर्कों पर निर्भर करती है। इस पक्ष या उस पक्ष में होना अपने आप में आलोचना की गुणवत्ता या सार्थकता का आधार नहीं है। यह चयन एक बार फिर प्रमाणित करेगा कि आलोचना के समकालीन परिदृश्य में शमशेर और मुक्तिबोध, निर्मल वर्मा और कुँवर नारायण उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं, जितने रामविलास शर्मा और नामवर सिंह।

यह सही है कि आलोचना को सिद्धान्त निरूपण भी करना पड़ता है, मानदण्ड भी बनाने पड़ते हैं पर कोरा सिद्धान्त-निरूपण करने वाली आलोचना या शास्त्रधर्म निर्वाह तक सीमित आलोचना हमारे समय के लिए महत्त्वपूर्ण नहीं रह गयी है। दूसरी

और सर्जनात्मक आलोचना के नाम से प्रस्तावित या प्रचारित आलोचना (जैसा पिछले बीस वर्षों का दुखद तथ्य है) का बहुत बड़ा हिस्सा प्रभाववादी आलोचना का ढंग अपनाने के लिए अभिशप्त है, जब तक उसके पीछे विचारधारा या जीवनदृष्टि का बल न हो। अवश्य ही विचारधारा का स्थूल रूपान्तरण साहित्य नहीं है। विचारधारा और कला या साहित्य के द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध का विवेक ही आलोचना को मूल्यवान बनाता है। प्रभाववादी ढर्रे की सर्जनात्मक आलोचना का हश्र वही हुआ है, जिसके लिए अपने समय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल चिन्तित थे। उन्होंने सतर्क करते हुए लिखा था : "इस ढंग की समीक्षाओं में प्रायः भाषा विचार में बाधक बनकर आ खड़ी होती है। लेखक का ध्यान शब्दों की तड़क-भड़क, उनकी आकर्षक योजना, अपनी उक्ति के चमत्कार आदि में उलझा रहता है जिसके बीच स्वच्छ विचारधारा के लिए जगह ही नहीं मिलती।" इस चयन में स्वयं मार्क्सवादी आलोचक साहित्य को विचार धारा का ही एक रूप मानने वाले आलोचकों और विचारधारा या सिद्धान्त कथन पर अतिरिक्त भरोसा करने वाली आलोचना से संघर्षरत दिखाई देंगे। यहाँ मुक्तिबोध के आलोचनात्मक आदर्श की याद भर दिलाना पर्याप्त होगा— "किसी भी कलाकृति के भीतर जो गतिमान तत्त्व होते हैं, उनके अर्थ व्यापक होते हैं। अतएव उन तत्त्वों के अन्तःसम्बन्ध, उन सम्बन्धों के समुच्चय की विशेषगठन कम महत्त्वपूर्ण नहीं होती। जब हम उन गतिमान अन्तर्तत्त्वों के गहन पारस्परिक सम्बन्ध और उन पारस्परिक अन्तःसम्बन्धों के समुच्चय की विशेष गठन को हृदयंगम कर लेंगे, तब न केवल हम उस कलाकृति को उसकी समग्रता में समझ सकेंगे, वरन् लेखक-कलाकार के व्यक्तित्व और उसकी जीवनभूमि तक सहज ही पहुँच सकेंगे। किन्तु इसके लिए समीक्षक के पास प्रगाढ़ जीवनानुभूति चाहिए, वैविध्यपूर्ण प्रगाढ़ अनुभव-सम्पन्नता तथा मार्मिक जीवन विवेक चाहिए।" इस कथन की याद इसलिए भी ज़रूरी है कि बहुतों के लिए साहित्यिक आलोचना का महत्त्व अकेले शिल्प या रूप की विशिष्टता की विद्वत्तापूर्ण समझ पर निर्भर है।

आलोचना महत्त्व अर्जित करती है, रचना में प्रकट अनुभव की जीवन सम्पन्नता, उसमें निहित जीवन-छवियों के पुनः पाठ, साक्षात् या नयी व्याख्या से। अगर बहुत पहले आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने में ही आलोचना कर्म की सार्थकता बता रहे थे तो इसी दृष्टि से कि आलोचना रचना के बहिरंग पाठ से नहीं, रचना के साथ ही रचना में निहित जीवनानुभवों के मार्मिक साक्षात् से अर्थ प्राप्त करती है। शास्त्रमार्ग से चलकर आलोचनात्मक निर्णय को व्यवस्थित करना कठिन काम नहीं है। कठिन है रचना के सीधे साक्षात् से उपजी आलोचना जो एक महत्त्वपूर्ण अद्वितीय कृति के सामने सर्वथा नये मार्ग पर चलने की चुनौती अनुभव करती है। इसी अर्थ में द्विवेदीजी ने कहा था—"सीधी लकीर खींचना

टेढ़ा काम है।" द्विवेदीजी साहित्य का स्पष्ट प्रयोजन मान रहे होंगे पर प्रयोजन निर्भर साहित्य और आलोचना की सीमाएँ देखकर उन्होंने यह भी कहा था—"प्रयोजन जहाँ समाप्त होता है, वहाँ कला शुरू होती है।"

साहित्य की बुनियादी समस्याओं पर केन्द्रित आलोचना के साथ आलोचना की समकालीन चुनौतियों पर विचार करने वाली आलोचना भी इस चयन में उपलब्ध है। कृति-केन्द्रित व्यावहारिक आलोचना के उदाहरण भी यहाँ मौजूद हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल यदि आलोचना की सफलता की कसौटी व्यावहारिक आलोचना को ही मानते थे तो इसी दृष्टि से, कि सिद्धान्तों की वैधता की जाँच आलोचना की इसी राह चलकर सम्भव है। जहाँ रामविलास शर्मा का निबन्ध 'जाति, जनपद, राष्ट्र और साहित्य' प्रगतिशील काव्यधारा-सम्बन्धी उनकी मान्यताओं की झलक देता है, वहीं उनका निबंध 'कविता का स्थापत्य' (जो उनकी महत्त्वपूर्ण कृति *निराला की साहित्य साधना* : खण्ड दो का एक अंश है) निराला के काव्य-मर्म में प्रवेश करने के लिए कविता के स्थापत्य-विश्लेषण पर एकाग्र है। डॉ. शर्मा अधिक सूक्ष्म विश्लेषण से यह दिखा सके हैं कि क्यों *राम की शक्तिपूजा* अपनी गरिमा में *तुलसीदास* से अधिक प्रभावित करती है। दो महत्त्वपूर्ण कविताओं के बीच तुलना का यह सूक्ष्म विवेक कविता के मर्म में गहरी पैठ के बग़ैर असम्भव है।

'कवि कै बोल खरग हिरवानी' (विजयदेव नारायण साही) निवन्ध मलिक मुहम्मद जायसी की प्रवन्ध कृति *पद्मावत* के पाठ को महत्त्व देने वाली सांस्कृतिक समीक्षा का उदाहरण है। विजयदेव नारायण साही ने प्रमाणित किया है कि प्राचीन या मध्यकालीन कविता के नये पाठ या पुनराविष्कार के लिए आधुनिक दृष्टि ज़रूरी है। साही अनुभव करते हैं कि *पद्मावत* जो अपनी मूल प्रकृति में त्रासदी है, शायद हिन्दुस्तान या एशिया की धरती पर लिखा हुआ एकमात्र ग्रन्थ है, जो यूनानियों की ट्रैजेडी के निकट है। सच्चाई यह है कि शुक्लजी के बाद जायसी जैसे कवि को, जिसकी चिन्तनशीलता पूरी कथा में एक तरह की विषाद-दृष्टि का सृजन करती है, साही अपने ढंग के अकेले महत्त्वपूर्ण आलोचक मिले। 'साहित्य क्यों !' जैसे सवाल से वे जीवन भर उलझते रहे हैं। ढलती हुई बीसवीं शताब्दी के अन्तर्विरोधों और संशयों पर हिन्दी में यह पहली ही महत्त्वपूर्ण टिप्पणी थी जिसने पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया था। नामवर सिंह का निबन्ध 'प्रेमा पुमर्थो महान्' उनकी चर्चित कृति *दूसरी परम्परा की खोज* का महत्त्वपूर्ण अंश है। नामवर सिंह ने स्पष्ट करना चाहा है कि द्विवेदीजी ने हिन्दी के भक्तिकाव्य की स्वीकृतिपरक व्याख्या के लिए जिस प्रेम के लोक-आधार को चुना था, वही उनके उपन्यासों की मूल अन्तर्वस्तु है और उसका उनकी प्रगतिशील जीवनदृष्टि से गहरा सम्बन्ध है। उनका दूसरा निबन्ध 'आलोचना की संस्कृति और संस्कृति की आलोचना' नये सन्दर्भों में संस्कृतिवाद की आलोचना

या आलोचनात्मक विवेक के लिए संकट मानकर लिखा गया है– "साहित्य के लिए न तो कलाओं का सम्पर्क हानिकर है न सौन्दर्यशास्त्र का। हानिकर है कलावाद की कला और कलावाद का सौन्दर्यशास्त्र।" विडम्बना यह है कि सौन्दर्यशास्त्र 'राजनीति' को भी सुन्दर बनाता है और राजनीति सुन्दर होकर फ़ासिज़्म की शक्ल में आती है। नामवर सिंह यहाँ संस्कृति के अमूर्तन का विरोध करते हैं पर उसकी सापेक्ष स्वतन्त्रता को स्वीकार करते हैं। इस निबन्ध को कुँवर नारायण के निबन्ध 'आधुनिकता–समय–रचनात्मकता' के साथ पढ़ते हुए पाठकों के मन में कई ऐसे सवाल उठ खड़े होंगे, जिनका सन्दर्भ व्यापक है, साहित्य-सीमित नहीं है।

इसी चयन में शमशेर की कविता के विश्लेषण तथा मूल्यांकन पर केन्द्रित मुक्तिबोध का निबन्ध (शमशेर मेरी दृष्टि में) शमशेर के काव्य-संसार की अद्वितीयता के साथ कवि-कर्म की जटिल प्रक्रिया के उनके अपने अनुभव तथा संघर्ष से परिचित करानेवाला है। शमशेर को जब 'कवियों का कवि' कहा गया था, हिन्दी साहित्य-जगत् में तीखी प्रतिक्रिया हुई थी। इस निबन्ध को पढ़कर क्या हम इस संज्ञा की सार्थकता से सहमत न हो उठेंगे ! इसी तरह केदारनाथ सिंह मुक्तिबोध की कविता के विश्लेपण (कालबद्ध और पदार्थमय) में सजग कवि-दृष्टि के साथ ही आलोचक के आत्मानुशासन का प्रमाण देते हैं। उनका निबन्ध 'हिन्दी आधुनिकता का अर्थ' (जो शताब्दी के अवसान पर विचार मूल्यांकन-केन्द्रित साहित्य अकादेमी की संगोष्ठी के लिए लिखा गया था) संकेत है कि हिन्दी कविता में आधुनिकता एक लम्बी विकास-प्रक्रिया का परिणाम है जिसे मुक्ति आन्दोलन से सम्बद्ध करके ही देखा जा सकता है। विष्णु खरे का निबन्ध 'मुझे एक मनुष्य की तरह पढो' आलोचक और आलोच्य कवि की काव्याभिरुचि की समानता या समानधर्मिता का उदाहरण है। उनका दूसरा निबन्ध 'जनता का कवि' नागार्जुन की विलक्षण काव्य-ऊर्जा की पहचान के लिए उनके आक्रोश और आत्मदया के अभाव को समझने में सहायक है।

कृतिकेन्द्रित आलोचना के रूप में यहाँ कई निबन्ध ध्यान आकृष्ट करेंगे। *धरती परिकथा, चारुचन्द्रलेख,* 'सरोजस्मृति' कुछ आधार-कृतियाँ हैं जिन पर विचार करते हुए आलोचकों ने कलाकृति की विशिष्टिता और आलोचना की मर्यादा का ध्यान रखा है। 'कलाकृति और आलोचना की मर्यादा' शीर्षक निबन्ध में कथाकार-आलोचक निर्मल वर्मा का कहना है– "जब एक समीक्षक किसी कलाकृति का रसास्वादन करता है, वह स्वयं एक पाठक है, बल्कि एक अच्छे आलोचक की प्राथमिक शर्त यही है कि वह कितना भावप्रवण, कितना चौकन्ना, कितना उत्सुक पाठक है; किन्तु जब यही उत्सुकता पाठक को उस कृति का पुनरावलोकन करने को उत्प्रेरित करती है, जिसने उसे झिंझोड़ा है तो यहाँ रसास्वादन के साथ एक और चीज़ जुड़ जाती है। आलोचनात्मक जिज्ञासा–जो सिर्फ़ कृति का ही मूल्यांकन नहीं करती, बल्कि पाठक

को अपनी प्रतिक्रियाओं की पड़ताल करने को भी बाध्य करती है।" पाठक स्वयं देख सकेंगे कि कृति-केन्द्रित आलोचना के ये उदाहरण उन्हें किस हद तक सजग, उत्सुक या उद्विग्न बना सके हैं।

हिन्दी आलोचकों के बीच कवि-आलोचक सच्चिदानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' की उपस्थिति इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि मूलतः कविदृष्टि से रचनात्मक भाषा या रचना के यथार्थ पर विचार करने के बावजूद कठोर तर्कसंगत विश्लेषण का रास्ता ही वे चुनते रहे हैं। उल्लेखनीय यह है कि वे प्रायः अबोधता के साथ विषय का प्रस्ताव करते हैं और ज्ञानात्मक तर्क के अनुशासन के साथ आगे बढ़ते हैं। 'यथार्थ और यथार्थवाद' निबन्ध में वे इस धारणा पर बल देते हैं कि बहुस्तरीय जटिल यथार्थ का साक्षात्कार या निर्वचन कविदृष्टि की माँग करता है। उनकी दृष्टि में आधुनिक साहित्य और कला के क्षेत्र में यही महत्त्वपूर्ण मोड़ है—यथार्थ को पकड़ने के लिए यथार्थवादी ग्रहण का परित्याग और कवि-दृष्टि का पुनः अंगीकार। यहाँ संकलित उनका दूसरा निबन्ध 'कविता का सम्प्रेषण', *तीसरा सप्तक* की भूमिका है जिसका समकालीन काव्यालोचन के क्षेत्र में विशेष महत्त्व है।

मलयज के दो निबन्ध 'मिथ में बदलता आदमी' और *'सरोज स्मृति* और *निराला'* इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं कि इनमें छायावाद-युग के एक बड़े आलोचक और महत्त्वपूर्ण कवि की विशिष्ट रचना के पाठ के लिए आगे के दौर के एक विकासोन्मुख नये लेखक की विलक्षण तैयारी, संवेदनात्मक सजगता, विनम्रता साहस और मर्मभेदिनी दृष्टि का पता लगता है। मलयज ने इनमें पहला लेख साहित्य अकादेमी के लिए रामचन्द्र शुक्ल पर विनिबन्ध (मोनोग्राफ़) लिखने की तैयारी के सिलसिले में लिखा था। शुक्लजी के कई रूपों को पहचानते हुए मलयज उनके ख़ास उस रूप को महत्त्व देते हैं जिसमें शुक्लजी के सभी रूप समाहित हैं—"वह है उनका विशिष्ट और विलक्षण के विरुद्ध सामान्य और सर्वानुभूत का पक्षधर रूप।" मलयज की दृष्टि में "धरती शुक्लजी के सामान्य मनुष्य का संस्कार है, आकाश उसका कर्म। अपने संस्कारों से वह धरती की ही तरह ठोस है, अपनी संवेदना में मूर्त और वस्तून्मुखी। प्रत्यक्ष यथार्थ से अलग आध्यात्मिक उसके लिए फ़रेब है, जैसे दूर कहीं धरती और आकाश का मिलन जो जब नज़र आता है तब धुँधलके में ही। यह धुँधलका ही यह छायावाद-रहस्यवाद है जिसके ख़िलाफ़ शुक्लजी ने अपनी लड़ाई लड़ी।" मलयज के शब्द हैं— "शुक्लजी की इस लड़ाई का हीरो उनका वही सामान्य मनुष्य है।" अब से लगभग छत्तीस वर्ष पहले, 1955 में 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना' पुस्तक के पहले संस्करण की भूमिका में आलोचक रामविलास शर्मा ने लिखा था—"हिन्दी साहित्य में शुक्लजी का वही महत्व है जो उपन्यासकार प्रेमचन्द या कवि निराला का। उन्होंने आलोचना के माध्यम से उसी सामन्ती संस्कृति

का विरोध किया जिसका उपन्यास और कविता के माध्यम से प्रेमचन्द्र और निराला ने।" आधुनिकतावाद और कलावाद या व्यक्तिवैचित्र्यवाद के उस संधि-बिन्दु पर जिसे प्रयोगवाद कहते हैं, शुक्लजी के नये मूल्यांकन की ज़रूरत रामविलास शर्मा को महसूस हुई थी, उसी दृष्टि के दूसरे उत्थानकाल में कलावाद और विशिष्टतावाद का ख़तरा अनुभव करते हुए मलयज ने शुक्लजी के उस साहस को रेखांकित किया जिसने 'भीतर' के नाम पर प्रतिष्ठित अतर्क्य तानाशाही को चुनौती दी क्योंकि –"भीतरवाद अन्ततः रहस्यवाद और कलावाद की ओर ही ले जाता है।"

विभाव-पक्ष पर अधिक वल देते हुए मुक्तिबोध ने अपने निबन्ध 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष' में आज की कविता से जो अपेक्षा की है वह उपर्युक्त नयी आलोचनादृष्टि का ही उदाहरण है। 'आर पार फैली हुई वास्तविकता', 'मानव वास्तविकता के मूल मार्मिक पक्ष' 'भावपक्ष के समाजीकरण' पर मुक्तिबोध का बल उनकी अपनी कविदृष्टि और आलोचनात्मक विवेक का एक साथ प्रमाण है। 'सामाजिक यथार्थ और कविता का आत्मसंघर्प : कुछ नोट्स' शीर्षक निबन्ध में कुँवर नारायण निराला की 'सरोजस्मृति', 'वह तोड़ती पत्थर' या 'कुकुरमुत्ता' जैसी कविताओं को इसलिए महत्त्वपूर्ण बताते हैं कि उनमें यथार्थपरकता के साथ निजता या आत्मपरकता भी है जबकि उनकी कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण कविताएँ यथार्थी कविताएँ न होते हुए भी भारतीय लोकमानस के गहरे आत्मसंस्कारों से जुड़ी कविताएँ हैं। कुँवर नारायण के शब्दों में–"निराला का निजी संसार उनकी कविताओं का उतना ही आवश्यक हिस्सा है जितना वह समाज जिसमें वे जी रहे थे। ख़ास बात है निराला की समझ और संवेदना का विस्तार जो उनकी कविताओं की रीढ़ है जो इस पर इतना नहीं निर्भर करता कि कवि अपने चारों ओर की ज़िन्दगी का कितना सही-सही चित्रण करता है बल्कि इस पर कि वह अपने बाहर और भीतर के यथार्थ का कितना संश्लिष्ट रूप हमें दे पाता है और इसके दौरान जो जीवन-दृष्टि हमें देता है वह कितनी मूल्यवान है।"

आलोचना के क्षेत्र में दृष्टिबहुलता की माँग से किसी को आपत्ति नहीं होगी पर यह माँग करने के साथ ही फ़ैसला देना कि आलोचना एक 'उद्योग' की तरह हो गयी है जिसमें सब उत्पाद एक रूप हैं, वस्तुस्थिति की अनदेखी करना होगा। एक अर्थ में यह चयन ही दृष्टिवहुलता का, आलोचना दृष्टि और आलोचक व्यक्तित्व की विभिन्नता का सार्थक प्रमाण है। रेणु के प्रति हार्दिक लगाव और रेणु की कलासंवेदना और विचारधारा से स्पष्ट सहमति के बाद भी निर्मल वर्मा 'परती परिकथा' की कलात्मक चूक को नज़र अंदाज़ नहीं करते। रघुवीर सहाय अपने निबन्ध 'स्वतन्त्रता के दिनों का संकट और मैं' में, जो वस्तुतः किसी संगोष्ठी में पढ़ा गया कवि-वक्तव्य है, अपने समय के काव्यपरिदृश्य में अपने ही द्वारा समर्थित 'तोड़फोड़' की प्रवृत्ति

को तीखी आलोचनात्मक दृष्टि से जाँचते हैं। वे स्वीकार करते हैं कि 'लघुमानव' से 'अकविता' तक के सारे सिद्धान्त एक ऐसी परिस्थिति बना रहे थे जिसमें हर तोड़ने वाले का उठा हाथ एक मुद्रा बन जाता है। भाषा में 'तोड़फोड़' की रचनात्मक सार्थकता हो सकती है पर आलोचनात्मक विवेक के अभाव में वह महज़ प्रदर्शनवाद हो सकता है।

आलोचना को दूसरे अनुशासनों के निकट ले जाने की माँग भी उन्हीं क्षेत्रों में विशेष रूप से की गई है जिन्हें साहित्य की स्वायत्तता की चिन्ता औरों से अधिक है। इस अन्तर्विरोध का हल ढूँढ़ने के प्रयत्न में रमेशचन्द्र शाह लिखते हैं—"अन्ततः परम्परा और इतिहास को लेकर आलोचना के प्रश्न समसामयिक जीवन और साहित्य के प्रश्नों से जुड़ ही जाते हैं और ये प्रश्न फिर साहित्य के ही नहीं रह जाते। जिस सीमा तक वे साहित्य के प्रश्न हैं, वहाँ भी साहित्य के आलोचक को आज जितना इतिहास, दर्शन आदि क्षेत्रों के विद्वानों की अन्तर्दृष्टियों से लाभान्वित होने की ज़रूरत है, उतनी शायद पहले कभी नहीं थी।" (*आलोचना, परम्परा और इतिहास*) ठीक यही चिन्ता 'कविता के देश मे' निबन्ध में अशोक वाजपेयी की है—"हिन्दी आज भी स्वयं अपने क्षेत्रों में विचार और चिन्तन की भाषा नहीं वन सकी है। तथ्य यह है कि उसमें दर्शन, विज्ञान, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान आदि का कोई मौलिक या तात्त्विक कार्य नहीं हुआ है।" मलयज भी शुक्लजी पर विचार करते हुए, बुद्धिप्रसार में ही भावप्रसार की सम्भावना देख रहे थे पर यह दिखाने में कहीं अधिक सक्षम थे कि आलोचना एक अधिक जटिल अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण नैतिक कार्रवाई है जो ज्ञानात्मक तर्कपद्धति के अनुभूति की कसौटी पर कसे जाने और उसके उपयोग के विशिष्ट विवेक से ही सार्थक होती है। 'उदाहरण होने से बचकर' निबन्ध में अशोक वाजपेयी दिखा सके हैं कि किस तरह विनोदकुमार शुक्ल की कविता चालू मुहावरों की नयी आलंकारिकता से मुक्त है। वह क्यों इतनी अलग दिखती है कि न केवल पुराने पैमानों से वल्कि कविता के तीस विद्रोही वर्षो के बाद बनी पहचान से भी उसे ठीकठाक पहली नज़र में कविता कहना मुश्किल है।

विजयमोहन सिंह के निबन्ध 'आधुनिक हिन्दी कहानी का प्रस्थान बिन्दु' और 'साँवली गहराइयों की कहानियाँ' एक कथाकार-समीक्षक द्वारा कहानी के सतर्क पाठ तथा विश्लेषण के उदाहरण हैं। नन्दकिशोर नवल के निबन्ध दार्शनिक तथा वैचारिक बोध से सम्पन्न दो कवियों—विजयदेव नारायण साही और कुँवर नारायण—की कविता और विचारधारा के परीक्षण पर केन्द्रित हैं। यह सही है कि हिन्दी आलोचना का बहुत बड़ा हिस्सा कविता के विश्लेषण और मूल्यांकन तक सीमित है। और इसमें भी सन्देह नहीं कि किसी भी भाषा में विभिन्न साहित्यरूपों की प्रकृति और उनमें उपलब्ध महत्त्वपूर्ण कृतियों (उपन्यासों/नाटकों) के सजग संवेदनात्मक पाठ से आलोचक-दृष्टि

व्यापक, समावेशी और एक अर्थ में अधिक वैध और प्रामाणिक बन पाती है। इस चयन का महत्त्वपूर्ण हिस्सा कथा-साहित्य तथा नाट्य साहित्य की समीक्षा से सम्बद्ध है। संकलित निबन्ध यह भी प्रमाणित करने वाले हैं कि यह धारणा नितान्त भ्रामक है कि हिन्दी में काव्य-समीक्षा तो अधिक समृद्ध या सम्पन्न है, कथासमीक्षा की स्थिति दयनीय और विपन्न ही दिखाई देती है। नेमिचन्द्र जैन सरीखे आलोचकों ने कथा-समीक्षा को जो विशिष्टता दी है, वह विवाद से परे है। नेमिचन्द्र जैन अपने सजग आलोचनात्मक विवेक से कृष्ण बलदेव बैद के उपन्यास *उसका बचपन* पर विचार करते हुए स्वीकार करते हैं–"सीधे-सादे यथार्थवादी वर्णन के साथ सर्वथा काल्पनिक जैसे स्वर में रीतिबद्ध संवाद, गतिविधान, भाव-संयोजन को ऐसे सचेष्ट समानान्तर रूप में प्रस्तुत किया गया है, जो अत्यन्त काव्यात्मक वक्तव्य में ही प्रायः सम्भव हो पाता है।"

नाट्य-समीक्षा के क्षेत्र में नेमिचन्द्र जैन का योगदान महत्त्वपूर्ण है। 'भारतीय रंग-दृष्टि की खोज' करते हुए उसका मत है– ..."भारतीय सृजनशील रंगकर्मी के लिए यह सर्वथा आवश्यक हो गया है कि अपनी नयी रंग-दृष्टि के विकास के लिए वह अपनी प्राचीन तथा मध्ययुगीन परम्पराओं के सूत्रों को अधिक गहराई से खोजें।"

महत्त्वपूर्ण आलोचना की एक कसौटी यह भी बतायी गयी है–"कोई आलोचक उसी हद तक बड़ा है जिस हद तक वह अपने युग और समाज की अन्तरात्मा का काम करता है"–कहना न होगा कि यह मानदण्ड किसी भी चयनकर्ता को मुश्किल में डाल सकता है। हमें यह चयन इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण जान पड़ता है कि इसका बहुत बड़ा हिस्सा आलोचना की सार्थकता और उत्कृष्टता की कठिन कसौटियों के अनुरूप है और नये मानदण्डों की पहचान के लिए भी महत्त्वपूर्ण साक्ष्य के रूप में स्वीकृति पा सकता है। यों हिन्दी में एक हद तक उपयोगी आलोचना वह भी है जो प्रायः विभिन्न क्षेत्रों के विचारों का संग्रह या समुच्चय जान पड़ती है। इस चयन में उसकी अनुपस्थिति का एक तर्क यह है कि अक्सर वह दुरूह और बोझिल होने के कारण विद्वत्ता या पाण्डित्य का आतंक पैदा करती है और रचना के सीधे सम्पर्क या साक्षात्, सहज आस्वाद और सार्थक विश्लेषण से उदासीन जान पड़ती है। यह चिन्ता महज़ पूर्वग्रह नहीं है कि–"आलोचना की भाषा को समृद्ध करने के नाम पर इधर अन्धाधुन्ध इसी तरह के देशी-विदेशी नये-पुराने पुर्ज़ों का ढेर जमा किया जा रहा है और इस प्रकार एक ही पैराग्राफ़ में अभिनवगुप्त-रिचर्ड्स-क्रोचे-कॉडवेल और अंग्रेज़ी के नव्य समीक्षक एक साथ बुरी तरह ठेलमठेल करते दिखाई पड़ते हैं।" (*वाद-विवाद संवाद*, नामवर सिंह) योरप के साहित्य क्षेत्र में फ़ैशन के रूप में प्रचलित बातों को कच्चे-पक्के ढंग से सामने लाकर कुतूहल उत्पन्न करने की चेष्टा को आचार्य शुक्ल ने भी सार्थक आलोचना के दायरे से बाहर की चीज़ माना था। आलोचना का एक

प्रमुख गुण पठनीयता है जिसके अभाव में आलोचना के सार्थक संवाद बनने की कल्पना नहीं की जा सकती। इस चयन का एक प्रमुख आदर्श यह पठनीयता ही है। पिछले वर्षों में आलोचना की भाषा, आलोचना के जनतन्त्र, आलोचना की ज़रूरत या सार्थकता, आलोचना और समकालीनता के आतंक, आलोचना दृष्टि और इतिहास-दृष्टि के सम्बन्ध पर जो बहस होती आयी है उस पर यहाँ अलग से टिप्पणी की ज़रूरत नहीं है। यह चयन अपने आप में उन पर उपयुक्त टिप्पणी भी है। वह इस तरह के आरोपों का यथासम्भव उत्तर भी है कि हिन्दी में आलोचना है, आलोचक नहीं; या हिन्दी में आलोचना है, आलोचक भी, आलोक नहीं ! कभी जिनका यह आरोप था वे भी इस चयन में शामिल हैं और इस चयन को महत्त्वपूर्ण तथा दृष्टिबहुल बनाते हैं। इससे बड़ी जो चिन्ताएँ हैं वे अकेली आलोचना की नहीं, समूचे साहित्य की हैं और उनसे टकराने का साहस भी हमारे समकालीन साहित्यिक परिदृश्य में मौजूद है। 'उत्तर-संरचनावाद और विखण्डन' लेख में सुधीश पचौरी आज के भूमण्डलीय यथार्थ के प्ररिप्रेक्ष्य में स्वीकार करते हैं—"उत्तर-संरचनावाद उत्तर-आधुनिक समय का उत्पाद है इसलिए वह एक विराट विखण्डन में ही अपने को सिद्ध करता है इसीलिए वह एक 'रणनीति' के रुप में तो स्वीकृत होता है, समाज में वह जल्दी स्वाभाविक नहीं बनता।"

किसी भी महत्त्वपूर्ण-सार्थक चयन की तरह इस चयन की भी एक निश्चित सीमा है और इसे प्रस्तुत करते हुए हमारे मन में ज़रूर ही यह संकोच है कि यह बहुतों की दृष्टि में सर्वव्यापकता और समग्र प्रतिनिधित्व के श्रेय का अधिकारी नहीं माना जायेगा। किसी भी चयन की सीमा अन्ततः एक रूपाकार की भी होती है और चयनकर्ता के (अधिक उदार ही सही) मान या आदर्श की भी। यह मान या आदर्श अनुपस्थित हो तो सामान्य संग्रहों से अलग एक विशिष्ट चयन की सार्थकता ही क्या होगी।

अन्त में, इस चयन की पाण्डुलिपि बनते और इसके प्रकाशन में जो लम्बा अन्तराल है, उसे देखते हुए यह स्पष्टीकरण और भी ज़रूरी है कि यह एक तरह का विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण चयन है—यह न प्रतिनिधि है न समग्र। हमें विश्वास है कि ऐसे अन्य महत्त्वपूर्ण चयन भी सामने आयेंगे जो इसे अधिक पूर्णतर बनायेंगे।

—परमानन्द श्रीवास्तव

शमशेर बहादुर सिंह

# भाषा और कला के रूपों का कोई पार नहीं है

अपनी कविता में मेरी ख़ास कोशिश यह रही है कि हर चीज़ की, हर भावना की, जो एक अपनी भाषा होती है जिसमें वह कलाकार से बातें करती है, उसको सीखूँ। इस तरह की कोशिश जहाँ-जहाँ भी कामयाब होती देख सका, मैंने उससे असर लिया, ज़्यादातर अंग्रेज़ी की मौजूदा कविता से, ख़ासतौर से टेकनीक में।

मेरी भावनाओं पर सबसे गहरा असर पड़ा है 'परिमल' और 'अनामिका' का। पन्त ने भी मुझे पहले-पहल कविता की भाषा दी। उर्दू ग़ज़लियत और उलझे हुए भावों को लिए हुए सपनों की-सी चित्रकारी और कुछ चलती हुई लयों और इधर आकर बातचीत के लहजों और उसके उतार-चढ़ाव को भी मैंने अपनी कविता के रूप और छन्द का आधार बनाना चाहा है।

जन-आन्दोलनों को समझने और उनका एक धुँधला-सा रूप भी अपनी भावनाओं के रंग में बाँधने की कुछ कोशिश मैंने पिछले सालों में की है। इस 'ऊँच रुचि और मति' को अपनी कविता में अभी तक अच्छी तरह पकड़ न पाने के दो कारण रहे हैं। एक, जनता के हृदय से मेरी दूरी; दूसरा मार्क्सवाद का उथला ज्ञान; ख़ासकर किसान-मज़दूर के संघर्षों के इतिहास के ज्ञान की कमी।

## आगे की कविता

कला का संघर्ष समाज के संघर्षों से एकदम कोई अलग चीज़ नहीं हो सकती और इतिहास आज इन संघर्षों का साथ दे रहा है। सभी देशों में, बेशक यहाँ भी, दरअस्ल आज की कला का असली भेद और गुण उन लोक-कलाकारों के पास है, जो जन-आन्दोलनों में हिस्सा ले रहे हैं। टूटते हुए मध्यवर्ग के मुझ जैसे कवि उस भेद को जहाँ वह है वहीं से पा सकते हैं, वे उसको पाने की कोशिश में लगे हुए हैं।

मेरी कविताओं में यह कोशिश *उदिता* के आख़िरी अधिकांश भाग में और पिछले दो-तीन सालों की कविताओं के संग्रह *बात बोलेगी, हम नहीं* में मौजूद है। इसके बीज मेरी सन् 38-39 की कविताओं में भी मिल जायेंगे, हालाँकि उस वक़्त से सन् 42 तक मेरा रुझान ज़्यादातर क्या बिल्कुल अपनी ही अकेली दुनिया के अन्दर खिंचते चले जाने की तरफ़ रहा। उस एकाकीपन की घुटन और उसी की मजबूरियों से पैदा

होने वाले पलायन के सपनों और गीतों से छुटकारा पाने के लिए धीरे-धीरे जो संघर्ष मेरे अन्दर सन् 42-43 में शुरू हुआ, वह मेरे चारों तरफ़ की ज़िन्दगी में बहुत पहले पैदा हो चुका था। हिन्दी साहित्य में इसका सबूत पन्तजी की 'युगवाणी' ही नहीं, निरालाजी का 'कुल्लीभाट', 'बिल्लेसुर बकरिहा', भगवती बाबू की 'भैंसागाड़ी' और नरेन्द्रजी की 'यकुम मई' भी है। बल्कि इन सबों से बहुत पहले खुद प्रेमचन्द की आख़िरी कहानी *कफ़न,* उर्दू में जोश, सागर, मजाज़ की कविताएँ, कृशनचन्दर के अफ़साने।

सामाजिक चेतना के साथ-साथ उठता हुआ हिन्दी साहित्य में प्रतिभा का यह ज्वार जब सन् 42-43 में बैठने लगा, तो दूसरी लहर में और दूसरे लोग तेज़ी के साथ उठकर आगे आये। 'सुमन', केदारनाथ अग्रवाल, गिरिजाकुमार माथुर, चन्द्रभूपण त्रिवेदी, 'अगिया-बैताल', 'गोरा बादल' और नागार्जुन; और कितने ही लोक-कवि, स्व. बिसराम, भिखारी ठाकुर, रामफेर, प्रेमदास और खेमसिंह नागर जो लोकभाषा और लोक भावों के सुन्दर कलाकार हैं, पुरानों में 'निराला' ही अकेले इन सबों के साथ आये। इनमें सामाजिक सच्चाई और नये लोकतन्त्र की शक्तियाँ ज़्यादा खुलकर और दृढ़ता से बोलती हैं; इनमें कला का सुघड़पन पिछलों जैसा चाहे अभी न हो, मगर यह जो विशेषकर लोक कवियों की, क्रान्तिकारी कविता बिहार और यू. पी. में गूँजने लगी है, उसका कुछ अर्थ है, यानी कि जनता अब एक स्वतन्त्र राष्ट्र की तरह अपने मूल अधिकारों का उपभोग करना चाहती है इसलिए इस कविता का स्वर जन-मन की भावनाओं को छूता है। वही मसलन, 'गोरा बादल' और नागार्जुन की कविता में आकर आज ठेठ खड़ी बोली हिन्दी का नया, तगड़ा और ख़ासा मँजता जाता हुआ स्वर है। आगे मैं इसी के साथ अपने स्वर का योग देना चाहता हूँ।

## नयी कविता

अव्वल तो शायद यह निवेदन कर देना ज़रूरी या मुनासिब हो कि मेरी कविता खड़ी बोली हिन्दी में कुछ हद तक नयी हो सकती है। मगर मसलन् अंग्रेज़ी में उसका नयापन, अगर बहुत पुराना नहीं, तो कुछ न कुछ पुराना, कमज़कम ख़ासी अच्छी तरह जाना-पहचाना हुआ ज़रूर माना जायेगा; और यह कि इसके बहुत से रंग रूप मैं 'निराला' में भी शुरू से देखता हूँ। 'अज्ञेय' को जिन्होंने ध्यान से पढ़ा होगा या गजानन मुक्तिबोध को भी, वे इससे बहुत न चौंकेंगे। शहर के मध्यवर्गी आधुनिक पाठक तो और भी कम। ख़ैर।

कविता का जो रूप मैंने अपने लिए पाया है उस तरह की नयी कविता में छह बातों की तरफ़ ध्यान दिलाना चाहूँगा।

**1. सच्चाई का अपना ख़ास रूप**

कविता में हम अपनी भावनाओं की सच्चाई खोजते हैं। उस खोज में उस सच्चाई का अपना ख़ास रूप भी हमें मिलना ही चाहिए, जिस हद तक भी मुमकिन हो। क्योंकि किसी भी चीज़ का असली रूप उस चीज़ से अलग तो सम्भव नहीं।

**2. ललित कलाएँ काफ़ी एक-दूसरे में समोई हुई हैं**

तस्वीर, इमारत, मूर्ति, नाच, गाना और कविता—इन सबमें, बहुत कुछ एक ही बात अपने-अपने ढंग से खोलकर या छिपाकर या कुछ खोलकर कुछ छिपाकर कही जाती है। मगर इनके ये अलग-अलग ढंग दरअस्ल एक दूसरे से ऐसे अलग-अलग नहीं हैं, जैसे कि ऊपरी तौर से लगते हैं।

**3. कवि की ज़ाती दिलचस्पियाँ**

यही नहीं, कलाकार के ज़ाती शौक़ उसकी अपनी ख़ास दिलचस्पियाँ भी उसकी कला का रूप निखारने और सँवारने में जाने-अनजाने तौर से मदद करती हैं। ये रुकावट भी बन जाती हैं। मगर नयी कला में इनसे फ़ायदा उठाया गया है।

**4. दूसरी भाषाओं का ज्ञान**

दो-चार अलग-अलग भाषाओं के अलग-अलग मिज़ाज की, और उनकी अलग-अलग तरह की रंगीनियों और गहराइयों की जानकारी हमें जितना ही ज़्यादा होगी उतना ही हम फैले हुए जीवन और उसको झलकाने वाली कला के अन्दर सौन्दर्य की पहचान और सौन्दर्य की असली क़ीमत की जानकारी बढ़ा सकेंगे। भाषाओं की जानकारी के पीछे यह दृष्टिकोण कम-से-कम नये कलाकार के लिए तो बहुत काम का है।

**5. भाषा और कला के रूपों का कोई पार नहीं है**

हम-आप ही अगर अपने दिल और नज़र का दायरा तंग न कर लें तो देखेंगे कि हम सबकी मिली-जुली ज़िन्दगी में कला के रूपों का ख़ज़ाना हर तरह बेहिसाब बिखरा चला गया है। सुन्दरता का अवतार हमारे सामने पल-छिन होता रहता है। अब यह हम पर है, ख़ासतौर से कवियों पर, कि हम अपने सामने और चारों ओर की इस अनन्त और अपार लीला को कितना अपने अन्दर बुला सकते हैं।

इसका सीधा-सादा मतलब हुआ अपने चारों तरफ़ की ज़िन्दगी में दिलचस्पी लेना, उसको ठीक-ठीक यानी वैज्ञानिक आधार पर (मेरे नज़दीक यह वैज्ञानिक आधार मार्क्सवाद है) समझना और अनुभूति और अपने अनुभव को इसी समझ और जानकारी से सुलझाकर स्पष्ट करके, पुष्ट करके अपनी कला-भावना को जगाना। यह आधार इस युग के हर सच्चे और ईमानदार कलाकार के लिए बेहद ज़रूरी है। इस तरह अपनी कला-चेतना को जगाना और उसकी मदद से जीवन की सच्चाई और सौन्दर्य को अपनी कला में सजीव से सजीव रूप देते जाना : इसी को मैं 'साधना'

समझता हूँ, और इसी में कलाकार का संघर्ष छिपा हुआ देखता हूँ। कला में भावनाओं की तराश-खराश, चमक, तेज़ी और गर्मी सब उसी से पैदा होंगी, उसी 'संघर्ष', और 'साधना' से, जिसमें अन्तर-बाह्य दोनों का मेल है। कला के इस सौन्दर्य और उससे मिलनेवाले आनन्द के शत्रु वे जहाँ और जिस भेस में भी होंगे, जो भी होंगे—परिस्थितियाँ व्यक्ति या दल—हर ईमानदार कलाकार के शत्रु होंगे। क्योंकि आज, घोर और बढ़ती हुई अन्धी प्रतिक्रिया के रहते, चारों ओर अबाध फैले जीवन की पूरी शक्तियों और सारे सौन्दर्य को कलाकार मुक्त रूप से कैसे दरसा सकेगा ?— यहीं से उठती है सच्चे प्रगतिशील साहित्य की बहस और उसकी ज़िम्मेदारियाँ।

कला जीवन का सच्चा दर्पण है। और आज के सभी देशों के जीवन में कायापलट तेज़ी के साथ आ रही है; क्योंकि आज किसको नहीं दिखाई दे रहा है कि यह क्रान्ति का युग है। थके हुए पुराने कलाकारों की आहों को भी उससे चमक मिलती है। नयों की तो वह काव्य-सामग्री ही है; क्योंकि वही उनके और उनके आगे की पीढ़ियों के लिए नये, उन्मुक्त, सुखी, आदर्श जीवन की नींव डालनेवाला है।

---

शमशेर बहादुर सिंह

# *मुसद्दस* और *भारत भारती* की सांस्कृतिक भूमिका

हाली की मशहूर क़ौमी नज़्म *मुसद्दस* अब से छह पीढ़ी पूर्व और मैथिलीशरण जी की *भारत भारती* चार पीढ़ी पूर्व देश की जागरूक भावनाओं का प्रतिबिम्ब हैं। दोनों मिलकर हमारी आज की जातिगत राष्ट्रीय भावनाओं की भूमिका प्रस्तुत करती हैं। दोनों में हमारी संस्कृति के मुख्य आधारों का परिचय देने का प्रयत्न किया गया है। *मुसद्दस* में मुस्लिम संस्कृति का, *भारत भारती* में हिन्दू संस्कृति का।

इन दोनों कविताओं में कवियों ने बहुत कठिन ज़िम्मेदारी अपने ऊपर ली और उसे शक्ति-भर निभाया। उन्होंने लोकप्रिय काव्य-रूप में जातीय इतिहास का मूल्यांकन, 'वर्तमान' का सच्चा वर्णन, और भविष्य के लिए स्पष्ट कर्तव्य-निर्देश हमें दिया।

दोनों में कवि अपने पाठक से कहता है कि समय बदल गया है, तुम्हें भी उसके अनुरूप बदल जाना चाहिए—मगर अपनी परम्परा की मर्यादा रखते हुए।

हम लेख के पहले भाग में *मुसद्दस* को लेंगे।

हाली कहते हैं—

"ज़माने का नया ठाट देखकर पुरानी शायरी से दिल भर गया था और झूठे ढकोसले बाँधने से शर्म आने लगी थी। क़ौम के एक सच्चे ख़ैरख़्वाह ने आकर मलामत की[1] और ग़ैरत[2] दिलायी कि हैवानेनातिक[3] होने का दावा करना और ख़ुदा की दी हुई ज़बान से कुछ काम न लेना बड़े शर्म की बात है।"

"क़ौम की हालत तबाह है। मगर नज़्म क़ौम को जगाने के लिए अब तक किसी ने नहीं लिखी।" अस्तु, "बरसों की बुझी हुई तबीअत में एक वलवला[4] पैदा हुआ, और बासी कढ़ी में एक उबाल आया। अफ़सुर्दा[5] दिल, बोसीदा[6] दिमाग़, जो अमराज़[7] के मुतवातिर[8] हमलों से किसी काम के न रहे थे, उन्हीं से काम लेना शुरू किया और एक मुसद्दस[9] की बुनियाद डाली।"—**भूमिका,** *मुसद्दस*

1 झिड़का, 2. शर्म, 3. मुँह से बोल लेने वाला जीव, 4 उमंग, 5 मुर्झाया हुआ, 6. सड़ा हुआ, 7 रोग, 8 लगातार। 9 मुसद्दस का अर्थ है छह-छह पदों के बन्द वाली कविता। हाली के इस मुसद्दस का शीर्षक 'मद्दो-जज़े इस्लाम' अर्थात् 'इस्लाम का ज्वार-भाटा' है, पर वह 'मुसद्दसे हाली' अथवा केवल 'मुसद्दस' के नाम से ही अधिक विख्यात है।

यह 'क़ौम का सच्चा ख़ैरख़्वाह' सर सैयद अहमद ख़ाँ थे। सर सैयद अहमद उस समय मुसलमानों में एक बहुत बड़े सांस्कृतिक आन्दोलन की पेशवाई कर रहे थे। हाली के *मुसद्दस* का सम्बन्ध उसी आन्दोलन से है। इसको समझने के लिए यहाँ मुसलमानों के राष्ट्रीय इतिहास की एक झलक ले लेना ज़रूरी होगा।

सन् सत्तावन की क्रान्ति विफल हो जाने के बाद मुसलमानों में भारी निराशा और पस्ती छा गयी। मुग़ल साम्राज्य, अवध की नवाबी और कितनी ही रियासतें, बड़ी-बड़ी जागीरें, और उनका वैभव और सत्ता, *ख़त्म* हो चुकी थी और उनके साथ-साथ वे सांस्कृतिक संस्थाएँ भी, जिनका पोषण उन अमलदारियों में होता आया था। शिक्षा के लिए एक तिहाई माफ़ियाँ ('वक़्फ़') मुसलमानों को मिली हुई थीं, वे सब सरकार ने अपने हाथ में ले लीं। फ़ौजी महकमा भी मुसलमानों के लिए बन्द हो गया। गवरमेंट को मुसलमानों पर भरोसा नहीं था। पंजाब में, लगभग सन् 1830 में अंग्रेज़-विरोध पहले ही हावी आन्दोलन का रूप धारण कर चुका था। यह कई पीढ़ी तक चला। इस सक्रिय विरोध के पीछे पुनरुत्थान की तीव्र भावना थी।

मौलवियों ने अपने फ़तवों में घोषित किया कि फ़िरंगी इस्लाम का दुश्मन है। तीव्र अंग्रेज़-विरोधी कटुता मुसलमानों में भर गयी; लेकिन उनका आन्दोलन दबा दिया गया। फलस्वरूप पस्ती और निराशा के वातावरण में मुस्लिम समाज की मर्यादा नष्ट होने लगी। इस दशा को साफ़-साफ़ सबसे पहले देखा सर सैयद ने।

सर सैयद ने मुसलमानों को चेतावनी दी कि युग की माँगें बदल गयी हैं। संसार की जातियों में प्रगति की होड़ लगी हुई है। जिस जाति के अधिकार में विज्ञान, व्यापार और राजनीति की बागडोर होगी, वही औरों से बाज़ी ले जायेगी। उन्होंने मुसलमानों को अन्धविश्वास और अकर्मण्यता के गर्त से निकालकर देश की सामान्य राजनीति तथा सामाजिक प्रगति में योग्यता से भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया। उनके लिए अलीगढ़ और दिल्ली में कालेजों की नींव डाली, स्कूल खोले, अख़बार जारी किया; सभाओं और असेम्बली में हर प्रकार से उनकी उन्नति के लिए प्रचार किया।

हाली ने भी अपनी कविता का पुराना स्वर बदल दिया, और जाति और देश के लिए मंगलकारी उद्देश्यपूर्ण रचनाएँ लिखना आरम्भ कर दीं; जैसे—'बेवाओं की मनाजात', 'बरखा-रुत', आधुनिक शैली पर काव्यालोचना, आदि। देशवासियों की भावनाओं का परिष्कार और परिमार्जन वे उसी प्रकार कर रहे थे जिस प्रकार सर सैयद उनकी रूढ़ मान्यताओं और पुराने विचारों का। उत्तर भारत के सांस्कृतिक समुत्थान में हाली का इसलिए ऐतिहासिक महत्त्व है।

हाली का *मुसद्दस* मुसलमानों का एक छोटा-मोटा गुटका-रामायण ही समझना चाहिए। हाली ने भी शायद इस *मुसद्दस* से सुन्दर और महत्त्वपूर्ण दूसरी कविता नहीं लिखी।

*मुसद्दस* का आरम्भ इस रुबाई से होता है—

पस्ती का कोई हद से गुज़रना देखे !
इस्लाम का गिरकर न उभरना देखे !
माने न कभी कि मद है हर जज़्र के बाद
दरिया का हमारे जो उतरना देखे !

हाली के काव्य में उनका पूरा युग बोलता है। उस युग की पूरी माँगें मुखर होती हैं; और कितना दर्द है उस स्वर की उन्मुखता में, कितना निश्छल अपनाव, कितना सीधा-सादा असर !

बहुत आग चिलमों की सुलगाने वाले,
बहुत घास की गठरियाँ लाने वाले,
बहुत दर-ब-दर माँगकर खाने वाले,
बहुत फ़ाके कर-करके मर जाने वाले,
—जो पूछो कि किस ख़ान के हैं वो जौहर
तो निकलेंगे नस्ले-मलूक[1] उनमें अक्सर।
यह जो कुछ हुआ, एक शम्मा है उसका
कि जो वक़्त यारों पे है आने वाला,
नहीं गर्चे कुछ क़ौम में हाल बाक़ी,
अभी और होना है परमाल बाक़ी।

हाली ने क़ौम की दर्दनाक हालत देखी, लेकिन वह इस अवनति से हताश नहीं हुए।

'ज़मीमे' (*मुसद्दस* के परिशिष्ट भाग) में आशा का धुँधला प्रकाश इस गहरी करुणा के विराम को मिटाने लगता है। हम देखते हैं, धीरे-धीरे उभर, समाज के प्रत्येक अंग में करवटें लेती, अलसाई चेतना किस प्रकार शैथिल्य को त्यागकर जीवन को प्रगति की ओर उन्मुख कर रही है—

बहुत दिन से दरिया का पानी खड़ा था।
हुई थी ये पानी से ज़ायल रवानी
कि मुश्किल से कह सकते थे उसको पानी,
पर अब उसमें रौ कुछ-कुछ आने लगी है,
किनारों को उसके हिलाने लगी है;
हवा बुलबुले कुछ उठाने लगी है,

---

1 राजसी घराने के

अफ़ूनत[1] वो पानी से जाने लगी है...

और लोग अब—

ज़रा दस्तो-बाज़ू हिलाने लगे हैं;
वो सोते में कुछ कुलबुलाने लगे हैं !...
बुज़ुर्गी के दावों से फिरने लगे हैं;
वो ख़ुद अपनी नज़रों से गिरने लगे हैं।...

नयी रोशनी से हैं आँखें चुराते,
मगर साथ ही यह भी हैं कहते जाते,
कि दुनिया नहीं गर्चे रहने के क़ाबिल
पर इस तरह दुनिया में रहना है मुश्किल...
धुएँ कुछ दिलों से निकलने लगे हैं;
कुछ आरे-से सीनों पे चलने लगे हैं;
वो ग़फ़लत की रातें गुज़रने को हैं अब,
नशे जो चढ़े थे उतरने को हैं अब।

नहीं गर्चे कुछ दर्दे-इस्लाम उनको,
बराबर है, हो सुब्ह या शाम, उनको,
मगर क़ौम की सुनके कोई मुसीबत,
उन्हें कुछ-न-कुछ आ ही जाती है रिक्क़त[2]।

मेहनत करने की ठानकर कुछ लोग उठते हैं, अपने को वक़्त के तक़ाज़ों पर ढालते हैं। समाज की रोज़ाना ज़िन्दगी के हर मोड़ पर वह अपने उपयोग और अपनी इन्सानियत का सबूत देते हैं। पर कुछ काहिलुलवजूद, सन्देहधारी भी हैं; जो स्वार्थी हैं, चाहते हैं बस खाने को पेट भर मिलता रहे, मेहनत की सख़्तियाँ उठाने की उनमें हिम्मत नहीं; अपनी निष्फलता पर रोते हैं, कि दैव उनसे प्रसन्न नहीं।

हाली कहते हैं कि इन्हीं निकम्मों ने, जो नहीं जानते कि 'हरकत में होती है बरकत ख़ुदा की', सलतनतों को तबाह कर दिया है। वे आगाह करते हैं कि—

बचो ऐसे शूमों की परछाइयों से
डरो ऐसे चुपचाप यग़ामइयों[3] से।

लेकिन पुरुषार्थों का भी एक संसार है। ये पुरुषार्थी हैं किसान-मज़दूर और उनके साथी बुद्धिजीवी। इनकी प्रशस्ति हाली ने दिल खोलकर लिखी है।

---

1. दुर्गन्ध,
2. झेंप, शर्मिन्दगी,
3. लुटेरे,

वो थकते हैं और चैन पाती है दुनिया;
कमाते हैं वह और खाती है दुनिया।
समझते नहीं इसमें जाँ अपनी जाँ को,
वो मर-मर के रखते हैं ज़िन्दा जहाँ को।
न लू जेठ की दम तुड़ाती है उनका।
न ठिर माघ की जी छुड़ाती है उनका।
उन्हीं का उजाला है हर रहगुज़र में।
उन्हीं की है यह रौशनी दश्तो-दर में[1]।
हरेक मुल्क में ख़ैरो-बरकत है उनसे
हरेक क़ौम की शानो-शौकत है उनसे।
नजाबत है उनसे, शराफ़त है उनसे,
शरफ़[2] उनसे, फ़ख़्र उनसे, इज्ज़त है उनसे।

फिर हाली विज्ञान की दुनिया में अपनी जाति का आह्वान करते हैं। इसी दुनिया में पश्चिमी राष्ट्रों ने पूर्व को परास्त किया है।

बस अब इल्मो-फ़न के वो फैलाओ सामाँ
कि नस्लें तुम्हारी बनें जिनसे इन्साँ,
ग़रीबों को राहे-तरक्की हो आसाँ,
अमीरों में हो नूरे-तालिम ताबाँ[3]।
रईसों की, जागीरदारों की दौलत,
फ़क़ीहों[4] की, दानिशवरी[5] की फ़ज़ीलत[6],
बुजुर्गों की औ' वाईज़ों[7] की नसीहत
अदीबों[8] की औ' शायरों की फ़साहत[9]
जँचे तब कुछ आँखों में अहले-वतन की
जो काम आये बहबूद में[10] में अंजुमन की।

हाली जन-समाज के बढ़ते हुए आत्मविश्वास को, लोकतन्त्र की बढ़ती रौ को, आने वाले आन्दोलनों को, धुँधला-धुँधला मगर असंदिग्ध रूप से महसूस कर रहे थे। इसीलिए इस्लाम का लोकतन्त्रवादी पहलू अपने पाठकों के सामने रखा और अपने नबी को एक पेशवा, लगभग एक नये राष्ट्र के प्रेसिडेण्ट का-सा दर्जा दिया—एक श्रेष्ठ मानव का, देवता का नहीं, एक ऐसे मनुष्य का जो अपने अनुयायियों को स्पष्ट समझाकर कहता है कि मेरी हद से रुतबा न मेरा बढ़ाना :

नहीं बन्दा होने में कुछ मुझसे कम तुम,

---

1. जंगल और बस्ती, 2. श्रेष्ठता 3. दीप्त 4. धर्मशास्त्रवेत्ताओं, 5. बुद्धिमानों, 6. श्रेष्ठता, 7. उपदेशकों, 8. साहित्यिकों, 9. रसज्ञता, 10 भलाई,

कि बेचारगी में बराबर हैं हम तुम।
मुझे दी है हक़ ने बस इतनी बुज़ुर्गी
कि बन्दा भी हूँ उसका औ' एलची[1] भी।

हाली ने अपनी रचना में कहीं भी व्यक्ति को समाज में पहला स्थान नहीं दिया, बल्कि साफ़ कहा कि—

जमाअत[2] की इज़्ज़त में है सबकी इज़्ज़त,
जमाअत की ज़िल्लत[3] में है सबकी ज़िल्लत।
रही है न हरगिज़ रहेगी सलामत—
न शख़्सी[4] बुज़ुर्गी, न शख़्सी हुकूमत।

अहं का भाव इस पूरे 'मुसद्दस' में कहीं नहीं उठता। हाली में किसी प्रकार की साम्प्रदायिक संकीर्णता की बू कहीं दूर तक भी हमें नहीं मिलती। ऐसी भावना, उनके चरित्र के, जैसा हम उसे जानते हैं, विरुद्ध होती। नबी ने धार्मिक संकीर्णता और विद्वेष से अनुयायियों को दूर रखा था। *मुसद्दस* के शब्दों में, उसने—

डराया तअस्सुब[5] से उनको य' कहकर
कि ज़िन्दा रहा औ' मरा जो इसी पर
हुआ वह हमारी जमाअत से बाहर;
वो साथी हमारा, न हम उसके यावर[6]।

कहा—है य' इस्लामियों की अलामत[7]
कि हमसाये[8] से रखते हैं वो मोहब्बत।
वो जो हक़ से अपने लिये चाहते हैं,
वही हर बशर के लिए चाहते हैं।

जब हम पूरी रचना को देखते हैं तो उसका संगठन अद्‌भुत रूप से पुष्ट जान पड़ता है। कोई एक भाव बिल्कुल उसी रूप में दोहराया नहीं गया। पूरी कविता की लड़ियाँ आपस में इस तरह गुथी हुई हैं, कि अगर एक को भी तोड़कर अलग करें तो पूरी कविता का सौन्दर्य उसी परिमाण में टूटता और बिखरता है। एक-एक बन्द की लड़ी भी स्वयं पूरी शृंखला में बँधी रहकर ही अपना पूरा चमत्कार और प्रभाव दिखाती है। किसी कलात्मक रचना की सफलता की शायद सबसे बड़ी कसौटी यही है कि उसके सब जोड़-बन्द इस तरह एक-दूसरे से मिले हुए चले जायें कि वह एकाएक महसूस न हों। इस दृष्टिकोण से यह पूरा 'मुसद्दस'—(रुबाई), 'मुसद्दस', 'ज़मीमा' (परिशिष्ट); बल्कि 'हुआ' (ताज संस्करण) को भी मिलाकर—एक प्रबन्ध-काव्य नहीं, एक लिरिक काव्य है। इसका वही रस-सौन्दर्य है जो एक सरस दोहे का

1. दूत, 2. संघ, समाज, 3. अपमान, 4. व्यक्ति की, 5. धार्मिक असहिष्णुता,
6. मददगार, 7. पहचान, 8 पड़ोसी

होता है अथवा एक शेर या 'सानेट' का माना जाता है, अर्थात् सम्पूर्ण रचनाएँ भावों की आन्तरिक एकता की सहज परिव्याप्ति; जैसे संगीत के राग में होती है।

हाली यूनानी, शेष यूरोपीय और अंग्रेज़ी साहित्य की ऐतिहासिक रूप-रेखा और उनकी विशिष्ट रचनाओं से परिचित थे और अपनी रचनाओं की भाव-भूमि को प्रशस्त रूप से उदार और आधुनिक बनाने में उस ज्ञान से उन्होंने पूरा-पूरा लाभ उठाया था।

उनकी रचनाओं में—इस 'मुसद्दस' में तो और भी—अपने देश और अपनी जाति से ही नहीं, संसार की समस्त जातियों और देशों से उनका स्वाभाविक प्रेम झलकता है। उनकी उन्नति से ईर्ष्या का नहीं, स्पर्धा का भाव उनमें जोश मारता है। एक स्थान पर वह कहते हैं कि अगर कोई ऐसा ऊँचा टीला हो कि वहाँ से सारी दुनिया नज़र आती हो, और फिर उस पर एक ज्ञानी चढ़े 'कि कुदरत के दंगल का देखे तमाशा' तो—

> वह देखेगा हरसू[1] हज़ारों चमन वाँ :
> बहुत ताज़ातर सूरते-वागे-रिज़वाँ[2] ;
> बहुत उनसे कमतर, प' सरसब्ज़ो-ख़न्दाँ[3],
> बहुत, खुश्क औ' बेतरावत—मगर, हाँ,
> नहीं लाए गो बर्गो-बार[4] उनके पौदे,
> नज़र आते हैं होनहार उनके पौदे।

इस पूरे बन्द के लहजे में संसार की विभिन्न जातियों से हाली का वही प्रेम टपकता है जो एक पुराने माली का अपने उद्यान से होता है।

देश-प्रेम निस्सन्देह हाली में कूट-कूटकर भरा था। 'हुब्बे-वतन' नामक अपनी मशहूर कविता में, जो आज से सत्तर साल पहले लिखी गयी थी, वह स्वदेश से, अपने सर्वोच्च स्वर्ग से, पूछते हैं—

> ए वतन, ए मेरे बहिश्ते-वरीं !
> क्या हुए तेरे आसमान ओ ज़मीं ?

" क़ौम के लिए अपने बेहुनर हाथों से एक आईनाख़ाना बनाया, जिसमें आकर वह अपने ख़तो-ख़ाल देख सकते हैं कि हम कौन थे और क्या हो गये।"

—हाली (मुसद्दस की पहली भूमिका)

> "आओ, विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी,
> हम कौन थे, क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी।"

—मैथिलीशरण ('भारत-भारती')

भारत-भारती हिन्दी में हिन्दुओं के लिए बीसवीं सदी के प्रारम्भ में हाली के क़ौमी

---

1. हर तरफ़, 2. स्वर्ग के उद्यान के समान, 3. हरे-भरे, हँसते हुए
4 पत्ते और फल।

'मुसद्दस' की कमी की—एक सांस्कृतिक माँग की—पूर्ति है, जैसा कि इसकी रचना का कारण बताते हुए स्वयं मैथिलीशरण जी भूमिका में लिखते हैं—

"बड़े खेद की बात है कि हम लोगों के लिए हिन्दी में अभी तक इस ढंग की कोई पुस्तक नहीं लिखी गयी जिसमें हमारी प्राचीन उन्नति, अर्वाचीन अवनति का वर्णन भी हो और भविष्यत् के लिए प्रोत्साहन भी।··· देशवत्सल सज्जनों को यह त्रुटि बहुत खल रही है। ऐसे महानुभावों में श्रीमान् राजा रामपाल सिंह जी सी.आई.ई. महोदय हैं।

"कोई वर्ष हुए मैंने 'पूर्व दर्शन' नाम की एक तुकबन्दी लिखी थी। उस समय चित्त में आया था कि हो सका तो कभी इसे पल्लवित करने की चेष्टा भी करूँगा। इसके कुछ ही दिनों बाद उक्त राजा साहब का एक कृपापत्र मुझे मिला जिसमें श्रीमान् ने मौलाना हाली के मुसद्दस को लक्ष्य करके एक कविता-पुस्तक हिन्दुओं के लिए लिखने का मुझसे अनुग्रहपूर्वक अनुरोध किया।···"

भारत-भारती सन् 1913 में प्रकाशित हुई।

वास्तव में भारत-भारती की प्रेरक शक्तियों के पीछे एक युग विशेष की संस्कृतियाँ थीं। उस समय की परिस्थितियों का जन्म उस आन्दोलन से हुआ था जिसकी दो-तीन पीढ़ियाँ बीत चुकी थीं। जब एक ओर राजा राममोहन राय (1772-1833 ई.), ईश्वरचन्द्र विद्यासागर (1820-91), केशवचन्द्र सेन (1838-84) आदि समाज-सुधार-सम्बन्धी प्रचार-कार्य कर रहे थे, और दूसरी ओर बंगाल, महाराष्ट्र, पंजाब और पश्चिमी युक्तप्रान्त में रामकृष्ण परमहंस (1836-86), स्वामी विवेकानन्द (1862-1902), स्वामी दयानन्द सरस्वती (1834-83) और स्वामी रामतीर्थ का धार्मिक आध्यात्मिक पुनरुत्थानवादी प्रचार बढ़ रहा था।

अस्तु, उन्नीसवीं शताब्दी में प्रचलित धर्म-सम्बन्धी बहुत से नये दृष्टिकोण मैथिलीशरणजी के समय तक हिन्दू जनता के संस्कार में घुल मिल गये थे। इस प्रकार *भारत-भारती* के प्रणेता को जिस युग का वातावरण मिला, वह था पंजाब और पश्चिमी युक्तप्रान्त में आर्यसमाजी प्रचार कार्य के उत्तरार्द्ध का। हिन्दुओं में चारों ओर 'वैदिक युग' और 'आर्यसभ्यता' की गूँज सुनायी पड़ती थी।

बहुत-कुछ मनुस्मृति का 'सनातनी' पक्ष भी लिए हुए एक प्रगतिशील समन्वय के रूप में *भारत-भारती* उसी की भावुक प्रतिध्वनि है।

कवि की आदर्श समाज-कल्पना का आधार रामायण-महाभारत कालीन चातर्वर्ण्याश्रम है।

हिन्दू समाज के चारों वर्णों में जो दोष पैदा हो गये हैं, कवि चाहता है कि वे दूर हो जायें पर वह यह भी चाहता है कि वह व्यवस्था आज की परिस्थितियों के अनुकूल बनकर अपनी पूर्व मर्यादा को अक्षुण्ण रखे।

*मुसद्दस* और *भारत-भारती* दोनों अपने वर्ण्य विषय और उद्देश्य में समान हैं; पर भिन्न 'देश-काल' के प्रभाव से उनके निहित दृष्टिकोण और भावनाओं के रूप में कुछ अन्तर आ गया है—मौलिक अन्तर।

हिन्दी में हाली का समानान्तर साहित्यकार वास्तव में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र है। दोनों की प्रेरक शक्तियाँ वे दो उपरोक्त सुधारवादी सांस्कृतिक आन्दोलन हैं, जिनके प्रतीक रूप राजा राममोहन राय और (उनसे लगभग 30 वर्ष बाद) सर सैयद अहमद माने जाते हैं। हिन्दुओं और मुसलमानों की राजनीतिक-सांस्कृतिक नव-चेतना में यह तीस-पैंतीस वर्ष का अन्तर हमारी बहुत-सी राष्ट्रीय, साम्प्रदायिक और सांस्कृतिक समस्याओं के मूल में है।

हाली और भारतेन्दुजी के समय में सामाजिक सुधार और राष्ट्रीय जागरण की नव-युगीन चेतना, पंजाब और युक्तप्रान्त में अपने तीव्रतम रूप में उभरी हुई थी। इन दोनों महान् साहित्यकारों का गद्य और पद्य उस युग की पूर्ण स्फूर्ति लिए हुए है। उस युग की विचारधारा में अपनी भाषाओं के ये दोनों प्रथम और अग्रणी खेवा हैं। एक ओर हाली का *मुसद्दस* और उनकी मसनवियाँ, दूसरी ओर भारतेन्दुजी के नाटक सहज ही देश में उठती नयी जातीय राष्ट्रीयता को व्यक्त कर रहे थे।

मध्यवर्ग की सामाजिक शक्ति का वह उठता युवा-काल था। हाली और भारतेन्दु की भावनाओं में उसे पहले-पहल अपने अस्तित्व का बोध और अनुभव हुआ।

मैथिलीशरणजी के वयस्क होने तक यह अनुभव संस्कार-रूप में परिणत हो चुका था और नयी धार्मिक-सांस्कृतिक मान्यताएँ बहुत-कुछ स्थिर हो चुकी थीं।

*मुसद्दस* की तो पहले-पहल बाज़ मुस्लिम हलक़ों में कटु उपेक्षा भी की गयी थी; पर *भारत-भारती* की—*मुसद्दस* के एक वृहद्, सुपरिवर्द्धित, 'आर्य' संस्करण की—तो, अब शुरू से ही माँग थी। एक प्रतिभाशाली उत्साही युवक कवि द्वारा उसकी पूर्ति सहज ही सम्भव थी, और मैथिलीशरणजी ने सत्ताइस वर्ष की आयु में सुचारू रूप से वह कार्य सम्पन्न कर दिया, और प्रकाशित होते ही उसकी चारों ओर धूम हो गयी।

वस्तुतः दोनों कवियों के निहित दृष्टिकोण और भावनाओं के रूप में हम उनके समय का प्रभाव स्पष्ट देखते हैं।

*मुसद्दस* में आरम्भ से अन्त तक हाली की सारी चिन्ता वर्तमान के ही विषय में है। भूतकालीन 'सच्चरित्र' 'विद्या' और 'वैभव' का उत्कर्ष पग-पग पर वर्तमान की अधोगति की ओर संकेत करता है। मुस्लिम जाति को स्पष्ट शब्दों में सीधे-सीधे उपदेश आरम्भ हो जाते हैं। *मुसद्दस* के ऐतिहासिक अंश को शिक्षाप्रद बनाने का, हर उदाहरण में वर्तमान के लिए उसकी उपयोगिता ढूँढ़ने का दृष्टिकोण बन्द-बन्द में, पद-पद में अपना प्रमाण देता चलता है। शिक्षा, उद्योग और पुरुषार्थ के आदर्शों पर

ज़ोर देकर—जाति को उठाकर, किस प्रकार उसके देश की अन्य प्रगतिशील जातियों के समकक्ष लाया जाये, मात्र यही हाली की चिन्ता थी। यह चिन्ता हाली के पूरे युग की चिन्ता थी। वह युग जो नवीन शिक्षा-आन्दोलन का युग था, बड़ी सांस्कृतिक हलचलों का युग था। हाली का पाठक उस चिन्ता से स्वयं भर उठता है।

सन् 1879 में हाली के समय में अंग्रेज़ों के प्रति लोगों के हृदय में उतनी कटुता नहीं थी। विक्टोरिया शासन-काल में हाली देखते हैं कि 'राजा से परजा तक सब सुखी हैं।' अपने *मुसद्दस* में वह मुसलमानों से कहते हैं—

हुकूमत ने आज़ादियाँ तुमको दी हैं,
तरक्की की राहें सरासर खुली हैं;
नहीं बन्द रस्ता किसी कारवाँ का''

—पृष्ठ 80 (ताज संस्करण)

लेकिन गुप्तजी के काल में राष्ट्रीय आन्दोलन काफ़ी विकसित हो चुका था। बंग-भंग और स्वदेशी आन्दोलन के रूप में साम्राज्यवाद-विरोधी भावना तीव्रतर होती जा रही थी। पर मैथिलीशरणजी ने लगभग हाली के ही स्वर में स्वर मिलाकर जब कहा कि—

देते हुए भी कर्म-फल हम पर हुई उसकी दया।
भेजा प्रसिद्ध उदार जिसने ब्रिटिश राज्य यहाँ नया।।

—भा.भा., पृ. 80

तो वह अपने समय की प्रगति से कुछ पीछे पड़ गये-से जान पड़ते हैं।

बार-बार और ध्यान से *भारत-भारती* को पढ़ने पर जो भाव मुख्य रूप से हृदय पर जमता है, वह अपने प्राचीन गौरव का है—इसके बावजूद कि इस काव्य के तीन खण्ड हैं—अतीत, वर्तमान और भविष्यत्। फिर भी सम्पूर्ण का भाव लेकर देखें तो भविष्यत् मानो अतीत का ही प्रति-दर्पण है, और वर्तमान उस अतीत का न होना, जिनकी भविष्य के लिए आकांक्षा। मैं अपना यह मत स्पप्ट करना चाहता हूँ कि कवि की मूल भावनाएँ अतीत से जितनी बँधी हुई हैं, उतनी वर्तमान से नहीं, यद्यपि *भारत-भारती* में वर्तमान खण्ड, विषय की दृष्टि से हिन्दी काव्य में अभी तक आप अपनी मिसाल है। फिर भी, अतीत की समाज व्यवस्था कवि को इस हद तक मान्य है कि वह परोक्ष से साधु, सन्त, महन्त, तीर्थ-गुरु, पण्डा आदि का औपयोगिक महत्त्व ही नहीं स्वीकार करता, बल्कि उस चतुर्वर्ण व्यवस्था में, (मसलन) शूद्रों को भी उसी प्रकार अपना सेवा-धर्म पालन करने के उपदेश देता है (पृष्ठ 169-70), जैसे कि अपने-अपने वर्णों की मर्यादा रखते हुए कर्म करने का उपदेश यथाक्रम उसने ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को दिया है। ऐसा सामाजिक दृष्टिकोण उचित था या नहीं—यह प्रश्न यहाँ नहीं उठाना है, केवल जिस चीज़ को यहाँ स्पष्ट करना चाहता हूँ, वह यह

है कि यह दृष्टिकोण, मूलतः सुधारवादी भावनाओं में रोमांटिक रूप से अतीतानुरागी था।

हम देखते हैं कि *भारत-भारती* में कवि की भावुकता और भावनाओं की आधारभूमि आगे की समस्त कृतियों के लिए सीमित हो गयी है। *भारत-भारती* कवि के भविष्य के लिए एक स्पष्ट दिशा इंगित कर देती है। मानो अतीत में ही हमारे स्वर्णादर्श हैं, अतीत में ही 'रामराज्य' है—स्वर्गिक कार्यकलापों का स्वप्न-लोक, वह 'कर्म-भूमि', अयोध्या नहीं, साकेत है। हमारे उसी अतीत के स्वप्न, जो इन आगामी रचनाओं में कृतिबद्ध होते चले गये हैं—*जयद्रथ-वध, हिन्दू, गुरुकुल, साकेत, यशोधरा, द्वापर, सिद्धराज*··· । चौबीस वर्ष बाद भी कवि कहता है—

मुझ पर चढ़ने से रहा, राम ! दूसरा रंग।

—*द्वापर*

समय अपने साथ बहुत-से नये अनुभव लाया, सब अन्ततोगत्वा उसी अतीत गौरव की महत् भावना में मिल गये। राष्ट्रीयता की नयी चेतना, सविनय अवज्ञा आन्दोलन की भावना, उसके नैतिक राजनीतिक आधार, सत्य और अहिंसा, चर्खा और खादी—गाँधीवाद के ये सभी आदर्श कवि ने अपनाये। यहाँ तक कि समय के प्रभाव से 'रहस्यवाद' की छाप भी कवि के भक्त हृदय ने किंचित ग्रहण की; पर इन सबको उसने अपनी उसी पुरातन मुखापेक्षी जातीयमूलक-सुधारवादी राष्ट्रीयता के रंग में रंग लिया, और उस रंग में वयः क्रम के साथ भक्ति की व्यंजना और रूढ़ होती गयी।

ऊपर हम देख चुके हैं कि एक ओर *भारत-भारती* का कवि ब्रिटिश शासन सम्बन्धी विक्टोरिया युगीन धारणाओं को नहीं छोड़ सका था, और दूसरी ओर उसको चतुर्वर्ण व्यवस्था के प्रति रूढ़िवादी मोह था, जबकि *भारत भारती* का युग इन प्रवृत्तियों को पीछे छोड़ता जा रहा था।

*भारत-भारती* के कवि ने फिर भी अपने युग की कई प्रवृत्तियों को एक सबल और अनुप्रेरक रूप दिया। यही उसकी सबसे बड़ी विशेषता थी, और इसी कारण वह अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। जब कवि कहता है—

शासन किसी पर-जाति का चाहे विवेक-विशिष्ट हो,
सम्भव नहीं है, किन्तु जो सर्वांश में वह इष्ट हो;
यह सत्य है, तो भी ब्रिटिश शासन हमें सम्मान्य है,
वह सुव्यवस्थित है, तथा आशा प्रपूर्ण वदान्य है।

तो इस उक्ति में स्पष्ट ही दासता का विरोध भी, यद्यपि वह दूसरी भावनाओं से सीमित है, हम पाते हैं।

*भारत-भारती* के कवि ने राष्ट्र और उसकी परम्पराओं का दिग्दर्शन कराया, और उसे प्रेम करने के लिए हिन्दी संसार को अनुप्रेरित किया। यह देश-प्रेम की सबसे पहली सीढ़ी है।

भूलोक का गौरव, प्रकृति का पुण्य लीलास्थल कहाँ !
फैला मनोहर गिरि हिमालय और गंगा जल जहाँ !
सम्पूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है !
उसका कि जो ऋषिभूमि है, वह कौन ! भारतवर्ष है।

इन पंक्तियों को पढ़कर किस भारतीय का हृदय अभिमान से न भर उठेगा ! *भारत-भारती* का कवि इस देश की पीड़ित और दुखी जनता से प्रेम करता है। किसको न याद होंगे कृषकों के जीवन पर वे कितने ही पद—

बरसा रहा है रवि अनल, भूतल तवा-सा जल रहा !

आदि; जहाँ रह-रहकर बार-बार यह मार्मिक भाव प्रश्न बनकर उठता है—

किस लोभ से वे आज भी लेते नहीं विश्राम हैं ?

इस युवक कवि ने नवीन भारत को अपनी आँखों से देश का वास्तविक चित्र दिखाया।

दुर्भिक्ष मानो देह धर के घूमता सब ओर है,
हा अन्न ! हा ! हा ! अन्न का रव गूँजता सव ओर है;
आते प्रभंजन से यथा तप मध्य सूखे पत्र हैं,
लाखों यहाँ भूखे भिखारी घूमते सर्वत्र हैं।

जनता ऐसी विषण्ण परिस्थिति में है, मगर सामर्थ्यशील धनाढ्य वर्ग देश की उन्नति में योग देने के बजाय ऐशो-आराम में डूबा हुआ है। कवि का आक्रोश उभर उठता है। वह व्यंग्य से कहता है, बल्कि उसी वर्ग के एक व्यक्ति के मुख से कहलाता है—

तुम मर रहे हो तो मरो, तुमसे हमें क्या काम है ?
हमको किसी की क्या पड़ी है, काम है, धन-धाम है।
तुम कौन हो जिनके लिए हमको यहाँ अवकाश हो,
सुख भोगते हैं हम, हमें क्या जो किसी का नाश हो ?

भारत के इस वर्ग को इंगित कर कवि ने देश में गुणों की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा—

है चाटुकारी में चतुरता, कुशलता छल-छद्म में,
पाण्डित्य पर-निन्दा-विषय में, शूरता है सद्न में,
कारीगरी है शेष अब साक्षी बनाने में यहाँ।
है सत्य या विश्वास केवल क़सम खाने में यहाँ।
निज अर्थ-साधन में हमारी रह गयी अब भक्ति है,
है कर्म बस दासत्व में, बस स्वर्ण में ही शक्ति है।
पोशाक में शुचिता रही, बस, क्रोध में ही कान्ति है

—इत्यादि

*भारत-भारती* के इस व्यंग्य की चोट आज भी अपना असर रखती है। इनको पढ़कर क्या उस समय का युवक विक्षुब्ध न हो उठा होगा ? उसी युवक को कवि ने ललकारकर कहा—

> अब भी समय है जागने का, देख आँखें खोल के।
> सब जग जगाता है तुझे जगकर स्वयं जय बोल के !

और फिर इस जाग्रत जन-समाज को वह प्रगति का मार्ग दिखाता है। उसे स्वय वर्ण-व्यवस्था की प्राचीन रूढ़ियाँ मान्य हैं, लेकिन जब वह कहता है—

> विपरीत विश्व-प्रवाह के निज नाव जा सकती नहीं
> अब पूर्व की बातें सभी प्रस्ताव पा सकती नहीं।

तो मानो वह अपने युग के उठते हुए स्वार्थचेता मध्यवर्ग की आवाज़ को प्रतिध्वनित कर रहा है। वह युग, कवि के शब्दों में, अपनी भावनाओं और धारणाओं को इस प्रकार साकार होते देख रहा था--

> व्यवसाय अपने व्यर्थ हैं, अब नव्य यन्त्रों के बिना,
> परतन्त्र हैं हम सब कहीं अब भव्य यंत्रों के बिना,
> कल के हलों के सामने अब पूर्व का हल व्यर्थ है,
> उस वाष्प-विद्युद्वेग-सम्मुख देह का वल व्यर्थ है।
> प्राचीन हों कि नवीन, छोड़ो रूढ़ियाँ जो हों बुरी,
> बनकर विवेकी तुम दिखाओ हंस जैसी चातुरी,
> सर्वत्र एक अपूर्व युग का हो रहा संचार है,
> देखो, दिनों-दिन बढ़ रहा विज्ञान का विस्तार है।

और आज जो *भारत-भारती* की यह एक वहुत बड़ी विशेपता मालूम होगी—जोकि अव से तीस वर्ष पूर्व के साहित्यिकों का एक सामान्य गुण अथवा संस्कृति-जन्य स्वभाव था—कि इसमें जातिगत कटुता अथवा संकुचित दृष्टिकोण कवि ने नहीं आने दिया। यह सच है कि दो-एक स्थलों पर कवि का भाव कतिपय संकुचित-सा हो गया है। जैसे, एक स्थान पर कवि को शोक प्रकट करना पड़ा कि 'हाय वैदिक धर्म-रवि था बौद्ध-घन से घिर गया।' और फिर इस बात पर सन्तोष कि 'भगवान शंकर ने भगा दी बौद्ध भ्रान्ति भयावही' पर ये पंक्तियाँ भी देखिये—

> हिंसा बढ़ी ऐसी कि मानव दानवों से बढ़ गये;
> तब शाक्य मुनि के रूप में प्रकटी दयामय की दया।

इसी प्रकार जहाँ 'यवनों' के अत्याचार को भी भुलाया नहीं जा सका है, वहाँ दूसरी ओर यह भी स्वीकार किया है—

> कम कीर्ति अकबर की नहीं सत्शासकों की ख्याति में,
> शासक न उसके सम सभी होंगे किसी भी जाति में,
> हो हिन्दुओं के अर्थ हिन्दू, यवन - यवनों के लिए···

आगे चलकर वे अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हैं और हिन्दू-मुस्लिम एकता पर इस तरह ज़ोर देते हैं–

हिन्दू तथा तुम सब चढ़े हो एक नौका पर यहाँ
जो एक का होगा अहित, तो दूसरे का हित कहाँ।

चरित्र-निर्माण और सांस्कृतिक शिक्षा के लिए कविता का, एक अस्त्र की भाँति, कैसे उपयोग किया जा सकता है, *भारत-भारती* सचमुच उसका मार्मिक उत्तर है।

आज फिर अनेक समस्याओं से गुँथने, उन्हें सुलझाने का संघर्षमय युग आ उपस्थित हुआ है; अब जातीय गौरव गाथाएँ रणभेरियाँ-सी बन गयी हैं। सर्व जन-साधारण, मज़दूर, किसान, विद्यार्थी, स्त्री-वर्ग, नेता, विचारक, लेखक, कलाकार–सभी समाजों, समूहों, धर्मों, जातियों, वर्गों के लोग, सभी अपने-अपने दृष्टिकोण से आज की अपनी अवस्था को समझने और समझाने में दिलचस्पी ले रहे हैं। अस्तु, आज दूसरे विश्वव्यापी महाभारत के बाद–जब संयुक्त लोक-शक्ति फ़ासिज़्म को, अन्तिम नहीं, तो निर्णयात्मक रूप से अवश्य ही हरा चुकी है; जब 'राष्ट्रीयता' की विभिन्न परिभाषाएँ देश-विदेश में प्रचलित हैं; और 'स्वाधीनता', 'देश', 'जाति', 'धर्म', 'वर्ग', 'शासन', 'जन-अधिकार', आदि के वास्तविक रूप और उनकी यथार्थ सीमाएँ अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के अनुसार रोज़-रोज़ निर्धारित और नियोजित होती हैं; और इस घनीभूत विषमता के विरोध में सभी देशों के दलित और अपहृत वर्ग संगठित मोर्चा बनाने लगे हैं, ऐसे समय में–हमें क्या कुछ आवश्यकता नहीं है अपनी स्वस्थ परम्पराओं को उनके सच्चे रूप में समझने की, उनसे शक्ति, स्वास्थ्य और प्रेरणा लेने की; अपने भविष्य-निर्माण में उनसे आवश्यक सहायता और योग प्राप्त करने की ? हमारे समाज की स्वस्थ-भावुक आत्मा को उसकी भारी आवश्यकता है। हमारे 'आर्य', 'मुस्लिम', 'सिख', 'पारसी' अथवा 'ईसाई' समाज को ही नहीं; बल्कि इनसे मिलकर बने पूरे भारतीय समाज को भी उसकी आवश्यकता है। ताकि देश के सभी लोग एक-दूसरे की सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनीतिक परम्परा के प्रभावों से पोषित-अनुप्राणित अपनी परम्परा को, सम्मिलित सत्य के आधार पर, आज की आवश्यकताओं के लिए, अपनी भावना में सजीव कर सकें। उस परम्परा का यथार्थ रूप हड़प्पा और मोहनजोदड़ो से भी पूर्व से नाना रूपों में व्याप्त, आदि 'मनु' के समान, हमारे देश और हमारे प्राणों में अमर है। क्या है आज वह, उसकी प्रेरणाओं का गुम्फित इतिहास क्या है–जनता समझना चाहती है; उसका सम्पूर्ण सच्चा राग अपने प्राणों में भर लेना चाहती है। आज तो मनुष्य मात्र के लिए उदार, विशाल सहानुभूति की शक्ति जिसके गम्भीर हृदय को संस्कार-रूप में मिली होगी, वही केवल प्रखर सत्य का अन्वेषण साहित्यिक–वह चाहे कवि हो या कथाकार–अपनी निर्भय वाणी में देश की अनेक

प्राचीन-अर्वाचीन जातियों तथा भाषाओं की 'नाना-पुराण-निगमागम सम्मत' गाथाओं और इतिहासों का एक समन्वित राग हमारी आधुनिक परिस्थितियों से लड़ती हुई भावनाओं में प्रवाहित कर सकेगा। यह असम्भव नहीं है। उसी परिमाण में असम्भव नहीं है, जिस परिमाण में हमारा विश्वास अपने देश की शक्तियों में अजेय और अक्षुण्ण है।

सम्प्रति ऐसी पृष्ठभूमि में *मुसद्दस* और *भारत-भारती* का गम्भीर अध्ययन न केवल खड़ी बोली के नये साहित्यिक के लिए, बल्कि हिन्दी और उर्दू के साधारण पाठक के लिए भी, सर्व--विशेषकर सांस्कृतिक दृष्टिकोण से--उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है।

---

# यथार्थ और यथार्थवाद

यथार्थ की पकड़ की इस शब्द-बहुल चर्चा में जो पिछले दस-पन्द्रह वर्षों की एक विशेषता रही है लोग प्रायः दो चीज़ें मानकर चलते जान पड़ते हैं–

जो दोनों ही प्रश्नाधीन हैं। पहली यह कि 'यथार्थ' 'बाहर' होता है, सतह पर होता है; दूसरी यह कि यथार्थ इकहरा या एक-स्तरीय होता है। जो दीखता नहीं है, या थोड़ा और आगे बढ़कर कह लें कि जो ऐन्द्रिय चेतना द्वारा ग्राह्य नहीं है, वह यथार्थ नहीं है–यह एक नये प्रकार का अन्धापन है जिसे यथार्थ-बोध का नाम दिया जा रहा है। एक दूसरे प्रकार की संकीर्णता यह है कि ये ऐन्द्रिय अनुभव भी–और हमारे सारे राग-बन्ध और अनुभव ही–वास्तव में वे या वैसे नहीं हैं जैसा हम उन्हें अनुभव कर रहे हैं, बल्कि केवल कुछ बुनियादी सम्बन्धों पर खड़ी की गयी निर्मिति हैं, और ये बुनियादी सम्बन्ध किसी भी मानवीय उद्यम में निहित शोषक और शोषित के सम्बन्ध हैं। यानी यथार्थ वास्तव में एक अमूर्त प्रक्रिया ही है; मूर्त्त जो कुछ है वह केवल उस पर खड़ा किया गया एक ढाँचा है। अगर बुनियादी यथार्थ अमूर्त है, तो यह दावा कैसे प्रमाणित किया जा सकता है कि केवल एक अमूर्तन ही यथार्थ अथवा सत्य अथवा सात्त्विक है, और दूसरे सब अमूर्तन मिथ्या ? अगर यथार्थ अनेक-स्तरीय होते हैं तो केवल एक स्तर को देखने और बाक़ी सबको अनदेखा करने में कौन-सी बहादुरी या विशेष प्रतिभा है ?

अन्यत्र मैंने यथार्थ की पहेली को एक-दूसरे रूप में रखा है : "अगर हम 'यथार्थ' के 'भीतर' हैं तो उसे 'देखते' कैसे हैं ? अगर हम उसके 'बाहर' हैं तो वह 'यथार्थ' कैसे है ?" मैं जानता हूँ कि समस्या का यह निरूपण एक सर्जक की समस्या का निरूपण है। यानी यह पहेली 'वास्तविकता' के अर्थ में 'यथार्थ' के बारे में नहीं है, सम्प्रेष्य रचना के रूप में ही यथार्थ की पहचान के बारे में है। लेकिन यहाँ वही तो प्रयोजनीय है–यथार्थ सत्ता के बारे में दार्शनिक अथवा पारमार्थिक प्रश्न उठाना हमें अभीष्ट नहीं है।

मैं मानता हूँ कि यथार्थ इकहरा या सपाट या एक-स्तरीय नहीं होता। यह भी कहा जा सकता है कि कला के क्षेत्र में एक विशेष अर्थ में यथार्थ **अर्थहीन** होता है, हमेशा अर्थहीन होता है : क्योंकि जिसे हम वस्तु-यथार्थ या विषयी-निरपेक्ष यथार्थ

या **ऑब्जेक्टिव रिएलिटी** कहते हैं या कह सकते हैं उसमें फिर अर्थवत्ता का प्रश्न ही कैसे और कहाँ उठता है जबकि अर्थ अनिवार्यतः अर्थ की पहचान करने वाले के, विषयी के, साथ बँधा है ? केवल **सब्जेक्टिव** यथार्थ में ही अर्थवत्ता का प्रश्न उठ सकता है : विषयीगत यथार्थ ही कला का यथार्थ होता है और उसी में अर्थ हो सकता है। और इसलिए अर्थ की खोज हो सकती है। निःसन्देह वस्तु-जगत् के तथ्यों की, परिवेश की स्थिति और क्रिया-व्यापारों की, सामाजिक सम्बन्धों की पकड़ या समझ विषयी की जैसी होगी, जीवन-मात्र से उस का जैसा सम्बन्ध होगा, उससे वह विषयीगत यथार्थ भी प्रभावित होगा। उसी पर उसके पाये हुए अर्थ की **मूल्यवत्ता** निर्भर करेगी। लेकिन कला-वस्तु से परिवेश के सम्बन्ध का यह दूसरा वृत्त है। **पहले और दूसरे वृत्त के बीच स्वयं कलाकार खड़ा है।**

मैंने कहा है कि यथार्थ हमेशा अर्थहीन होता है। मैंने जो कुछ कहा उसमें यह भी निहित है कि इसके वावजूद कलाकार को अर्थ की खोज रहती है। इस निहितार्थ को आज के सब साहित्यकार स्वीकार नहीं करेंगे, ऐसा मैं जानता हूँ। किन्तु मेरे लिए रचना-कर्म हमेशा अर्थवत्ता की खोज से जुड़ा रहा है। साहित्यकार के नाते मुझे अर्थहीन यथार्थ की तलाश नहीं रहती है और न है। **ऑब्जेक्टिव** संसार में अवश्य ही ऐसा यथार्थ है जिसमें अर्थवत्ता की खोज स्वयं निरर्थक है, यह मैं जानता हूँ। उस अर्थातीत संसार से आगे बढ़कर ही हम एक अर्थवान जगत् की खोज में जाते हैं; और उस जगत् के निर्माण में स्वयं हमारा भी योग होता है। कोई चाहे तो यह कह सकता है—कि जो **सब्जेक्टिव** है वह तो आत्यन्तिक रूप से अर्थहीन है; और यह कहकर बाहरी और भीतरी दोनों क्षेत्रों में एक अर्थहीन, **एब्सर्ड** संसार के निर्माण में प्रवृत्त हो सकता है। वैसे लोग हैं भी—वैसे साहित्यकार भी हैं। मैं वैसा नहीं मानता, वैसे निर्माण में मेरी रुचि नहीं है। मानव की मेरी परिकल्पना में वह अनिवार्यतया अर्थवत्ता का खोजी और स्रष्टा है और यही उसके मानवत्व की पहचान है। अगर वह **एब्सर्ड** को प्रस्तुत करता भी है तो वह भी अर्थवत्ता की खोज जिजीविषा का एक पहलू है और अर्थ या अर्थ की चाह को अन्तिम रूप से खो देना जीवन की चाह ही खो देना है।

अब तक जो कुछ कहा गया है उसका आशय यह नहीं है कि विषयी सापेक्ष अथवा **सब्जेक्टिव** यथार्थ एक उच्चतर कोटि है और विषयी-निरपेक्ष अथवा **ऑब्जेक्टिव** यथार्थ उससे नीचे है। ऐसा उच्चावच-क्रम स्थापित करना अभीष्ट नहीं है। लेकिन इससे उल्टा तर्क भी सही नहीं है—यह कहने का कोई कारण नहीं है कि विषयी-निरपेक्ष यथार्थ विषयी-सापेक्ष यथार्थ से उच्चतर कोटि का होता है। जब तक अस्मिता है—कोई भी मैं 'मैं' है—दूसरे शब्दों में जब तक जीवन है—तब तक माना

ही नहीं जा सकता—कोई मान नहीं सकता—कि मेरे 'बाहर' जो जीवन है वह उच्चतर अथवा श्रेष्ठतर है : इतना ही माना जा सकता है (और इतना मानना भी चाहिए) कि वह हीनतर भी नहीं है। वह केवल अलग है। कला के क्षेत्र में तो यह भी कहा जा सकता है कि विषयी-निरपेक्ष यथार्थ वहाँ कुछ होता ही नहीं : कला का सत्य होने के लिए 'यथार्थ' की भी प्रस्तुति में विषयी द्वारा उसके स्वायत्त किये गये होने की झलक मिलनी चाहिए। कला में यथार्थ हमेशा संवेदना से छनकर आता है और उसमें यह दीखना भी चाहिए कि वह संवेदना से छनकर आया है। कला के यथार्थ में विषयी द्वारा उसके स्वायत्त किये गये होने की गूँज होती है। उस गूँज के सहारे ही हम यथार्थ के निरे बयान से रचना की अलग पहचान करते हैं, क्योंकि हम परख करते हैं कि वह केवल बाहर का यथार्थ है या कि रचनाकार ने उसे आत्मसात् करके ही लिखा है। मेरे लिए रचना का यही इष्ट—या कि कह लिया जाये आदर्श—रहा है : उसमें वस्तु-सत्य का, बाहरी यथार्थ का, खरापन भी होना चाहिए और साथ ही आत्म-सम्बोध की, आभ्यन्तर यथार्थ की अर्थवत्ता भी होनी चाहिए।

विचारशील पाठक पहचानेंगे कि यह पहले कही गयी बात की दूसरे तरीक़े से पुष्टि ही है। साहित्य वर्तमान की पहचान भी करता है और उसे अर्थवत्ता के बृहत्तर आयाम से जोड़ता भी है। लेकिन यहाँ फिर इकहरा समीकरण करना ख़तरनाक होगा। क्योंकि न तो वर्तमान की पहचान का सम्बन्ध केवल बाहरी यथार्थ से है और न बृहत्तर आयाम का सम्बन्ध केवल आभ्यन्तर यथार्थ से—और न इसका उल्टा ही। यथार्थ की, बाहरी और बाहर की पहचान और अर्थवत्ता की खोज की अविराम परस्परता और परस्पर-भेदकता को अनदेखा करना साहित्य की समझ को इकहरा और छिछला कर देना होगा।

सभी साहित्य पुराना पड़ता है। लेकिन फिर उसमें से कुछ नया हो जाता है। जब साहित्य पुराना पड़ने लगता है तब जो काल की दृष्टि से अधिक निकट होता है वही अधिक तेज़ी से पुराना पड़ता हुआ अधिक दूर जान पड़ता है। उसी को लेकर हमें अधिक आश्चर्य या असमंजस होता है कि 'अभी कल तक यह हमें नया कैसे लग रहा था ?' इस प्रक्रिया को समझना बहुत कठिन नहीं है। कालान्तर में जो साहित्य फिर नया हो जाता है—या ऐसा हो जाता है मानो पुराना पड़ा ही नहीं था—उसे हम 'कालजित्' साहित्य कहते हैं। पर वास्तव में परिवर्तन का कारण जितना उसमें होता है उतना ही हम में भी होता है। बदले हुए **हम** फिर एक ऐसे ठौर पर आ जाते हैं जहाँ वह साहित्य हमारे लिए एक नयी अर्थवत्ता पा लेता है—क्योंकि हम उसमें नई अर्थवत्ता देखने लगते हैं।

साहित्य में जो 'नयी' विधाएँ हैं—उपन्यास या कहानी—उनमें यह क्रिया अधिक

तेज़ी से होती है। जो 'पुरानी' विधाएँ हैं—काव्य या नाटक—उनमें यह क्रिया अपेक्षाकृत धीरे होती है। फिर प्रवृत्ति को ध्यान में रखें तो लक्ष्य कर सकते हैं कि किसी भी विधा में जो रचना-समूह अपने ही काल के यथार्थ के चित्रण पर अधिक बल देता है (और भाषा का मुहावरा और 'तेवर' कालिक यथार्थ का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है,) वह अपेक्षया जल्दी पुराना पड़ जाता है क्योंकि कालिक यथार्थ जल्दी बदल जाता है, उसका पुराना पड़ना हम अधिक तीव्रता और स्पष्टता के साथ देख सकते है, इसलिए उससे बँधे साहित्य का पुराना पड़ना भी अधिक लक्ष्य होता है।

इसीलिए कहानी सबसे जल्दी पुरानी पड़ती है। फिर कहानियों में वे या वैसी कहानियाँ और भी जल्दी पुरानी पड़ती हैं जो अपने समय के समाज के बाह्य यथार्थ से बँधी होती हैं। ऐसी कहानियाँ जब तक नयी होती हैं तब तक सबसे नयी दीखती हैं; उनकी तात्कालिक सम्पृक्ति और **रैलेवेंस** सबसे अधिक जान पड़ती है; पर जब वे नयेपन से हटती हैं या नवतर से समान्तर आती हैं तब उतनी ही त्वरा से उनका नयापन धुँधला या झूठा पड़ जाता है, उनकी 'प्रासंगिकता' प्रश्नाधीन हो जाती है।

इस कथन की जाँच किसी भी देश के साहित्य को लेकर की जा सकती है। कहीं भी काव्य उतनी जल्दी पुराना नहीं पड़ता; सर्वत्र कहानी ही सबसे जल्दी **डेटेड** हो गयी होगी—और कहानी में वे कहानियाँ और अधिक या और जल्दी जो कि अपने समय के समाज-जीवन और उसके लोकाचारों-मुहावरों से बँधी होंगी।

पर जो कहानियाँ इतनी जल्दी पुरानी नहीं पडतीं, या जो एक बार 'डेटेड' होकर फिर नयी प्रासंगिकता पर जाती हैं, पा गयी हैं, उन में क्या ख़ास बात होती है ?

मानव-समाज केवल किसी एक युग का समाज नहीं है, देश-काल की रंगत लाने वाले लोकाचारों-मुहावरों और यहाँ तक कि सम्बन्धों के—विषय-गत या बाहरी यथार्थ के सभी उपकरणों के—नीचे, परे, गहरे में मानव-समाज की एक दूसरी पहचान मिल सकती है जो युगातीत है, जो समाज की पहचान से बढ़कर मानव की पहचान है, जिसका यथार्थ सामाजिक यथार्थ-भर न होकर मानवीय यथार्थ है। हमारी धारणा है कि पड़ताल करने पर हम पायेंगे कि जो कहानियाँ जल्दी पुरानी नहीं होती हैं, या जो पुरानी होकर भी नयी बनी रही हैं या नयी हो गयी हैं, उनमें रचनाकार की दृष्टि सामाजिक यथार्थ की परिधि में न बँधी रहकर मानवीय यथार्थ पर केन्द्रित रही होगी : उनका आग्रह 'विषयगत' यथार्थ का न रहकर उस यथार्थ का रहा होगा जो विषयी और विषयी के आपसी व्यवहार में लक्षित या व्यंजित होता है और वहीं से फैलकर सामाजिक रूप लेता है—यानी सामाजिक होकर भी 'अन्तर-विषयी' बना रहता है : जो **इण्टर-सब्जेक्टिव** होता है, **ऑब्जेक्टिव** नहीं होता।

एक तरफ़ हम एक क्षण का चित्र प्रस्तुत कर रहे हों या प्रस्तुतीकरण के लिए जुगो रहे हों—यानी कहानी लिख या रच रहे हों—और दूसरी तरफ़ हमारी दृष्टि

अन्तर-विषयी यथार्थ पर साग्रह टिकी हो, तब रचनाकार के नाते हमारी कठिनाइयाँ बढ़ जाती हैं। बाह्य यथार्थ को देखना और प्रस्तुत करना कम कठिन है : वह समस्या केवल पर्याप्त तन्त्र-कौशल की है। आर्थिक सम्बन्धों और तनावों के आधार पर ही उस बाह्य यथार्थ को निरूपित करना भी कम कठिन है : वह समस्या पर्याप्त शिक्षा-दीक्षा की है। उसे पक्षधर-भाव से उपयोज्य बनाना भी कम कठिन है : वह समस्या सामाजिक राजनैतिक जोड़-तोड़ और समझदारी की है। पर अन्तर-विषयी वस्तु को पकड़ने के लिए एक-साथ ही एकाधिक विषयी के आभ्यन्तर संसार में प्रवेश करना—और वह भी साथ-साथ स्वयं विषयी बने रहते और अपना वैसा होने की पहचान बनाये रखते हुए—और वह फिर अपनी विषयी दृष्टि के कारण दूसरे विषयियों की विषयिता को धुँधला होने दिये बिना—यह न तन्त्र पर अधिकार की समस्या है, न शिक्षा की, न राजनैतिक समझदारी की। यहाँ प्रश्न मानवीय संवेदना का है। कहने को तो कह दिया जा सकता है कि वह संवेदन या तो है, या नहीं है : यानी लेखक या तो रचनाकार है या नहीं है। और "जो नहीं है उसका ग़म क्या ?" पर मैं मानना चाहता हूँ (मानना 'स्वीकार करना' और 'विश्वास करना' दोनों ही अर्थों में) कि संवेदन में भी वृद्धि हो सकती है--विस्तार, गहराई और सघनता, सभी आयामों में।

यदि मानवीय संवेदन पर वल देना ठीक है तो मेरे सामने यहाँ एक और प्रश्न उठ खड़ा होता है। मेरे लिए यह मानना असम्भव हो जाता है कि 'कवि-दृष्टि' कहानी-लेखन में बाधक होती है। या कि कवि कवि होने के नाते ही घटिया कहानी-लेखक होता है। बल्कि यही मानना अधिक संगत दीखता है कि कहानीकार के अन्य गुणों से सम्पन्न व्यक्ति में कवि-दृष्टि भी होने पर वह अधिक महत्त्वपूर्ण कहानी-लेखक हो सकता है। अधिक **महत्त्वपूर्ण** : भले ही तात्कालिक दृष्टि से अधिक **सफल** या प्रभावी नहीं। और अधिक टिकाऊ—कालजयित्व की दीर्घता लिये हुए।

लेकिन पिछली एक पीढ़ी से कहानी-सम्बन्धी सारी चर्चाएँ इसी बात के आस-पास घूमती रही हैं। कवि न होना, कवि-दृष्टि न रखना, कहानीकार का सबसे बड़ा गुण माना और सिद्ध किया जाता है : कहानीकार द्वारा भी और कहानी की अलग-अलग प्रवृत्तियों के पैरोकारों के द्वारा भी। मुझे यह बात ज़रा भी वेतुकी नहीं लगती कि भारत के महान् कहानीकारों की गणना में पहला नाम रवीन्द्रनाथ ठाकुर का हो। यह भी मुझे ज़रा भी अप्रत्याशित नहीं लगता कि हिन्दी में भी अपने समकालीनों में--और युवतर लेखकों में भी—जिनकी कहानियाँ हम दोबारा पढ़ते हैं और रुचि से पढ़ सकते हैं वे भी कवि हैं—कवि भी हैं और कहानीकार से पहले कवि रूप में पहचाने जाते हैं। निःसन्देह कवीतर कहानी-लेखकों की कहानियाँ भी मुझे कई बार बड़ी मार्मिक, और अधिक 'सफल' भी, ज़ान पड़ी हैं पर एक बार पढ़ चुकने पर दोबारा सहज प्रवृत्ति

से उनको पढ़ने जाने की सम्भावना कम दिखी है। क्या पढ़ी हुई कहानी को दोबारा पढ़ने की सहज प्रवृत्ति का होना इस बात का प्रमाण नहीं है कि उस कहानी की भीतरी दुनिया में टिकाऊपन के कोई तत्त्व हैं ? या कि उसने यथार्थ के एकाधिक स्तरों के संकेत दिये हैं जो सब स्तर पहले ही वाचन में उद्घाटित नहीं हो गये हैं ? निःसन्देह ये कहानियाँ भी **डेटेड** होंगी : रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कहानियाँ भी बहुत **डेटेड** लगती हैं : पर जहाँ एक साथ ही कालग्रस्त और कालजित् का साक्षात्कार होता है, वहाँ क्या यह भी नहीं दिख जाता कि जो **डेटेड** हुआ है वह बहिरंग है, तन्त्र, भाषा, शब्दावली, मुहावरे, सामाजिकता आदि का है; और जो अब भी मर्म को छूता है या दोबारा आमन्त्रित करता है वह अन्तरंग है, मानवीय संवेदन में बद्धमूल है और उसी को उद्वेलित करता है ?

एक पीढ़ी से हिन्दी कहानीकार-समाज का रुझान काव्य-तत्त्व विरोधी रहा है। उसका ऐतिहासिक कारण तो है ही—कि कहानी में नयेपन का आन्दोलन कविता में उसके आन्दोलन के बाद, समान्तर, अनुक्रिया और प्रतिक्रिया के रूप में आया। पर इतना-भर होता तो वह कोई चिन्ता की बात नहीं थी। लेकिन आन्दोलन के बढ़ते हुए चरणों ने धीरे-धीरे यह भी स्पष्ट कर दिया है कि उसके चिन्तन में युक्त्याभास बढ़ता गया है। तन्त्र की, कसाव की दृष्टि से कहानी ने निःसन्देह प्रगति की है : आज का अच्छा कहानीकार अधिक कुशल है, अधिक सतर्क शिल्पी है : उसकी भाषा अधिक पैनी और सधी हुई है। लेकिन यथार्थ और यथार्थ की पकड़ के सम्बन्ध में जैसे-जैसे दावे किये गये हैं वे हास्यास्पद तक हो गये हैं। कहानीकार ने क्या कर दिया है, या कहानी क्या करती है, दावे इसको लेकर हैं; जब कि विचार वास्तव में इस दृष्टि से होना चाहिए कि कहानी में क्या हो गया है और कहानीकार को क्या हो रहा है। शायद पूरी सच्चाई यह नहीं है कि कहानी यथार्थ को अधिक निकट से या मज़बूती से पकड़ने लगी है, या कि कहानीकार यथार्थ के निकटतर आ गया है, उसे अधिक अच्छी तरह से देख रहा है या अधिक निर्मम होकर पकड़ रहा है। शायद यही अधिक सच है, और लक्ष्य होना चाहिए, कि यथार्थ भी बदलता रहा है। और केवल बाहर का यथार्थ नहीं बदला है, आभ्यन्तर यथार्थ भी बदला है। कहानीकार दूसरे ढंग से देखता है और लिखता है तो इसलिए कि वह इस दूसरे ढंग से ही देख और लिख सकता है। इसलिए नहीं कि देखने-लिखने के दो-तीन ढंग आज़मा कर उसने उनमें से उत्तम ढंग का वरण किया है। क्योंकि आभ्यन्तर यथार्थ बदला है, इसलिए चीज़ों से लेखक का सम्बन्ध भी बदला है। यह बदलाव उसकी श्रेष्ठता सिद्ध नहीं करता; न अपने-आप में यही सिद्ध करता है कि वह पहले के लेखकों की अपेक्षा ज़्यादा सच्चाई के ज़्यादा निकट आया है—केवल यही कि यह सच्चाई दूसरी और उससे प्रतिकृत होने वाली विषयिता भी दूसरी है। अगर आज की

कहानी में लड़का माँ-बाप के बारे में 'बेबाक ढंग से' सोचता है, या अपने सोच को शब्द-बद्ध करता है, तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि आज का कहानी-लेखक पहले के कहानी-लेखक की अपेक्षा यथार्थ के निकटतर है; इतना ही दर्शाता है कि आज के लड़के का अपने माँ-बाप के प्रति और तरह का भाव होता है। और अगर आज आप सतह को ही (चाहे जितनी भी बारीकी से) देखते हैं, उसे सपाट और निःसंग, भाव-रहित ढंग से प्रस्तुत कर देते हैं, तो क्या यह ज़रूरी तौर पर यथार्थ के साथ अधिक प्रौढ़ सम्बन्ध का लक्षण है, या कि यह भी हो सकता है कि गहरे झाँकने का आतंक है क्योंकि आभ्यन्तर जगत् राग-तत्त्व को जो चुनौती देगा 'जी का जंजाल' बन जायेगा ? यहाँ तक कहा जा सकता है कि अगर पहले की भावाभिव्यंजना में 'रोमानियत' मिलती थी और आज उसे तर्क कर दिया गया है तो यह भी हो सकता है कि पहले का 'यथार्थ' ही रोमानियत-युक्त था जैसा कि आज का नहीं है। यह कोई नहीं कह सकता कि आदर्शवादी कभी होते ही नहीं थे, या कि समाज में मूल्यों की (—किन्हीं भी मूल्यों की—) प्रतिष्ठा ही नहीं होती थी। यह तो आज के व्यापक मोह-भंग और मूल्यहीनता के बावजूद अब भी नहीं कहा जा सकता ! तब फिर वैसे समाजों में आदर्शवादी को देखना-दर्शाना, उन मूल्यों को प्रतिष्ठित या कार्य-प्रेरक स्थिति में दिखाना 'यथार्थ की पकड़' का ही रूप होगा—चाहे वे मूल्य या आदर्श कालान्तर में झूठे भी सिद्ध हो गये हों, उनका स्थान दूसरी मूल्यों-दृष्टियों ने ले लिया हो।

यह बात तो तव भी ढिकेगी अगर यथार्थ सचमुच इकहरा ही होता हो। और यह मैं पहले ही कह आया हूँ कि वह वैसा कभी नहीं होता और उसकी एक ही तह या सतह को देखना ही उसे अयथार्थ कर देना है। यथार्थ बहुस्तरीय, जटिल और गुथीला भी है, इसके अनुरूप उसका बहु-विध दर्शन, साक्षात्कार, निदर्शन और निवर्चन भी सम्भव है। हमारी धारणा है कि ठीक यहीं कहानी में भी कवि का योग हो सकता है। कवि-दृष्टि ही कदाचित् ऐसा साक्षात्कार कर सकती है—कवि-दृष्टि से देखा गया यथार्थ अधिक गहरे अर्थ में 'प्रत्यक्ष' होता है।

मगर इस सब के बावजूद कहानी और उसकी चर्चा में आज का रुझान काव्य-तत्त्व विरोधी है। कहा नहीं जा सकता कि यह प्रवृत्ति बदल जायेगी—या कि कब बदलेगी। किन्तु मेरी धारणा है कि अगर इसका प्रभुत्व स्थायी बना रहा तो कहानी-साहित्य दुर्बलतर ही होगा। सतह की चमक और बुनावट को पकड़ने और प्रतिबिम्बत करने की उसकी दक्षता बढ़ती जायेगी, पर आभ्यन्तर वस्तु की पहचान छूटती जायेगी और उस पहचान को दूसरे तक पहुँचाने की क्षमता भी मिटती जायेगी।—और मैं कह चुका हूँ कि सम्प्रेषण का तत्त्व बुनियादी तत्त्व है। अभी तक काव्य ही है जो सारे ताम-झाम को भेद कर सीधे यथार्थ की आग से तमतमायी हुई

कोर तक पहुँच सकता है। ताम-झाम भी यथार्थ है अवश्य, पर हमारा सरोकार केवल उससे क्यों हो, या उसे प्राथमिकता क्यों दे ?

यह आवश्यक तो नहीं है कि साहित्य की एक विधा का तर्क दूसरी विधाओं पर लागू हो ही। लेकिन जहाँ तक कहानी का सम्बन्ध है, उसे उपन्यास से जोड़ते हुए यह प्रश्न उठना असंगत नहीं होगा कि आधुनिक युग के महत्त्वपूर्ण उपन्यासकार 'यथार्थ' के 'वाद' से परे क्यों हटे ? यों तो यह प्रवृत्ति उपन्यास के समान्तर आधुनिक नाटकों में भी देखी जा सकती है और सर्वत्र यही पहचानना और स्वीकार करना होगा कि यथार्थ को अधिक **प्रत्यक्ष** करने के लिए—उसे मज़बूती से पकड़ने और गहराई से सम्प्रेषित करने के लिए ही—क्या उपन्यासकार और क्या नाटककार यथार्थवादी प्रस्तुतीकरण को छोड़ते हुए काव्यात्मकता की ओर गये हैं। **यथार्थ को प्रत्यक्ष करने के लिए ही उन्होंने यथार्थवाद को छोड़ा है।** क्योंकि वाद सतह को पकड़ता है, बुनावट से उलझता है और इस प्रकार अपनी दृष्टि की सीमा बाँध लेता है। तब प्रत्यक्षदर्शी और प्रत्यक्ष-सम्प्रेषी कवि गहराई में उतरने का जोखिम उठाता है। निःसन्देह उपन्यास में एक सम्प्रदाय ऐसा भी है जो कि सतह पर बहुत अधिक बल देता है और ऐसे पदों अथवा वाक्यों के बहिष्कार का आग्रह करता है जिसमें काव्यमयता की बू भी हो। यह सम्प्रदाय ऐसे विशेषणों को भी त्याज्य समझता है जिनमें उपन्यासकार के भावों का आरोप अथवा संकेत भी हो। क्योंकि इस सम्प्रदाय का लेखक सिद्धान्ततः यह प्रयत्न करता है कि उसके द्वारा प्रस्तुत किया गया वृत्तान्त उसके मनोभावों के स्पर्श से यथासम्भव अछूता रहे और कथा तथा पाठक के बीच में न आये। लेकिन बारीकी से देखने पर स्पष्ट हो जायेगा कि यह भी एक शिल्पगत आग्रह ही है। वृत्तान्त और पाठकों के बीच में न आना, जिससे कि पाठक पर वृत्तान्त की ही प्रतिक्रिया हो, लेखक के भाविक पूर्वग्रह की नहीं—यह समस्या शिल्प की है, 'विषयी-निरपेक्ष यथार्थ' की नहीं। क्योंकि वृत्तान्त से पहले ही कथा-सामग्री के चयन में, घटना-क्रम के निर्धारण में, उस क्रम में एक काल-बिन्दु के चयन में, उपन्यास की संरचना में, उसकी संहति की परिकल्पना में, सर्वत्र लेखक की विषयिता अपना काम कर चुकी है। वस्तु पहले ही विषयी की संवेदना में से छन चुकी है, उसके बाद भावाग्रही विशेषणों से बचना पाठक को न केवल मुक्त करना नहीं है बल्कि उसको सम्पूर्णतः अपने द्वारा पहले से चुनी हुई वस्तु से बाँध कर रखना है। "हमने जो सोचा या भोगा उसका हम कहीं कोई संकेत नहीं दे रहे हैं, केवल जितना हमारी खिड़की में से हम दिखने देंगे उतना दिखाया जा रहा है"—यह ऊपरी भाव-निरपेक्षता किसी तरह भी विषयी-निरपेक्ष नहीं है, इसकी और व्याख्या अनावश्यक है।

यथार्थ को प्रत्यक्ष करने के लिए ही हमारे युग के महत्त्वपूर्ण उपन्यासकारों ने

यथार्थवाद को छोड़ा। जैसे कि महत्त्वपूर्ण नाटककारों ने भी यथार्थवाद को छोड़ा। यथार्थ को पकड़ने के लिए 'यथार्थवादी' दृष्टि का परित्याग, और कवि-दृष्टि (आग्रह हो तो कह लीजिए कि एक नयी या परिमार्जित कवि-दृष्टि) का पुनः अंगीकार—कह सकते हैं कि आधुनिक साहित्य तथा आधुनिक कला के क्षेत्र में यही सबसे महत्त्वपूर्ण मोड़ रहा है। प्रबल ऐतिहासिक आग्रह हो तो चाहे बीच की सीढ़ी का भी उल्लेख कर दें : 'यथार्थवादी' दृष्टि के बाद 'आधुनिकतावादी' दृष्टि आयी, फिर उस आग्रह से मुक्ति हुई और कवि-दृष्टि की सम्भावनाओं की ओर फिर ध्यान गया। क्योंकि यह मोड़ केवल कहानी-उपन्यास में आया हो, ऐसा नहीं है : स्वयं काव्य के क्षेत्र में भी कवि-दृष्टि का आग्रह एक नये रूप में आया है जिसमें यथार्थवादिता की असमर्थता और अपर्याप्तता की पहचान एक महत्त्वपूर्ण घटक है।

---

## सच्चिदानन्द वात्स्यायन

# कविता का सम्प्रेषण

*तार सप्तक* की भूमिका प्रस्तुत करते समय इन पंक्तियों के लेखक में जो उत्साह था, उसमें संवेदना की तीव्रता के साथ निस्सन्देह अनुभव-हीनता का साहस भी रहा होगा। संवेदना की तीव्रता अब कम हो गयी है, ऐसा हम नहीं मानना चाहते; किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अनुभव ने नये कवियों का संकलन प्रस्तुत करते समय दुविधा में पड़ना सिखा दिया है। यह नहीं कि *तीसरा सप्तक* के कवियों की संगृहीत रचनाओं के बारे में हम उससे कम आश्वस्त, या उनकी सम्भावनाओं के बारे में कम आशामय हैं जितना उस समय *तार सप्तक* के कवियों के बारे में थे। बल्कि एक सीमा तक इससे उल्टा ही सच होगा। हम समझते हैं कि *तीसरा सप्तक* के कवि अपने-अपने विकास-क्रम में अधिक परिपक्व और मँजे हुए रूप में ही पाठकों के सम्मुख आ रहे हैं। भविष्य में इनमें से कौन कितना और आगे बढ़ेगा, यह या तो ज्योतिषियों का क्षेत्र है या स्वयं उनके अध्यवसाय का। *तीसरा सप्तक* के कवि भी एक ही मंज़िल तक पहुँचे हों, या एक ही दिशा में चले हों, या अपनी अलग दिशा में भी एक-सी गति से चलें हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। निस्सन्देह *तार सप्तक* में भी यह स्पष्ट कर दिया गया था कि संगृहीत कवि सब अपनी-अपनी अलग राह का अन्वेषण कर रहे हैं।

दुविधा और संकोच का कारण दूसरा है। *तार सप्तक* के कवि अपनी रचना के ही प्रारम्भिक युग में नहीं, एक प्रवृत्ति की प्रारम्भिक अवस्था में सामने आये थे। पाठक के सम्मुख उनके कृतित्व की मान-खोज करने के लिए बने-बनाये मापदण्ड नहीं थे। उनकी तुलना भी पूर्ववर्ती या समवर्ती दिग्गजों से नहीं की जा सकती थी—क्योंकि तुलना के कोई आधार ही अभी नहीं बने थे। इसलिए जहाँ उनकी स्थिति झारखण्ड की झाड़ी पर प्रत्याशित फूले हुए वन-कुसुम की-सी अकेली थी, वहाँ उन्हें यह भी सुविधा थी कि उनके यत्किंचित् अवदान की माप झारखण्ड के ही सन्दर्भ में हो सकती थी—दूर के उद्यानों से कोई प्रयोजन नहीं था।

अब वह परिस्थिति नहीं है। **द्विवेदी काल** के श्री मैथिलीशरण गुप्त या छायावादी युग के श्री 'निराला' जैसा कोई शलाका-पुरुष नयी कविता ने नहीं दिया है (न उसे अभी इतना समय ही मिला है); फिर भी तुलना के लिए और नहीं तो

पहले दोनों सप्तकों के कवि तो हैं ही, और परम्पराओं की कुछ लीकें भी बन गयी हैं। पत्र-पत्रिकाओं में 'नयी कविता' ग्राह्य हो गयी है, सम्पादक-गण (चाहे आतंकित होकर ही !) उसे अधिकाधिक छापने लगे हैं, और उसकी अपनी भी अनेक पत्रिकाएँ और संकलन-पुस्तिकाएँ निकलने लगी हैं। उधर उसकी आलोचना भी छपने लगी है, और धुरन्धर आलोचकों ने उसके अस्तित्व की चर्चा करना गवारा किया है—चाहे अधिकतर भर्त्सना का निमित्त बनाकर ही।

और कृतिकारों का अनुधावन करनेवाली, स्वल्प पूँजी वाली 'प्रतिभाएँ' भी अनेक हो गयी हैं।

कहना न होगा कि इन सब कारणों से 'नयी कविता' का अपने पाठक के और स्वयं अपने प्रति उत्तरदायित्व बढ़ गया है। यह मानकर भी कि शास्त्रीय आलोचकों से उसे सहानुभूतिपूर्ण तो क्या, पूर्वग्रह-रहित अध्ययन भी नहीं मिला है, यह आवश्यक हो गया है कि स्वयं उसके आलोचक तटस्थ और निर्मम भाव से उसका परीक्षण करें। दूसरे शब्दों में परिस्थिति की माँग यह है कि कविगण स्वयं एक दूसरे के आलोचक बनकर सामने आवें।

पूर्वग्रह से मुक्त होना हर समय कठिन है। फिर अपने ही समय की उसकी प्रवृत्ति के विषय में, जिससे आलोचक स्वयं सम्बद्ध है, तटस्थ होना और भी कठिन है। फिर जब समीक्षक एक ओर यह भी अनुभव करे कि वह प्रवृत्ति विरोधी वातावरण से घिरी हुई है और सहानुभूति ही नहीं, समर्थन और वकालत भी माँगती है, तब उसकी कठिनाई की कल्पना की जा सकती है।

लेकिन फिर भी नयी कविता अगर इस काल की प्रतिनिधि और उत्तरदायी रचना-प्रवृत्ति है, और समकालीन वास्तविकता को ठीक-ठीक प्रतिबिम्बित करना चाहती है, तो उसे स्वयं आगे-बढ़कर यह त्रिगुण दायित्व ओढ़ लेना होगा। कृतिकार के रूप में नये कवि को साथ-साथ वकील और जज दोनों होना होगा (और सम्पादक होने पर साथ-साथ अभियोक्ता भी !)

*तीसरा सप्तक* के सम्पादन की कठिनाई के मूल में यही परिस्थिति है। *तार सप्तक* एक नयी प्रवृत्ति का पैरवीकार माँगता था, इससे अधिक विशेष कुछ नहीं। *तीसरा सप्तक* तक पहुँचते न पहुँचते प्रवृत्ति की पैरवी अनावश्यक हो गयी है, और कवियों की पैरवी का तो सवाल ही क्या है ? इस बात का अधिक महत्त्व हो गया है कि संकलित रचनाओं का मूल्यांकन सम्पादक स्वयं न भी करें तो कम-से-कम पाठक की इसमें सहायता अवश्य करें।

नयी कविता की प्रयोगशीलता का पहला आयाम भाषा से सम्बन्ध रखता है। निस्सन्देह जिसे अब 'नयी कविता' की संज्ञा दी जाती है वह भाषा-सम्बन्धी प्रयोगशीलता को वाद की सीमा तक नहीं ले गयी है—बल्कि ऐसा करने को अनुचित

भी मानती रही है। यह मार्ग 'प्रपद्यवादी' ने अपनाया जिसने घोषणा की कि 'चीज़ों का एकमात्र सही नाम होता है' और वह (प्रपद्यवादी कवि) 'प्रयुक्त प्रत्येक शब्द और छन्द का स्वयं निर्माता है।'

'नयी कविता' के कवि को इतना मानने में कोई कठिनाई न होती कि कोई शब्द किसी दूसरे शब्द का सम्पूर्ण पर्याय नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्येक शब्द के अपने वाच्यार्थ के अलावा अलग-अलग लक्षणाएँ और व्यंजनाएँ होती हैं—अलग संस्कार और ध्वनियाँ। किन्तु 'प्रत्येक वस्तु का अपना एक नाम होता है', इस कथन को उस सीमा तक ले जाया जा सकता है जहाँ कि भाषा का एक नया रहस्यवाद जन्म ले ले और अल्लाह के निन्यानवे नामों से परे उसके अनिर्वचनीय सौवें नाम की तरह हम प्रत्येक वस्तु के सौंवे नाम की खोज में डूब जावें। भाषा-सम्बन्धी यह निन्यानवें का फेर प्रेषणीयता का और इसलिए भाषा का ही बहुत बड़ा शत्रु हो सकता है। शब्द अपने-आप में सम्पूर्ण या आत्यन्तिक नहीं है; किसी शब्द का कोई स्वयंभूत अर्थ नहीं है। अर्थ उसे दिया गया है, वह संकेत है जिसमें अर्थ की प्रतिपत्ति की गयी है। 'एकमात्र उपयुक्त शब्द' की खोज करते समय हमें शब्दों की यह तदर्थता नहीं भूलनी होगी : वह 'एकमात्र' इसी अर्थ में है कि हमने (प्रेषण को स्पष्ट, सम्यक् और निर्भ्रम बनाने के लिए) नियत कर दिया है कि शब्द-रूपी अमुक एक संकेत का एकमात्र अभिप्रेत क्या होगा।

यहाँ यह मान लें कि शब्द के प्रति यह नयी, और कह लीजिए मानववादी दृष्टि है; क्योंकि जो व्यक्ति शब्द का व्यवहार करके शब्द से यह प्रार्थना कर सकता था कि 'अनजाने उसमें बसे देवता के प्रति कोई अपराध हो गया हो तो देवता क्षमा करे' वह इस निरूपण को स्वीकार नहीं कर सकता—नहीं मान सकता कि शब्द में बसने वाला देवता कोई दूसरा नहीं है, स्वयं मानव ही है जिसने उसका अर्थ निश्चित किया है। यह ठीक है कि शब्द को जो संस्कार इतिहास की गति में मिल गये हैं उन्हें 'मानव के दिये हुए' कहना इस अर्थ में सही नहीं है कि उनमें मानव का संकल्प नहीं था—फिर भी वे मानव-द्वारा व्यवहार के प्रसंग में ही शब्द को मिले हैं और मानव से अलग अस्तित्व नहीं रख या पा सकते थे।

किन्तु 'एकमात्र सही नाम' वाली स्थापना को इस तरह मर्यादित करने का यह अर्थ नहीं है कि किसी भी शब्द का सर्वत्र, सर्वदा सभी के द्वारा ठीक एक ही रूप में व्यवहार होता है—बल्कि यह तो तभी होता जबकि वास्तव में 'एक चीज़ का एक ही नाम' होता और एक काम की एक चीज़ होती ! **प्रत्येक शब्द का प्रत्येक समर्थ उपयोक्ता उसे नया संस्कार देता है।** इसी के द्वारा पुराना शब्द नया होता है—यही उस का कल्प है। इसी प्रकार शब्द 'वैयक्तिक प्रयोग' भी होता है और प्रेषण का

माध्यम भी बना रहता है, दुरूह भी होता है और बोधगम्य भी, पुराना परिचित भी रहता है और स्फूर्तिप्रद अप्रत्याशित भी।

नये कवि की उपलब्धि और देन की कसौटी इसी आधार पर होनी चाहिए। जिन्होंने शब्द को नया कुछ नहीं दिया है, वे लीक पीटने वाले से अधिक कुछ नहीं हैं—भले ही जो लीक वह पीट रहे हैं वह अधिक पुरानी न हो। और जिन्होंने उसे नया कुछ देने के आग्रह में पुराना बिल्कुल मिटा दिया है, वे ऐसे देवता हैं जो भक्त को नया रूप दिखाने के लिए अन्तर्धान हो गये हैं ! कृतित्व का क्षेत्र इन दोनों सीमा-रेखाओं के बीच में है। यह ठीक है कि बीच का क्षेत्र बहुत बड़ा है, और उसमें कोई इस छोर के निकट हो सकता है तो कोई उस छोर के। दुरूहता अपने-आप में कोई दोष नहीं है, न अपने-आप में इष्ट है। इस विषय को लेकर झगड़ा करना वैसा ही है जैसा इस चर्चा में कि सुराही का मुँह छोटा है या बड़ा, यह न देखना कि उसमें पानी भी है या नहीं।

प्रयोक्ता के सम्मुख दूसरी समस्या सम्प्रेष्य वस्तु की है। यह बात कहने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए कि काव्य का विषय और काव्य की वस्तु (कण्टेण्ट) अलग-अलग चीज़ें हैं; पर जान पड़ता है कि इस पर बल देने की आवश्यकता प्रतिदिन बढ़ती जाती है ! यह बिल्कुल सम्भव है कि हम काव्य के लिए नये से नया विषय चुनें पर वस्तु उसकी पुरानी ही रहे; जैसे यह भी सम्भव है कि विषय पुराना रहे पर वस्तु नयी हो · निस्सन्देह देश-काल की संक्रमणशील परिस्थितियों में संवेदनशील व्यक्ति बहुत कुछ नया देखे-सुने और अनुभव करेगा; और इसलिए विषय के नयेपन के विचार का भी अपना स्थान है ही; पर विषय केवल 'नये' हो सकते हैं, 'मौलिक' नहीं—मौलिकता वस्तु से ही सम्बन्ध रखती है। विषय सम्प्रेष्य नहीं है, वस्तु सम्प्रेष्य है। नये (या पुराने भी) विषय की, कवि की संवेदना पर प्रतिक्रिया, और उससे उत्पन्न सारे प्रभाव जो पाठक-श्रोता-ग्राहक पर पड़ते हैं, और उन प्रभावों को सम्प्रेष्य बनाने में कवि का योग (जो सम्पूर्ण चेतन भी हो सकता है, अंशतः चेतन भी, और सम्पूर्णतया अवचेतन भी)—मौलिकता की कसौटी का यही क्षेत्र है। यही कवि की शक्ति और प्रतिभा का भी क्षेत्र है—क्योंकि यही कविमानस की पहुँच और उसके सामर्थ्य का क्षेत्र है। कहाँ तक कवि नयी परिस्थिति को स्वायत्त कर सका है (आयत्त करने में रागात्मक प्रतिक्रिया भी और तज्जन्य बुद्धि-व्यापार भी है जिसके द्वारा कवि संवेदना का पुतला-भर न बना रहकर उसे वश करके, उसी के सहारे उससे ऊपर उठकर उसे सम्प्रेष्य बनाता है), इसी से हम निश्चय करते हैं कि वह कितना बड़ा कवि है। (और फिर सम्प्रेषण के साधनों और तन्त्र (टेकनीक) के उपयोग की पड़ताल

करके यह भी देख सकते हैं कि वह कितना सफल कवि है—पर इस पक्ष को अभी छोड़ दिया जाये !)

यहाँ स्वीकार किया जाये कि नये कवियों में ऐसों की संख्या कम नहीं है जिन्होंने विषय को वस्तु समझने की भूल की है, और इस प्रकार स्वयं भी पथभ्रष्ट हुए हैं और पाठकों में नयी कविता के बारे में अनेक भ्रान्तियों के कारण बने हैं।

लेकिन 'नक़लचियों से सावधान !' की चेतावनी असली माल वाले प्रायः नहीं देते; या तो वे देते हैं जिन्हें स्वयं अपने माल की असलियत के बारे में कुछ खटका हो, या फिर वे दे सकते हैं जो स्वयं माल लेकर उपस्थित नहीं हैं और केवल पहरा दे रहे हैं। अर्थात् कवि स्वयं चेतावनी नहीं देते; यह काम आलोचकों, अध्यापकों और सम्पादकों का है। यह भी उन्हीं का काम है कि नक़ली के प्रति सावधान करते हुए असली की साख भी न बिगड़ने दें ऐसा न हो कि नक़ली से धोखा खाने के डर से सारा कारोबार ही ठप हो जाये !

इस वर्ग ने यह काम नहीं किया है, यह सखेद स्वीकार करना होगा। बल्कि कभी तो ऐसा जान पड़ता है कि नक़लची कवियों से कहीं अधिक संख्या और अनुपात नक़ली आलोचकों का है—धातु उतना खोटा नहीं है जितनी कि कसौटियाँ ही झूठी हैं ! इतनी अधिक छोटी-मोटी 'एमेच्योर' (और इम्मेच्योर) साहित्य-पत्रिकाओं का निकलना, जबकि जो दो-चार सम्मान्य पत्रिकाएँ हैं वे सामग्री की कमी से क्षयग्रस्त हो रही हैं, इसी बात का लक्षण है कि यह वर्ग अपने कर्तव्य से कितना च्युत हुआ है। यह ठीक है कि ऐसे छोटे-छोटे प्रयास एक आस्था की घोषणा करते हैं और इस प्रकार एक शक्ति (चाहे कितनी स्वल्प) के लक्षण हैं, पर यह भी उतना ही सच है कि इस प्रकार व्यापक, पुष्ट और दृढ़ आधार वाले मूल्यों की उपलब्धि और प्रतिष्ठा का काम क्रमशः कठिनतर होता जाता है।

पर नक़लची हर प्रवृत्ति के रहे हैं, और जिन का भण्डाफोड़ अपने समय में नहीं हुआ उन्हें पहचानने में फिर समय की दूरी अपेक्षित हुई है। अधिक दूर न जावें तो न तो द्विवेदी युग में नक़लचियों की कमी रही, न छायावाद युग में। और न ही (यदि इसी सन्दर्भ में उनका उल्लेख भी उचित हो जिनकी उपलब्धि भी 'प्रयोगवादी सम्प्रदाय' से विशेष अधिक नहीं रही जान पड़ती) प्रगतिवाद ने कम नक़लची पैदा किये। हमें किसी भी वर्ग में उनका समर्थन या पक्ष-पोषण नहीं करना है—पर यह माँग भी करनी है कि उनके अस्तित्व के कारण मूल्यवान की उपेक्षा न हो, असली को नक़ली से न मापा जाये।

शिल्प, तन्त्र या टेकनीक के बारे में भी दो शब्द कहना आवश्यक है। इन नामों की इतनी चर्चा पहले नहीं होती थी। पर वह इसीलिए कि इन्हें एक स्थान दे दिया गया

था जिसके बारे में बहस नहीं हो सकती थी। यों 'साधना' की चर्चा होती थी, और साधना अभ्यास और मार्जन का ही दूसरा नाम था। बड़ा कवि 'वाक्‌सिद्ध' होता था, और भी बड़ा कवि 'रससिद्ध' होता था। आज 'वाक्‌शिल्पी' कहलाना अधिक गौरव की बात समझा जा सकता है—क्योंकि शिल्प आज विवाद का विषय है। यह चर्चा उत्तर छायावाद काल से ही अधिक बढ़ी, जबकि प्रगति के सम्प्रदाय ने शिल्प, रूप, तन्त्र आदि सबको गौण कहकर एक ओर ठेल दिया, और 'शिल्पी' एक प्रकार की गाली समझा जाने लगा। इसी वर्ग ने नयी काव्यप्रवृत्ति को यह कहकर उड़ा देना चाहा है कि वह केवल शिल्प का, रूपविधान का आन्दोलन है, निरा फ़ार्मेलिज़्म है। पर साथ-साथ उसने यह भी पाया है कि शिल्प इतना नगण्य नहीं है; कि वस्तु से रूपाकार को बिल्कुल अलग किया ही नहीं जा सकता, कि दोनों का सामंजस्य अधिक समर्थ और प्रभावशाली होता है; और इसी अनुभव के कारण धीरे-धीरे वह भी मानों पिछवाड़े से आकर शिल्पाग्रही वर्ग में आ मिला है। बल्कि अब यह भी कहा जाने लगा है कि 'प्रयोगवाद के जो विशिष्ट गुण बताये जाते थे (जैसा बताने वाले वे ही थे !) उनका प्रयोगवाद ने ठेका नहीं लिया है—प्रगतिवादी कवियों में भी वे पाये जाते हैं।' इससे उलझी परिस्थिति और भ्रामक हो गयी है। वास्तव में नयी कविता ने कभी अपने को शिल्प तक सीमित रखना नहीं चाहा, न वैसी सीमा स्वीकार की। उस पर यह आरोप उतना ही निराधार था जितना दूसरी ओर यह दावा कि केवल प्रगतिवादी काव्य में सामाजिक चेतना है, और कहीं नहीं। यह मानने में कोई कठिनाई न होनी चाहिए कि प्रगतिवाद सबसे अधिक समाजाग्रही रहा है; पर केवल इसी से यह नहीं प्रमाणित हो जाता कि उस वाद के कवियों में गहरी सामाजिक चेतना है या कि जैसी है वही उसका स्वस्थ रूप है—उसकी पड़ताल प्रत्येक कवि में अलग करनी ही होगी।

ख़ैर, यहाँ पुराने झगड़ों को उठाना अभीष्ट नहीं है। कहना यह है कि नया कवि नयी वस्तु को ग्रहण और प्रेषित करता हुआ शिल्प के प्रति कभी उदासीन नहीं रहा है, क्योंकि वह उसे प्रेषण से काटकर अलग नहीं करता है। नयी शिल्प दृष्टि उसे मिली है; यह दूसरी बात है कि वह सबमें एक-सी गहरी न हो, या सब देखे पथ पर एक-सी सम गति से न चल सके हों। यहाँ फिर मूल्यांकन से पहले यह समझना आवश्यक है कि वह नयी दृष्टि क्या है, और किधर चलने की प्रेरणा देती है।

संकलित कवियों के विषय में अलग-अलग कुछ कहना कदाचित् उनके और पाठक के बीच में व्यर्थ एक पूर्वग्रह की दीवार खड़ा करना होगा। एक बार फिर इतना ही कहना अलम् होगा कि ये कवि किसी एक सम्प्रदाय के नहीं हैं; न सब की साहित्यिक मान्यताएँ एक हैं, न सामाजिक, न राजनीतिक; न ही उनकी जीवन-दृष्टि में ऐसी एकरूपता है। भाषा, छन्द, विषय, सामाजिक प्रवृत्ति, राजनीतिक आग्रह या कर्म की

दृष्टि से प्रत्येक की स्थिति या दिशा अलग हो सकती है; कोई इस छोर के निकट पायी जा सकती है, कोई उस छोर के, कोई 'बायें' तो कोई 'दाहिने', कोई 'आगे' तो कोई 'पीछे', कोई सशंक तो कोई साहसिक। यह नहीं कि इन बातों का कोई मूल्य न हो। पर *तीसरा सप्तक* में न तो ऐसा साम्य कलन का आधार बना है, न ऐसा वैषम्य बहिष्कार का। संकलनकर्ता ने पहले भी इस बात को महत्त्व नहीं दिया है कि संकलित कवियों के विचार कहाँ तक उसके विचारों से मिलते हैं या विरोधी हैं; न अव वह इसे महत्त्व दे रहा है। क्योंकि उस का आग्रह रहा है कि काव्य के आस्वादन के लिए इससे ऊपर उठ सकना चाहिए और उठना चाहिए। सप्तकों की योजना का यही आधारभूत विश्वास है। प्रयोजनीय यह है कि संकलित कवियों में अपने कवि-कर्म के प्रति गम्भीर उत्तरदायित्व का भाव हो, अपने उद्देश्यों में निष्ठा और उन तक पहुँचने के साधनों के सदुपयोग की लगन हो। जहाँ प्रयोग हो वहाँ कवि मानता हो कि वह सत्य का ही प्रयोग होना चाहिए। यों काव्य में सत्य क्योंकि वस्तुसत्य का रागाश्रित रूप है इसलिए उसमें व्यक्ति-वैचित्र्य की गुंजाइश तो है ही, बल्कि व्यक्ति की छाप से युक्त होकर ही वह काव्य का सत्य हो सकता है। क्रीड़ा और लीलाभाव भी सत्य हो सकते हैं—जीवन की ऋजुता भी उन्हें जन्म देती है और संस्कारिता भी। देखना यह होता है कि वह सत्य के साथ खिलवाड़ या 'फ़्लर्टेशन' मात्र न हो।

इन कवियों के एकत्र पाये जाने का आधार यही है। ऐसा दावा नहीं है कि जिस काल या पीढ़ी के ये कवि हैं, उसके यही सर्वोत्कृष्ट या सबसे अधिक उल्लेख्य कवि हैं। दो-एक और आमन्त्रित होकर भी इसलिए रह गये कि वे स्वयं इसमें आना नहीं चाहते थे—चाहे इसलिए कि दूसरे कवियों का साथ उन्हें पसन्द नहीं था, चाहे इसलिए कि सम्पादक का सम्पर्क उन्हें अप्रीतिकर या हेय लगा, चाहे इसलिए कि वे अपने को पहले ही इतना प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित मानते थे कि 'नये' कवियों के साथ आने में उन्होंने अपनी हेठी या अपना अहित समझा। एक इसलिए रह गये कि उनकी स्वीकृति के बावजूद दो वर्ष के परिश्रम के बाद भी उनकी रचनाएँ न प्राप्त हो सकीं। एक-दो इसलिए भी छोड़ दिये गये कि एकाधिक स्वतन्त्र संग्रह प्रकाशित हो चुकने के कारण उनका ऐसे संकलन में आना अनावश्यक हो गया था—स्मरण रहे कि मूल योजना यही थी कि सप्तक ऐसे कवियों को सामने लायेंगे जिनके स्वतन्त्र संग्रह प्रकाशित नहीं हुए हैं और जो इस प्रकार भी 'नये' हैं। यदि प्रस्तुत संकलन के भी दो-एक कवियों के स्वतन्त्र संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं तो वह इसी बात का द्योतक है कि *तीसरा सप्तक* की पाण्डुलिपि बनने और उसके प्रकाशन में एक लम्बा अन्तराल रहा है। यों हम तो चाहते हैं कि सभी कवियों के स्वतन्त्र संग्रह छपें—बल्कि सप्तक

में उन्हें लाने का कारण ही यह विश्वास है कि उनके अपने-अपने संग्रह छपने चाहिए।

इन शब्दों के साथ हम ओट होते हैं। भूमिका का काम भूमि तैयार करना है; भूमि 'तैयार' वही है जिस पर चलने में उसकी ओर से बेखटके होकर उसे भुला दिया जा सके। पाठक से अनुरोध है कि अब वह आगे बढ़कर कवियों से साक्षात्कार करे। उपलब्धि वही है।

---

**रामविलास शर्मा**

# जाति, जनपद, राष्ट्र और साहित्य

केदार, नागार्जुन, त्रिलोचन—हिन्दी जाति के साहित्य की प्रगतिशील धारा के प्रतिनिधि कवि हैं। वे अपने जनपद के कवि भी हैं। नागार्जुन ने मैथिली में कविताएँ लिखी हैं, केदार और त्रिलोचन ने अवधी में। नागार्जुन और केदार ने अपनी जनपदीय भाषा में जो कविताएँ लिखी हैं, वे प्रकाशित हैं, त्रिलोचन की अवधी कविताएँ छपी हों तो मैंने उन्हें देखा नहीं है। जनपदीय भाषा के माध्यम से ये कवि अपने क्षेत्र के किसानों तक, कुछ पढ़े-लिखे लोगों तक, पहुँचते हैं। वे हिन्दी जाति के कवि बने हैं मानक हिन्दी में लिखने के कारण। हिन्दी के अन्य कवियों को देखते इनकी रचनाओं में भदेसपन ज़्यादा है। यह भदेसपन ग्राम संस्कृति का नुमाइशी दिखावा नहीं है, वह उनकी मानक हिन्दी के अन्तस् में रचा हुआ है। प्रेमाश्रम और गोदान के किसान जब हिन्दी में बातें करते हैं, तब लगता है, यह उनकी सहज भाषा है। उसमें और प्रेमचन्द की अपनी हिन्दी में बहुत कम अन्तर है। यह बात उनकी उर्दू के बारे में नहीं कही जा सकती। हिन्दी उर्दू दो जातियों की अलग-अलग भाषाएँ नहीं हैं, वे एक ही जाति की भाषा के दो रूप हैं। इन दो रूपों में जो समानता है, वह बुनियादी है, जो भिन्नता है, वह ग़ैर बुनियादी है। उर्दू जितना ही जनपदीय भाषाओं के नज़दीक आयेगी, उतना ही हिन्दी से उसका अलगाव कम होगा। 'बिल्लेसुर बकरिहा', 'महँगू महँगा रहा' आदि की भाषा में दोनों रूपों का भेद नहीं के बराबर है। बलभद्र दीक्षित पढ़ीस का गद्य मानक हिन्दी में है और उनकी कविताओं की अवधी के बहुत नज़दीक है।

पढ़ीसजी सोचते थे कि आगे चलकर अवधी और खड़ी बोली घुलमिलकर एक हो जायेंगी। जिन देशों में पूँजीवाद का भरपूर विकास हुआ है, उनमें भी जनपदीय भाषाएँ पूरी तरह अन्तर्धान नहीं हुईं। भारत में वे बहुत दिनों तक रहेंगी और निरन्तर जातीय भाषाओं को प्रभावित करेंगी। पढ़ीसजी की उक्त धारणा का उल्लेख करते हुए जातीय भाषा हिन्दी और जनपदीय भाषाओं (अर्थात् उपभाषाओं) के सम्बन्ध पर मैंने 1939 के एक निबन्ध में लिखा था, "जिस प्रान्त में 85 प्रतिशित किसान हों, वहाँ नागरिक भाषा उससे प्रभावित हुए बिना कैसे रह सकती है ? उल्टा सुबोध होने के लिए उसे अपना रूप बदलना होगा। अपने विकास के लिए उसे गाँवों में

जाना होगा, जहाँ जीवन का स्रोत है और प्रकृति के संसर्ग में जहाँ भाषा की जातीयता गढ़ी जाती है। किसी हद तक इस सिद्धान्त पर चलने वाले हिन्दी में एक व्यक्ति थे—स्व. श्री प्रेमचन्द ! (किसी हद तक इसलिए कि जनपदीय भाषाओं के नज़दीक प्रेमचन्द की हिन्दी है, उनकी उर्दू नहीं।) लेकिन भाषा की समस्या सुलझाने के लिए हमने अपने गाँवों की भाषाओं में व्याप्त एक **जातीयता** और नैसर्गिक संस्कृति की ओर अभी तक उचित ध्यान नहीं दिया। दीक्षितजी ने राष्ट्रभाषा के लिए लिखा है, "अपने विशाल कक्ष में वह अपने किसानों की बोली को भी स्थान देकर दूध और पानी की भाँति घुल-मिल जायेगी। पचास अथवा सौ वर्ष आगे चलकर जो खड़ीबोली देश के कोने-कोने में गूँजेगी उसका आज की खड़ीबोली से कितना विभिन्न रूप होगा, इसकी कल्पना की जा सकती है।" दीक्षितजी के कथन की सच्चाई दिन पर दिन प्रमाणित होती जा रही है। लोग अनुभव कर रहे हैं कि हिन्दी उर्दू का झगड़ा मिटाने के लिए हमें अपनी भाषा को देहाती उपभाषाओं की सहज विकसित जातीयता के अनुरूप गढ़ना होगा ?" (विराम चिन्ह, पृ० 260; जहाँ तक याद है, यह निबन्ध माधुरी में छपा था। जातीयता का सन्दर्भ स्पष्ट करने के लिए मैंने उस शब्द को रेखांकित कर दिया है।)

जनपदीय भाषाओं में ध्वनितन्त्र से लेकर व्याकरण तक अनेक भेद हैं पर उनमें एक बहुत बड़ी समानता है, वह यह कि वे संस्कृत शब्दों को तद्भव रूप में ही अधिकतर अपनाती हैं। जो तत्सम रूप उनके ध्वनितन्त्र में खप जायें, उन्हें भी वे अपनाती हैं। 'देशज' शब्दों की उनकी संपदा अलग है। तुलसीदास और सूरदास जैसे कवियों की भाषा की शक्ति का बहुत वड़ा कारण उनका यह जनपदीय स्वभाव है। सूरदास की भाषा ब्रज के बाहर हिन्दी के अन्य जनपदों में तो लोकप्रिय है ही, वह हिन्दी प्रदेश के बाहर अन्य प्रदेशों में भी लोकप्रिय है। (सूर के पद गाते समय गुजरात, महाराष्ट्र आदि प्रदेशों के संगीतकारों की आत्मविह्लता का स्मरण करें !) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रताप नारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, प्रेमचन्द का गद्य हमारी जातीय भाषा का बहुत अच्छा नमूना है। ये चारों लेखक उर्दू जानते थे और उर्दू लिखते भी थे। जातीय भाषा का नमूना उनका हिन्दी गद्य है, उर्दू गद्य (या पद्य) नहीं। इसका कारण यह है कि हिन्दी तो संस्कृत शब्दों को तद्भव रूप में ले लेती है, उर्दू अरबी-फ़ारसी शब्दों को तद्भव रूप में नहीं लेती। लेकिन जनपदीय भाषाएँ अरबी-फ़ारसी शब्दों का चोला बदलने में थोड़ा भी हिचकती नहीं हैं। यही नीति मराठी और बाङ्ला जैसी भाषाओं की भी हैं।

अरबी और फ़ारसी दो भिन्न परिवारों की भाषाएँ हैं। बात केवल फ़ारसी की होती तो मामला न उलझता। मूल समस्या अरबी शब्दों की है। उर्दू में अरबी शब्दों की आमद पराधीन भारत में, उससे ज़्यादा स्वाधीन भारत में, लगातार बढ़ती गयी

है। सामन्तवाद अलगाव-बिखराव के लिए बदनाम है लेकिन 1800 से पहले की रीतिवादी कविता देखिए। उसके रचनाकार हिन्दू-मुसलमान दोनों हैं। कहीं हिन्दी उर्दू जैसा भेद आपको दिखायी देता है ? हिन्दी प्रदेश का पूँजीपति वर्ग उन पुराने सामन्तों से भी गया बीता है। यह उस एकता की रक्षा भी नहीं कर सकता जो सामन्तों के दरबार में क़ायम थी। और वे संगीत की पुरानी बन्दिशें—सन्तों के भजन की नहीं, सदा रंगीले मुहम्मद शाह आदि की बन्दिशें—आज भी कितनी लोकप्रिय हैं। हमारी संगीत परम्परा एक है, उसी तरह हमारी भाषाई परम्परा एक है। हिन्दी-उर्दू का अलगाव अस्थायी है। मान लीजिये, हिन्दी प्रदेश में हिन्दी-उर्दू जैसा भेद न होता, तो साम्प्रदायिक भेदभाव को ख़त्म करने में कितनी सहायता मिलती, सारे देश की श्रमिक जनता को संगठित करना कितना ज़्यादा आसान होता। अपने लिए और देश के लिए हमें हिन्दी-उर्दू का अलगाव सचेत प्रयास द्वारा ख़त्म करना चाहिए।

उर्दू के गद्य और पद्य में काफ़ी अंश ऐसे हैं जो हिन्दी हैं या हिन्दी के बहुत नज़दीक हैं। इसके साथ हिन्दी गद्य में काफ़ी अंश ऐसे हैं जो उर्दू हैं या उर्दू के बहुत नज़दीक है जैसे 'चन्द हसीनों के ख़तूत' या 'नवाबी मसनद' का गद्य। वर्तमान व्यवस्था को बदलने के लिए हिन्दी प्रदेश के किसान-मज़दूर जहाँ एक बार गतिशील हुए, यहाँ का भाषाई मानचित्र बदले बिना न रहेगा. और उसका प्रभाव सारे देश की सामाजिक सांस्कृतिक स्थिति पर पड़ेगा। इसके लिए हिन्दी जाति के विकास, उसकी भाषा और साहित्य की परम्पराओं, जनपद और जाति के सम्बन्ध, जाति और राष्ट्र के सम्बन्ध, भारतीय चिन्तन और मार्क्सवाद के सम्बन्ध को समझना ज़रूरी है।

हिन्दी आलोचना में प्रगतिशील लेखक संघ के जन्मकाल से दो प्रवृत्तियाँ रही हैं। एक प्रवृत्ति भाषा और साहित्य की विरासत को अस्वीकार करने की है। उसके लिए भारतीय समाज हज़ारों साल से अपरिवर्तित रहा है, उसमें स्वीकारने योग्य न तो कोई विरासत थी, न हो सकती थी। यहाँ जाति-बिरादरी थी, हिन्दू-मुस्लिम सम्प्रदाय थे। यहाँ प्रदेशगत जातियाँ नहीं थीं, बंगाली, तेलुगु, तमिल आदि जातियों का निर्माण अंग्रेज़ों के आने के बाद हुआ। हिन्दी जाति जैसी कोई जाति नहीं है। यहाँ ब्रज, अवध, बुन्देलखण्ड आदि जनपद स्वतन्त्र भाषाई क्षेत्र हैं। हिन्दी-उर्दू का भेद स्थायी है। यहाँ के चिन्तन के यूरोप का-सा भौतिकवादी दर्शन, यूरोप का-सा द्वन्द्ववादी तर्कशास्त्र बहुत दूर है। अंग्रेज़ों ने यहाँ अपना राज क़ायम करके समाज का पुराना ढाँचा तोड़ा, देश का उद्योगीकरण किया, ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा दी, साहित्य और संस्कृति में आधुनिक युग का सूत्रपात किया। अंग्रेज़ी राज की इस प्रगतिशील परम्परा को बढ़ा रहा है 'मार्क्सवाद' !

दूसरी प्रवृत्ति के लिए भारतीय इतिहास सामाजिक परिवर्तन का इतिहास है।

यहाँ चाणक्य और चन्द्रगुप्त के समय ही में नहीं, अकबर और शाहजहाँ के ज़माने में भी, बड़े पैमाने पर नगर सभ्यता का विकास हुआ था। यूरोप के व्यापारी यहाँ का तैयार माल ख़रीदने आये थे, अपने यहाँ का तैयार माल बेचने न आये थे। व्यापार के विकास के साथ यहाँ प्रदेशगत जातियों का निर्माण वैसे ही हुआ जैसे औद्योगिक क्रान्ति से पहले ब्रिटेन और यूरोप में हुआ। अंग्रेज़ों ने आर्थिक होड़ में भारत को परास्त नहीं किया, मशीनों का चलन हो जाने पर भी वे भारतीय माल की प्रतिद्वन्द्विता में ठहर न पाते थे। क़ानून बनाकर उन्होंने ब्रिटेन में भारतीय कपड़े की आमद पर रोक लगायी थी। छल बल से उन्होंने भारत पर अधिकार किया, यहाँ के उद्योग धन्धों का नाश किया; पहले की अपेक्षा देहात की आबादी का अनुपात बेहिसाब बढ़ गया। यहाँ का कच्चा माल ढोने, अपना तैयार माल बेचने के लिए, और अपनी फ़ौजें इधर से उधर भेजने के लिए उन्होंने रेलतार की व्यवस्था की, जहाँ-तहाँ मिलें चालू कीं तो ब्रिटिश पूँजी लगाकर, भारतीय पूँजीपतियों को अपना कारिन्दा बनाकर। उन्नीसवीं सदी में दादा भाई नौरोजी जैसे लिबरल नेता इसी बात के लिए आन्दोलन करते थे कि देशी पूँजी के संग्रह और औद्योगिक विकास पर अंग्रेज़ों ने जो रोक लगा रखी है, उसे उठा दें। यहाँ जो स्वतन्त्र रूप से सीमित औद्योगिक विकास हुआ, उसका मूल कारण यहाँ का स्वदेशी आन्दोलन था।

यहाँ का समाज विकासमान था, उसके अनुरूप यहाँ का साहित्य विकासमान था। अंग्रेज़ी राज में भारतीय साहित्य का जो विकास हुआ, वह इस राज का विरोध करके हुआ। उसने यूरोप के साहित्य और विज्ञान से बहुत कुछ सीखा, साथ ही अपनी विरासत को आत्मसात् किया। मार्क्सवादी लेखकों का काम समस्त पुराने साहित्य का तिरस्कार करके सर्वहारा संस्कृति के हवामहल खड़े करना नहीं है, पुरानी विरासत को अच्छी तरह समझकर, उसके आधार पर आज की परिस्थितियों के अनुरूप, साहित्य का निर्माण करना है। यहाँ के चिन्तन में भौतिकवाद का ही नहीं, वेदान्त का जो विकास हुआ था, उसकी सामाजिक भूमिका महत्त्वपूर्ण थी। शेली और मार्क्स को प्रभावित करने वाले दार्शनिक प्लेटो और हेगल भाववादी ही थे, भौतिकवादी नहीं। हिन्दी जाति संख्या में भारत की सबसे बड़ी जाति है। यहाँ जो कुछ भला-बुरा होता है, उसका प्रभाव हिन्दी प्रदेश तक सीमित नहीं रहता, सारे देश पर पड़ता है। यहाँ की जनता के संगठित अभियान के बिना देश की वर्तमान व्यवस्था को बदलना असम्भव है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे पाठक देखेंगे कि व्यापक जन आन्दोलन की परिस्थितियों में दूसरी प्रवृत्ति साहित्य की सर्वाधिक शक्तिशाली धारा बन जाती है। जन आन्दोलन के अभाव और जन संगठनों के बिखराव की परिस्थितियों में पहली प्रवृत्ति को उभरने का अवसर मिलता है। वह कभी वामपन्थी अतिवाद के

रूप में सामने आती है, कभी दक्षिणपन्थी विसर्जनवाद के रूप में। यदि उसके उभार उतार का इतिहास मालूम हो, तो अभी और आगे, क्या लेखक और क्या उनके पाठक, सचेत रूप से सही दिशा में साहित्य के विकास को प्रेरित कर सकते हैं। प्रतिदिन यह स्पष्ट होता जाता है कि राजनीति में पूँजीवादी नेतृत्व देश को वर्तमान संकट से उबार नहीं सकता। लेकिन वामपन्थी नेतृत्व जब तक वैचारिक दृष्टि से सुदृढ़ नहीं होता और व्यवस्था को बदलने के लिए अटूट मनोबल का परिचय नहीं देता, तब तक अनुकूल परिस्थितियाँ होने पर भी व्यवस्था में कोई परिवर्तन न होगा। इसीलिए 1945-47 का इतिहास राजनीति और साहित्य दोनों के लिए महत्त्वपूर्ण है।

1946 में जन प्रकाशन गृह द्वारा *नया साहित्य* के निराला विशेषांक का प्रकाशन प्रगतिशील लेखक संघ और कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर और बाहर एक लम्बे संघर्ष का परिणाम था। 1934 में निराला पर अपने पहले लेख के बाद मैं प्रायः हर साल उन पर कुछ न कुछ लिखता रहा था। इस सिलसिले में *रूपाभ* के चौथे अंक में प्रकाशित लेख कवि निराला, *तार सप्तक* में प्रकाशित कविता 'कवि' और 1947 में प्रकाशित *निराला* पुस्तक मेरे लेखन की तीन मंज़िलों के समान हैं। निराला से तमाम मतभेद के बावजूद पन्तजी के हृदय में निराला के लिए बहुत गहरा और वास्तविक स्नेह था। उन्होंने निराला को जैसे पत्र लिखे थे और उन पर जैसी कविता लिखी थी, वह सब मात्र शिष्टाचार की उपज न था। *रूपाभ* का पहला अंक निकलते ही उनका ध्यान निराला पर लेख छापने की ओर गया। उन्होंने अगस्त 1938 में मुझसे निराला पर लेख लिखने को कहा होगा—मौखिक रूप से या पत्र द्वारा। उस आशय का उनका कोई पत्र मेरे पास नहीं है। पर 14 सितम्बर 1938 के पत्र में उन्होंने शिकायत की थी, "श्री निरालाजी पर आपका लेख अभी तक नहीं मिला।" अनुमान है कि दो हफ़्ते लेख की राह देखने के बाद उन्होंने ऐसा लिखा होगा। लेख उन्हें सितम्बर में मिला, अक्तूबर के अंक में छप गया; पन्तजी बड़े मुस्तैद सम्पादक थे। लेख छापने के बाद 11 नवम्बर के पत्र में उन्होंने लिखा, "निरालाजी पर आपका लेख मुझे विशेष पसन्द आया। धन्यवाद।"

*तार सप्तक* में प्रकाशित कविता निराला के साहित्य पर है, उससे अधिक उनके जीवन संघर्ष पर है। कविता की अन्तिम पंक्ति—निर्मित होगी जनसत्ता की नगरी विशाल—में निराला के जीवन संघर्ष का सम्बन्ध जनक्रान्ति और नयी व्यवस्था के निर्माण से जोड़ा गया है। 1946 में जनक्रान्ति का उभार आँखों के सामने था; प्रगतिशील लेखकों ने जब निराला पर लिखा, उनका सम्बन्ध उन्होंने क्रान्ति से जोड़ा। इस बीच निराला के दो कविता संग्रह *बेला* और *नये पत्ते* छप चुके थे। क्रान्ति से निराला का सम्बन्ध जोड़ने के लिए वहाँ काफ़ी सामग्री थी। इस समय कांग्रेसी

नेता—विशेषरूप से सरदार वल्लभ भाई पटेल—कम्युनिस्ट विरोधी प्रचार अभियान चला रहे थे। कम्युनिस्टों ने सन् 42 में गद्दारी की, भारत छोड़ो आन्दोलन में अंग्रेज़ों से मिल गये—उनके प्रचार का यह ख़ास मुद्दा था। सन् 46 में ही नहीं, बाद में भी उन्होंने यह सूत्र कई बार दोहराया। इसका उद्देश्य कांग्रेसी नेताओं की अपनी गद्दारी को छिपाना था। वे 45-46 के क्रान्तिकारी उभार का विरोध कर रहे थे और उससे बचने के लिए किसी भी क़ीमत पर अंग्रेज़ों से समझौता करने की कोशिश में लगे हुए थे। अंग्रेज़ों से शान्तिपूर्वक सत्ता प्राप्त हो जायेगी—उनके शान्ति प्रेम का यह एक पक्ष था। साथ ही वे कम्युनिस्टों पर हमले आयोजित कर रहे थे। उनके शान्ति प्रेम का यह दूसरा पक्ष था। कम्युनिस्ट पार्टी का मुख्य कार्यालय बम्बई में था। इस पर बार-बार हमले किये गये। ऐसे एक हमले में कवि शमशेर बहादुर सिंह के काफ़ी चोट आयी थी।

शमशेर की चोट का समाचार सुनकर अमृतलाल नागर ने मुझे लिखा था, "बम्बई दुर्घटना में शमशेर को काफ़ी चोट आई है। चिन्ता करने की बात नहीं। अन्धा जब पागल होगा तो अपना ही सिर फोड़ेगा। बहुत नुक़सान हुआ है। मगर यह तो होगा ही। देखते चलो। जब से सिर फूटने लगे, मैंने प्याले फोड़ना बन्द कर दिया।" (पोस्टकार्ड में तारीख़ नहीं है; डाक मुहर की तारीख़—सम्भवतः कार्ड के आगरा पहुँचने की—30 जनवरी 46 है।)" पहली फ़रवरी 1946 को उन्होंने फिर लिखा, "बम्बई की चोटें तुम्हारी बुद्धि पर कैसी पड़ीं ? आज़ादी की शराब का असर है भाई। कोई क्या कर सकता है ? सहना ही पड़ेगा·· शमशेर की चोट व्यक्तिगत रूप से मैंने महसूस की। चार-पाँच रोज़ दिल-ही-दिल में दर्द से तड़पता रहा। अब सुधर रहा हूँ। यू.पी. में तुम लोगों के साथ कैसा व्यवहार है ? मत विरोध दूसरी बात है, मगर इस घटना के बाद भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की चारित्रिक दृढ़ता पर मेरा विश्वास और भी बढ़ा है।"

जिस दफ़्तर पर हमला हुआ था, उसी से *नया साहित्य* का प्रकाशन होता था। उसका निराला विशेषांक निकालने का प्रयत्न फ़रवरी 1946 में शुरू हो गया था। इस कार्य में सबसे आगे बढ़कर हिस्सा ले रहे थे अमृतलाल नागर। "छठा अंक ही निराला अंक है। ग़लतफ़हमी दूर करो। तुम्हारी सलाह मुझे बहुत जँची। सामग्री इसी तरह से तैयार होग्री।" (10 फ़रवरी 1946)। आगे और विस्तार से : " 'निराला अंक' में अब चमेलीजी आ गई हैं। डेढ़-दो पृष्ठों में उनकी महिमा का बखान कर डालो·· मुझे निरालाजी की भाषा इसमें बड़े ही मार्के की लगी। अवधी के मुहावरे और लखनऊ की सलीस ज़बान ने मिलकर एक नया अन्दाज़ पैदा किया है। शैलीकार के रूप में निरालाजी नये रंग-ढंग से आये हैं। एक परिच्छेद को देखते हुए इस उपन्यास से क्या आशा की जा सकती है, इस पर भी दो क़लम लिख मारना।

*चोटी की पकड़* पर भी घसीट मारो।" (5 अप्रैल, 1946)

इन संपादकीय आदेशों का पालन मैं नहीं कर सका पर मेरी निराला पुस्तक की पाण्डुलिपि उनके पास थी। उसके कई अंश *नया साहित्य* में छपे, कुछ मेरे नाम से, कुछ अन्य नामों से, 'निरालाजी की युद्धकालीन कविता'—पुस्तक का यह अध्याय *नया साहित्य* में निरंजन के नाम के साथ छपा था। इस अध्याय के अन्तिम तीन वाक्यों से पुस्तक लिखने के अलावा *नया साहित्य* का विशेषांक निकालने की परिस्थितियों की भी जानकारी होगी। "देश के जीवन में एक ओर भाई-भाई की मारकाट और गृहयुद्ध की लपटें फैल रही हैं तो दूसरी ओर मज़दूर वर्ग के नेतृत्व में एक महान क्रान्तिकारी ज्वार आया है। निरालाजी के विकास की समूची परम्परा हमें सिखाती है कि इस ज्वार के साथ बढ़कर परिवर्तन की शुभ घड़ी लाने के लिए हिन्दी लेखकों और कवियों को आगे बढ़ना है। उनके अदम्य जीवन (संघर्ष) और अनवरत साहित्य साधना का यही सन्देश है कि हम देश को आज के घोर संकट से मुक्त करें और वह स्वाधीनता के वातावरण में फिर खुलकर साँस ले सके।"

पर ऐसा हुआ नहीं। इसका मुख्य कारण यह था कि कांग्रेस-लीग एकता से आज़ादी मिलेगी—इस पुरानी नीति के जानलेवा कीटाणु कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में विद्यमान थे। कांग्रेस और लीग नें लार्ड माउंटबेटन की देखरेख में सत्ता का बँटवारा करके 'एकता' क़ायम कर ली। इस एकता को ध्वस्त करके वास्तविक एकता—कराँची से ढाका तक, श्रीनगर से तिरुअनन्तपुरम् तक, किसानों और मज़दूरों की एकता—क़ायम करने के साधन, अवसर और सम्भावनाएँ मौजूद थीं पर उनका उपयोग करने की दिशा में कम्युनिस्ट नेतृत्व दृढ़ता से बढ़ नहीं सका।

इस स्थिति को बदलने का प्रयत्न कम्युनिस्ट पार्टी की दूसरी कांग्रेस में किया गया। आज 1988 से चालीस साल पहले पार्टी की यह ऐतिहासिक कांग्रेस 28 फ़रवरी से 6 मार्च 1948 तक कलकत्ते में सम्पन्न हुई थी। इसमें कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कही गयी थीं, जो हमारे अब तक के इतिहास के लिए प्रासंगिक हैं। पहली बात दूसरे विश्वयुद्ध के बाद जनक्रान्ति के उभार के बारे में :

"लड़ाई के वर्षों में साम्राज्यवाद ने भारतीय जनता का जो क्रूर दमन किया, उस ज़माने में जो गहरा अर्थसंकट शुरू हुआ, और मेहनतकश जनता को उसके कारण जो असहनीय तकलीफ़ें और भूख की मार सहनी पड़ी, उसने जनता की राजनीतिक चेतना बहुत तीव्र कर दी और उसमें लड़ने का अपूर्व जोश पैदा कर दिया··

कांग्रेस और लीग के नेता साम्राज्यवाद से समझौता करने, जनता में फूट डालने और जनसंघर्षों को रोकने की नीति पर चलते रहे। परन्तु, फिर भी, 1945-46 में, शहरों में मज़दूरों और नौकरीपेशा लोगों के, देहात में किसानों और अर्धगुलाम काश्तकारों

के और रियासतों में साधारण जनता के, संघर्षों का ज़ोर, उग्रता और विस्तार बराबर बढ़ता ही गया।

"यहाँ तक कि सरकार की फौज और पुलिस भी जनसंघर्ष की लपेट में आ गयी और साम्राज्यवादी फ़ौज में भी हड़तालें, बग़ावतें, और विद्रोह होने लगे। गाँधीजी का अहिंसक भारत, जिसे पच्चीस बरस तक पूँजीपति वर्ग ने हर तरह से उग्र संघर्ष से दूर रहना सिखाया था, यकायक हथियार उठाकर लड़ने लगा।" (हिन्दुस्तानी कम्युनिस्ट पार्टी की दूसरी कांग्रेस में स्वीकृत राजनीतिक प्रस्ताव, जन प्रकाशन गृह, बम्बई, 1948 पृ. 32)

आगे चलकर देश और विदेश के दक्षिणपन्थी अवसरवाद ने क्रान्ति के इस उभार को भुला देने की पूरी कोशिश की; उस उभार की याद से भी पूर्ण स्वाधीनता की कांग्रेसी उपलब्धि में दाग़ लगता था। दूसरे महायुद्ध के दौरान इस धारणा का काफ़ी प्रचार किया गया था कि साम्राज्यवाद जनता के शिविर में बन्दी है, फ़ासिस्टवाद की पराजय से भारत और संसार की मुक्ति अपने आप हो जायेगी, सोवियत संघ संसार की समस्त जनता की स्वाधीनता, समृद्धि और शांन्ति की नई विश्व व्यवस्था क़ायम करके अपनी विश्व उद्धारक भूमिका निबाहेगा। (देखें *भारत में अंग्रेज़ी राज और मार्क्सवाद*, खण्ड 2, पृ. 544-45)। यह धारणा अक्सर अब यों पेश की जाती है : फ़ासिस्टवाद की पराजय से विश्व साम्राज्यवादी व्यवस्था ध्वस्त हो गयी, तमाम पराधीन देश पूरी तरह आज़ाद हो गये। आंशिक सत्य पर आधारित इस तरह के प्रचार में दो बातें भुला दी जाती हैं : (1) नव स्वाधीन देशों में साम्राज्यवाद ने देशी पूँजीवाद के सहयोग से अपने आर्थिक हितों की रक्षा की; (2) देशी पूँजीवाद ने जो रियायतें पायीं, उन्हें पाने में जन आन्दोलन के दबाव का भी योगदान था। दक्षिणपन्थी अवसरवाद से भिन्न दाँव-पेंच अपनाते हुए वामपन्थी अवसरवाद भी उस जन उभार को भुला देना चाहता है क्योंकि जन उभार का वास्तविक रूप याद करने पर उसकी मुहीमबाज़ी का जनविरोधी स्वरूप प्रकट हो जायेगा।)

दूसरी बात देशी पूँजीवाद द्वारा साम्राज्यवाद से अधिक रियायतें पाने के लिए जन आन्दोलन के दबाव का उपयोग करने के बारे में : "जनता के आन्दोलन को उन्होंने (कांग्रेसी नेताओं ने) केवल साम्राज्यवाद से अधिक से अधिक सहूलियतें पाने, अपना स्वार्थ ज़्यादा से ज़्यादा सिद्ध करने के लिए इस्तेमाल किया।" (राजनीतिक प्रस्ताव, पृ. 37)। (दक्षिणपन्थी अवसरवाद रियायतों को पूर्ण स्वाधीनता कहता है, 'पूर्ण स्वाधीनता' प्राप्ति के बाद भारत में सुरक्षित ब्रिटिश आर्थिक हितों के बारे में चुप रहता है। वामपन्थी अवसरवाद कहता है, परिस्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।)

तीसरी बात मुस्लिम लीग की अलगाववादी नीति के बारे में :

"मुस्लिम लीग के नेता मुस्लिम पूँजीपतियों और ज़मींदारों का प्रतिनिधित्व करते

हैं। उन्होंने अपनी सम्प्रदायवादी नीति, हिन्दुस्तान के बँटवारे के अपने नारे, और कांग्रेस के नेतृत्व में चलने वाले स्वतन्त्रता-आन्दोलन के रास्ते में रुकावटें डालने की अपनी कोशिशों के द्वारा, हमेशा राष्ट्रविरोधियों और फूट-परस्तों का काम किया है
इस ज़माने में मुस्लिम लीग के नेताओं ने सारा ज़ोर एक ही काम में लगाया और वह था कांग्रेस को डरा-धमकाकर उससे अपनी बँटवारे की फूटवादी माँग को मनवाने की कोशिश करना।" (उप., पृ. 37-38)। (दक्षिणपन्थी अवसरवाद मुस्लिम लीग की फूटवादी नीति को भुला देना चाहता है क्योंकि इन्हीं फूटवादियों के डराने धमकाने में आकर कांग्रेस ने उनसे समझौता किया था। फ़ासिस्टवाद की पराजय से विश्व साम्राज्यवादी व्यवस्था ध्वस्त हुई तो भारत में फूटवादियों की विजय कैसे हुई ? वामपन्थी अवसरवाद कांग्रेस और मुस्लिम लीग को एक ही तराजू से तौलता है, साम्राज्यवाद और देशी पूँजीवाद में किसी अन्तर्विरोध को स्वीकार नहीं करता, इसलिए वह कांग्रेस पर भी किसी दबाव को स्वीकार नहीं करता। इस तरह वह साम्राज्यवाद के घिनौने दाँव-पेंच छिपाने में मदद करता है।)

चौथी बात देश के बँटवारे के दूरगामी परिणामों के बारे में :

"हिन्दुस्तान का बँटवारा, दंगे कराने का स्थायी अस्त्र है। देश के दो टुकड़े हो जाने के बाद जनता के दुश्मन जब चाहेंगे, दंगे करा देंगे, और युद्ध के नाम पर अपीलें निकालकर क्रान्तिकारी आन्दोलन को पथभ्रष्ट करेंगे।" (उप., पृ. 39) (पिछले चालीस-बयालीस वर्षों का इतिहास इस स्थापना की सच्चाई का प्रमाण है। सम्प्रदायवाद से लड़ने के लिए अपीलें निकालने वाले कितने लोग याद करते हैं कि उसका मूल कारण देश का बँटवारा है, कि सम्प्रदायवाद जनवादी क्रान्ति पर हमला है और उसे जनवादी क्रान्ति ही ख़त्म कर सकती है ?)

पाँचवीं बात जनवादी क्रांति के कार्यक्रम के बारे में :

1. "ब्रिटिश साम्राज्य से पूरी तरह सम्बन्ध-विच्छेद कर लेना और पूर्णतया सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त करना।

2. एक ऐसी जनवादी सरकार की स्थापना जो मज़दूरों, मेहनतकश किसानों, और शोषित निम्न पूँजीवादी वर्ग की प्रतिनिधि हो, जो अंग्रेज़ अमरीकी साम्राज्यवाद के साथ सहयोग करने के ख़िलाफ़ हो और जो संसार की शान्ति तथा सभी देशों की आज़ादी के लिए लड़ने वाले जनवादी देशों से मित्रता स्थापित करे।" (उप., पृ. 84)। ब्रिटिश साम्राज्य से सम्बन्ध-विच्छेद करने का सवाल उनके लिए नहीं उठता जो समझते हैं कि पूँजीपति वर्ग ने पूरी और सच्ची आज़ादी प्राप्त कर ली है। सच्ची आज़ादी की प्राप्ति के बाद या तो अब समाजवादी क्रान्ति करना है या सच्ची आज़ादी पाने वालों की सरकार का समर्थन करना है। यहाँ से दायें-बायें जाने के दो अवसरवादी रास्ते दिखायी देने लगते हैं। लेकिन यदि साम्राज्यवाद से आर्थिक

और राजनीतिक सम्बन्ध नहीं टूटा तो इसका मतलब है कि जनवादी मोर्चे में वे पूँजीपति भी आ सकते हैं जो इस सम्बन्ध को ख़त्म करना चाहते हैं। यदि जनवादी मोर्चे में, विदेशी पूँजी के दबाव के विरोधी, पूँजीपति शामिल हो सकते हैं, तो मेहनतकश किसानों के अलावा धनी किसान, निम्न पूँजीवादी वर्ग के अलावा उच्च मध्यवर्ग भी आ सकता है। पर ये संघर्ष की निर्णायक शक्ति न होंगे। निर्णायक शक्ति होंगे मज़दूर, मेहनतकश किसान और निम्न पूँजीवादी वर्ग। जनवादी क्रान्ति के कार्यक्रम के सिलसिले में कहा गया है : "बड़े उद्योगों, बैंकों और बीमा कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण किया जाये।" (उप., पृ. 85)। यहाँ बड़े उद्योगों को छोटे उद्योगों से अलग किया गया है। मानी बात है कि इन छोटे उद्योगों के मालिक या तो जनवादी मोर्चे में शामिल होंगे या तटस्थ कर दिये जायेंगे।

जनवादी सरकार में ऐसे लोग शामिल होंगे जो अंग्रेज़-अमरीकी साम्राज्यवाद के साथ सहयोग करने के ख़िलाफ़ हों। सहयोग करने के ख़िलाफ़ को असहयोग करने के पक्ष में कहा जाये तो कुछ ग़लत है ? राजनीतिक प्रस्ताव के अनुसार "आज पूँजीवादी नेता अपनी समझौतावादी नीति के लिए जनता का समर्थन प्राप्त करने के उद्देश्य से कांग्रेस के नाम का उपयोग करते हैं।" (पृ. 78)। असहयोग के नाम का उपयोग क्यों नहीं करते ? इसलिए नहीं करते कि इससे उनके साम्राज्यवाद से सहयोग की क़लई खुल जायेगी ! लेकिन वामपक्ष कह सकता है, जो भी साम्राज्यवाद से असहयोग करने को तैयार हो, वह हमारे साथ आये। राजनीतिक प्रस्ताव के अनुसार कम्युनिस्ट पार्टी की नीति का एक पक्ष यह है : "कांग्रेस के अन्दर सच्चे साम्राज्यविरोधी लोगों और जनवादियों को (की) जनता के भ्रमों को दूर करना है और जनवादी कार्यक्रम पूरा करने के लिए लड़ना है। कम्युनिस्ट पार्टी इस काम को बहुत ही महत्त्वपूर्ण काम मानती है।" (पृ. 78-79)। इस महत्त्वपूर्ण काम को पूरा करने के लिए असहयोग से अच्छा नारा और कौन-सा हो सकता है ?

सवाल सिर्फ़ कांग्रेस के अन्दर जो साम्राज्यविरोधी हैं, उन्हें अपने साथ लेने का नहीं है। सवाल असहयोग शब्द को इस्तेमाल करने का भी नहीं है। सवाल यह है कि देश के विभिन्न वर्गों के करोड़ों लोगों में जो साम्राज्यविरोधी देशभक्ति की भावना है, उसका उपयोग जनवादी क्रान्ति के हित में वामपक्ष कर सका है या नहीं। स्पष्ट ही उत्तर है, वह नहीं कर सका है। यदि स्वदेशी और असहयोग का नारा लगाकर वह इस दिशा में बढ़े, तो सारे दक्षिण-वाम अवसरवादी एक तरफ़ ठेल दिये जायेंगे और कम्युनिस्ट आन्दोलन को आन्तरिक रूप से सुदृढ़ करने में सहायता मिलेगी। साहित्य के लिए इसका परिणाम अत्यन्त लाभकारी होगा, वह अलग से।

कम्युनिस्ट पार्टी की दूसरी कांग्रेस ऐतिहासिक महत्त्व की घटना थी। उसने 1945-46 के जनसंघर्षो से स्वयं को जोड़ते हुए अपनी नीति निर्धारित की थी। केदार, नागार्जुन, त्रिलोचन (और उनके सहधर्मियों) की कविता, कुल मिलाकर, इस नीति के अनुरूप है और वह 1945-46 की प्रगतिशील कविता से जुड़ी है।

---

**रामविलास शर्मा**

# कविता का स्थापत्य

स्थापत्यकार अपनी रचना-सामग्री से ख़ाली जगह भरता है। जहाँ शून्य है, वहाँ लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई, गहराई वाली इमारत वह खड़ी करता है, उसके विभिन्न अंगों में सन्तुलन स्थापित करके सौन्दर्य की सृष्टि करता है। कविता जिस शून्य को भरती है वह कल्पना में है। जिस क्षण कविता आरम्भ होती है, उस क्षण से लेकर अन्त होने तक वह एक निश्चित काल-खंड घेरती है, इस काल में वह गतिशील रहती है। साथ ही उस निश्चित अवधि में बढ़ते हुए वह शून्य को भी घेरती है, उसकी गति उस रेखा के समान नहीं है जिसमें लम्बाई तो है, चौड़ाई नहीं है।

स्थापत्यकार ईट, पत्थर, गारा, चूना आदि रचना-सामग्री का उपयोग करके आकाश का कोई पूर्व-निश्चित भाग घेरता है। कवि की रचना-सामग्री है भाषा। शब्दों का प्रयोग करता है वह उनके अर्थ के लिए, सांकेतिक व्यंजना के लिए, कल्पना में चित्र उपस्थित करने के लिए, ध्वनि-प्रवाह के लिए। इस प्रयोग पर निर्भर है कि वह अपनी रचना-सामग्री से कितना आकाश किस तरह भरता है। कागज़ पर छपी हुई कविता की लम्बाई देखकर यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि वह वास्तव में कितना आकाश घेर रही है। *अणिमा* में कविता है 'स्वामी प्रेमानन्द जी महाराज' जो पुस्तक के तीस पृष्ठ घेरती है। सीधी रेखा पकड़े कविता बढ़ती चली जाती है; इस गति को रोककर दाएँ-बाएँ घूमती हुई वह ख़ाली जगह नहीं घेरती। इस कविता को हम फूलों की माला या वृक्षों की लमबी पाँति कह सकते हैं, वह इमारत नहीं है। *अनामिका* में 'सेवा प्रारम्भ' बारह-तेरह पृष्ठ घेरती है, इतने ही पृष्ठों की *नये पत्ते* में 'स्फटिक-शिला' है। इन लम्बी कविताओं में वह गहराई नहीं है जो *तुलसीदास* या *राम की शक्तिपूजा* में है। 'स्वामी प्रेमानन्द जी महाराज' की कुल शब्द-संख्या सम्भव है *राम की शक्तिपूजा* के बराबर हो या कुछ अधिक हो किन्तु दोनों के रचनाकौशल में जो भेद है, वह शब्द-संख्या की समानता-असमानता से प्रकट नहीं होता। उस भेद का कारण है माध्यम का भिन्न पद्धति से उपयोग।

माध्यम है भाषा। भाषा के साथ अर्थ, मूर्तिविधान, ध्वनिप्रवाह—यह सब-कुछ है। यह कवि की रचना-सामग्री है; उसको वह कैसे तैयार करता है, गारा पतला है या गाढ़ा, लखौरी ईंट है या संगमूसा के बड़े-बड़े टुकड़े, उस सामग्री का उपयोग

कैसे करता है, इस पर निर्भर है कि कविता की इमारत कैसी बनती है। 'तुलसीदास' में निराला एक शानदार इमारत बनाना चाहते हैं, ऐसी कि उसे देखकर मन उसकी गरिमा से प्रभावित हो। इसलिए वह छन्द-प्रवाह, मूर्तिविधान, शब्द-ध्वनि, सांकेतिक अथवा स्पष्ट व्यंजना इन सबको नियन्त्रित रखते हैं। निराला की कला की विशेषता यह है कि सामान्यतः इन तत्त्वों में एक नियन्त्रित है तो सब नियन्त्रित हैं, एक में अनवरुद्ध प्रवाह है तो औरों में भी है। इस नियन्त्रण द्वारा वह अपने माध्यम में घनत्व पैदा करते हैं, कविता को सीधी रेखा में बढ़ने से रोककर दाएँ-बाएँ जगह घेरते चलते हैं।

भारत के नभ का प्रभा पूर्य
शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य
अस्तमित आज रे—तमस्तूर्य दिङ्मण्डल;
उर के आसन पर शिरस्त्राण
शासन करते हैं मुसलमान;
है ऊर्मिल जल; निश्चलत्प्राण पर शतदल।

भाषा की गति अनवरुद्ध प्रवाह के समान नहीं है। निराला शब्दों की रास खींचे हुए हैं। विशेषणों से पूरे वाक्यों का काम ले रहे हैं। मूर्तिविधान के एक-एक अंश में युग का पूरा इतिहास है। शब्दों की ध्वनि में हल्कापन नहीं, गहराई है। निराला ने छह पंक्तियों के लिए जितना समय निर्धारित किया है, उससे बहुत अधिक आकाश घेरा है। इसके विपरीत, भिन्न ढंग से वह रचना-सामग्री का उपयोग करते हैं 'स्वामी प्रेमानन्द जी महाराज' में :

आमों की मंजरी पर
उतर चुका है वसन्त,
मंजु गुंज भौरों की
बौरों से आती हुई,
शीतवायु ढो रही है
मन्द गन्ध रह-रह कर।
नारियल फले हुए,
पुष्करिणी के किनारे
दोहरी क़तारों में
श्रेणीबद्ध लगे हुए।
भरा हुआ है तालाब,
खेलती हैं मछलियाँ,
पानी की सतह पर
पूँछ पलटती हुई।

दोनों कविताओं की शैली का अन्तर साफ़ पहचाना जा सकता है किन्तु यह अन्तर मूलतः कविता के ढाँचे से, कलाकार द्वारा उस ढाँचे के अनुकूल अपनी रचना-सामग्री के उपयोग से सम्बन्धित है। 'स्वामी प्रेमानन्द जी महाराज' या वैसी ही अन्य कविताओं में उद्देश्य कविता की रचना-भव्यता से प्रभावित करना नहीं है जैसे *तुलसीदास* या *राम की शक्तिपूजा* में।

इस तरह का भेद लम्बी कविताओं में ही नहीं, छोटी मुक्तक रचनाओं में भी है। 'जुही की कली' का प्रवाह अनवरुद्ध है। उपवन सर-सरित गहन गिरि कानन को जल्दी-जल्दी पार करता हुआ पवन मानो इस प्रवाह का प्रतीक है। जुही की कली के सोने से लेकर प्यारे के संग रंग खेलने तक निराला निरन्तर, प्रायः एक गति से, दाएँ-बाएँ देखे बिना आगे बढ़ते जाते हैं। शब्द की ध्वनि या अर्थ में—प्रवाह को रोककर—वक्रता पैदा नहीं की गई जैसे इससे मिलती-जुलती कविता 'शेफालिका' में की गई है :

बन्द कंचुकी के सब खोल दिए प्यार से<br>
यौवन-उभार ने<br>
पल्लव-पर्यंक पर सोती शेफालिके।<br>
मूक आह्वान भरे लालसी कपोलों के<br>
व्याकुल विकास पर<br>
झरते हैं शिशिर से चुम्बन गगन के।

मूक आह्वान भरे लालसी कपोलों का व्याकुल विकास—एक व्यंजना-पद्धति यह है जो पाठक को आगे बढ़ने से रोकती है, जो कविता की रचना में घनत्व पैदा करती है। दूसरी पद्धति है :

निर्दय उस नायक ने<br>
निपट निठुराई की<br>
कि झोंकों की झड़ियों से<br>
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली।

'जुही की कली' निराला की लोकप्रिय रचना है। लोकप्रियता का एक कारण सीधी रेखा में आगे बढ़ना है। रीतिवादी कविता पढ़कर पाठक जो संचारी-व्यभिचारी जगाता रहा है, उन्हीं को एक हद तक यह कविता पढ़कर भी वह जगा लेता है। 'शेफालिका' में कवि ने भाषा का जैसा प्रयोग किया है, उससे वह अपरिचित है। किन्तु रचना में घनत्व वहीं ज़्यादा है। ऐसी ही भिन्नता गीतों में है।

वर दे, वीणावादिनि वर दे —यह भी लोकप्रिय गीत है। ध्वनि में गाम्भीर्य है, वक्रता है, प्रवाह की तरलता नहीं है किन्तु शब्दों की ध्वनि के साथ मूर्तिविधान

और व्यंजना में वैसी वक्रता, वैसा कसाव नहीं है। अन्ध-उर के बन्धन काटकर ज्योतिर्मय निर्झर बहाने की बात सुपरिचित है, मन पर असर करती है। 'किन्तु कौन तम के पार' में निराला ने रूप, रस, गन्ध, स्पर्श के हिसाब से बिम्बों के शिलाखण्ड जमाए हैं और उनके सहारे गीत में एक छोटा किन्तु बहुत मज़बूत, भीतर से गहरा स्तूप रच डाला है। इन सबसे भिन्न रचना-सामग्री का उपयोग होता है उन गीतों में जो लोक-गीतों की परम्परा के निकट हैं : 'नयनों के डोरे लाल गुलाल भरे खेले होली।' यहाँ निराला रचना का मध्य मार्ग अपनाते हैं। 'स्वामी प्रेमानन्द जी महाराज' की तरह यहाँ सीधी रेखा वाली गति नहीं है, न 'तुलसीदास' की तरह आकाश भरने का स्थापत्य है। संयत प्रवाह के साथ निराला एक चित्रावली उद्घाटित करते हैं जिसमें आन्तरिक संगति है।

गीतों और मुक्तकों में निराला शुरू से अन्त तक प्रायः एक तरह की रचना-सामग्री का उपयोग करते हैं अर्थात् शब्दों की ध्वनि, सांकेतिक व्यंजना, मूर्ति-विधान आदि का स्तर एक ही रहता है। वर दे, वीणावादिनि वर दे—से गीत आरम्भ हुआ,

> नव नभ के नव विहग वृन्द को
> नव पर, नव स्वर दे !

उसी शैली में, उसी स्तर पर समाप्त हुआ। किन्तु 'पावन करो नयन'—यह गीत उस स्तर पर आरम्भ होता है जिसे अनुदात्त कह सकते हैं। 'घन गर्जन से भर दो वन' या 'दे मैं करूँ वरण' जैसे गीतों का मन्द्र घोष आरम्भ में नहीं है। 'पावन करो नयन' में लोकगीत की-सी मधुर ध्वनि और वैसी ही सरल व्यंजना है। किन्तु दूसरी ही पंक्ति 'रश्मि नभ नील पर'—से ध्वनि और व्यंजना की वक्रता आरम्भ होती है; शैली बदल जाती है। दूसरे छन्द में—

> प्रतनु, शरदिन्दु-वर
> पद्मजल विन्दु पर—

के साथ स्वर और भी साफ़ बदला हुआ नज़र आता है। मूर्ति-विधान की सादगी ख़त्म हो गई है। संध्या के समय कमल के दल बंद हो गए हैं; उन पर ठहरी हुई ओस की बूँद पर चन्द्रमा की किरण पड़ती है। दुखनिशा में कवि की स्वप्न-जागृति यह किरण है। इस तरह निराला एक ही गीत में शब्दों की ध्वनि और मूर्ति-विधान का प्रयोग दो तरह से करके नाटकीयता उत्पन्न करते हैं।

'बादल राग' (6) उदात्त स्तर पर शुरू होता है :

> तिरती है समीर सागर पर
> अस्थिर सुख पर दुख की छाया।

लम्बे डग भरता हुआ छन्द; वैसा ही विराट् चित्र। फिर उदात्त से भिन्न सामान्य

स्तर पर :

हँसते हैं छोटे पौधे लघुभार—
शस्य अपार,
हिल हिल
खिल खिल,
हाथ हिलाते
तुझे बुलाते,
विप्लव-रव से छोटे ही हैं शोभा पाते।

पौधों का वर्णन शुरू होने से पहले बादल गगनस्पर्शी स्पर्द्धाधीर पर्वतों को क्षत-विक्षत कर चुका है। इन पर्वतों और छोटे पौधों में जैसा भेद है, वैसा ही भेद दोनों के वर्णन की शैली में है।

चूस लिया है उसका सार
हाड़ मात्र ही हैं आधार—

यहाँ निराला ने आरम्भ में जो उदात्त स्तर पकड़ा था, उसे छोड़ दिया है। इस तरह कई गीतों और मुक्तकों में निराला अपनी रचना-सामग्री का उपयोग एक ही ढंग के बदले कई ढंग से करते हैं। स्वभावतः इस तरह की विविधता लम्बी कविताओं में अधिक है। एक ओर—

शतशेल सम्वरण शील नील नभ गर्जित स्वर—

दूसरी ओर—

कहती थीं माता मुझे सदा राजीवनयन।

निराला इस तरह की भिन्नता एक ही स्थल के वर्णन में, एक ही व्यक्ति के भाषण में प्रदर्शित करते हैं; पूरी कविता को कई हिस्सों में बाँटकर उनके बीच भी इस तरह का शैली-भेद दिखाते हैं। शैली-भेद—रचना-सामग्री का भिन्न स्तरों पर उपयोग—उनकी निर्माणकला का अभिन्न अंग है।

*तुलसीदास* का आरम्भ वह उदात्त स्तर पर करते हैं। पहले बन्द में जो एक दिन की संध्या लगती है, वह दूसरे बन्द में शत-शत शब्दों का सान्ध्यकाल बन जाती है। भोगल दल-बल के जलदयान के साथ स्वर और चढ़ता जाता है; घन अन्धकार में वज्र टूटने और प्रलय धार के बहने तक कविता के प्रारम्भिक अंश की उठान सबसे ऊँचे बिन्दु पर पहुँच जाती है। फिर इस्लाम के सागर की ओर बहती हुई नदियों के उल्लेख के साथ यह अंश—स्वर के कुछ निम्न स्तर पर उतरता हुआ समाप्त होता है। 'अब धौत धरा खिल गया गगन'—से शैली-परिवर्तन साफ़ दिखाई देता है। युद्ध के बाद शान्ति; संघर्ष के बाद शृंगार-साधना। इन दोनों की भिन्नता के अनुरूप निराला का शैली-परिवर्तन है।

निराला आरम्भ में जिस उदात्त स्तर पर कविता आरम्भ करते हैं, उसे क्रमशः छोड़ देते हैं। तुलसीदास के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण करते हुए वह फिर ऊपर उठते हैं। जहाँ वह तुलसीदास की चेतनोर्मियों का वर्णन करते हैं, उन्हें संस्कारों के वज्रद्वार पर प्रहार करते दिखाते हैं, वहाँ उदात्त ध्वनि-प्रवाह की रेखा उच्चतम विन्दु पर होती है। उसके बाद वह उस प्रवाह को वैसे ही नीचे उतारते हैं जैसे भोगल दल-बल के जलदयान के बाद 'अव धौत धरा खिल गया गगन' में उन्होंने उसे उतारा था। यहाँ ध्वनिप्रवाह का उच्चतम बिन्दु यह है :

करने को ज्ञानोद्धत प्रहार
तोड़ने को विषम वज्रद्वार,
उमड़े भारत का भ्रम अपार हरने को।

ज्ञान की इस उदात्त प्रक्रिया के बाद निराला रत्नावली के प्रति तुलसीदास के श्रृंगार-भाव की ओर संकेत करते हुए स्वर को नीचे उतारते हैं :

प्रेयसी, प्राणसंगिनी, नाम
शुभ रत्नावली—सरोज-दाम
वामा, इस पथ पर हुई वाम सरितोपम।

यह वही स्तर है जिस पर निराला ने अब 'धौत धरा खिल गया गगन' आदि की रचना की थी। दो स्थितियों के भेद के अनुसार निराला अपनी शैली में परिवर्तन करते हैं।

तुलसीदास को रत्नावली के दो रूप दिखाई देते हैं—एक श्रृंगारवाला, दूसरा शक्ति और ज्ञान वाला। श्रृंगार वाले रूप के वर्णन में उनका स्तर वही है जो 'अब धौत धरा खिल गया गगन' में है, 'प्रेयसी प्राणसंगिनी नाम' में है। आठवें बंद में 'अब धौत धरा खिल गया गगन'; सैंतीसवें बन्द में 'प्रेयसी प्राणसंगिनी नाम'; सैंतालीसवें बन्द में फिर

प्रेयसी के अलक नील, व्योम;
दृग-पल, कलंक;—मुख मंजु, सोम।

इस तरह निराला एक ही स्तर पर कविता के कई अंश रचते हैं, फिर इन अंशों को एक-दूसरे से फ़ासले पर पूरी कविता के नक़्शे के अनुसार सजाते हैं।

कविता के पहले बंद में उन्होंने उदात्त स्तर पकड़ा—'भारत के नभ का प्रभापूर्ण' इत्यादि। सात बन्दों के बाद यह स्तर छोड़ देते हैं; फिर क्रमशः उठते हुए छत्तीसवें बन्द में ज्ञानोद्धत प्रहार वाले उदात्त स्तर तक पहुँचते हैं। इस स्तर को कविता के अंत में फिर पकड़ते हैं जब वह रत्नावली का तेजस्वी रूप प्रकट करते हैं :

जल गए व्यंग्य से सकल अंग,
चमकी चल दृग ज्वाला तरंग
पर रही मौन धर अप्रसंग वह बाला।

निराला का प्रयत्न यह नहीं है कि एक ही उदात्त स्तर पर पूरी कविता रचें। उदात्त में वह भेद करते हैं; इस भेद के अनुसार कविता के अलग-अलग खंडों को सजाते हैं। एक उदात्त है ज्ञान और युद्ध के वर्णन में; उससे कुछ नीचे स्तर पर उदात्त है श्रृंगार के वर्णन में। इन दोनों से भिन्न है अनुदात्त का स्तर जहाँ निराला राजापुर का या चित्रकूट में तुलसीदास के भ्रमण का वर्णन करते हैं,

यह एक उन्हीं में राजापुर,
है पूर्ण, कुशल, व्यवसाय-प्रचुर;
अथवा
फिर पंचतीर्थ को चढ़े सकल
गिरिमाला पर, हैं प्राण चपल
संदर्शन को, आतुर पद चलकर पहुँचे।

मोटे तौर पर कह सकते हैं कि निराला तीन स्तरों पर कविता रचते हैं : एक उदात्त, दूसरा उससे कुछ उतरा हुआ किन्तु निम्न नहीं, तीसरा अनुदात्त। उदात्त और अनुदात्त से भिन्न जो दूसरा स्तर है, वह उदात्त के ज़्यादा निकट है, अनुदात्त से दूर है। उसे हम स्वरित नाम दे सकते हैं। इन स्तरों के विचार से कविता का विभाजन इस प्रकार होगा :

**उदात्त** : 1-7, 23-36, 77-78, 82-90, 93-97 (कुल 37 बन्द)

**स्वरित** : 8-10, 14-22, 37-42, 47-59, 66-67, 71-76, 79-81, 91-92, 98-100 कुल 47 बन्द)

**अनुदात्त** : 11-13, 43-46, 60-65, 68-70 (कुल 16 बन्द)

इस विभाजन के बारे में मेरा आग्रह यह नहीं है कि प्रत्येक बन्द जिस विभाग में रखा गया है, वह एकदम सही रखा गया है। हो सकता है कि वह आपको अधिक या कम उदात्त लगे, या जिसे मैंने अनुदात्त समझा है, उसे आप उस श्रेणी में न रखें। यह भी सही है कि एक ही स्तर पर रचे हुए बन्दों में पूरी समानता नहीं है तथा कभी-कभी एक ही बन्द में दो स्तर मिल जाते हैं। यह सब होते हुए यदि आप स्वीकार करें कि निराला की रचना का स्तर एक नहीं, कम-से-कम तीन स्तर हैं, इन तीनों स्तरों पर जिस तरह की शैलियाँ देखने को मिलती हैं, उनकी अपनी सार्थकता है और इन शैलियों के हिसाब से रचे हुए अंशों को निराला कविता में निर्माणकला का ध्यान रखते हुए सजाते हैं, तो मेरे उपर्युक्त विवेचन का उद्देश्य सिद्ध हो जायेगा।

किसी कविता में ऊँचे-ऊँचे स्तरों पर भिन्न शैलियों का परिचय देना कोई नई बात नहीं, कोई बड़ी बात नहीं। *तुलसीदास* में निराला ने विभिन्न अंशों में सन्तुलन क़ायम रखा है, उस सन्तुलन से पूरी कविता का स्थापत्य पाठक को कैसे प्रभावित

करेगा—इस बात का ध्यान रखा है, महत्त्वपूर्ण बात यह है। अनुदात्त अंश बहुत थोड़े हैं; वे इमारत के अलग-अलग हिस्सों को जोड़ने वाले टुकड़ों की तरह हैं। पूरी कविता का प्रभाव उन पर निर्भर नहीं है। प्रभाव निर्भर है पहले दो अंशों के वैषम्य और सन्तुलन पर। निराला कविता का आरम्भ नियन्त्रित किन्तु गम्भीर ध्वनि-प्रवाह, सघन मूर्तिविधान और वक्र अर्थ-व्यंजना से करते हैं। रचना-सामग्री के इस घनत्व से वह काफ़ी आकाश घेरकर कविता के सिंहद्वार का निर्माण करते हैं। उन्हें इस बात का ध्यान है कि कविता का आरम्भ जिस गरिमा का प्रभाव डालता है, वह अन्त तक पहुँचते-पहुँचते ख़त्म न हो जाये। अन्तःपुर की शोभा दिखाते हुए वह दर्शक का ध्यान प्रासाद के ऊँचे-ऊँचे शिखरों, अट्टालिकाओं की ओर आकर्षित करते हैं। उदात्त अंशों को कविता के आदि, मध्य और अन्त में सजाकर वह पूरी कविता द्वारा मन पर भव्य स्थापत्य की छाप डालते हैं। इससे वैषम्य प्रदर्शित करते हैं स्वरित स्तर पर रचे हुए अंशों का। कविता में जैसे दो तरह की संस्कृतियों के द्वन्द्व से तनाव पैदा किया गया है, वैसे ही रचना में दो शैलियाँ निर्माण-कला में भीतरी तनाव पैदा करती हैं, पूरे स्थापत्य को जड़त्व से बचाकर गतिशील बनाती हैं।

*तुलसीदास* और *राम की शक्तिपूजा* के निर्माण-सौन्दर्य में काफ़ी समानता है, काफ़ी भिन्नता भी। 'राम की शक्तिपूजा' में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्तरों पर रचना के अंश वैसे ही पहचाने जाते हैं जैसे *तुलसीदास* में भिन्न स्तरों पर रचे हुए अंशों की क्रमबद्धता, उनका सन्तुलन लगभग वैसा है जैसा *तुलसीदास* में। किन्तु *तुलसीदास* का ध्वनि-प्रवाह जहाँ सबसे गहरा है, *राम की शक्तिपूजा* में अनेक स्थलों पर वह उससे और भी गहरा है। *तुलसीदास* के विभिन्न अंशों में इस प्रवाह की गति प्रायः एक-सी रहती है; *राम की शक्तिपूजा* के विभिन्न अंशों में इस गति में बड़ा भेद है। कहीं उद्धत उद्दाम प्रवाह है, कहीं स्थिर-सा निर्मल जल। अर्थ की वक्रता, मूर्तिविधान का घनत्व *राम की शक्तिपूजा* में तुलसीदास से अधिक है। कविता के स्थापत्य का उद्देश्य पाठक के मन को गरिमा से प्रभावित करना है किन्तु यह गरिमा एक ट्रेजेडी की गरिमा है जिसमें आत्मग्लानि और पराजय की पीड़ा *तुलसीदास* की अपेक्षा बहुत अधिक है। *तुलसीदास* के स्थापत्य की गरिमा जगमगाती है; *राम की शक्तिपूजा* के स्थापत्य की गरिमा कान्तिहीन दृढ़ता का परिचय देती है।

*तुलसीदास* की तरह इस कविता का विभाजन करें तो वह कुछ-कुछ इस प्रकार होगा :

**उदात्त** : 1-18, 45-54, 65-80, 95-122, 137-158, 171-176, 181-190, 257-270, 277-296, (कुल पंक्तियाँ—144)

**स्वरित** : 19-30, 55-64, 81-94, 123-136, 159-170, 177-180,

191-206, 213-232, 243-256, 297-306 (कुल पंक्तियाँ—126)

**अनुदात्त** : 31-44, 207-212, 233-242, 271-276 (कुल पंक्तियाँ—36)

इस विभाजन में, सम्भव है, थोड़ा-बहुत हेर-फेर करके उसे अधिक वैज्ञानिक रूप दिया जा सके। आशा यह है कि दोनों रचनाओं की तुलना करने पर यह तथ्य स्पष्ट होगा कि उदात्त स्तर पर रचा हुआ अंश 'तुलसीदास' की अपेक्षा यहाँ अनुपात में अधिक है। 'राम की शक्तिपूजा' अपनी गरिमा से पाठकों को 'तुलसीदास' से अधिक प्रभावित करती है, उसका यह एक कारण है। पूरी कविता में अनुदात्त का अंश भी अपेक्षाकृत कम है। आरम्भिक पंक्तियों में सिंहद्वार यहाँ भी है किन्तु ऊँचाई, चौड़ाई और गहराई में *तुलसीदास* के सिंहद्वार से यह अधिक विशाल, भव्य और सुदृढ़ है। *तुलसीदास* के अन्तिम अंश में निराला उन शिखरों का निर्माण करते हैं जो सिंहद्वार से कम भव्य नहीं हैं। *राम की शक्तिपूजा* के अन्तिम अंश में वैसे शिखर नहीं हैं। किन्तु उससे पहले—विशेषकर कविता के पूर्वार्द्ध में—निराला ने शिला काटकर ऐसे स्तम्भ और कक्ष निर्मित किए हैं जिनके घनत्व के आगे शिखरों की भव्यता फीकी लगती है। इसका एक कारण यह है कि शिखरों की रचना में निराला ने जिस भाव-सामग्री का उपयोग किया है, उसका आधार उनकी ज्ञान-सम्बन्धी कल्पना है; स्तम्भों और कक्षों की रचना में उन्होंने जो शिलाएँ काटी हैं, वे आत्मग्लानि और पराजय की पीड़ा की हैं।

दिलचस्प बात है कि *तुलसीदास* में निराला ने रीतिवादी शृंगार भाव के लिए जैसे स्वरित स्तर अपनाया है, वैसे ही *राम की शक्तिपूजा* में राम जब सीता से पुष्पवाटिका में प्रथम मिलन का स्मरण करते हैं, तब निराला—संघर्ष और पराजय के उदात्त स्तर से वैषम्य प्रदर्शित करते हुए—स्वरित स्तर पर कविता का यह अंश रचते हैं। मुग़लों-राजपूतों के युद्ध की तुलना में निराला जैसे रत्नावली की शक्ति को समान उदात्त स्तर पर—या उससे कुछ और ऊँचे स्तर पर—चित्रित करते हैं, वैसे ही यहाँ ब्रह्मचारी हनुमान की आकाश-यात्रा और उनचास पवनों द्वारा समुद्र-मंथन को युद्ध-वर्णन के स्तर पर—या कुछ और ऊँचे स्तर पर—रचते हैं। राजापुर के वर्णन की तरह युद्ध से लौटने पर संध्यावंदन आदि के कार्य यहाँ भी अनुदात्त स्तर पर वर्णित है।

'राम की शक्तिपूजा' में उदात्त स्तर पर रची हुई उदात्त की पैरोडी भी है। यह पैरोडी है विभीषण के भाषण में। इसकी ओजस्विता कृत्रिम है, उस पर हँसी आती है, विभीषण राम पर किए हुए व्यंग्य का शिकार बनता है। किन्तु विभीषण की ओर उन्मुख व्यंग्य में बड़ी तीक्ष्णता है; उसके भाषण में जो कृत्रिमता है, वह अपने में ओजस्वी है। वीरता और धैर्य की तरह छल-कपट का भी उदात्त स्तर है। वह स्तर विभीषण के भाषण का है, इसलिए वह कविता के उदात्त अंशों में गिना जाना चाहिए।

निराला *राम की शक्तिपूजा* के विभिन्न अंशों में जो शैली-भेद प्रदर्शित करते हैं, वह कभी-कभी एक ही अंश में, एक व्यक्ति के भाषण में दिखाई देता है। कविता की आरम्भिक दो पंक्तियाँ—रवि हुआ अस्त—उसी स्तर पर नहीं हैं जिस पर अगली सोलह पंक्तियाँ। दो पंक्तियों के बाद रचना-सामग्री का घनत्व अचानक बढ़ गया है। इसी तरह राम का स्वगत-कथन धीर और संयत स्वर में आरम्भ होता है :

बोले—आया न समझ में यह दैवी विधान।

उसके बाद वह सघन होता हुआ यहाँ पहुँचता है :

झक-झक झलकती वह्नि वामा के दृग त्यों-त्यों।

भाषण में इस तरह के शैली-भेद से निराला भावों का उतार-चढ़ाव चित्रित करते हैं; पात्र के कथन को सहज और नाटकीय बनाते हैं। 'राम की शक्तिपूजा' में एक अंश की समाप्ति पर निराला स्वर को थोड़ा नीचे उतार लाते हैं जिससे दूसरा अंश उसी की अगली कड़ी मालूम हो। पहले उदात्त अंश की आख़िरी पंक्ति है : 'जानकी-भीरु-उर—आशा भर,—रावण संवर।' संयुक्ताक्षरों की भँवरों वाले घुमड़ते प्रवाह के बदले यहाँ गति अधिक सरल है और अगले अंश की पंक्ति से मेल खाती है :

लौटे युगदल। राक्षस-पदतल पृथ्वी टलमल।

किन्तु हनुमान जब कल्पना में डूबे हुए राम के चरणों को श्यामा के चरण, राम के आँसुओं को मुक्ता या कौस्तुभ समझ रहे हैं, तब प्रवाह धीर मन्थर, स्वरित के स्तर पर है। फिर—

ये अश्रु राम के आते ही मन में विचार,
उद्वेल हो उठा शक्ति खेल सागर अपार—

यहाँ निराला आकस्मिक, नाटकीय ढंग से रचना का स्तर बदलते हैं। स्वर-भंगिमा जान-बूझकर वैषम्य प्रदर्शन करने के लिए है। कविता के निर्माण में निराला का यह नाट्यकौशल *तुलसीदास* की अपेक्षा यहाँ अधिक सूक्ष्म, अधिक प्रभावशाली है। स्वर को उतारते हुए एक अंश को निराला जहाँ दूसरे से मिलाते हैं, वहाँ स्वर को अचानक बदलकर एक अंश को दूसरे से स्पष्ट विलग भी करते हैं।

भिन्न-भिन्न ढंग से रचना-सामग्री का उपयोग करके निराला गीतों, मुक्तकों और लम्बी कविताओं में इस तरह नाटकीय वैचित्र्य और स्थापत्य-सौन्दर्य उत्पन्न करते हैं।

---

गजानन माधव मुक्तिबोध

# नयी कविता का आत्मसंघर्ष

---

जब कभी कोई नयी काव्य-प्रवृत्ति अथवा साहित्य-प्रवृत्ति अवतरित होती है, कला के मूल तत्त्वों के सम्बन्ध में, सिद्धान्तों के बारे में, बहस शुरू हो जाती है। यदि इस विचार-विनिमय को वास्तववादी होना है, तो उसे एक साथ दो काम करने होंगे—एक तो अपने युग-विशेष की प्रवृत्तियों को समझना होगा, दूसरे नयी काव्य-प्रवृत्ति के स्वरूप को हृदयंगम करना होगा। नयी काव्य-प्रवृत्ति अभी तक पण्डितों, आचार्य प्रवरों और आलोचक-वरेण्यों द्वारा हृदयंगम नहीं हो सकी है। किन्तु यह चिन्ता की बात नहीं है। चिन्ता की बात यह है कि नयी काव्य-प्रवृत्ति के क्षेत्र के भीतर से ऐसी कोई आलोचना अभी नहीं उठी है जो उस प्रवृत्ति की सीमाएँ बताये और उसकी विस्तृत समीक्षा करे।

कला की वस्तु और रूप का प्रश्न आज ही क्यों उठ खड़ा हुआ ? वह भी इतने ज़ोर से क्यों ? संवेदनशील कवि-हृदय को उसके आस-पास की वास्तविकता के मार्मिक पक्ष गहरी चुनौती देते हैं। यह चुनौती दो प्रकार की होती है—एक, तत्त्व-सम्बन्धी; दूसरी, रूप-सम्बन्धी। आज के कवि के हृदय में तनाव भी है, घिराव भी। किन्तु कवि-हृदय फैलना चाहता है, आत्म-विस्तार करना चाहता है। फैलने की इस मनोवृत्ति के सक्रिय होते ही, उसे मानव-वास्तविकता के मूल मार्मिक पक्ष दिखायी देने लगते हैं। किन्तु कहना चाहिए कि इन मार्मिक पक्षों का संवेदनात्मक आकलन करने की सारी तत्परता होते हुए भी, अभिव्यक्ति लँगड़ा जाती है। आज की काव्य-प्रवृत्ति की मनोवैज्ञानिक धारा यदि विशुद्ध आत्म-परक भाव-धारा होती, अर्थात् अनायास प्रवाहित होने वाले स्वच्छन्द भावों का वह प्रवाह होता, तो दिक्कत का सामना न करना पड़ता। किन्तु वह कविता संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदनों के तीव्र मानसिक प्रतिक्रियाघातों को प्रकट करना चाहती है। (वह सर्वत्र कहाँ तक सफल है, यह एक अलग प्रश्न है) ऐसी स्थिति में, उसे न केवल अनुभूति-पक्ष के, वरन् वस्तु-पक्ष के, और उससे सम्बन्धित परिज्ञान-पक्ष के, विकास की अपेक्षा है। यह सवाल, या इससे सम्बन्धित प्रश्न, कविजनों के मन में उठते रहते हैं।

किन्तु ज्ञान-पक्ष संवेदना से हटकर काव्योपयोगी नहीं रहेगा। यह तथ्य स्वीकृत करने पर भी, इस बात से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता कि आज की नयी कविता

के प्रगल्भ विकास के लिए कवि की मूलभूत संवेदन-शक्ति में विलक्षण विश्लेषण-प्रवृत्ति चाहिए।

ऐसा क्यों ? इसलिए कि कविता पुराने काव्य-युगों से कहीं अधिक, बहुत अधिक, अपने परिवेश के साथ द्वन्द्व-स्थिति में प्रस्तुत है। इसलिए उसके भीतर तनाव का वातावरण है। परिस्थिति की पेचीदगी से बाहर न निकल सकने की हालत में, मन जिस प्रकार अन्तर्मुख होकर निपीड़ित हो उठता है, उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि आज की कविता में घिराव का वातावरण भी है।

अतएव, आज की कविता, किसी-न-किसी प्रकार से अपने परिवेश के साथ द्वन्द्व-स्थिति में उपस्थित होती है, जिसके फलस्वरूप यह आग्रह दुर्निवार हो उठता है कि कवि-हृदय द्वन्द्वों का भी अध्ययन करे, अर्थात् वास्तविकता में बौद्धिक दृष्टि द्वारा भी अन्तःप्रवेश करे, और ऐसी विश्व-दृष्टि का विकास करे, जिससे व्यापक जीवन-जगत की व्याख्या हो सके, तथा अन्तर्जीवन के भीतर के आन्दोलन, आर-पार फैली हुई वास्तविकता के सन्दर्भ से, व्याख्यात, विश्लेपित और मूल्यांकित हों।

तभी हम आस-पास फैली हुई मानव-वास्तविकता के मार्मिक पक्षों का उद्घाटन-चित्रण कर सकेंगे। माना कि यह उद्घाटन-चित्रण मात्र विवेचनात्मक बौद्धिक दृष्टि से ही नहीं होगा। किन्तु उस बौद्धिक प्रतिभा के फलस्वरूप संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदन अधिक पुष्ट होंगे। अनुभूति को ज्ञान-प्रेरित जीवनानुभव प्राप्त होने की सम्भावना बढ़ जायेगी। इस प्रकार व्यक्तित्व अधिक सक्षम हो सकेगा।

किन्तु केवल इतना ही काफ़ी नहीं है। वैविध्यपूर्ण, स्पंदनशील, आस-पास फैले हुए मानव-जगत के मार्मिक पक्षों के वेदनात्मक चित्रण के लिए अभिव्यक्ति-सम्पदा भी चाहिए। केवल आत्यन्तिक तीव्र संवेदनाघातपूर्ण मानसिक प्रतिक्रिया करने वाली काव्य-शैली को अधिक लचीली, अधिक सक्षम और सम्पन्न बनाना होगा, जिससे कि वह एक ओर कवि-हृदय की अत्यन्त सूक्ष्य संवेदनाएँ मूर्तिमान कर सके, तो दूसरी ओर, वास्तव जीवन-जगत् की लहर-लहर को हृदयंगम कर उसे समुचित वाणी दे सके। पुरानी शास्त्रीय शब्दावली में कहा जाये तो, उसे भाव-पक्ष के साथ विभाव-पक्ष का चित्रण करना होगा।

सच बात तो यह है कि आज के कवि को एक साथ तीन क्षेत्रों में संघर्ष करना है। उसके संघर्ष का त्रिविध स्वरूप यह है या होना चाहिए : (1) तत्त्व के लिए संघर्ष; (2) अभिव्यक्ति को सक्षम बनाने के लिए संघर्ष; (3) दृष्टि-विकास का संघर्ष। प्रथम का सम्बन्ध मानव-वास्तविकता के अधिकाधिक सक्षम उद्घाटन-अवलोकन से है। दूसरे का सम्बन्ध चित्रण-सामर्थ्य से है। और तीसरे का सम्बन्ध थियरी से है, विश्व-दृष्टि के विकास से है, वास्तविकताओं की व्याख्या से है। यह त्रिविध संघर्ष है।

**कला-तत्त्व**

कला वस्तु-तत्त्व-अन्तर्तत्त्व-व्यवस्था का ही एक भाग है। वे ऐसे अन्तर्तत्त्व हैं जो बाहर के धक्के से या उन धक्कों के संचय से उद्वेलित अर्थात् (1) तरंगायित, (2) मानसिक दृष्टि के सम्मुख उद्घाटित, (3) जीवन-मूल्यों तथा पूर्वतर अनुभवों से आलोकित, तथा (4) अभिव्यक्ति के लिए आतुर हो उठते हैं।

तरंगायित होकर जब अन्तर्तत्त्व मानसिक दृष्टि के सम्मुख उपस्थित हो उठते हैं, तभी उनमें रूप आ जाता है, अर्थात् कल्पनाबिम्ब या स्वर या प्रवाह से वे संवृत हो उठते हैं। कल्पना का कार्य यहीं से शुरू हो जाता है। बोध-पक्ष अर्थात् ज्ञान-वृत्ति भी यहाँ सक्रिय हो उठती है। यह उद्घाटन-क्षण है—यह कला का प्रथम क्षण है। इसके अनन्तर मानसिक दृष्टि, जो इस तत्त्व-रूप को देख रही थी, उसके रस में निमग्न-सी होने लगती है। साथ ही बोध पक्ष यानी ज्ञान-वृत्ति की सक्रियता के फलस्वरूप वह तटस्थ भी हो जाती है। वह अन्तःप्रवेश करने लगती है, साथ ही वह बाहर से पर्यवलोकन भी करती है। फलतः एक ओर, रस का प्रवाह या भाव-प्रवाह अन्य समस्वभावी और समरूप अनुभवों को उस तत्त्व में मिला देता है, तो दूसरी ओर, हृदय में संचित जीवन-मूल्यों की, अर्थात् हमारे अन्तःकरण में स्थित आदर्शात्मक सत्ता की, भी एक धारा इस तत्त्व में मिलने लगती है। कल्पना उद्दीप्त होकर, संवेदना से आप्लुत उस मूल तत्त्व को, समरूप अनुभवों और जीवन-मूल्यों से संश्लेपित करती हुई, एक संश्लिप्ट जीवन-चित्रशाला उपस्थित कर देती है। यह कला का दूसरा क्षण है कि जिसमें हमारे वेदनात्मक हेतु और संवेदनात्मक अभिप्राय किसी व्यापक मार्मिक जीवन-महत्त्व से न्यस्त हो जाते हैं, और हमारे लिए वह आत्म-तत्त्व इतना अधिक महत्त्वमय मालूम होता है कि हम उसकी अभिव्यक्ति के लिए छटपटाते हैं। इस छटपटाहट को जब हम शब्द, रंग तथा स्वर में अभिव्यक्त करने लगते हैं, तब कला का तीसरा क्षण शुरू हो जाता है। अभिव्यक्ति के साधन, अर्थात् भाषा, हमारे लिए सामाजिक है। इससे उसके शब्द-संयोग, भाव-परम्परा और ज्ञान-परम्परा से पूर्ण हैं। अतएव हमें अपने हृदयगत तत्त्वों को उनके मौलिक रूप रंग और भार में स्थापित और प्रगट करने के लिए नये शब्द-संयोग बनाने या लाने पड़ते हैं। शास्त्रीय शब्दावली में कहें तो, हमें नवीन वक्रोक्तियों और भंगिमाओं का सहारा लेना पड़ता है। साथ ही, कल्पना-शक्ति भी नव-नवीन रूप-बिम्बों का विधान करती है, जिससे मनस्तत्त्व अपने मौलिक रूप-रंग में प्रकट हो सकें।

अभिव्यक्ति का संघर्ष दीर्घ होता है। कला का यह तीसरा क्षण दीर्घ होता है। उस संघर्ष में, अभिव्यक्ति के स्तर तक आते-आते, हमारे मनोमय तत्त्व-रूप बदलने लगते हैं। होता यह है कि उस संघर्ष के दौरान भाषा के भीतर अवस्थित ज्ञान-परम्परा

और भाव-परम्परा के कारण, जो पहले से ही शब्द-संयोग बने हुए हैं, उन शब्द-संयोगों के साथ अनिवार्य रूप से जुड़े हुए जो अर्थानुषंग हैं, उन अर्थानुषंगों के प्रभाव में आकर, समशील-समरूप अर्थानुषंगों को आत्मसात् कर, मनोमय रूप-तत्त्व अपने को और पुष्ट करते हैं। फलतः वे इस हद तक बदल भी जाते हैं। जब वे अपने ख़ास साइज़ और अपनी ख़ास काट की अभिव्यक्ति पा लेते हैं, तब उनके तत्त्व और रूप पहले से बहुत कुछ बदले हुए होते हैं। सामाजिक सम्पदा होने के कारण भाषा मनोमय रूप-तत्त्वों को उनके प्रकट होने के दौरान घटा-बढ़ा देती है, और अनजाने ढंग से उनमें नये रूप तत्त्व ला देती है। साथ ही यह अभिव्यक्ति-संघर्ष भाषा को कुछ बदल देता है, उसे नवीन शब्द-संयोग, नवीन अर्थवत्ता और नयी भंगिमाएँ और व्यंजनाएँ देता है। इस प्रकार, कलाकार भाषा का भी निर्माण करता है। अभिव्यक्ति समाप्त होते ही, उसके संघर्ष का अन्त होते ही, कला का तीसरा क्षण भी समाप्त होता है। अब कलाकृति सामने आ जाती है। अब उसमें केवल इधर-उधर कुछ शब्दों या स्वरों के फेरफार के सिवाय कुछ बाक़ी नहीं रह जाता।

यदि उपर्युक्त स्थापनाएँ सही हैं, तो उससे कई निष्कर्ष निकलते हैं। सृजन-प्रक्रिया के दौरान काव्य के मनोमय तत्त्व और रूप स्थिर नहीं होते। वे मनोमय तत्त्व-रूप तब तक अपने को विकसित और संशोधित करते जाते हैं, अपने को पुष्ट और प्रकाशान्वित करते जाते हैं, जब तक कि अभिव्यक्ति में सम्पूर्णता आकर कला का तीसरा क्षण समाप्त न हो जाये। इसका अर्थ यह है कि जो महानुभाव आत्मोद्घाटन को ही काव्य का उद्देश्य समझते हैं, आत्म-प्रकटीकरण प्रधान मानते हैं, वे सज्जन आत्म-प्रकटीकरण की प्रक्रिया हृदयंगम नहीं कर सके हैं। कवि अपने अन्तर में व्याप्त जीवन-जगत् को प्रकट करता है। वह किसी भावोद्देश्य को प्रकट करता है, किन्तु यह भावोद्देश्य निरा व्यक्तिगत नहीं होता। सच तो यह है कि मनुष्य जब काव्य में अपने-आपको प्रकट करता है, तब वह केवल आत्म-प्रस्थापना ही नहीं करता, वरन् वह आत्म-औचित्य की स्थापना करता है। आत्म औचित्य की स्थापना के द्वारा ही वह आत्म-प्रस्थापना करता है। फलतः इस औचित्य-स्थापना की भावना से प्रेरित होकर, वह अपने भीतर जो कुछ उसका अपना विशिष्ट है, उसे सामान्य में—उस सामान्य में जिसे वह सामान्य समझता है—इतना अधिक मिला देता है, कि उस सामान्य के प्रवाह में बहकर उसका विशिष्ट आमूलाग्र बदल जाता है। और जब वह विशिष्टि सामान्य में घुल-मिलकर रूपान्तरित हो जाता है, तब कवि आह्लाद और प्रकाश का अनुभव करता है। और उसे लगता है कि उसका विशिष्ट—जो अब विशिष्ट रहा ही नहीं—बहुत ही मार्मिक महत्त्व-प्रकाश, मार्मिक महत्त्व-किरणें विकसित कर रहा है। यह सामान्य क्या है ? वे जीवन-मूल्य हैं, वे जीवन-दृष्टियाँ हैं, जो कवि ने अपने बाह्य विस्तृत जीवन में पायी हैं। दूसरे शब्दों में, उसके अन्तर

में व्याप्त ये जीवन-मूल्य और यह जीवन-दृष्टि बाह्य जीवन-जगत् का ही मनोवैज्ञानिक रूप हैं।

सृजन-प्रक्रिया के दौरान एक विलक्षण बात घटित होती है। एक तो यह कि विशिष्ट जब सामान्य में घुलता है, तब उस विशिष्ट के कारण कवि की आत्मलीन दशा का जो संवेदनात्मक पुंज है वह तो स्थायी रहता है, किन्तु उस बद्धता के घेरे की दीवारें टूट जाती हैं। इस प्रकार कवि-मन, संवेदनात्मक पुंज धारण करते हुए भी, जो पुंज उसकी आत्मलीन स्थिति में उद्‌बुद्ध हुए थे—सामान्य भूमि पर आकर जीवन-मूल्य और जीवन-दृष्टियों से समन्वित होने से—अपने को उन संवेदना-पुंजों से ऊपर उठा हुआ अर्थात् तटस्थ महसूस करता है, तथा वे संवेदना-पुंज जीवन-मूल्यों और जीवन-दृष्टियों से तथा पूर्वगत अनुभवों से मिलकर अपने को व्यापक महत्त्व और प्रकाश से युक्त कर लेते हैं। अतएव उन संवेदना-पुंजों में दर्शक-मन को एक अद्वितीय आनन्द प्राप्त होता है। इस प्रकार दर्शक-मन अपने को एकदम तटस्थ, तो दूसरी ओर, एकदम रसमग्न अनुभव करता है। विशिष्ट को सामान्य बनाने के हेतु, कवि-मन वेदनात्मक उद्देश्य से प्रेरित होकर निरन्तर भाव-संशोधन और भाव-सम्पादन करता जाता है। यह कवि की आन्तरिक प्रक्रिया का अंग है। सच तो यह है कि कविता एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है।

अभिव्यक्ति प्राप्त होने पर, भाव-पक्ष का समाजीकरण हो जाता है। सृजन-प्रक्रिया के अन्तर्गत विशिष्ट को सामान्य बनाने की यह क्रिया तभी से शुरू हो जाती है, जब कवि कला के प्रथम क्षण में अन्तर-नेत्रों से उस तत्त्व को देखने लगता है, कि जो तत्त्व उन अन्तर-नेत्रों के सामने तरंगायित और उद्‌घाटित हो उठता है। आगे चलकर, समरूप अनुभवों से मिलते हुए, वह मनोमय तत्त्व जब जीवन-मूल्यों और जीवन-दृष्टियों से अपना संगम्र करता है, तब वह और भी सामान्य हो उठता है। प्रश्न यह है कि वे जीवन-मूल्य और जीवन-दृष्टियाँ किसकी हैं ? (केवल व्यक्ति की तो वे हो ही नहीं सकतीं)। वह सामान्य भूमि किसकी है ? यह प्रश्न स्वाभाविक है। यह प्रश्न हमें समाजशास्त्रीय आलोचना की ओर ले जाता है। आगे चलकर जवकि कवि अपने मनोमय तत्त्व-रूप को बाह्य अभिव्यक्ति को अन्तर-अभिव्यक्ति (मनोमय तत्त्वात्मक रूप) के साइज़ की, काट की, रंग की बनाने लगता है, तव उसकी आँखों के सामने जो सौन्दर्य-प्रतिमान होता है, वह सौन्दर्य-प्रतिमान किस सौन्दर्याभिरुचि ने, किस वर्ग की सौन्दर्याभिरुचि ने, उत्पन्न किया है, यह प्रश्न स्वाभाविक हो उठता है। सौन्दर्याभिरुचि यदि मात्र व्यक्तिजन्य होती तो बात अलग थी। किन्तु सौन्दर्याभिरुचि का वह फ्रेम, मात्र व्यक्तिजन्य नहीं है। अतएव यह प्रश्न बिल्कुल स्वाभाविक है कि उस वर्ग ने सौन्दर्याभिरुचि के उस फ्रेम का विकास किया तो क्यों किया, उसका औचित्य क्या है, सीमाएँ क्यों हैं, आदि-आदि।

ध्यान रहे कि सौन्दर्याभिरुचि अपनी रक्षा के लिए सेंसरों का भी विकास करती है। प्रश्न यह है कि सेंसर किन मनस्तत्त्वों के विरुद्ध हैं, क्यों हैं, क्या इसका विश्लेषण आवश्यक नहीं है ? उदाहरण के लिए, आज की नयी कविता में कर्कश विद्रोह-स्वर, अथवा गली-कूचों की धूल और मिट्टी की व्यंग्य-तस्वीर, अथवा क्रान्तिकारी चण्डता सौन्दर्यजनक नहीं समझी जाती। भद्रवर्ग की बैठक में सुनायी गयी ऐसे भावोंवाली कविताओं के प्रति प्रतिष्ठित महारथियों ने अविश्वास-अरुचि और वैराग्य ही प्रगट किया। उन्होंने बार-बार यह कहा कि उन्हें प्रतीत नहीं होता कि वह स्वर वस्तुतः आत्मानुभूति है। अर्थात्, उन्होंने उस पर अविश्वास किया। दूसरे शब्दों में, नयी कविता ख़ास काट की, ख़ास शैली की होने के अलावा कुछ विशेष विषयों और मनस्तत्त्वों तक ही सीमित रहनी चाहिए। स्पष्ट है कि उनकी सौन्दर्याभिरुचि एक विशेष वर्ग की है, जिस विशेष वर्ग ने विशेष वर्ग-स्थिति में ही उस विशेष सौन्दर्याभिरुचि का अंगीकार किया है। और उस अभिरुचि के अन्तर्गत सेंसर काफ़ी सक्रिय हैं। उस उच्च-मध्यवर्गीय सौन्दर्याभिरुचि के अधीन हो निम्न-मध्यवर्गीय कविजन, जाने-अनजाने, उस फ्रेम के कारण सेंसर लगाते रहते हैं, और इस प्रकार अपने मानव-स्पन्दन और मर्मानुभव काटते रहते हैं। निस्सन्देह, सौन्दर्याभिरुचि और उसके अधीनस्थ सेंसर के विशेषण के सिलसिले में हमें उस सौन्दर्याभिरुचि और सेंसर की सामान्य भूमि, अर्थात् वर्गीय भूमि, तक पहुँचना ही पड़ता है।

सच तो यह है कि काव्य की विशिष्ट और सामान्य भूमियों को पूर्णतः समझने का अभी प्रयास नहीं किया गया है, अथवा उन उपायों में सर्वांगीण पूर्णता नहीं आ पायी है। जो हो, यह सही है कि कविता में कवि का आत्मोद्घाटन उतना विश्वसनीय नहीं है, जितनी कि उसकी सामान्य भूमि।

सृजन-प्रक्रिया के उपर्युक्त विश्लेषण से जो दूसरा महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलता है, वह यह है कि यदि कलाकार के तीनों क्षण पूर्ण न हुए, या उनमें शिथिलता आयी, तो कविता सुन्दर नहीं होगी। उसके तत्त्वों में निखार नहीं आयेगा। जो कविताएँ दुर्बोध हो जाती हैं, उन कविताओं में मन रस-मग्नता के साथ-ही-साथ पर्यालोचनपूर्ण तटस्थता का निर्वाह नहीं कर पाता। तटस्थता के पूर्ण निर्वाह के अभाव का प्रमुख कारण यह है कि वह अपनी वेदनाओं को जीवन-मूल्यों और जीवन-दृष्टियों के प्रकाश में नहीं देख रहा है, कि वह अभी भी व्यक्तिबद्ध है, आत्मग्रस्त है। वे दृष्टियाँ और वे मूल्य उसके सम्बन्धित तत्त्वों का अंग नहीं बनी हैं, उनका समाजीकरण नहीं हुआ है। मैं कला के दूसरे क्षण की बात कर रहा हूँ। फलतः कवि अपने आत्मलीन भाव को तो देख पाता है, किन्तु उनको पूर्वगत अनुभवों से प्रकाशित और जीवन-मूल्यों से समन्वित करने वाली जीवनदृष्टि से एकात्म नहीं कर पा रहा है। इस सामान्य भूमि पर खड़े होकर वह तटस्थ हो सकता है। जब तक उसकी वेदना व्यापक मार्मिक

अर्थ नहीं देती, तब तक कला का दूसरा क्षण सिद्ध-सम्पन्न ही नहीं हो सकता। संक्षेप में, वह उस सामान्य भूमि और अपनी विशिष्ट अनुभूति को समन्वित और एकात्म नहीं कर पाता। फलतः, वह मात्र आत्मग्रस्त होकर रह जाता है। इसके विपरीत जिन कवियों के पास अपने संवेदन शिथिल हैं, वे शीघ्र ही तटस्थ हो जाते हैं, अपने से वे जल्दी मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु मनोमय तत्त्व में संवेदनात्मक आनन्द प्राप्त होने की दशा क्षीण होने के कारण, वे उस मनोमय तत्त्व के संवेदन-पुंजों को ही ग्रहण नहीं कर पाते। फलतः उनकी कविता रिक्त रह जाती है, शुष्क हो जाती है। मनोमय तत्त्व के संवेदन-पुंजों को प्राप्त करना कवि का आद्य-प्राथमिक कर्तव्य है। वे उसे ही भूल जाते हैं। सच तो यह है कि कवि सृजन-प्रक्रिया के दौरान निराला जीवन जीता है। उस जीवन को उसे ईमानदारी से आग्रहपूर्वक ध्यानशील होकर जीना चाहिए। नहीं तो बीच-बीच में साँस उखड़ जायेगी और उसके फलस्वरूप काव्य में खोट पैदा होगी।

सृजन-प्रक्रिया के उपर्युक्त विश्लेषण से एक तीसरा निष्कर्ष निकलता है। वह यह है कि कवि की संवेदन-क्षमता, कल्पना की संश्लेषण-शक्ति और बुद्धि की विश्लेषण-शक्ति, इन तीनों में से कोई भी वात कमज़ोर हुई, तो मनोमय तत्त्व-रूप अपनी-अपनी सही-सही ऊँचाई को नहीं प्राप्त कर सकेगा। इसके साथ-साथ अभिव्यक्ति सामर्थ्य को भी जोड़िये। अभिव्यक्ति-सम्पदा की प्राप्ति के लिए निरन्तर संघर्ष आवश्यक है। यह प्रयत्नसाध्य है और अभ्यासवश है।

हमारे जन्मकाल से ही शुरू होने वाला हमारा जो जीवन है, वह वाह्य जीवन-जगत् के आभ्यन्तरीकरण द्वारा ही सम्पन्न और विकसित होता है। यदि वह आभ्यन्तरीकरण न हो तो हम कृमि—पानी का जीव हायड्रा—बन जायेंगे। हमारी भाव-सम्पदा, ज्ञान-सम्पदा, अनुभव-समृद्धि उस अन्तर्तत्त्व-व्यवस्था ही का अभिन्न अंग है, जो कि हमने बाह्य जीवन-जगत के आभ्यन्तरीकरण से प्राप्त की है। हम मरते दम तक जीवन-जगत का आभ्यन्तरीकरण करते जाते हैं। किन्तु साथ ही, बातचीत, बहस, लेखन, भाषण, साहित्य और काव्य द्वारा हम निरन्तर स्वयं का वाह्यीकरण करते जाते हैं। बाह्य का आभ्यन्तरीकरण और आभ्यन्तर का बाह्यीकरण एक निरन्तर चक्र है। यह आभ्यन्तरीकरण तथा बाह्यीकरण मात्र मननजन्य नहीं वरन् कर्मजन्य भी है। जो हो, कला आभ्यन्तर के बाह्यीकरण का एक रूप है।

बातचीत, वहस, भाषण, लेखन, चित्रकला, काव्य-साहित्य, आदि द्वारा हम बाह्य जीवन-जगत के साथ या तो सामंजस्य उत्पन्न करते हैं (या उस सामंजस्य के अनुकूल प्रस्तुत होते हैं), अथवा उसके साथ हम द्वन्द्व में उपस्थित होते हैं। काव्य भी या तो बाह्य जीवन-जगत के साथ सामंजस्य में या उसके अनुकूल उपस्थित होता है, अथवा उसके साथ द्वन्द्व रूप में प्रस्तुत होता है, अथवा काव्य-प्रवृत्ति (बातचीत, भाषण,

लेखन के समान ही) एक स्तर या क्षेत्र में सामंजस्य, और दूसरे स्तर या क्षेत्र में द्वन्द्व, को लेकर प्रस्तुत होती है। संक्षेप में, आभ्यन्तर या बाह्यीकरण, विश्वव्यापी सामंजस्य या द्वन्द्व अथवा दोनों के भिन्न रूप में उपस्थित होता है। कला इस नियम का अपवाद नहीं है।

आज की कविता में उक्त सामंजस्य से अधिक द्वन्द्व ही है। इसलिए उसके भीतर तनाव या घिराव का वातावरण है। आज का पद्याभास गद्य, मुख्यतः यह बात व्यक्त करता है कि इसमें सुमधुर लयात्मक किन्तु गणितयन्त्रीय छन्दों का स्थान नहीं। संक्षेप में, इस पार्श्वभूमि को देखकर ही वर्तमान कविता की विवेचना होनी चाहिए।

किन्तु, आवश्यकता इस बात की है कि हम इस द्वन्द्व को पूर्णतः समझें और तदनुसार अनुभव-समृद्धि बढ़ायें। मेरा अपना मत है कि हमारे साहित्य-चिन्तन या कलात्मक दृष्टि का विकास तभी होगा, जब हम वास्तविक जीवन में व्यापक तथा विविध जीवनानुभवों से सम्पन्न होंगे, तथा हम विक्षुब्ध उत्पीड़ित मानवता के (वायवीय नहीं, पूर्ण) आदर्शों से एकात्म होंगे। इसके विना तत्त्व-समृद्धि और तत्त्व-परिष्कार की समस्या अधूरी ही रह जायेगी। लेकिन पता नहीं क्यों, मुझे यह विश्वास है कि नयी काव्य-प्रवृत्तियाँ चाहे वे गीत-रूप में ही क्यों न आवें—उक्त कार्य कर सकेंगी।

वास्तविक जीवन-जगत के मार्मिक पक्षों को प्रकट करने के लिए, दूसरे शब्दों में, हमारे आभ्यन्तर में व्याप्त वास्तविक जीवन-जगत के मार्मिक पक्षों की अभिव्यक्ति के लिए, हमें कुछ ख़तरों से सावधान रहना होगा।

## कुछ ख़तरे

एक ख़तरा है जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि का। नयी काव्य-प्रवृत्ति के क्षेत्र के कुछ महान व्यक्ति, अपनी वर्गीय अभिरुचि के फलस्वरूप, सौन्दर्य का जो प्रतिमान हमारे सामने रखते हैं, उसमें जब तक व्यापक संशोधन नहीं होगा, तब तक हम अपने ही जीवन-अनुभवों का पूर्ण और प्रभावशाली चित्र उपस्थित नहीं कर सकते। जो काव्यात्मक व्यक्तित्व एक वन्द सन्दूक़ (क्लोज़्ड सिस्टम) वनाता है, ('तुम नहीं व्याप सकते, तुममें जो व्यापा है, उसी को निबाहो'), वह जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि की प्रस्तुति कर रहा है। इस तरह की जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि के फलस्वरूप ही, कुछ साहित्यिक समाजशास्त्री अपने ढर्रे के वाहर के क्षेत्र में प्रचलित नयी काव्य-समृद्धि में विद्रूपता के अतिरिक्त कुछ नहीं देखते। यदि हमें वैविध्यपूर्ण, परस्पर द्वन्द्वमय, मानव-जीवन के (अपने अन्तर में व्यापित) मार्मिक पक्षों का वास्तविक प्रभावशाली चित्रण करना है, तो हमें जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि और उसके सेंसर त्यागने होंगे, तथा अनवरत रूप से अपने ढाँचों और फ़्रेमों में संशोधन करते रहना होगा। मनुष्य-जीवन का

कोई अंग ऐसा नहीं है जो साहित्याभिव्यक्ति के अनुपयुक्त हो। जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि एक विशेष शैली को दूसरी विशेष शैली के विरुद्ध स्थापित करती है। गीतों का नयी कविता से कोई विरोध नहीं है, न नयी कविता को उसके विरुद्ध अपने को प्रतिष्ठापित करना चाहिए। आवश्यकता इस बात की है कि जीवन में नये तत्त्व आयें, न कि (किसी) काव्यशैली की धारा की समाप्ति हो। किन्तु जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि ज़बर्दस्ती का विरोध पैदा करा देगी। वह स्वयं अपनी धारा का विकास भी कुण्ठित करेगी, साथ ही पूरे साहित्य का।

नई कविता के विभिन्न कवियों की अपनी-अपनी विशेष शैलियाँ हैं। इन शैलियों का विकास अनवरत है। आगे चलकर जब वे प्रौढ़तर होंगी, नयी कविता विशेष रूप से ज्योतिर्मान होकर सामने आयेगी। साथ ही, नयी कविता में स्वयं कई भाव-धाराएँ हैं, एक भाव-धारा नहीं। इनमें से एक भाव-धारा में प्रगतिशील तत्त्व पर्याप्त हैं। उनकी समीक्षा होना बहुत आवश्यक है। मेरा अपना मत है, आगे चलकर नयी कविता में प्रगतिशील तत्त्व और भी बढ़ते जायेंगे और वह मानवता के अधिकाधिक समीप आयेगी।

---

# शमशेर : मेरी दृष्टि में

शमशेर का काव्य अनेक दृष्टियों से मुझे आकर्षित करता रहा है—शिल्प के कारण, काव्य-व्यक्तित्व के कारण। प्रश्न यह है कि काव्य-व्यक्तित्व के भीतर की वह कौन-सी सक्रिय आवश्यकता है, जिसने अपनी अभिव्यक्ति के शिल्प का विकास किया ? शमशेर के काव्य के सम्बन्ध में यह प्रश्न और भी सही है। कहना न होगा कि शिल्प की दृष्टि से शमशेर हिन्दी के एक अद्वितीय कवि हैं।

अपने स्वयं के शिल्प का विकास केवल वही कवि कर सकता है, जिसके पास अपने निज का कोई ऐसा मौलिक विशेष हो, जो यह चाहता हो कि उसकी अभिव्यक्ति उसी के मनस्तत्त्वों के आकार की, उन्हीं मनस्तत्त्वों के रंग की, उन्हीं के स्पर्श और गन्ध की ही हो। दूसरे शब्दों में, अभिव्यक्ति के लिए आतुर हो उठने वाला मौलिक-विशेष आत्मचेतस् भी होना चाहिए। यदि यह मौलिक-विशेष आत्मचेतस् न हुआ, तो उसका तो यह आग्रह नहीं रहेगा कि उसके मनस्तत्त्वों की अभिव्यक्ति उसी के आकार और काट की हो। ऐसा कवि नये शिल्प का विकास न कर सकेगा।

इस मौलिक-विशेष के दो आयाम हैं—एक, मनोरचना अर्थात् आत्मा का भूगोल; और दूसरे, मनस्तत्त्व अर्थात् आत्मा का इतिहास। इस भूगोल और इतिहास से मौलिक-विशेष का निर्माण हुआ है। यह मौलिक-विशेष आत्मचेतस् होकर अपनी सत्ता स्थापित करता है। उसकी आत्म-प्रस्थापना का एक रूप शिल्प का विकास है। दूसरे शब्दों में, शिल्प का विकास काव्य-व्यक्तित्व से, अटूट रूप से जुड़ा हुआ है, और उस शिल्प में व्यक्तित्व की क्षमता और सीमा, भाव और अभाव, सामर्थ्य और कमज़ोरी, ज्ञान और भ्रम, सभी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से प्रकट होते हैं।

मनोरचना की शैली-विशेष जिस प्रकार कवि के काव्य-व्यक्तित्व को एक रूप देती है, उसी प्रकार कवि के जीवन और चरित्र का विकास उसके आग्रहशील अनुरोधपूर्ण काव्यमनस् और उसके तत्त्वों को निर्धारित करता है। इस दिक् और काल, भूगोल और इतिहास, के परस्पर प्रतिक्रियान्वित रूप का अध्ययन काफ़ी मनोरंजक और महत्त्वपूर्ण है। किन्तु इस मार्ग पर चलने से शमशेर के काव्य के विश्लेषण का कर्त्तव्य बहुत लम्बा हो जायेगा, और, सम्भवतः, उस कर्त्तव्य को सफलतापूर्वक पूरा कर भी न सकूँगा।

अतएव, शमशेर के सम्बन्ध में मैं अपनी कुछ बुनियादी प्रतिक्रियाओं को ही यहाँ रखना चाहूँगा। शमशेर एक समर्पित कवि हैं। उन्होंने अपने जीवन का सर्वोत्तम भाग और प्रदीर्घ काव्यक्षण काव्यसाधना में बिताये हैं—निःस्वार्थ भाव से, यशःप्रार्थी न होकर। शमशेर की आत्मा ने अपनी अभिव्यक्ति का एक प्रभावशाली भवन अपने हाथों तैयार किया है। उस भवन में जाने से डर लगता है—उसकी गम्भीर प्रयत्नसाध्य पवित्रता के कारण ! भाषा के विकास-स्तर का नीचापन, अपने अनुकूल सिद्ध हो सकनेवाली और सहायता दे सकनेवाली किसी परम्परा का अभाव, रसज्ञ आलोचकों और मर्मज्ञ पाठकों के स्थान पर विरोधी वातावरण, आदि अनेक असुविधाओं और कठोर उपेक्षाओं के बीच, जिस आत्मा ने दुर्निवार रूप से, दुनिया की परवाह न करते हुए, सस्ती ख्याति के चक्कर में न पड़कर, जो अभिव्यक्ति-शिल्प तैयार किया वह हिन्दी साहित्य को एक अनूठी देन है। शमशेर, निःसन्देह, एक अद्वितीय कवि हैं। उनकी काव्य-आत्मा नितान्त स्वाभाविक है, बिल्कुल खरी है, साथ ही वह रसमय होते हुए उलझी हुई—उतनी ही उलझी हुई, जितनी कि, और जैसी कि, प्रत्येक वास्तविकता, अपनी मौलिक विशिष्टता में उलझी हुई होती है।

शमशेर की मूल मनोवृत्ति एक इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकार की है। इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकार अपने चित्र में केवल उन अंशों को स्थान देगा जो उसके संवेदनाज्ञान की दृष्टि से, प्रभावपूर्ण संकेत-शक्ति रखते हैं। वह दृश्य-चित्र में उन्हीं अंशों को स्थान देता है, जो उसके संवेदना-ज्ञान की दृष्टि से उस दृश्य के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, अतः प्रगाढ़, प्रभावपूर्ण, अंग हैं। केवल कुछ ही ब्रशेज़ में वह अपना काम करके दृश्य के शेष अंशों को दर्शक की कल्पना के भरोसे छोड़ देता है। दूसरे शब्दों में, इम्प्रेशनिस्ट चित्रकार दृश्य के सर्वाधिक संवेदनाघात करनेवाले अंशों को प्रस्तुत करेगा, और यह मानकर चलेगा कि यदि यह संवेदनाघात दर्शक के हृदय में पहुँच गया तो दर्शक अचित्रित शेष अंशों को अपमी सृजनशील कल्पना द्वारा भर लेगा।

शमशेर ने अपने हृदय में आसीन चित्रकार को पदच्युत कर कवि को अधिष्ठित किया है। इससे एक बात यह हुई कि कवि का कार्यक्षेत्र (स्कोप) बढ़ गया है। इम्प्रेशनिस्टिक ढंग का चित्रकार जीवन की उलझी हुई स्थितियों का चित्रण नहीं कर सकता—वह उसके किसी दृश्य-खण्ड को ही प्रस्तुत कर सकता है। उस विचित्र दृश्य-खण्ड में भी, वह दृश्य के सूक्ष्म पक्षों को प्रस्तुत नहीं कर सकता। किन्तु कवि वैसा कर सकता है।

शमशेर ने अपने कवि को यही टेकनीक प्रदान किया है, मनोवृत्ति प्रदान की है, शैली प्रदान की है। और इस प्रकार उसे न्यस्त करते हुए, जीवन का अथाह समुन्दर मापने के लिए उसे छोड़ दिया है। दूसरे शब्दों में, पदच्युत चित्रकार के जिस सिंहासन पर कवि विराजमान है, वह सिंहासन अपनी जादुई शक्ति से कवि

को बाध्य करता है कि वह इम्प्रेशनिस्टिक टेकनीक और मनोवृत्ति अपनाये, और इस प्रकार इम्प्रेशनिस्टक चित्रकला के मूल नियमों को काव्यकला में गुप्त रूप से संस्थापित करे। किन्तु चित्रकार कवि का कार्यक्षेत्र बड़ा है। केवल इम्प्रेशनिस्टक कला उसके लिए अधूरी है। फिर भी, चूँकि वह पदच्युत चित्रकार के सिंहासन पर बैठा है, इसलिए उसका टैक्स तो देना ही होगा, फ़ीस तो चुकानी ही होगी, उस सिंहासन की परम्परा को आगे बढ़ाना ही होगा। संक्षेप में, इम्प्रेशनिस्टिक कला ने शमशेर से त्याग करवाया है, साथ ही उन्हें बहुत कुछ मौलिक और विशिष्ट गुण भी दिये हैं, जो किसी अन्य कवि में नहीं पाये जाते।

कभी-कभी पदच्युत चित्रकार के सिंहासन और उस पर विराजमान कवि में झगड़ा हो जाता है। कवि चाहने लगता है कि सिंहासन के चंगुल से छूटकर स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करे, और तब शमशेर, एकदम कुलाँट खाकर, क्लासिकल पूर्णता की तरफ़ अग्रसर होते हैं, और बहुत बार वे सफल होते-से नज़र आते हैं। उनकी 'शान्ति' कविता इसका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और सफल उदाहरण है। वे अपने से कितना अधिक हट सकते हैं, इसका वह एक प्रभावशाली प्रमाण है। यह बिलकुल निश्चित है कि शमशेर क्लासिकल पूर्णता के प्रति हमेशा आकर्षित रहेंगे और इस पूर्णता से प्रभावित होते रहेंगे। इसका कारण ही यह है कि वह आकर्षण और प्रभाव भीतर ही एक अपूर्णता की पूर्ति करते हैं।

फिर भी, चित्रकार के सिंहासन ने काफ़ी हद तक कवि के काव्य-व्यक्तित्व का निर्माण किया है और उसे अभिनव सफलताओं से ज्योतिर्मान बना दिया है। किन्तु साथ ही, उसने शमशेर की सीमाएँ भी निर्धारित कर दी हैं। क्षमता और सीमा का यह मनोहर योग शमशेर को अत्यन्त मौलिक और अद्वितीय कवि के रूप में प्रस्तुत करता है। शमशेर का निरालापन बहुत ही स्वाभाविक और अन्यत्र दुर्लभ है।

सबसे बड़ी बात यह है कि इम्प्रेशनिस्टिक स्वभाव ने शमशेर को 'विशिष्ट' के प्रति प्रेरित किया है। ऐसा चित्रकार वस्तु-दृश्य को प्रस्तुत करता है। किन्तु शमशेर वाह्य-दृश्य के भीतर, भाव-प्रसंग को उपस्थित करते हैं। अन्य कवि केवल भावना व्यक्त करते हैं। यह भावना अनेक भावनाओं को, वस्तुतः, एक श्रेणी अर्थात् एक सामान्यीकृत भावना होती है। इसके विपरीत शमशेर वास्तविक भाव-प्रसंग में उपस्थित संवेदनाओं का चित्रण करते हैं। संवेदनाएँ वास्तविकता का एक भाग हैं—जो एक वास्तविक परिस्थिति के अन्तर्गत वास्तविक भाव-प्रसंग में उद्बुद्ध होती हैं। वे संवेदनाएँ वास्तविक अर्थात् जीवन-प्रसंग से बद्ध हैं। यह जीवन-प्रसंग वास्तविकता का एक मूर्त और शक्तिशाली भाग है।

इसके विपरीत, अन्य कवियों में होता यह है कि मन के कोने में पड़ी हुई प्रसुप्त भावनाएँ जाग्रत होकर एक भाव-तरंग बन जाती हैं। ये भावनाएँ मन के कोने

में पड़े हुए संचित अनुभव से जुड़ी रहती हैं। कविता लिखते समय, उन अनुभवों का सामान्यीकरण होकर, भावनाएँ भी सामान्यीकृत हो जाती हैं। दूसरे शब्दों में, यह आवश्यक नियम नहीं है कि वे भावनाएँ अपने-अपने विशिष्ट वास्तविक प्रसंगों के ताने-बाने में बिंधी हुई ही प्रकट हों, प्रसंगबद्ध रूप में उपस्थिति हों। संचित अनुभव के अंगरूप में होने के कारण, वे प्रसंग की बजाय, एक रुख़ (एटीट्यूड) के साथ प्रकट होती हैं। यह रुख़ भावनाओं का सामान्यीकरण कर देता है। वे विशिष्ट प्रसंगबद्ध भावनाएँ नहीं हैं, वरन् सामान्यीकृत भावनाएँ हैं। सामान्यीकरण से मेरा मतलब रस-सिद्धान्त के साधारणीकरण से नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसी भावना अमुक विशेष प्रसंग में उपस्थित वास्तविक भावना है।

परिस्थिति के भीतर प्रसंग उपस्थित होते हैं। परिस्थिति एक विशिष्ट चीज़ है, सामान्यीकृत नहीं। उसमें अनेक प्रभावों और प्रवृत्तियों के सूत्र, व्यक्ति-चरित्र और परिस्थिति के सूत्र, आपस में उलझे हुए होते हैं। इस परिस्थिति के अन्तर्गत जीवन-प्रसंग विशिष्ट होते हैं, सामान्यीकृत नहीं। इन प्रसंगों में जीवन-कथा के अनेक तत्त्व आपस में उलझे हुए होते हैं। इन प्रसंगों के विभिन्न तत्त्व एक-दूसरे पर प्रतिक्रिया करते रहते हैं। प्रसंग एक वास्तविक जीवित चीज़ हैं। वे प्रसंग आत्मप्रेरक कवि के लिए भाव-प्रसंग हो उठते हैं। बाह्य जीवन-प्रसंगों की भाँति ये भाव-प्रसंग वास्तविक होते हैं। ये भाव-प्रसंग, जीवन-प्रसंग के अन्तर्गत उसका एक अटूट अंग हैं। वे वास्तविकता का अखण्डनीय भाग हैं। वास्तविकता के ताने-बाने में वे बिंधे हुए हैं। वास्तविकता हमेशा, अनिवार्य रूप से अटूट नियम की भाँति उलझी हुई होती है। उसमें दिक् और काल, भूगोल और इतिहास, व्यक्ति और समाज, चरित्र और परिस्थिति, आलोचक मन और आलोचित आत्म-व्यक्तित्व, आदि-आदि घनिष्ठ रूप से बिंधे हुए होते हैं।

वास्तविकता एक फ़ार्मूला नहीं है। जीवन-प्रसंग अनेक सूत्रों से, अनेक तत्त्वों से, उलझे हुए होते हैं। उनके अन्तर्गत, भाव-प्रसंग उलझे हुए सूत्रों और परस्पर प्रतिक्रियाशील तत्त्वों से बने हुए ज्वलन्त अग्निखण्ड हैं। उनमें स्वपक्ष और परपक्ष के परस्पराघात से एक मनःस्थिति और परिस्थिति बन जाती है। ये भाव-प्रसंग शमशेर के काव्य-विषय हैं। ये भाव-प्रसंग विशिष्ट हैं। ये काव्य-विषय विशिष्ट हैं। भाव-प्रसंग की मौलिक विशिष्टता के भीतरी ताने-बाने शमशेर को अकुलाते रहते हैं। शमशेर सामान्यीकृत भावनाओं, और सामान्यीकृत रुख़ों के कवि नहीं हैं।

शमशेर पर लगाया गया यह दोषारोप कि वे उलझे हुए हैं और उनकी बात समझ में नहीं आती, उस आदत को सूचित करते हैं, जिसे हम सामान्यीकरण की आदत कह सकते हैं। चिन्तन के अनुशासन से विहीन व्यक्ति भी बहुत आत्म-विश्वास के साथ सामान्यीकरण करता रहता है। सामान्यीकरणों की इस आदत को ही हम यान्त्रिक विचार-शैली कहते हैं। यान्त्रिक विचारणा विशिष्ट के आन्तरिक ताने-बाने,

उसकी मौलिक विशेषताओं, और उसके समृद्ध रूप-तत्त्व की उपेक्षा करके चलती है। यान्त्रिक विचारणा से अनेक हानियाँ हुई हैं। साहित्य-चिन्तन में यान्त्रिक विचारणा की कभी कमी नहीं रही। विशिष्ट की मौलिकता की क़ीमत पर, अर्थात् उसकी मौलिकता की उपेक्षा करते हुए, जो सामान्यीकरण होगा, वह छिछला, सतही और यान्त्रिक होगा।

कविता, विशेषकर आत्मपरक कविता ने हिन्दी साहित्य-चिन्तन-धारा को अत्यधिक प्रभावित किया है। हिन्दी की आत्मपरक कविता, व्यक्तिनिष्ठ भले ही हो, उसमें वास्तविक भाव-प्रसंगों की मौलिक विशिष्टता का बहुत कम चित्रण किया गया है। यही कारण है कि आधुनिक हिन्दी काव्य में वास्तविक प्रणय-भावना बहुत थोड़ी जगह और बहुत अल्प मात्रा में है। प्रणय-जीवन के वास्तविक मनोवैज्ञानिक चित्रण की कमी बहुत खेदजनक है। प्रणय-जीवन के सर्वोत्तम कवि आज भी मीरा और सूर हैं। उनके उद्‌गार हमें भीतर से हिला देते हैं, इसलिए कि वे विशिष्ट भाव-प्रसंगों का सहारा लिये हुए हैं। विशेष भाव-प्रसंगों की रूपरेखाओं की विस्मृति और प्रणय-जीवन के वास्तविक मनोवैज्ञानिक चित्रों की कमी यह सूचित करती है कि विशुद्ध व्यक्तिनिष्ठता अपने ही उद्देश्य को पराजित कर देती है। वास्तविक भाव-प्रसंगों में क्रमबद्ध और सक्रिय संवेदनाओं के चित्रण के अभाव में, केवल सामान्यीकृत भावना, प्रकृति पर मन के रंगों का आरोप, केवल एक मूड और एक भावनात्मक रुख़, और लगभग गणितशास्त्रीय यान्त्रिक शिल्प—यही तथाकथित आधुनिक रोमैण्टिक कविता की उपलब्धि हैं। वास्तविक प्रणय-जीवन काव्य का 'ह्यूमनाइज़िंग इफ़ेक्ट' हमें आधुनिक रोमैण्टिक कविता में अधिक प्राप्त नहीं होता। यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है।

ऐसे काव्य-साहित्य ने साहित्य-चिन्तन-धारा को बहुत अधिक प्रभावित किया है। फलतः, 'चिन्तकों' को सामान्यीकृत भावनाएँ चट से समझ में आ जाती हैं—चाहे वे दुरूह छायावादी शैली में ही क्यों न लिखी गयी हों। किन्तु, प्रसंग विशिष्ट संवेदनाएँ, जो एक कथानक और नाटक उपस्थित करती हैं, वे उन्हें समझ में नहीं आतीं। इसीलिए कहा जाता है कि शमशेर के काव्य में उलझन है। वह अस्पष्ट और दुरूह है। इसके लिए, कुछ हद तक, स्वयं शमशेर ज़िम्मेदार हैं और कुछ हद तक बिल्कुल नहीं हैं। बाख़ के संगीत पर उनकी कविता अत्यन्त सुन्दर, बिल्कुल स्पष्ट और दुरूहताहीन है। फिर भी एक पत्रिका में उस पर बहुत बुरा 'अटैक' किया गया और कहा गया कि वह दुरूह है।

शमशेर की संवेदनशील दृष्टि भाव-प्रसंग के 'विशिष्ट' पर टिकती है। यह 'विशिष्ट' वास्तविकता का अटूट अंग है। वास्तविकता के सूत्रों में वह गुम्फित और ग्रथित है। इस विशिष्टि में एक नाटक है, एक कथानक है, कुछ पात्र हैं, एक पार्श्वभूमि है।

शमशेर इस भाव-प्रसंग की वास्तविकता पर अपने मन का रंग नहीं चढ़ाते। वे मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी हैं। उनकी मनोवैज्ञानिकता भाव-प्रसंग के चुनाव में, तथा अपनी मानसिक प्रतिक्रियाओं और बाह्य के संवेदनाघातों के चित्रण में है। उनकी यथार्थवादिता भाव-प्रसंग में, मानसिक प्रतिक्रियाओं की प्रसंगबद्धता के निर्वाह में है। ऐसी स्थिति में, यदि मानव-प्रसंग भीतर से बहुत हिला देनेवाला और महत्त्वपूर्ण हुआ, तो शमशेर की प्रतिक्रियाएँ भी तीव्र व्याख्यात्मक रूप से प्रकट होती हैं। शमशेर की प्रतिभा वहाँ अत्यन्त मौलिक और उज्ज्वल रूप में प्रकट होती है। किन्तु यदि वास्तविकता ने भाव-प्रसंग ही कम महत्त्वपूर्ण पेश किया तो वहाँ शमशेर का काव्य भी फीका हो जायेगा। कवि स्वभाव की दृष्टि से ही यह निश्चित होगा कि कौन-सा भाव-प्रसंग उनके लिए विशेष महत्त्वपूर्ण और कौन-सा कम महत्त्वपूर्ण है। दूसरे शब्दों में विषय की प्रेरणाशक्ति पर, काव्य की ऊँचाई-निचाई मिर्भर करती है। कई कवियों के सम्बन्ध में यह बात सही है। अतएव, शमशेर की मामूली कविताओं को लेकर. उनके विरुद्ध आघात करने से कुछ नहीं होगा। हर कवि साधारण और साथ ही असाधारण कविताएँ लिखता है।

शमशेर मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी कवि होते हुए भी आत्मपरक हैं। उनकी आत्मपरकता उन्हें भाव-प्रसंग के भीतर उपस्थित अपनी संवेदनाओं के चित्रण के लिए बाध्य करती है। उनकी संवेदना वास्तविक है। वह प्रसंगबद्ध है। प्रसंग उस संयेदना के रूप को निर्धारित करता है। शमशेर संवेदनाओं के प्रसंग-विशिष्ट गुणों का बहुत सफलतापूर्वक चित्रण करते हैं। इस चित्रण के बिना इस भाव-प्रसंग का ताना-बाना प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। सामान्यीकृत भावनाएँ प्रकट करना बहुत आसान है, किन्तु भाव-प्रसंग में साक्षात् संवेदनाओं के वास्तविक चित्रण के लिए अनेक नये प्रयोग अत्यन्त आवश्यक हो उठते हैं।

इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकार तथा अन्य चित्रकारों की भाँति, शमशेर संवेदनाओं के गुण आत्मचेतस् रूप से जानते हैं। वे न केवल रूप, स्पर्श, रस, गन्ध की संवेदनाएँ पहचानते हैं—यह मामूली बात है—वरन् वे संवेदनाओं के रूप-स्पर्श, रस-गन्ध का चित्रण करते हैं। वास्तविक संवेदनाओं का चित्रण हिन्दी में बहुत ही कम हुआ है। एक भाव-प्रसंग में विभिन्न संवेदनाओं के प्रभावकारी गुणों के चित्र प्रस्तुत करना शमशेर ही का काम है। वे एक संवेदना की कोमलता को दूसरी संवेदना की कोमलता से पृथक् कर दोनों की विभिन्न कोमलताओं के चित्र प्रस्तुत करते हैं। शमशेर का संवेदन-ज्ञान और संवेदन-चित्रण अद्वितीय है।

शमशेर संवेदन-चित्रण मुख्यतः दो प्रकार से करते हैं। संवेदन की तीव्रता बताने के लिए वे बहुत बार नाटकीय विधान प्रस्तुत करते हैं। संवेदन के विभिन्न गुण-चित्र प्रस्तुत करने के लिए वे मनःप्रतिमाओं का, इमेजेज़ का, सहारा लेते हैं। ये इमेजेज़

उनके अवचेतन-अर्धचेतन से उत्पन्न होती हैं। उन इमेजेज़ में उनके अवचेतन का गहरा रंग होता है। इसके अलावा, शमशेर का शब्द-संकलन अत्यन्त सचेत, और संवेदनानुगामी होता है।

लोगों को शमशेर का काव्य शिल्पग्रस्त प्रतीत होता है तो इसका एक कारण शमशेर के कथ्य की नवीनता है। अभी तक पाठकों और आलोचकों की आत्मचेतना इतनी विकसित नहीं हुई है कि वे अपने जीवन में प्राप्त विभिन्न भावना-प्रसंगों के अन्तर्गत स्वयं द्वारा भोगी गयी संवेदनाओं के विभिन्न उलझे हुए रूप, गुण और प्रभाव पहचान पायें। एक चित्रकार होने के नाते, शमशेर की संवेदनाशक्ति और संवेदना-ज्ञान अत्यन्त विकसित है। उन्हें बारीक-से-बारीक संवेदनाओं के सूक्ष्म प्रभावों की पहचान है। प्रसंग-विशिष्टिता के कारण संवेदनाओं की भिन्नता और विशिष्टता का चित्रण कर वे यह सोच लेते हैं कि संवेदनाओं की विशिष्टता के चित्रण से प्रभावित होकर, पाठक तथा आलोचक उन संवेदनाओं के प्रेरक भाव-प्रसंगों का पूर्ण चित्र मन-ही-मन तैयार कर लेंगे। किन्तु पाठक और आलोचक अभी तक सक्षम और समर्थ नहीं हैं कि संवेदनाओं की विशिष्टता से प्रसंगों की विशिष्टता का आसानी से अनुमान कर सकें। हमारे पाठकों और आलोचकों की आत्म-चेतना अभी काफ़ी कुहरिल है। उनकी आत्मचेतना के भौगोलिक प्रदेश पर कुहरा होने से, उन्हें अपने मन के ही पहाड़ और घाटियाँ, जंगल और मैदान, धुन्ध के रूप में ही दिखायी देते हैं। कलाकारों का यह कर्तव्य है कि वे उस आत्म-चेतना को अधिक भिन्नीकृत स्पष्ट और मूर्त बनायें। पाठकों और आलोचकों की वैसी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक ही है।

इस आत्म-चेतना को विकास के प्रश्न की दृष्टि से देखा जाये, तो यह कहना होगा कि शमशेर आत्मपरक साहित्य की यूरोपीय परम्परा से काफ़ी प्रभावित हैं। इस प्रकार, वस्तुतः, वे नयी कविता के साहित्य की श्रीवृद्धि में बड़ा योग दे रहे हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि उनकी कला या उसके मनस्तत्व, प्रतिमाएँ और मुहावरे, कथन की शैली अथवा चित्रण की भंगिमा, यूरोप से उधार ली गयी है। इसका अर्थ यह है कि उनकी आत्मा पर, उनकी भावात्मक संस्कृति पर, यूरोपीय आत्मपरक उपलब्धियों का रचनात्मक और प्रशंसनीय प्रभाव पड़ा है। और अगर, शमशेर के काव्यशिल्प से किसी को आपत्ति हो सकती है, या होगी, तो उसका कारण यूरोपीय प्रभाव में नहीं खोजना चाहिए, वरन् शमशेर की मनोरचना के भीतर चित्रकार के सिंहासन पर आसीन कवि (की) सीमाओं में ही खोजना होगा।

शमशेर के आभ्यन्तर सिंहासन से पदच्युत चित्रकार, इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकार है। वह एक विशेष प्रकार का, विशेष स्वभाववाला, विशेष सीमाओंवाला चित्रकार है। इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकला के अनुसार, शमशेर पार्श्वभूमि को महत्त्व नहीं देते। वे केवल

उन्हीं संवेदनाघातों का चित्रण करते हैं, जो अत्यन्त प्रभावकारी तो हैं ही, साथ ही जो कवि की समझ से विशेष संकेत-महत्त्व रखते हैं।

किन्तु, इम्प्रेशनिस्टिक कला की कुछ अपनी ऐसी विशिष्ट सीमाएँ हैं, जो समुद्र-मन्थन के सारे अनुभूत सत्यों को एक साथ प्रकट नहीं होने देतीं। कवि का कार्य-क्षेत्र, चित्रकार से अधिक विस्तृत है। इसलिए शमशेर चित्रकार के सिंहासन पर बैठकर, उस सिंहासन की जादुई शक्ति से संचालित होकर, अर्थात् चित्रकला से प्राप्त संस्कारों के वशीभूत हो, कविकर्म करते हुए, उन विशेष क्षेत्रों में विचरण करने जाते हैं, जहाँ उनकी चित्रकलात्मक संवेदना और दृष्टि अधिक कारगर साबित नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए, शब्द-ध्वनि रंग-शक्ति नहीं है। केवल एक शब्द की एक ध्वनि तुरन्त ही मनस्पटल रंगों, आकारों और रूपों में प्रकट नहीं हो सकती। शब्द, वस्तुतः, अमूर्त होते हैं। वे प्रकृति की सूचनाओं की प्रथम संकेत-व्यवस्था के भाग न होकर, द्वितीय-संकेत-व्यवस्था के भाग है। बाह्य (जो भी हो, चाहे दर्शक मन का मनस्तत्त्व ही सही) और प्रकृति से प्राप्त संवेदनाएँ और उनकी विभिन्न गुत्थियाँ और प्रकार, प्रथम संकेत-व्यवस्था है। इस प्रथम संकेत-व्यवस्था को सम्पूर्ण सामाजिक रूप में, अर्थात् साधारणीकृत रूप में, सूचित करनेवाली व्यवस्था द्वितीय संकेत-व्यवस्था है। भाषा द्वितीय संकेत-व्यवस्था है। वह मूलभूत सूचनाओं की सूचना है। यह सूचना प्रथम की तुलना में काफ़ी अमूर्त है, ऐब्स्ट्रैक्ट है। इसलिए, जब तक विशेष और विस्तृत तथा जटिल उपाय अमल में न लाये जायें, तब तक द्वितीय संकेत-व्यवस्था द्वारा दी गयी सूचनाएँ प्रथम संकेत-व्यवस्था का उद्दीपन और उत्तेजन नहीं कर सकतीं। अतएव, चित्रकला में, रंग-संकेत जितने कारगर हों उतने केवल शब्द-संकेत काम न कर सकेंगे, जब तक कि विशेष उपाय अमल में न लाये जायें। फलतः, केवल रंगों अथवा केवल ध्वनियों द्वारा सूचित और संकेतित अर्थों को उत्तेजित करने के लिए, जटिल उपाय अमल में लाना आवश्यक हो जाता है। केवल एक-एक शब्द को एक-एक वाक्य का अर्थ देकर संक्षेपीकरण करते रहने से बहुत बार बात नहीं बन पाती। मेरा ख़याल है कि शमशेर शब्द-संकेत को रंग-संकेत का स्थानापन्न मान बैठते हैं। कवि को चित्रकार का स्थानापन्न बना देने से, और उस स्थानापन्न कवि के सम्मुख कार्यक्षेत्र विस्तृत कर देने से, शमशेर की रचनात्मक प्रतिभा ने बहुत बार घोटाला कर दिया है—ऐसा मेरा ख़याल है। शायद यह अनुमान ग़लत हो। ग़लत हो तो अच्छा ही है। इस सम्बन्ध में मैं भी अपना समाधान करने का इच्छुक हूँ।

दूसरे, शमशेर के शिल्प के सम्बन्ध में यह बात भी मुझे कहनी है कि प्रसंगबद्ध भावना की प्रसंग-विशिष्टता सुरक्षित रखकर, प्रसंग को पार्श्वभूमि में हटाते हुए उसको बिलकुल ही उड़ा देने से, काव्य के रसास्वादन में कुछ तो बाधा होती ही है। जीवन विभिन्न प्रसंग उपस्थित करता है। केवल संवेदना-चित्रों के सहारे पाठक को प्रसंग-कल्पना

करनी पड़ती है। वह बहुत बार, सुनिश्चित मूर्त संकेतचित्रों के अभाव में, प्रसंग-कल्पना ठीक-ठीक ढंग से नहीं कर पाता। यदि पार्श्वभूमि कुछ अधिक रेखांकित (न) हो तो पाठक को कवि की संवेदना, जो बिल्कुल विशिष्ट है सामान्यीकृत नहीं, सहज रूप से हृदयगम्य नहीं होती है। यदि प्रसंग अत्यधिक विशिष्ट है तो पार्श्वचित्र और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो उठते हैं। पार्श्वभूमि के सहारे, पाठक प्रसंग-कल्पना बहुत आसानी से कर सकता है। किन्तु शायद शमशेर बेपर्दगी बरतना नहीं चाहते।

शमशेर, मुख्यतः, प्रणय-जीवन के प्रसंगबद्ध रसवादी कवि हैं। शायद इसीलिए, वे आधुनिक दृष्टिकोण के फलस्वरूप बेपर्दगी नहीं कर सकते। सम्भवतः संक्षेपीकरण की उनकी प्रवृत्ति विशेष तत्त्वों के बारे में अधिक सक्रिय है। यह संक्षेपीकरण सामाजिक, राजनैतिक तथा प्रणय-जीवन से हटे हुए अन्य विषयों के क्षेत्र में अधिक सक्रिय नहीं रहता। वहाँ वे क्लासिकल पूर्णता की ओर अधिक झुकते हैं। ऐसे क्षेत्रों में, यदि उन्होंने संक्षेपीकरण किया भी, तो भी वह युक्ति-युक्त होता है।

इसका अर्थ केवल यह है कि शमशेर के सृजन-प्रक्रियात्मक सेंसर्स काफ़ी महत्त्वपूर्ण हैं। जो बातें वे नहीं कहते, वे सन्दर्भ की दृष्टि से प्रधान हैं। उनकी प्रधानता गोपन रखने के लिए संक्षेपीकरण की व्यवस्था है।

किन्तु इन कमियों की पूर्ति शमशेर बहुत कुशलता से करते हैं। संवेदनाओं की तीव्रता बताने का उनका नाटकीय विधान और इमेजेज़ (प्रतिमाएँ) तथा अत्यन्त सचेत शब्द-संकलन प्रभावशाली रूप से सफल होता है !

असल में, शमशेर की आत्मा एक रोमैण्टिक क्लासिकल प्रकार की है। किन्तु इम्प्रैशनिस्टिक होने के कारण, उनका ज़ोर संवेदन-विशिष्टता और संवेदनाघात (पर)—और केवल इसी पर—होने से, वे नयी कविता के एक अद्वितीय कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं। महत्त्व की बात यह है कि यह इम्प्रेशनिज़्म केवल कुछ ही विषयों—प्रणय-जीवन सम्बन्धी बातों—के सम्बन्ध में अधिक तीव्रता से सक्रिय रहता है।

प्रश्न यह है कि शमशेर की प्रधान उपलब्धियाँ कौन-सी हैं ? मेरे मत से, प्रणय-जीवन के जितने विविध और कोमल चित्र वे प्रस्तुत करते हैं, उतने चित्र, शायद और किसी नये कवि में दिखायी नहीं देते। उनकी भावना अत्यन्त स्पर्श-कोमल है। प्रणय-जीवन में भाव-प्रसंगों के आभ्यन्तर की विविध सूक्ष्म संवेदनाओं के जो गुण-चित्र वे प्रस्तुत करते हैं, वे न केवल अनूठे हैं, वरन् अपने वास्तविक खरेपन के कारण प्रभावशाली हो उठे हैं। सूक्ष्म संवेदनाओं के गुण-चित्र उपस्थित करना बड़ा ही दुष्कर कार्य है। किन्तु शमशेर उसे अपनी सहानुभूति से सम्पन्न कर जाते हैं। विशिष्ट भाव-प्रसंगों की मौलिक विशिष्टता के अन्तर्गत, इन सूक्ष्म, कोमल किन्तु महत्त्वपूर्ण संवेदनाओं के ये वास्तव-चित्र कहीं ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलेंगे। बाख़ के संगीत की

स्वर-लहरियों द्वारा उत्तेजित संवेदनाओं का चित्रण जो शमशेर ने किया है, वह उनके अनुपम काव्य-सामर्थ्य तथा वास्तवोन्मुख भावना का एक श्रेष्ठ उदाहरण है। शमशेर ने संवेदनाओं के गुण-चित्र उपस्थित करने के क्षेत्र में जो महान् सफलताएँ प्राप्त की हैं, वे उस क्षेत्र में अन्यत्र दुर्लभ हैं।

मैं यहाँ शमशेर की उन कविताओं को नहीं भूल सकता जिन्हें हम, व्यापक अर्थ में सामाजिक और संकुचित अर्थ में राजनैतिक, कह सकते हैं। मनोवैज्ञानिक वस्तुवादी कवि जब सामाजिक भावनाओं तथा विश्व-मैत्री की संवेदनाओं से आच्छन्न होकर मानचित्र प्रस्तुत करता है, तब वह उसी प्रकार अनूठा और अद्वितीय हो उठता है, जैसे कि किसी क्षेत्र में भिन्न तथा अन्य कवि कदापि नहीं। 'शान्ति' पर लिखी शमशेर की कविता क्लासिकल ऊँचाइयों की उपलब्धि कर चुकी है। इससे यह सिद्ध होता है कि शमशेर की वास्तवोन्मुख दृष्टि और वास्तव-प्राप्त संवेदनाएँ और भी अधिक साहित्यिक उपलब्धियाँ प्राप्त कर सकती हैं। सच तो यह है कि शमशेर के पास जादुई कीमियागीरी नहीं है, वास्तव का संवेदनात्मक ग्रहण है। इन वास्तव संवेदनाओं के सूक्ष्म की पकड़ इतनी ज़बर्दस्त है कि उनकी शक्ति को देखते हुए यह अपेक्षा की जानी चाहिए कि शमशेर आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय भावना और राष्ट्रीय प्रगतिशील चेतना के और भी उत्तमोत्तम भाव-प्रसंग प्रस्तुत करेंगे। शमशेर का काव्य एकदम खरा है, अपने विशेष गुणों के कारण मौलिक है, अपने शिल्प के कारण अद्वितीय है, और ये ही बातें उन्हें श्रेष्ठ कवि सिद्ध करती हैं।

---

नेमिचन्द्र जैन

# काव्यात्मक वक्तव्य : उसका बचपन

कृष्ण बलदेव वैद का लघु उपन्यास *उसका बचपन* कई दृष्टियों से हिन्दी कथा साहित्य की एकदम अनूठी और असामान्य रचना है। उसमें एक निम्न मध्यवित्त परिवार के छोटे-से बालक बीरू की कहानी है जिसमें लेखक ने बड़ी सूक्ष्मता और सहज अन्तर्दृष्टि द्वारा बच्चे के भावों, विचारों और कार्यों को उसके परिवार तथा परिवेश के अन्य तत्त्वों की पृष्ठभूमि में अंकित किया है। इतने छोटे बालक की ज़िन्दगी नाना प्रकार की प्रवृत्तिमूलक प्रतिक्रियाओं, आवेगों और स्मृतियों तक, दैनिक अनुभव में विकसित बुद्धि द्वारा सोचे हुए कार्यों तक, ही सीमित होती है। उसकी ये क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ अपने आस-पास के व्यक्तियों और अन्य परिस्थितियों के साथ सहज सरल संघात से प्रभावित होती हैं। इस भाँति वे न केवल उसके क्रमशः निर्मित होते हुए व्यक्तित्व को प्रकट करती हैं, बल्कि उससे सम्बन्धित अन्य व्यक्तियों के चरित्रों को भी सर्वथा भिन्न प्रकार की तीव्रता के साथ उजागर करती हैं। *उसका बचपन* में लेखक ने बड़ी ही सूक्ष्मता, विशदता किन्तु बहुत ही संयम के साथ बीरू और उसके परिवेश के इस समग्र चित्र को अंकित किया है। बीरू के जीवन में माँ, बाबा, दादी, जलालपुरनी, देवी, चाचा, पारो, असलम, हफीजा, नरेश, बहनजी आदि, कितने ही व्यक्ति, चाहे स्थायी रूप से, चाहे थोड़ी देर के लिए, आते हैं, और जिस हद तक वे उसके कच्चे सुकुमार मन पर अनुभव की एक नयी पर्त जमाने में सफल होते हैं, उसी हद तक अपने निजी व्यक्तित्व की भी एक बड़ी सुनिश्चित और सुस्पष्ट छाप हमारे मन पर छोड़ जाते हैं।

इस प्रभाव का एक स्रोत है विभिन्न पात्रों के व्यक्तित्व के मूल केन्द्र को बहुत संक्षेप में, एक सर्वथा नये ढंग से, रूपायन कर सकने की लेखक की क्षमता। यही बात उसके विभिन्न स्थितियों के रूपायन में भी दिखायी पड़ती है। जीवन की अत्यन्त साधारण घटनाएँ और उनसे सम्बन्द्ध भावस्थितियाँ एक के बाद एक, चलचित्र की भाँति, हमारे सामने आती हैं और हर बार उस जीवन के किसी-न-किसी नये पक्ष की समझ हमें दे जाती हैं। बीरू के परिवार की दरिद्रता और उससे उत्पन्न होने वाली मनहूसियत, कड़वाहट, रसहीनता, क्षुद्रता और अत्यन्त ही संकुचित ओछी स्वार्थपरक मनोवृत्ति की बड़ी तीखी और जीवन्त अभिव्यक्ति इस उपन्यास में है

और महत्त्वपूर्ण तथा उल्लेखनीय बात यह है कि कथाकार इस अभावग्रस्त जीवन का चित्र अंकित करने में भावुक नहीं हुआ है और न उसने स्थितियों को आवश्यकता से अधिक नाटकीय तथा अस्वाभाविक रूप में करुण बनाकर उपस्थित किया है। वह जैसे एक तटस्थ वैज्ञानिक की भाँति, एक यथार्थदर्शी की भाँति, जो कुछ देखता है, उसे कहता चला जाता है। वर्णन की इस एकाग्रता और सन्तुलन में तटस्थता और सहानुभूति का बड़ा अजीब मिश्रण है। असामान्य वस्तुनिष्ठता के साथ-साथ यह भी निरन्तर लगता है कि उसने कलाकार के रूप में अपनी सहानुभूति सहज भाव से सभी पात्रों को यथायोग्य दी है। इसी से वह केवल बाह्य प्रतिक्रियाओं का चित्रण नहीं करता, बल्कि विभिन्न पात्रों के व्यक्तित्व के कई स्तर हमारे सामने खोलने में सफल होता है, और पूरे उपन्यास में एक सूक्ष्म सौन्दर्य-बोध से, एक प्रकार की तीव्र काव्यात्मकता से, हमारा साक्षात्कार होता है।

वास्तव में इस उपन्यास की प्रमुख विशिष्टता है ही यह कि उसकी रचना एक लम्बी कविता-जैसी है—उतनी ही भावों की समन्विति, एकसूत्रता और तीव्रता, वैसी ही वातावरण की एकाग्रता, वैसी ही बिम्बप्रधानता और चित्रात्मकता, रूपबन्ध और शिल्प में वैसी ही समग्रता, रीतिबद्धता और तीक्ष्णता। पूरी कथा की गति में कुछ इस प्रकार से विभिन्न लयों का संयोजन है जैसा साधारणतः काव्य में ही निभ पाता है, बल्कि अधिकांश हिन्दी काव्य तक में नहीं निभ पाता। इस दृष्टि से कथा के विभिन्न अनुच्छेद एक ही मूल भावसूत्र की विभिन्न लयों, गतियों और रंगों के आयाम प्रस्तुत करते जान पड़ते हैं।

कथा का आरम्भ होता है पंजाब के एक क़स्बे के एक टूटे-फूटे मकान की ड्योढ़ी में। दादी चारपाई में पड़ी है, "मैली-कुचैली, सिकुड़ी-सिमटी, ठिठुरी और उलझी हुई-सी, जैसे किसी ग्रामीण की कोई ढीली-ढाली गठरी हो, जो किसी समय भी खुलकर बिखर सकती हो।" इस प्रथम वाक्य में ही जैसे भूमिका के रूप में उस पूरी ज़िन्दगी के परिचय का सार है, उसकी अनुभूति का केन्द्रीभूत स्वरूप है, जो लेखक प्रक्षेपित करना चाहता है—जीर्ण, टूटी हुई, मृतप्राय। उसी के साथ लेखक कथा के प्रधान माध्यम शिशु को सम्बद्ध करता है : "चारपाई की गहराई में दादी औंधे मुँह पड़ी हुई है, जैसे कोई शिशु रोते-रोते सो गया हो या मर गया हो।" यह शिशु बीरू है जो आगे कथा में भी कई बार इसी प्रकार रोते-रोते अथवा वैसी ही मानसिक यातना में सो जाता है, और अन्त में मरने की, गले में फाँसी लगाकर आत्महत्या की भी कोशिश करता है। पूरी कथा ही जैसे इन प्रारम्भिक कुछ पंक्तियों में सिमटकर आ गयी है, जिसका पूरा प्रतिफलन धीरे-धीरे उद्घाटित होगा। इसी प्रकार यह घर जैसे इस पूरी रुद्ध कुण्ठित बीमार ज़िन्दगी का मूर्तिमान संकुचित परिवेश है। और इसमें भी "ड्योढ़ी इस मकान का मुँह है जो कभी खुलता है, तो कभी बन्द हो

जाता है।" "...हर समय इस ड्योढ़ी में एक विचित्र प्रकार की छुपी-छुपी-सी, गिलगिली-सी, हरकत होती रहती है।" यह ड्योढ़ी और यह पूरा घर एक और भी बड़े परिवेश का आत्यन्तिक अंश है। घर एक गली में है जिसके "बीचोंबीच एक नाली बहती है, गाढ़ी काली स्याही की एक टेढ़ी-मेढ़ी लकीर की तरह, जिसमें कीड़े रेंगते रहते हैं, मक्खियाँ भिनभिनाती रहती हैं, भिड़ें उड़ती रहती हैं।" और इसी के बीच नाली को कोंचता हुआ बीरू है जो "एक निहायत ही छोटा-सा बच्चा है।"

स्पष्ट ही इस चित्र में परिवेश का केवल यथार्थवादी वर्णन मात्र नहीं है, बल्कि एक तीखी व्यंजनात्मकता है जिसके सहारे लेखक सम्पूर्ण जीवन-स्थिति को मूर्त करना चाहता है। बिम्बों और चित्रों का ऐसा ही सर्वथा काव्यात्मक उपयोग निरन्तर हुआ है। कुछ बिम्बों की कई बार आवृत्ति होती है, और वे एक विशेष स्थिति को मूर्त करने के साथ-साथ उसकी बदलती हुई गतियों और रूपों को भी अभिव्यक्त करते हैं। जैसे, "रसोई से फूटता हुआ धुआँ" जो कभी "किसी शैतान बच्चे की भाँति ड्योढ़ी में मचलने लगता है", कभी "सारे घर में प्रेतात्मा की भाँति मँडरा रहा" होता है। "कड़वा, कसैला ज़हर-सा धुआँ, हर साँस के साथ हलक़ में भर जाता है।" "यह धुआँ है, या काला साँप, जान के पीछे पड़ा है।" "धुआँ माँ का साथी है और माँ दादी की दुश्मन"—उस दादी की, जिसकी गोद में बीरू प्यारे-प्यारे सपने देखने लगता है। दादी और बीरू, मरणासन्न और विकासमान जीवनगतियाँ एक आत्यन्तिक सम्बन्ध में वर्तमान हैं।

पहले दो अनुच्छेदों में ऐसे ही कई बिम्बों और चित्रों द्वारा मुख्य भाव-स्थिति का प्रक्षेपण है। तीसरे अनुच्छेद में एक नये तत्त्व का समावेश होता है : जलालपुरनी। वह "हर समय हँसती रहती है, उसके लम्बे-लम्बे गिने-चुने दाँत यूँ हिलने लगते हैं कि अब गिरे, अब गिरे। माँ कहती है कि जलालपुरनी पिछले जन्म में कुतिया हुआ करती थी।" यह जलालपुरनी का प्रसंग भाव-गति में बड़ी कुशलता से लाया गया है। कथा में वह एकाधिक बार प्रकट होती है और उसकी उपस्थिति एक विशेष भाव का प्रक्षेप करती है। यहाँ प्रारम्भ में वह दादी के साथ है, माँ के विरुद्ध। बाद में वह माँ के साथ और देवी तथा बाबा के विरुद्ध प्रकट होती है। इस प्रकार बीरू के साथ उसके मनोभाव को कई एक स्तरों पर दिखाया जा सका है। वह जैसे इस विचित्र दानवलोक की अत्यन्त ही निस्पृह जन्तु है जिसके अस्तित्व की सार्थकता है जीवन में आवर्त उत्पन्न करना, पड़ी हुई गाँठों को और भी कसते जाना, यहाँ तक कि बिल्कुल दम घुटने लगे और विस्फोट हो जाये। तीसरे अनुच्छेद में, और फिर दसवें अनुच्छेद में भी, उसके आने पर यही कार्य पूरा होता है। वह गति में एक नया पेच और एक नयी लयः उत्पन्न करती है इसी से तीसरे अनुच्छेद का अन्त होने पर जैसे बीरू अपने-आप से पूछता है : "क्या वह वाक़ई एक छोटा-सा

बच्चा है ?" स्पष्ट है कि एक आवृत्ति पूरी हो गयी है। प्रारम्भ हुआ था इस स्थिति से कि बीरू एक निहायत छोटा-सा बच्चा है, जिसने यहाँ तक आते-आते एक प्रश्नवाचक रूप ले लिया है।

चौथे, पाँचवें और छठे अनुच्छेदों में कथा अपनी परिधि में कई नये सूत्र समेटती है और उसकी गति में कुछ तीव्रता आ जाती है। इन अंशों में चाचा रघुपत और बहन देवी के आने का, उससे उत्पन्न होनेवाले नये आवर्तों का, अन्त में रघुपत चाचा के साथ दादी के चले जाने का, प्रसंग है। इसमें एक ओर माँ और बाबा अग्रमंच पर आ जाते हैं और उनके पारस्परिक तथा अन्य लोगों के साथ सम्बन्धों को अधिक स्पष्टता और तीक्ष्णता के साथ रूपायित किया गया है। दूसरी ओर, उनसे भी अधिक बीरू के व्यक्तित्व की नयी परतें उभरकर प्रकट होती हैं। "बाबा की पगड़ी समेटते हुए वह यों महसूस करता है जैसे किसी ने उसकी पुतलियों को पकड़कर आँखों को चर्र से फाड़ दिया हो और उसमें दो धधकते हुए कोयले रख दिये हों।" दो नये व्यक्तियों के आ जाने से स्थिति की एकरसता, गति की बँधी हुई लय, एकदम टूट गयी है और भीतर का विष फूटकर बाहर आ जाता है, तथा जीवन से एक और परिचय बीरू को होता है। बीरू "इस विष को अपने अन्दर समोता रहता है। फिर कसमसाता हुआ बाहर चला जाता है और नाली के किनारे बैठकर जाने कितनी देर तक धीरे-धीरे रोता है। जब उसका सारा भय, सारी घुटन आँसुओं में बह जाती है और वह ख़ाली हो जाता है तो वहीं बैठे-बैठे ऊँघने लगता है। ऊँघते-ऊँघते लुढ़क जाता है, तो अचानक उसके मुँह से एक गाली निकल जाती है, गाली जो बाबा ने माँ को दी थी, या माँ ने दादी को, या दादी ने माँ को, या माँ ने अपने-आप को।" वास्तव में, कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि किसने क्यों गाली दी। सब एक-दूसरे को गाली दे रहे हैं, वही एक रिश्ता बच रहा है, सारा जीवन ही एक गाली बन गया है। बीरू का नत्थू की दूकान से आटा लेने जाना और वह न मिलने पर एक लड़के के साथ वार्तालाप इस अनुच्छेद की मुख्य भाववस्तु में कई अन्य आवर्त पैदा करता है, जो अपने सीधे-सपाट रूप में स्थिति की कड़वाहट को तीखा तो बनाता ही है, अपनी संरचना में सर्वथा रीतिबद्ध (स्टाइलाइज़्ड) लगता है। उसकी लय तीव्र है पर सम नहीं, छोटे-छोटे संवादों द्वारा तीखे झटकों में टूटती चलती है, किसी कामदी नाटक की तेज़ गति के संवादमूलक दृश्य की भाँति। उसकी सचेष्टता और कृत्रिमता ही उसे तीखी काव्यात्मक प्रखरता प्रदान करती है। अनुच्छेद के अन्त में गाली के अभिप्राय की पुनरावृत्ति होती है।

"आओ, अब खेलें।—पहला लड़का कहता है।

बीरू उसकी ओर यूँ देखता है, जैसे उसे गाली दे रहा हो।"

पाँचवाँ अनुच्छेद तीखे गहरे तनाव का है जो दादी के सदा के लिए चले जाने

की पूर्वस्थिति में अनिवार्य रूप से उत्पन्न होता है। उसमें धुएँ का बिम्ब फिर से लौटता है और वही जैसे पूरे अनुच्छेद को बाँधे रखता है। प्रारम्भ में ही "धुएँ से अटा हुआ घुप अँधेरा और अँधेरे में लिपटी हुई गहरी उदास ख़ामोशी…धुएँ की लहरें अँधेरे में एक जाल-सा बुन रही हैं जिसमें सबके दम घुट रहे हैं।" इस खण्ड में धुएँ और अँधेरे के इस दुहरे बिम्ब-मिथुन की कितनी ही तहें लेखक ने जमायी हैं। "दादी रुक-रुककर खाँसती है और अँधेरे के सीने में जैसे कई अदृश्य कीलें ठुक जाती हैं।" चाचा रघुपत की सिगरेट का जलता हुआ सिरा अँधेरे के किसी बिन्दु पर जड़े हुए लाल नगीने की तरह चमकता है। "जब वह कश लगाते हैं तो साँप के सित्कारने की-सी आवाज़ पैदा होती है और वह लाल नगीना दमक उठता है।" अँधेरे में धँसती हुई अदृश्य कील और रोटी रोटी रोटी। मानो कोई "उस कील पर हल्की-हल्की चोटें मार रहा हो। क्रमशः वे चोटें मज़बूत होती जाती हैं। अँधेरा तिलमिला उठता है, और धुआँ मानो उस तिलमिलाहट को देखकर मैदान में उतर आया हो।" बीरू आँखें बन्द कर लेता है पर आँखों की जलन कम नहीं होती। "धुएँ का पानी मानो ऐसी गीली आग हो, जिससे न आँखें धुलती हैं, न हृदय की बेकली दूरी होती है।" ऐसा वातावरण है कि "कुछ आवाज़ें अँधेरे में सफ़ेद-सफ़ेद खम्भों की भाँति उग आती हैं।" कुछ देर बाद बीरू पूरे ज़ोर से चिल्लाने लगता है : "पानी, पानी, पानी। मानो अँधेरे से विद्रोह कर रहा हो, धुएँ को परे हटा रहा हो।" इस अँधेरे से कोई निस्तार नहीं, कोई छुटकारा नहीं। क्योंकि बहुत देर बाद जब दरवाज़ा खुलता भी है तो उससे प्रकाश नहीं, "हवा के झोंके के साथ घिन की एक लहर उमड़ आती है। अँधेरा नाक सिकोड़ लेता है, धुँए के माथे पर बल पड़ जाते हैं।" दहलीज़ पर बाबा खड़े झूम रहे हैं। धीरे-धीरे सारी ज़िन्दगी अँधेरे धुएँ और ख़ामोशी के साथ एकाकार हो गयी है और जो कुछ बचा है वह शायद और भी घिनौना है इसमें किसी संगति के लिए, विवेक के लिए, सन्तुलन के लिए, कहीं कोई स्थान नहीं । यह क्या स्वस्थ इन्सानों की दुनिया है या इसमें केवल विकलांग या विकल मन ही बसते हैं ? बीरू को भी यही लगता है। "यह घर है या पागलख़ाना ? उसे लगता है, जैसे यह वाक्य स्वयं उसी ने कहा हो।" पाँचवाँ अनुच्छेद यहीं समाप्त होता है।

अगले खण्ड में दादी और चाचा चले जाते हैं। बीरू देवी की गोद में सोया रहता है। चौथे-पाँचवें अनुच्छेदों की भावात्मक गति और लय की जटिलता, तीव्रता, आवर्तपरकता के बाद सब कुछ धीमापन है। सातवें अनुच्छेद में इस भाव-मन्थरता का एक और स्तर है। यहाँ लय धीमी है पर वक्र है, लहरदार; चौथाई वृत्त-सा बनाकर चलती है। यहाँ बीरू और माँ के बीच एक नया सम्बन्ध स्थापित होता है, जो बनता है, टूटता है, बनता है, टूटता है। "माँ हर समय ऐसी ही बातें करती

रहे, तो वह माँ से इतना प्यार करे, इतना प्यार करे कि माँ खुश हो जाये।" इस समय माँ के साथ उसके सम्बन्ध में एक विचित्र प्रकार का दुहरापन है, द्विधा है। घृणा और प्यार के सम्मिश्रण का बड़ा मूलभूत आयाम यहाँ प्रस्तुत है। साथ ही बीरू और माँ के व्यक्तित्वों को एक साथ ही उनकी अपनी-अपनी अलग-अलग दृष्टियों से समानान्तर प्रस्तुत करने के लिए लेखक ने एक बड़ी दिलचस्प युक्ति का सहारा लिया है। माँ के अपने व्यक्तित्वों का बड़ा मूलभूत आयाम यहाँ प्रस्तुत है। साथ ही बीरू और माँ के व्यक्तित्वों को एक साथ ही उनकी अपनी-अपनी अलग-अलग दृष्टियों से समानान्तर प्रस्तुत करने के लिए लेखक ने एक बड़ी दिलचस्प युक्ति का सहारा लिया है। माँ उसे झींक-झींककर अपनी दुखभरी कहानी सुना रही है जो स्वयं माँ के अपने व्यक्तित्व की पृष्ठभूमि का उद्घाटन करती है। पर बीरू की दृष्टि से माँ की यह राम-कहानी ख़त्म हो जाये तो अच्छा है। "माँ, मुझे कोई ऐसी कहानी सुनाओ कि नींद आ जाये। कोई बहुत अच्छी-सी कहानी।" और वह माँ की गोद में सिमटता हुआ छोटा-सा बन जाता है। पर माँ अपने ही झींकने में मगन है। वह बीरू की बात ही नहीं सुनती। पर बीरू ही कहाँ उसकी बात सुनता है ? वह माँ की ओर से अपने-आप एक कहानी बुनने लगता है। "क्यों नहीं माँ ऐसी कहानी सुनाती, जिसमें एक राजा हो, जिसकी सात रानियाँ हों " उधर माँ कहती : "हर वक़्त मेरा अंग दुखता रहता। अपनी माँ की शह से वह और भी शेर हो जाते। मैंने मुँह खोला नहीं कि दोनों माँ-बेटा मुझ पर पिल पड़ते।" इधर बीरू भी अपनी कहानी आगे बढ़ाता : "राजा सबसे छोटी रानी को सबसे ज़्यादा प्यार करता हो। छोटी रानी का नाम फूलरानी हो।" और दोनों सूत्र इसी प्रकार समानान्तर चलते जाते हैं। लय का यह एक नया ही बुनाव है, बिल्कुल काल्पनिका-जैसा (फ़ैंटेसी) जो दो-भाव स्तरों के, अनुभूति स्तरों के, व्यक्तित्व स्तरों के, कई सम्बन्धों को नयी तीव्रता में उद्घाटित करता है।

आठवें अनुच्छेद में फिर लेखक एक बाह्य तत्त्व का समावेश करता है। बीरू के लिए एक नया अनुभव जुड़ता है, छोटे भाई के जन्म और उससे उत्पन्न माँ की शारीरिक और मानसिक स्थिति को लेकर। पर अन्त होते-होते इस खण्ड का बल उसकी बहन देवी और माँ के बीच तनाव के उभार पर चला जाता है। यह अभी दूरस्थ नये चरमबिन्दु और उसके विस्फोट की तैयारी है, यद्यपि तीव्रता यहाँ भी कम नहीं है। कुल मिलाकर भावगति की लय बहुत बढ़ी हुई है।

नवाँ अनुच्छेद नाटकीय गति, भाव-संघात और उसकी तीव्रता का अनुपम उदाहरण है। वीरू बाबा के पीछे-पीछे उनके जुए के अड्डे पर चला जाता है। उस स्थान के वातावरण में, वहाँ बैठे हुए व्यक्तियों की चाल-ढाल, बात-चीत आदि में एक दम भिन्न लगते हैं। अन्त में उसको खोजते-खोजते माँ भी वहाँ पहुँचती है। बाबा

को अब लौटना पड़ता है, पर लौटते वक़्त वह शराब के नशे में चूर नाली में गिर पड़ते हैं, और उन्हें उठाने जाकर बीरू को गन्दी गाली सुननी पड़ती है, जो उसके लिए और भी नया अनुभव है। बीरू के भाव-सूत्र में यह एक नया मोड़ है, किन्तु अनुच्छेद का अन्त फिर देवी और माँ के बीच झड़प से होता है। देवी क्रमशः दृष्टिकेन्द्र में आती जा रही है। स्थिति में एक भिन्न प्रकार का आवर्त धीरे-धीरे तीव्रतर होता जा रहा है।

अगले अनुच्छेद में लम्बे दाँतों वाली जलालपुरनी फिर दिखायी पड़ती है। उसके और माँ के बीच समानान्तर संवादों की युक्ति के द्वारा बड़ी तीखी मानवीय कुरूपता और क्षुद्रता की व्यंजना की गयी है। इस संवाद में सचेप्ट और कलात्मक रीतिबद्धता है जिसके द्वारा बड़ी चतुराई से भाव की गति को आगे बढ़ाने की बजाय उसमें एक ही स्थान पर नये-नये पेच डाले गये हैं। साथ ही जलालपुरनी और माँ के बीच आकस्मिक 'आन्तरिकता' द्वारा इस क्षुद्रता की निरन्तरता को व्यंजित किया गया है। कोई भी स्थिति हो, जलालपुरनी उसमें नये आवर्त पैदा करने के लिए मौजूद है ही। अनुच्छेद का अन्त एक नये बाह्य तत्त्व के समावेश द्वारा, देवी की सहेली पारो और उसके घर से परिचय में होता है। ग्यारहवाँ अनुच्छेद माँ और बावा के बीच एक और झगड़े से आरम्भ होकर अन्त में एक अत्यन्त ही भिन्न मानवीय स्वर का समावेश करता है, असलम के रूप में। असलम स्कूल में शिक्षक के हाथ से वीरू को बचाने के लिए स्वयं मार खाता है और उसे अपना दोस्त बना लेता है। इस ओर अगले दो-तीन खण्डों में एक प्रकार से मानवीय-अमानवीय स्थितियों को बड़ी ख़ूबी से आमने-सामने रखकर उनके परस्पर संघात के द्वन्द्व के कई रूप प्रस्तुत किये गये है। बारहवाँ अनुच्छेद मेंह को बुलाने के लिए गली में नाचते हुए वच्चों से शुरू होकर दादी की मृत्यु के समाचार से समाप्त होता है। यह जैसे उसी मानवीय सुन्दरता के, चाहे जितने फीके सही, दो विभिन्न छोर हैं, और शायद इतने फीके भी नहीं हैं, उतने 'अँधेरे धुएँ और ख़ामोशी' के बीच आनन्द और करुणा की ये किरणें चाहे जितनी पीली लगें, पर वे ही सत्य हैं। इन दोनों बाह्य स्थितियों से बीरू का सम्बन्ध अलग-अलग प्रकार का है, यद्यपि दोनों के ही समक्ष वह आँसू बहाता है, एक के साथ पूरी तरह आत्मसात न होने के कारण और दूसरी के साथ इतना एकाकार होने के कारण। दादी की मृत्यु जैसे उसके व्यक्तित्व की एक केंचुल उतर जाने के समान है। परिवर्तन की इस पीड़ामयी अनुभूति के बाद अब वह अधिक वयस्क है, अधिक समझदार है।

तेरहवें अनुच्छेद में फिर विसदृशता (कंट्रास्ट) के द्वारा एक तनाव और फिर उसके भीतर एक सन्तुलन स्थापित किया गया है। दादी की मृत्यु के कारण बाबा-माँ के चले जाने से बीरू और देवी अब अकेले हैं। एक ओर उसका परिचय पारो

के घर पर उसकी माँ से तथा बहनजी और नरेश से होता है और दूसरी ओर असलम के घर पर उसकी बहन हफ़ीज़ा और उसकी माँ से। इन दोनों समूहों में सदृशता और विसदृशता के बीच बड़ा सूक्ष्म सन्तुलन रखा गया है। दोनों का स्तर अलग-अलग है और बीरू के मन में सर्वथा विपरीत प्रकार की प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करते हैं और इस प्रकार उसके भीतर के जगत को बहुस्तरीय और अधिक जटिल बनाने में सहायक होते हैं। पारो के यहाँ से लौटते वक़्त "उसका जी चाहता है कि वह ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगे या कोई चीज़ उठाकर फ़र्श पर दे मारे।" असलम के यहाँ से लौटते वक़्त "वह उन सबका मुक़ाबला अपने-आप से, अपनी माँ से, अपनी बहन से और अपने घर से करने लगता है। इन दोनों के बीच एक लकीर-सी खींच देता है।" और घर पहुँचते-पहुँचते बीरू को घर की हरेक चीज़ से घिन आने लगती है। मानवीय और अमानवीय के बीच द्वन्द्व के तनाव को अन्त में बच्चों के एक संवादमूलक खेल से व्यक्त किया गया है जो अपनी अयथार्थता और निमर्मता के कारण ही इतना व्यंजनापूर्ण है।

अगले दो अनुच्छेदों में देवी, पारो, बहनजी और नरेश वाला प्रसंग अपनी समस्त कुरूप सम्भावनाओं के संकेत के साथ दुहराया जाता है। देवी को नरेश और बहनजी का पारस्परिक व्यवहार और सम्बन्ध बड़ा संदिग्ध और आशंकापूर्ण लगता है, पर फिर भी वह नरेश के साथ लाहौर भाग जाने की कल्पना में रस पाती है। मुक्ति और मुक्तिहीनता को इस प्रकार एक ही सूत्र से व्यक्त किया गया है। पर इसी बीच माँ लौट आयी है। बीरू धीरे-धीरे माँ की ओर बढ़ता है। सोचता है, शायद नज़दीक आने पर माँ को उस पर प्यार आ जाये। इतने दिनों बाद मिली है। ज़रूर उसे उठाकर चूम लेगी। शायद रोने भी लगे अचानक बीरू को लगता है, जैसे उसके सामने माँ नहीं, माँ का भूत खड़ा हो, लम्बे-लम्बे दाँतों वाला, माथे पर दो-सीगों वाला, उल्टे पाँवों वाला " लम्बे दाँतों वाली जलालपुरनी, 'पूतना' मास्टरनी, माँ—बीरू के प्यार की माँग के सारे कल्पना-चित्र सदा किसी-न-किसी 'भूत' के कारण ध्वस्त होते रहे हैं। अब वह अपने अनुभव का एक दौर पूरा कर रहा है और चरमबिन्दु पर आ पहुँचा है।

बीरू बुख़ार में पड़ा है। उसके चारों ओर की हर वस्तु जैसे अपनी जगह से हट गयी है, सारे मानवीय और कोमल तन्तु छिन्न हो गये हैं। बीरू के बुख़ार की बेहोशी के अनुरूप ही देवी और माँ का संघर्ष भी अपने तीव्रतम बिन्दु पर पहुँचा हुआ है, बाबा जाने कहाँ रह गये हैं और माँ उनसे पूर्णतः निराश हो चुकी है। बड़ी तीव्र और द्रुत गति से बीरू अपनी नियति के समीप झपट रहा है। बुख़ार में वह सोचता है, वह अब किसी को नहीं सुनेगा। "हँसता हुआ ऊपर-ही-ऊपर उठता चला जाएगा और आख़िर बहुत ऊँचे आसमान पर तारा बन जाएगा, जहाँ

से उसे न माँ नज़र आएगी, न बाबा, न देवी, न पारो, न असलम, न हफ़ीज़ा, न स्कूल, न मास्टर, न कुछ...

उसका बुख़ार बहुत तेज हो गया है।''

वह निहायत छोटा-सा बच्चा बीरू कितनी जल्दी कितना अकेला हो गया है, सचाई के एक आयाम के कितने समीप जा पहुँचा है !

अगला अनुच्छेद इस कविता की अन्तिम गति प्रस्तुत करता है। बीरू अभी बीमार पड़ा है; देवी नरेश के विवाह के लिए माँ किसी तरह तैयार नहीं। और न देवी किसी और से विवाह करने को। शायद दोनों में कोई स्थिति ही वरणीय नहीं है। अचानक कथा के सभी सूत्र अपनी चरम परिणति की ओर उन्मुख हो जाते हैं। बाबा लौट आते हैं और माँ-बाबा में झगड़ा अपनी चरम तीव्रता में शुरू हो जाता है। पर इसके पहले लेखक ने बाबा और बीरू के बीच तथा बाबा और देवी के बीच अपेक्षाकृत कोमलतर तारों से करुणा के स्वर झंकृत किये हैं जिससे परवर्ती स्वरारोह अपनी पूरी कटुता में गूँज सके। बाबा को देखते ही माँ अपने कड़े माँगती है और फिर सिर पीट-पीटकर रोने लगती है। बाबा कुछ देर शान्त रहते हैं, फिर खीझकर माँ को इतने बल से मारते हैं कि वह लुढ़कती हुई ड्योढ़ी के दरवाज़े से जा टकराती है। वह बार-बार अपने सिर को छूती है और फिर ख़ून से लथड़े हुए हाथों की ओर देखकर ऊँचा-ऊँचा रोना शुरू कर देती है। जैसे इसके प्रत्युत्तरस्वरूप बाबा कमरे में चले जाते हैं और दरवाज़ा अन्दर से बन्द कर लेते हैं। यह नयी सम्भावनाएँ प्रस्तुत करता है। माँ अब भी चिल्ला रही है। पर उसकी टेक बदल जाती है—''हाय, दरवाज़ा खुलवाओ। कहीं वो अपने-आप को कुछ कर न लें।'' वह लगभग यान्त्रिक पुनरावृत्ति के साथ यही चीख़ती रहती है। लोग जमा हो जाते हैं, दरवाज़ा खटखटाते हैं, आवाज़ें देते हैं। लेकिन बाबा अन्दर से न जवाब देते हैं, न दरवाज़ा खोलते हैं। तभी बीरू को भी न जाने क्या सूझता है कि उठकर रसोईघर में चला जाता है। और वह भी दरवाज़ा अन्दर से बन्द कर लेता है। इसके बाद उधर बाबा के कमरे का दरवाज़ा खोलने या तोड़ने की कोशिश बढ़ती है, और इधर बीरू गले में रस्सी का फन्दा डालकर मरने की कोशिश करता रहता है, यद्यपि शायद वह ठीक-ठीक जानता नहीं कि क्या कर रहा है, और क्यों कर रहा है। जानना ज़रूरी भी क्या है ? नियति सामने जो है। अन्त में ''उधर बाबा के कमरे का दरवाज़ा टूटता है और इधर रसोई में बीरू धड़ाम से नीचे गिर पड़ता है। गिरने से बीरू के गले का फन्दा कुछ ढीला पड़ जाता है और बाहर से आ रहा शोर फिर धीरे-धीरे बीरू के कानों में भनभनाने लगता है।''

इस प्रकार जैसे बीरू एक बार मरकर फिर से जी उठता है, एक नियति को पहुँचकर अगली नियति की प्रतीक्षा में। बाबा के अपने-आपको 'कुछ कर लेने—

की सम्भावना में और बीरू के सचमुच गले में फन्दा डाल लेने में एक ऐसी समानान्तर भावगति है जिसमें स्पष्ट ही विद्रूप, व्यंग्य और करुणा एक साथ रूपायित हैं। एक विलक्षण प्रक्रिया में बीरू जैसे अचानक ही अपने और जीवन के सत्य का साक्षात्कार पा जाता है और बाहर से आनेवाला ज़िन्दगी का शोर उसके कानों में फिर सुनायी पड़ने लगता है। ज़िन्दगी का एक और वृत्त पूरा हो जाता है।

*उसका बचपन* में भाववस्तु की ऐसी एकाग्रता है जो हिन्दी उपन्यास में एकदम नयी है। कथासूत्र का ऐसा उपयोग किया गया है जो दैनन्दिन और मूर्त स्तर पर तथा अमूर्त संकेतात्मक स्तर पर एक साथ ही संचरण करता है। घटनाएँ स्थूल घटनाएँ भी हैं, और साथ ही एक अधिक सूक्ष्म भावस्थिति को भी सूचित करती हैं। पात्र व्यक्ति भी हैं, साथ ही वे परिवेश भी हैं, एक वृहत्तर सत्ता के अवयव जैसे। परिवेश एक मूर्त, इन्द्रियगोचर वातावरण, परिस्थिति भी है, साथ ही समग्र जीवन्त व्यक्तित्व भी। सारी कथा एक निहायत छोटे बच्चे की चेतना के स्तर पर भी है, सीधे-सादे यथार्थवादी वर्णन के साथ सर्वथा काल्पनिक जैसे स्वर में रीतिबद्ध संवाद, गति-विधान, भाव-संयोजन को ऐसे सचेष्ट समानान्तर रूप में प्रस्तुत किया गया है, जो अत्यन्त सघन काव्यात्मक वक्तव्य में ही प्रायः सम्भव हो पाता है। *उसका बचपन* में इस काव्यात्मक वक्तव्य को कई जगह बड़े तीव्र नाटकीय ढंग से, गतिमूलक संरचना में रखा गया है। ऊपर के विश्लेषण में बहुत-से ऐसे स्थलों का निर्देश किया गया है। ऐसा ही एक अन्य स्थल वह है जहाँ एक ओर रघुपत चाचा और दादी है और दूसरी ओर माँ और बाबा। बीरू एक बार अन्दर माँ-बाबा के पास जाता है, और फिर दूसरी बार चाचा-दादी के पास। और यह क्रम कई बार चलता है। लेखक ने इस गति के द्वारा ही, बिना अपनी ओर से कुछ जोड़े, जैसे दो समानान्तर स्थितियों पर अपनी टिप्पणी कर दी है। गतियों का यह प्रयोग बार-बार इस कथा में हुआ है जो उसे विचित्र रूप में नाटकीय भी बनाता है और एक गहरी, प्रायः शब्दों में न बँध सकने वाली, भाव-स्थिति को भी अभिव्यक्त करता है। इसी प्रकार बीरू का ऐसा प्रयोग किया गया है जैसे वह कोई कैमरा हो जो एक बार एक स्थिति का और एक बार दूसरी स्थिति का, कभी पास का (क्लोज़-अप) और कभी दूर का (लौंग शॉट) दृश्य जैसा प्रस्तुत करता जाता हो। इस कारण एक ओर रचना में बच्चे के मन की सरलता और सहजता भी उद्घाटित हुई है; बीरू के शिशु-सुलभ ध्यान के निरन्तर फिसलते हुए केन्द्र को स्थापित किया जा सकता है। दूसरी ओर बड़ी सादगी और तात्कालिक प्रत्यक्षता से यथार्थ की गहराई को देखा जा सका है। *उसका बचपन* की विशिष्ट उपलब्धि है उसकी चित्रमयता। उसमें गतियों के द्वारा, बिम्बों के द्वारा, सूक्ष्म संकेतों और सीधे, संयमित वर्णनों के द्वारा, बाह्य और आन्तरिक स्थितियों को उकेरा गया है, जो एक ही केन्द्रीभूत प्रभाव को समस्त तीव्रता के साथ

अंकित करती जाती हैं।

यह केन्द्रीभूत प्रभाव है गहरी विषण्णता और तीखे अवसाद का, और यदि अधिक आधुनिक शब्दावली में कहें तो, इन्सान की अकेलेपन की नियति का, जीवन की संगतिहीनता और व्यर्थता का। यह भाव चाहे जितना आधुनिक हो, मन को उदास तो करता ही है, कभी-कभी लगता है उसके 'धुएँ, अँधेरे और ख़ामोशी' से जैसे दम घुट रहा हो। इस घटाटोप को हल्का करने वाले तत्त्व उपन्यास में नहीं के बराबर हैं। कहीं कोई सहज स्नेह की किरण, क्रीड़ामग्न बालकों की मुक्त हँसी, किसी किशोर प्रेम की मोहक मुग्धता नहीं दीखती। देवी का प्रेम-प्रसंग भी बड़ा कुण्ठित और एक विचित्र प्रकार की अस्वाभाविकता और तनाव से भरा हुआ है। इस प्रकार वातावरण और रंगों द्वारा नहीं, बल्कि अन्धकार के ही अलग-अलग रूपों से, उसके अलग-अलग भारों और तीव्रताओं से अपना चित्र रचा है। निस्सन्देह काले रंग की विभिन्न मात्राओं और गहनताओं के द्वारा, तथा कभी-कभी उन्हें कुछेक किंचित हलके रंगों के साथ मिश्रित करके, साम्य और विसदृशता का यह संयोजन बड़ी सूक्ष्मता और कलात्मक अन्तर्दृष्टि से किया गया है। किन्तु इसी कारण इस चित्र में उदासी और अवसाद है, जीवन की गहरी विडम्बना या ट्रेजेडी का भाव नहीं उत्पन्न होता। इसमें शक्ति की और उसकी टकराहट की प्रबलता नहीं है, इसीलिए विघटन में भी वेग से टूटने का नहीं, धीरे-धीरे कुतरे जाने का-सा प्रभाव पड़ता है। जीवन के एक अत्यन्त छोटे-से टुकड़े को वड़ी सूक्ष्मता से और तीखेपन से अंकित किया गया है, वह किसी वृहत्तर सत्य को अपने भीतर समेटता और उद्घाटित नहीं करता, आंशिक है, समग्र या सर्वव्यापक नहीं। ऐसा लगता है कि यह कोई विशेष, लेखक का निजी, सीमित-परिचित जीवन-खण्ड है, किसी व्यापक जीवन का एक अंश नहीं। साथ ही लेखक ने जैसे उसे शेष जीवन से विच्छिन्न करके और उस विच्छिन्नता को प्रस्तरीकृत करके देखा है, बाक़ी दुनिया से जैसे उसका सम्बन्ध पूरी तरह और सदा के लिए कटा हुआ है—इतना कि यह भी नहीं लगता कि बाक़ी कोई दुनिया वहीं है भी। अनुभूति और दृष्टि की यह एकान्तता, सीमा और आबद्धता एक साथ ही इस रचना को अत्यधिक प्रामाणिक और अत्यधिक संकुचित बना देती है। कलात्मक दृष्टि से इसमें एकाग्रता और अन्विति तो अधिक है पर मानवीय तत्त्व सीमित, संकीर्ण और वाह्य हो गया है। इस कारण अन्तिम विश्लेषण में सर्जनात्मक उपलब्धि की दृष्टि से भी सार्थकता के बावजूद यह शिखरत्व नहीं प्राप्त करती। फिर भी कुल मिलाकर यह आधुनिक हिन्दी उपन्यास की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

---

नेमिचन्द्र जैन

# भारतीय रंग-दृष्टि की खोज

एक प्रकार से अब हम अपने नाटक और रंगमंच में सार्थकता और सृजनशीलता के इस अन्वेषण के अन्त तक आ पहुँचे हैं। यह सम्भव है, नाटक और प्रदर्शन के रचनात्मक तथा बाह्य तत्त्वों के पिछले विवेचन में यह बात स्पष्ट रूप में उभर आयी हो कि वास्तव में सृजानात्मक विधा के रूप में भारतीय रंगमंच के सामने सबसे बड़ी समस्या आत्म-साक्षात्कार की ही है। हमारा रंगमंचीय अतीत और वर्तमान बड़ा विचित्र और अनोखा विरोधाभास प्रस्तुत करता है। रंग-कार्य की दृष्टि से हमारी स्थिति किसी इतिहासहीन समुदाय की नहीं है। भारत का प्राचीन संस्कृत नाटक और रंगमंच बड़ा समृद्ध था और यह समृद्धि एक लम्बे दौर तक चली जिसमें नाटक और रंगमंच दोनों में ही तरह-तरह के प्रयोग किये गये। साथ ही, उस अनुभव को बड़े विस्तार से और सूक्ष्मता के साथ सिद्धान्त-ग्रन्थों में सँजोया गया, जिसने फिर भी नयी पद्धतियों और व्यवहारों तथा रूढ़ियों को जन्म दिया या पुष्ट किया। संस्कृत नाटक और रंगमंच की यह परम्परा अपने-आप में समृद्ध और बहुमुखी ही नहीं है, आज यह सर्व-स्वीकृत है कि वह अपनी विशिष्टता और मौलिकता तथा एक विशेष प्रकार की सूक्ष्मता में संसार की प्राचीन रंग-परम्पराओं में अनन्य है। उसकी दृष्टि की कलात्मकता और संवेदनशीलता की उपेक्षा नहीं की जा सकती, न उसे निरर्थक कहकर ही उड़ाया जा सकता है।

किन्तु फिर भी यह परम्परा दीर्घ काल तक चलने के बाद टूट गयी, नष्ट-भ्रष्ट हो गयी। आज उसके प्रमाण या स्वरूप के विवरण अथवा उदाहरण या तो सिद्धान्त-ग्रन्थों में उपलब्ध हैं या संस्कृत नाटकों में निहित हैं। उनके व्यवहार की, चाहे जितने परिवर्तित, संशोधित रूप में ही सही, निरन्तरता और अविच्छिन्नता नहीं बनी रह सकी, जिससे आज का रंगकर्मी सीख सके और विद्रोह कर सके, जिसे अपने कार्य में आत्मसात कर सके अथवा अस्वीकार करके उसके समक्षीकण में एक नयी प्रतिमा बना सके। ऐसी स्वीकृति और अस्वीकृति दोनों ही किसी भी सृजन-कार्य को ऐसी अर्थवत्ता और गहराई देती हैं, सम्प्रेषण में एसी सार्विकता और तीव्रता देती हैं, जो अन्य किसी भी उपाय से नहीं मिल सकतीं। निस्सन्देह उस परम्परा के कुछ विखरे हुए, इक्का-दुक्का, मूल, रूपान्तरित अथवा विकृत, तत्त्व देश के कुछ नृत्याभिनयों

में, नृत्य-नाटकों में, नृत्य में अथवा कूडिअट्टम-जैसे मिश्रित नाट्य-प्रकारों में मिल जाते हैं जिन्हें कुछ शोध, अध्ययन और परिश्रम द्वारा अलगाया जा सकता है। पर स्पष्ट ही वह हमारे रंगकार्य के साथ जीवन्त रूप में सम्बद्ध नहीं रहा है, बल्कि प्रायः विस्मृत और विच्छिन्न है। वह परम्परा एक प्रकार से अपनी होकर भी अपनी नहीं है।

संस्कृत रंगमंच का यह विघटन कोई एक हज़ार वर्ष पहले हुआ। अब वह यदि सम्पूर्ण रूप से टूटकर निरा पुरातत्त्व और प्राचीन इतिहास का अंग बन जाता तो भी एक बात थी। पर ऐसा भी नहीं हुआ; वह असंख्य रूपों में देश-भर के विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं के सामुदायिक रंगमंच में बिखर गया, मिल गया, खो गया। संस्कृत रंगमंच के कई रूप, रूढ़ियाँ और व्यवहार लोक में प्रचलित नाट्य-कार्य-कलाप से आये थे; उनमें विकसित होकर प्रमुख हो उठे, कुछेक शायद लुप्त हो गये। और फिर, अगले हज़ार वर्ष तक विभिन्न प्रदेशों में रंगमंच के वे रूप प्रचलित रहे जिनके समुच्चय को सम्भवतः हम मध्यकालीन नाट्य-परम्परा कह सकते हैं। यह परम्परा स्थानीय और प्रादेशिक थी; उसमें लिखित नाटक की प्रायः गौणता और गीत-संगीत तथा नृत्य की प्रधानता थी; निश्चित नियमों के स्थान पर स्वतःस्फूर्त सूझ और उपज पर बल था; संस्कृत रंगमंच के-से कलात्मक आग्रह के बजाय मनोरंजन पर बल था, यद्यपि उसका बाह्य रूप प्रायः धार्मिक तथा भक्ति-प्रधान होता था।

इस प्रकार संस्कृत रंगमंच से थोड़ी या बहुत प्रभावित और सम्बद्ध होकर भी कालान्तर में यह एक स्वतंत्र नाट्य-परम्परा बन गयी जो हमारे देश की पूर्व और उत्तर-मध्यकालीन जीवन-पद्धतियों से जुड़ी हुई थी। फलस्वरूप, हमारे तत्कालीन जीवन की जड़ता के अनुरूप ही उसमें भी जड़ता आती गयी, रुचि-परिष्कार का अभाव होता गया; और एक प्रकार की विकृति तथा ग्राम्यता बढ़ती रही, यद्यपि जीवन से सम्बद्ध होने के कारण ही उसमें एक प्रकार की जीवन्तता, प्राणवत्ता भी थी। यह रंग-परम्परा मुख्यतः ग्रामीण अंचलों, अधिक-से-अधिक छोटे शहरों, में ही सक्रिय थी। किन्तु पिछले सौ-डेढ़ सौ वर्ष में हमारे सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और मानसिक जीवन में व्यापक परिवर्तनों के फलस्वरूप, बड़े-बड़े नगरों के विकास तथा वहाँ शिक्षा के प्रसार के कारण, यह रंग-परम्परा भी हमसे छूट गयी; वह विकृत ही नहीं, निरन्तर उपेक्षित होते-होते प्रायः विस्मृत होती गयी और शहरी रंगकर्मी का उससे बहुत ही कम परिचय रह गया, शहर के रंगमंच से उसका किसी प्रकार का सम्बन्ध या योग तो रहा ही नहीं।

इस स्थिति का कारण हमारे जीवन में व्यापक परिवर्तनों के अतिरिक्त एक और भी था। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य के आस-पास हमारे देश में पश्चिम से

एक सर्वथा विदेशी, भिन्न प्रकार की नाट्य-परम्परा का सन्निवेश हुआ, जो क्रमशः हमारी शिक्षा-दीक्षा के फलस्वरूप, तथा अन्य नानाविध कारणों से, हमारे ऊपर आरोपित हो गयी और क्रमशः हमारे समस्त शहरी रंग-जीवन को उसी ने घेर लिया। इसने नाटक के सम्बन्ध में हमारे दृष्टिकोण में मौलिक परिवर्तन किये। जिस समय देश में इसका प्रारम्भ हुआ था, संस्कृत नाट्य-परम्परा सर्वथा विस्मृत थी। और, मध्यकालीन लोक नाट्य-परम्परा ठहरी हुई और तिरस्कृत अवस्था में थी। फलस्वरूप, पश्चिमी रंगमंच ने हमें पूरी तरह अभिभूत कर लिया। अवश्य ही हमारे नाटक-लेखन और प्रदर्शन में पश्चिमी व्यवहारों और विचारों के समावेश के विभिन्न चरण हैं, पर क्रमशः उसने हमारे शहरी रंग-कार्य में एकाधिकार प्राप्त कर लिया, इसमें कोई सन्देह नहीं।

दुर्भाग्यवश, उन्नीसवीं शताव्दी के मध्य में पश्चिम में अंग्रेज़ उपनिवेशवादियों के माध्यम से यह जो रंगमंच हमारे देश में आया, वह भी पश्चिम का तत्कालीन यथार्थवादी, विद्रोही, तीव्र सामाजिक चेतना, जागृति और आलोचना का रंगमंच नहीं, बल्कि अत्यन्त पिछड़ा हुआ, अलंकरण-प्रधान अथवा विक्टोरियन पाखण्डपूर्ण आचार-व्यवहार का रंगमंच था, जिसमें दिखावे का, बनावटीपन और अतिरंजना का, बोलबाला था। वह मूलतः ह्रासोन्मुख रंगमंच था जिसे अंग्रेज़ों ने इस देश पर जाने-अनजाने थोप दिया। उसने हमारे देश की अपनी संगीत-नृत्य तथा कल्पना-प्रधान पौराणिक लोक नाट्य-परम्परा के साथ गड्डमड्ड होकर एक वड़ा विचित्र-सा रूप ले लिया, जो पारसी रंगमंच में, और उसी-जैसे देश के अन्य भागों के रंगमंचों में, प्रकट हुआ। उसके प्रभाव से देश के प्रायः हर भाषाई क्षेत्र में घुमन्तू और कहीं-कहीं स्थानिक, व्यवसायी मण्डलियाँ बनीं; हर भाषा में पश्चिमी शैली पर नाटक लिखे और खेले गये, अंग्रेज़ी से अनुवाद और रूपान्तर करके खेले गये, अभिनय और प्रदर्शन की पश्चिमी शैलियाँ या उनसे मिलती-जुलती शैलियाँ अपनायी गयीं, रंगशालाएँ बनीं, और इस प्रकार एक नयी, वाहर से आरोपित, नाट्य-परम्परा की शुरुआत इस देश में हुई।

कुछ अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर और स्थानीय नाट्य-प्रेम के आधार पर, बाङ्ला और मराठी में विशेष रूप से, और किसी हद तक गुजराती, कन्नड़ और तमिल में, इस नये रंगमंच ने अधिक उन्मुक्त और समृद्ध विकास पाया। अव एक नयी रंगमंच-शैली इन भाषाओं में रूप लेने लगी जिसमें पश्चिमी पद्धतियों का एक परिवर्तित रूप प्रकट हुआ और जिसका अपना अलग व्यक्तित्व भी किसी हद तक बना। किन्तु स्पष्ट है कि इस विशिष्टता के बावजूद इस रंगमंच की जड़ें हमारे देश में, हमारी सांस्कृतिक दृष्टि और व्यवहार में, न थीं। इसलिए उसका जो भी विकास होता रहा वह बहुत स्वाभाविक और सहज न था; और जहाँ वह आधुनिक रंगमंच को किसी-न-किसी रूप में लोकप्रिय और परिवेश का अनिवार्य अंग वनाता था, वहीं

उसे हमारे मूल जीवन और कला-दृष्टि से दूर भी ले जाता था। दूसरी ओर, वह पश्चिम के अपने रंगमंच में होनेवाले उन क्रान्तिकारी परिवर्तनों से भी कटा हुआ था जो वहाँ के सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश से उद्‌भूत थे, पर हमारे लिए अपरिचित और अप्रासंगिक थे, हमारी अपनी सामाजिक तथा मानसिक स्थितियों से जुड़ न पाते थे। हमारे देश के आधुनिक रंगमंच की इस आरोपित परोपजीवी प्रकार की वृद्धि का हमारी समकालीन रंगमंचीय परिस्थितियों से बड़ा गहरा सम्बन्ध रहा है, जिसे पूरी तरह पहचाने बिना हम अपनी परिस्थिति के ठहरावों को तोड़ नहीं पायेंगे।

हमारे देश में गम्भीर रंगमंच की ओर रुझान क्रमशः उस शौक़िया अव्यवसायी रंगमंच में से हुआ जिसने इसे आजीविका से अधिक अपनी आत्माभिव्यक्ति और आत्मान्वेषण का साधन बनाना प्रारम्भ किया, सामाजिक यथार्थ के उद्‌घाटन और समुदाय के साथ उसकी अनुभूति में सहभागिता का प्रयास किया और जहाँ देश के विभिन्न भागों में व्यवसायोन्मुख अथवा मनोरंजनोन्मुख रंगमंच मौजूद परिस्थितियों से संतुष्ट रहा, या उनके उन्हीं दिशाओं में अधिकाधिक विकास की सम्भावनाएँ देख सका, वहीं गम्भीर सृजनशील रंगकर्मी के सामने भारतीय रंग-दृष्टि की खोज और पहचान का प्रश्न, और इसलिए अपनी रंगपरम्परा की पहचान का प्रश्न, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन गया और उसके भीतर तीखे आत्म-मन्थन की सृष्टि करता रहा।

इसका प्रधान कारण यह है कि हमारे देश का जागरूक रंगकर्मी एक चौराहे पर खड़ा है। वह अपने रंग-कार्य को अपने और अपने परिवेश के जीवन्त अनुभव का, उसकी समस्त जटिलताओं, उलझावों और विशिष्ट परिणतियों का, माध्यम बनाना चाहता है। अन्य सृजनशील कर्मियों की भाँति उसके मन में व्यक्ति को, और उसके अन्य व्यक्तियों के साथ सम्बन्धों को, अपने विशिष्ट सन्दर्भ में देखने, उनके सही रूप का अन्वेषण करने, और फिर उन्हें अपने कार्य में अभिव्यक्त करने की इच्छा है। पर माध्यम के रूप में रंगमंच एक ओर इतना अधिक सामूहिक है, और दूसरी ओर, समुदाय के भाव-जगत के साथ वर्तमान रंग-दृष्टि का कोई पारम्परिक अथवा गहरा दूरव्यापी सम्बन्ध स्पष्ट नहीं है, जिसको आधार बनाकर वह अपनी नयी रंग-दृष्टि का विकास करे। नवीन कुछ भी करना चाहते हों वह पश्चिमी प्रयोगवादी पद्धतियों और दृष्टियों में ही और भी उलझ जाता है, जो एक प्रकार से उसे अपने निजी परिवेश और उसकी गहरी पृष्ठभूमि से और भी काट देती है। स्तानिलावस्की या ब्रेश्ट, गॉर्डन क्रेग या तैरोव, आर्तो, जैने या आयोनेस्को—सब अपने विद्रोह और अस्वीकृति में भी अपने-अपने परिवेश से जुड़े हुए हैं, और उनकी दृष्टियों की सार्थकता उनकी अपनी परम्परा के एक विशेप-काल-खण्ड में एक विशेप प्रकार से सार्थक या असार्थक हो उठने से उत्पन्न होती है। हमारा रंगकर्मी उनका सिर्फ़ अनुकरण ही करके अधिक-से-अधिक दूसरे दर्जे का ही काम कर सकता है। फ्रांस, जर्मनी

या अमरीका के रंगमंच की विभिन्न नवीनतम पद्धतियों में अपनी रंग-दृष्टि को समोकर वह तात्कालिक चमत्कार या सफलता भले ही प्राप्त कर ले, पर उससे उसे अपने रंगमंच को अपने समुदाय की चेतना और सांस्कृतिक दृष्टि तथा अवचेतन भावधाराओं से जोड़ने में सफलता नहीं मिलेगी, और हमारी अपनी सांस्कृतिक-सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के साथ आत्यन्तिक रूप से समंजित न होने के कारण उसमें वह शक्ति तथा अनिवार्यता न आ सकेगी जो समर्थ कलासृष्टि में अपेक्षित है।

इस परिस्थिति का एक प्रायः हास्यास्पद रूप यह है कि बहुत बार हमारे रंगकर्मी को पश्चिम से प्राप्त नवीनतम व्यवहारों में अपने ही देश के प्राचीन अथवा मध्ययुगीन रंगमंच की पद्धतियाँ, रूढ़ियाँ तथा अभिप्राय मिल जाते है, जिन्हें पश्चिमी रंगकर्मियों ने अपनी नवीनता और कलात्मक सार्थकता की खोज में प्राच्य रंगमंचीय परम्पराओं से प्राप्त किया था। इस कारण भी भारतीय सृजनशील रंगकर्मी के लिए यह सर्वथा आवश्यक हो गया है कि अपनी नयी रंगदृष्टि के विकास के लिए वह अपनी प्राचीन तथा मध्ययुगीन परम्पराओं के सूत्रों को अधिक गहराई से खोजे और आज के जीवन से साक्षात्कार के सन्दर्भ में उनकी कलात्मक सार्थकता और प्रासंगिकता का सावधानी से परीक्षण करे।

यह बात सृजनशील रंगकर्मी को समझनी होगी कि परम्परा की पहचान के अभाव में सार्थक और जीवन से संश्लिष्ट कलासृष्टि की समस्याएँ रंगमंच में तीव्रतम हैं, क्योंकि रंगमंच एकाधिक स्तरों पर सामुदायिक विधा है, जिसमें सम्प्रेषण समुदाय द्वारा स्वीकृत रूढ़ियों ओर अभिव्यक्ति के सामुदायिक अनुभव से सम्बद्ध होने से जुड़ा हुआ है। कलात्मक अद्वितीयता तथा विशिष्टता की खोज रंगमंच में सामुदायिक जीवन की भंगिमाओं और अन्तर्भूत प्रेरक प्रवृत्तियों तथा उनके पारम्परिक सामुदायिक अभिव्यक्ति-रूपों के सम्बन्ध की और भी गहरी तलाश द्वारा सम्भव होगी। अन्य कला-रूपों से इस बात में रंगमंच भिन्न भी है और उसका कार्य अधिक कठिन भी। इसलिए नयी सृजनशील रंग-दृष्टि का विकास विभिन्न परम्परा-सूत्रों को जोड़कर उनके नये परिप्रेक्ष्य में सन्तुलन और समन्वय द्वारा ही, सम्भव हो सकेगा। यथार्थवादी निर्जीवता को छोड़कर सृजनशील रंगमंच की रचना के लिए कौन-से तत्त्व सहायक हो सकते हैं, और वे कहाँ से कैसे रंगकर्मी को प्राप्त हो सकते हैं, और भारतीय सामुदायिक जीवन में वे किसी सीमा तक अपनी सम्प्रेषणीयता बनाये रख सकेंगे—इन प्रश्नों का कोई बँधा-बँधाया उत्तर नहीं हो सकता। वह हर सृजनाशील कर्मी को स्वयं परम्परा से जीवित सम्बन्ध स्थापित करके ही खोजना और पाना पड़ता है। किन्तु आज के रंगकर्मी के सामने हमारी रंगमंचीय परम्परा के तीनों स्तर—संस्कृत नाट्य, लोकनाट्य और पश्चिमी रंगमंच—एक नये सम्बन्ध और समक्षीकरण में उपस्थित हैं। उनका बेझिझक सामना करके और आज के जीवन के साथ उन्हें

सार्थक रूप में सम्बद्ध करके ही, वह अपने रंग-कार्य की मूलभूत समस्याओं को सुलझा सकेगा। इन तीनों में से किसी के भी निषेध अथवा अस्वीकार द्वारा, या उनके यान्त्रिक शैक्षिक अथवा फ़ैशनेबल स्वीकार द्वारा, वह अपने क्षेत्र या भाषा में कोई ऐसा रंगमंच विकसित नहीं कर सकता जो मूल्यवान, सार्थक और जीवन्त अनुभव को मूर्त करने के साथ-साथ किसी कलात्मक-सृजनात्मक उपलब्धि का भी साधन बन सके, और इस प्रकार समुदाय के सांस्कृतिक जीवन को अधिक संवेदनशील और समृद्ध बनाने में योग दे सके। परम्परा के प्रश्न से निर्भीक साक्षात्कार आज के हमारे रंगमंच का एक अत्यन्त ही मूलभूत और अनिवार्य प्रश्न है जिसका समाधान खोजकर ही हम वह रंग-दृष्टि पा सकेंगे जिसे हम अपनी कह सकें, जिसमें हमारी अपनी पहचान हो, हमारा अपना व्यक्तित्व अपनी पूरी सृजनशीलता मे वर्तमान हो।

---

**विजयदेव नारायण साही**

# कबि कै बोल खरग हिरवानी

यह कहना कि *पद्मावत* सूफ़ी ग्रन्थ है, एक बात है। यह कहना कि *पद्मावत* में सूफ़ी मत या सूफ़ी मतों के तत्त्व हैं और ये तत्त्व कथा के प्रधान अंश हैं, दूसरी बात है। यह कहना कि *पद्मावत* में सूफ़ी तत्त्व हैं, लेकिन वे कथा के प्रधान अंश नहीं हैं, तीसरी बात है। *पद्मावत* के बारे में अधिकांश आलोचकों और विद्वानों की राय पहले प्रकार की है। यह राय इतनी बार दुहराई गयी है कि लगभग उसी तरह स्वयंसिद्ध मान ली गयी है जिस तरह यह धारणा कि जायसी स्वयं एक सूफ़ी सिद्ध थे। इस राय के प्रमुख आरम्भकर्त्ता ग्रियर्सन थे और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी कुल मिलाकर इस राय पर मुहर लगाई, यद्यपि शुक्लजी की जायसी-सम्बन्धी प्रसिद्ध 'भूमिका' में उनकी आलोचक-दृष्टि नागमती के विरह-वर्णन में ही रमी है जिसका कोई सीधा सम्बन्ध तसव्वुफ़ से नहीं बनता। पुराने लोगों में तीसरी राय के, कि पद्मावत के सूफ़ी तत्त्वों को प्रधानता नहीं देनी चाहिए, पद्मावत के परवर्ती अनुवादकर्त्ता श्री शिरेफ़ हैं। लेकिन श्री शिरेफ़ की राय को हिन्दी आलोचना और शोध में कोई महत्त्व नहीं दिया गया।

अन्ततः जायसी के सिद्ध काव्य-ग्रन्थ का स्वरूप-निरूपण ग्रन्थ की व्याख्या का प्रश्न है। व्याख्या के लिए *पद्मावत* के विश्लेषण से पहले मैं अपने निष्कर्ष का उल्लेख कर देना चाहूँगा। *पद्मावत* का बारम्बार पाठ करने के उपरान्त मेरी धारणा तीसरी राय के आसपास परिपुष्ट होती गयी है। बल्कि, मैं कुछ और नीचे उतरकर कहना चाहूँगा कि जायसी ने अपनी संवेदना को सर्जनात्मक रूप प्रदान करने के लिए उस युग में परम्परा अथवा रूढ़ि, लोकमानस अथवा काव्यशास्त्र, दर्शन अथवा योग, संस्कृत अथवा फ़ारसी के बहुत सारे उपलब्ध उपादानों का उपयोग किया है। इन विविध और कभी-कभी असंगत उपादानों को उन्होंने अपनी जिस भावनात्मक भट्ठी में गलाकर एक किया है, वह उनकी निजी सम्पत्ति है। इन तमाम उपादानों में अन्य मुहावरों की तरह तसव्वुफ़ का मुहावरा भी आ गया है। लेकिन तसव्वुफ़ का यह प्रयोग केवल विशिष्ट सन्दर्भ में भावना को गहराई देने के लिए उसी तरह हुआ है जिस तरह उक्ति की अन्य विशिष्टताओं का। इस प्रकार तसव्वुफ़ पद्मावत

का एक तत्त्व भी नहीं ठहरता, केवल उपलब्ध काव्यात्मक मुहावरे का एक प्रयोग ही है।

परन्तु जायसी के व्यक्तित्व और उनकी कृति *पद्मावत* के चारों ओर सूफ़ीवाद का इतना मलबा इकट्ठा हो गया है कि कवि और उसकी कविता का साक्षात्कार करने के लिए सूफ़ीवाद की इस लगभग बद्धमूल धारणा की कुछ विस्तार से उधेड़-बुन करना ज़रूरी है। आशा करता हूँ कि जायसी के कवि-व्यक्तित्व की खोज के दौरान हमने इस मलबे को हटाने में कुछ सफलता प्राप्त की।

इस सफ़ाई की ज़रूरत इस कारण से भी है कि कवि-रूप में जायसी दुहरी उपेक्षा के शिकार हुए हैं। मध्ययुग में जब सूफ़ी या बाबा होने की कीर्ति उनके काव्य के प्रति आकर्षण पैदा कर सकती थी, वे उपेक्षित हुए, क्योंकि किसी सूफ़ी सम्प्रदाय में उन्हें पूर्णतः पचा लेने की शक्ति नहीं थी। हमने देखा कि उनका ज़िक्र कोई नहीं करता और बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब सूफ़ी होने की कीर्ति कवि के दक़ियानूस और अपरिचित होने के ख़तरे से जुड़ गयी है, उनके चारों ओर तसव्वुफ़ का लबादा घेर दिया गया। अतः अधिकांश वर्तमान लेखकों, विचारकों और आलोचकों के लिए जायसी अप्रासंगिक हो गये हैं।

मैंने आरम्भ में कहा है कि सूफ़ीवादी धारणा की शुरुआत ग्रियर्सन ने की। इस वक्तव्य को थोड़ा संशोधित करके और पीछे ले जाना होगा। सूफ़ीवाद के चौखटे में *पद्मावत* को कसने का प्रयास करने वाला शायद पहला आदमी वह नामालूम व्यक्ति था जिसने पद्मावत में वह प्रसिद्ध क्षेपक जोड़ा जिसके अनुसार चित्तौड़ तन है, राजा मन है, नागमती दुनिया-धन्धा है, आदि-आदि। इस क्षेपक के अनुसार *पद्मावत* की पूरी कथा एक रूपक या बड़े पैमाने पर अन्योक्ति हो गयी और यह क्षेपक उस रूपक की कुंजी। इस क्षेपक को प्रामाणिक पाठ मानने की विवशता ग्रियर्सन और शुक्लजी, दोनों के सामने थी। उनके दृष्टि-भ्रम में इस क्षेपक की बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी थी। एक तरफ़ वे यह भी देखते थे कि कुंजी पूरी तरह कथा में बैठती नहीं थी, दूसरी ओर वे इस कुंजी-क्षेपक को अनदेखा भी नहीं कर सकते थे।

लोग प्रसिद्ध ग्रन्थों में क्षेपक क्यों डालते हैं ? तीन कारण तो प्रत्यक्ष ही दिखते हैं। एक, प्रसिद्ध कृति को अपने या अपने सम्प्रदाय के योग्य बनाने के लिए। दो, अपने किसी आनुषंगिक मत को स्वीकृत या प्रचारित करवाने के लिए। तीन, कृति में कोई अपूर्णता लक्षित करके उसे पूर्णता देने के लिए। क्षेपक का उल्टा होगा—प्रतियाँ बनाते समय जान-बूझकर कुछ अंशों को निकाल देना। इस प्रक्रिया में भी यही मनोवृत्तियाँ अलग-अलग या साथ-साथ काम कर सकती हैं। क्षेपककार इस तरह, ऐसे युग में जब विधिवत् आलोचना का रिवाज न हो, व्याख्याकार अतः आलोचक का काम परोक्षतः करता है। सामान्यतः हम क्षेपककार के नाम और

उद्देश्य से परिचित नहीं होते। परन्तु मौलाना दाऊद के 'चन्दायन' के सम्बन्ध में एक क्षेपककार की स्वीकृति उपलब्ध है जिससे हम इस मनःस्थिति का कुछ अनुमान कर सकते हैं।

*'चन्दायन'* का फ़ारसी अनुवाद अब्दुल कुद्दूस गंगोही नाम के एक सूफ़ी ने किया। इस सम्बन्ध में 'लतायफ़े-कुद्दूसी' नामक ग्रन्थ का हवाला देते हुए डॉ. विश्वनाथ प्रसाद ने अपने सम्पादित ग्रन्थ की भूमिका में निम्नलिखित उद्धरण दिया है :

"हज़रत कुतबी अब्दुल कुद्दूस गंगोही दर इब्तिदाये हाल खास्तन्द कि नुस्ख़ये चन्दायन हिंदवी रा ब फ़ारसी कुनन्द। बाद अज़ बयाने तौहीद व नात खास्तन्द कि द मेराज चीज़े बनवीसन्द। दर चन्दायन मेराज न बूद।"

—अब्दुल कुद्दूस गंगोही ने अपनी साधना की प्रारम्भिक अवस्था में चाहा कि हिन्दी 'चन्दायन' की किताब का फ़ारसी में अनुवाद कर लें। तौहीद (ईश्वर के एकपन का बखान) और नात (मुहम्मद साहब की स्तुति) के बयान के बाद मेराज (मुहम्मद साहब की सिद्धावस्था) के बारे में भी कुछ लिखें। 'चन्दायन' में मेराज नहीं था।

बेशक यहाँ क्षेपक मूल ग्रन्थ में न होकर अनुवाद में डाला गया है। परन्तु साम्प्रदायिक विश्वास की दृष्टि से ग्रन्थ को पूर्ण और उपयोगी बनाने का उद्देश्य स्पष्ट है।

*पद्मावत* में प्रसिद्ध कुंजी-क्षेपक द्वारा कथा पर एक सम्प्रदाय के आध्यात्मिक सिद्धान्तों के रूपक का आरोपण इसी तरह का एक प्रयास है। डॉ. माताप्रसाद गुप्त के अनुसार, इस क्षेपक का सबसे पहला आलेख उन्हें 1007 हि. की प्रति में मिला जो जायसी के डेढ़ सौ साल से अधिक बाद की प्रति है। जिसने भी यह क्षेपक डाला हो, उसकी दो इच्छाएँ स्पष्ट हैं। पहले तो उसे यह लगा होगा कि ग्रन्थ को सूफ़ी आध्यात्मिक व्याख्या में ढाला जा सकता है। दूसरे, इस व्याख्या में उसे कठिनाई महसूस हुई होगी, क्योंकि सीधे-सीधे समूचे *पद्मावत* की सूफ़ी व्याख्या करना असम्भव है। इस कठिनाई का निदान करने की इच्छा से उसने कुंजी-क्षेपक को डालकर कहानी को रूपक में बदलने की कोशिश की। इस प्रकार हम देखते हैं कि *पद्मावत* को सूफ़ी मतवाद का ग्रन्थ बनाने का प्रयास अठारहवीं शताब्दी ईसवी के अन्त में शुरू हुआ और सम्भवतः उसी के आसपास जायसी के बारे में बाबागिरी की किंवदन्तियाँ भी शुरू हुईं।

इस प्रसंग में एक और रोचक तथ्य भी उल्लेखनीय है। शाहजहाँ के काल में बज़्मी नाम के फ़ारसी शायर ने *पद्मावत* का फ़ारसी अनुवाद किया। बज़्मी साहब सूफ़ी थे। मुझे उनके फ़ारसी अनुवाद की विधिवत् तुलना मूल ग्रन्थ से करने का

अवसर नहीं मिल पाया है, परन्तु डॉ. भगवतीप्रसाद सिंह ने गोरखपुर विश्वविद्यालय की जायसी-सम्बन्धी एक परिगोष्ठी में यह सूचना दी कि बज़्मी के अनुवाद में नागमती का विरह-वर्णन नदारद है और शायद इसका कारण यही है कि वह अंश सूफ़ीवाद के दार्शनिक ढाँचे में ठीक-ठीक बैठ नहीं पाता। बज़्मी के अनुवाद के कुछ अंश जो मैंने देखे, तो यह भी पाया कि उसमें अलाउद्दीन का चरित्र मूल *पद्मावत* से अधिक उज्ज्वल और प्रशंसित बनाकर प्रस्तुत किया गया है। अनुवाद में स्थान-स्थान पर अलाउद्दीन के लिए कुछ स्तुतिपरक विशेषण जोड़ देने से यह काम बहुत आसानी से हो जाता है। इस तरह बज़्मी के अनुवाद में कहीं-कहीं परिवर्तन करके *पद्मावत* की दार्शनिक और ऐतिहासिक दृष्टि को अपने सम्प्रदाय के लिए उपयोगी बनाने का प्रयास किया गया है।

ग्रियर्सन और शुक्लजी के सामने सूफ़ी या असूफ़ी अखाड़ों में पद्मावत के मतवादी उपयोग का चलन, जायसी के बारे में बढ़ती हुई किंवदंतियाँ और सबसे बढ़कर वह कुंजी-क्षेपक था जिसे उन्होंने जायसी का लिखा हुआ ही माना। बेशक शुक्लजी ने इतना तो देखा ही कि जो कुंजी दी गयी थी, उससे *पद्मावत* की सटीक सूफ़ी व्याख्या करना कठिन था। कथा में रूपक का सन्तोषप्रद निर्वाह नहीं मिलता। उन्होंने ज़ोर देकर कहा कि *पद्मावत* के आध्यात्मिक अर्थ का स्वरूप अन्योक्ति का नहीं, समासोक्ति का है। लेकिन कुंजी-क्षेपक को प्रामाणिक मानने के कारण, वे उसे अनदेखा भी नहीं कर सकते थे। *पद्मावत* के बारे में शुक्लजी की दृष्टि इसी असमंजस का परिणाम दिखती है। एक ओर तो उन्होंने *पद्मावत* का प्रमुख स्वरूप सूफ़ी ग्रन्थ का ही माना, दूसरी तरफ़ उन्होंने अपनी काव्य-प्रशंसक दृष्टि नागमती के विरह-वर्णन पर केन्द्रित कर दी जिसकी वेदना की मार्मिक तरलता उनके लिए अधिक महत्त्वपूर्ण थी, सूफ़ी मतवाद में उसकी कोई दार्शनिक व्याख्या बने या न बने। शुक्लजी के बाद श्री परशुराम चतुर्वेदी ने इस असमंजस को भी छोड़ दिया। उन्होंने *पद्मावत* को असफल कृति इस आधार पर घोषित किया कि उसमें रूपक का सम्यक् निर्वाह नहीं हो सका है। अगर हम *पद्मावत* को सूफ़ी ग्रन्थ मानते हैं तो चतुर्वेदीजी के निष्कर्ष को तर्कशः खण्डित नहीं कर सकते। अगर सूफ़ीवाद पूरी कथा में अनुस्यूत नहीं है तो मानना होगा कि जायसी लिखने कुछ चले थे, बहाव में आकर लिख कुछ और गये। इस प्रकार कृति की केन्द्रित एकता उनके हाथ से जाती रही।

डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने कुंजी-क्षेपक को प्रक्षिप्त सिद्ध करने के उपरान्त अपने परिशोधित पाठ की भूमिका में ठीक ही लिखा है : "इस छन्द को प्रामाणिक मान लेने के कारण जायसी के रूपक-निर्वाह के विषय में शुक्लजी ने और उनके पीछे के जायसी के समस्त आलोचकों ने कितना बड़ा वितण्डावाद खड़ा किया है।" लेकिन

डॉ. गुप्त ने एक क़दम और आगे बढ़कर यह प्रश्न नहीं पूछा कि यदि रूपक, कथित अथवा अकथित, धराशायी हो जाता है तो पद्मावत को सूफ़ी मत का ग्रन्थ मानने का क्या औचित्य रह जाता है ?

लेकिन, सूफ़ीवाद से जायसी को अलग करके समझने के लिए कुछ और गहरे जाने की आवश्यकता है। रूपक-सिद्धान्त के धराशायी हो जाने के बावजूद यह कहा जाता है कि प्रेम की पीर, विरह की तड़प और पद्मावती को विश्वव्यापक ज्योति के रूप में इंगित करना आदि *पद्मावत* के ऐसे तत्त्व हैं जो तसव्वुफ़ से जायसी का सम्बन्ध निर्विवाद रूप से स्थापित करते हैं। यह विवेचन सूफ़ीवाद को कुछ आन्तरिक सिद्धान्तों तक सीमित कर देता है। लेकिन हिन्दुस्तान में सूफ़ी आन्दोलन सिर्फ़ सिद्धान्त-चर्चा या व्यक्तिगत साधना अथवा सिद्धि की अवस्था ही नहीं था। सूफ़ी आन्दोलन के पीछे संगठन थे, सिलसिले थे, उस समय के राजनैतिक-सांस्कृतिक-सामाजिक संघर्षों में इन साधुओं और संगठनों की भूमिका थी—और यह अलग-अलग सूफ़ियों ने अलग-अलग तरह से निभाई। कुल मिलाकर ये सूफ़ी-संगठन सुल्तानों और बादशाहों की नीतियों के अन्तर्गत ही काम करते थे।

यहाँ भारत में सूफ़ी-आन्दोलन के विस्तृत विवेचन का अवसर नहीं है। अतः सूफ़ियों की भूमिका के विषय में मैं कुँवर मुहम्मद अशरफ़ के कथन को उद्धृत करके सन्तोष करूँगा :

"सामान्यतः सूफ़ी लोग अपने विवेचन में इतने रूढ़िवादी हैं कि साधारण जन की ज़िन्दगी और उनकी आध्यात्मिक ज़रूरतों से वे कटे हुए दिखते हैं। हिन्दुओं और मुसलमानों के निकट सम्बन्धों और परस्पर संघात से मुस्लिम समाज में जो सामाजिक परिवर्तन पैदा हो रहे थे, उन्हें मान्यता देने से वे कतराते हैं। वस्तुतः सूफ़ियों का सम्पर्क जीवन की सामाजिक धाराओं से, अन्य मुस्लिम वर्गों की तुलना में, अधिक आत्मीय था, लेकिन उनके पैर दो नावों पर थे—और ख़तरा उन्हें दोनों तरफ़ से लगता था। वे पूरे पारम्परिक इस्लामी जीवन से असन्तुष्ट थे, लेकिन उनमें हिम्मत नहीं थी कि उलमा की ताक़त को, जो मुसलमानों के नेता थे, चुनौती दे सकें। अतः सूफ़ियों ने इस्लामी आस्थाओं की कट्टर व्याख्याएँ कवच की तरह ओढ़ लीं। इसी तरह वे मुस्लिम उमरा के जीवन और आचार को भी नापसन्द करते थे, लेकिन शासक वर्ग की सत्ता से वे इतने भयभीत थे कि उनका विरोध करके, या ईमानदारी से उनकी आलोचना करके, उनसे टक्कर लेना सूफ़ियों के बूते के बाहर की बात थी। पारम्परिक इस्लाम की प्रचलित व्याख्या से कुछ अलग उनके पास सामान्य जन को देने के लिए नहीं था—कहीं ऐसा न हो कि उनके ऊपर काफ़िर या अलीक होने का आरोप लग जाये।"

कुल मिलाकर श्री अशरफ़ का निष्कर्ष ठीक है। सम्भवतः अधिक विस्तृत

विवेचन से हम इधर-उधर कुछ अपवाद या विशिष्ट व्यवहार की झलक पा लें, लेकिन सूफ़ी-आन्दोलन की वास्तविक भूमिका यही रही है। इस सन्दर्भ में जब हम *पद्मावत* की सांस्कृतिक और सत्ता-संघर्ष-सम्बन्धी दृष्टि को रखते हैं तो साफ़ दिखता है कि जायसी में बहुत-कुछ ऐसा है जो सूफ़ी-आन्दोलन के घेरे में नहीं समाता।

कवि, विचारक, इतिहास-लेखक और सूफ़ी के नाते अमीर ख़ुसरो का ज़बर्दस्त प्रभाव अपने समय में पड़ा। ख़ुसरो का बौद्धिक प्रभाव जायसी के युग में, बल्कि उसके बाद भी मुस्लिम-समाज पर बना रहा। बल्कि, अगर दन्तकथाओं पर विश्वास किया जाये तो ख़ुसरो का प्रभाव मुस्लिम-समाज के बाहर भी काफ़ी पड़ा। उन्नीसवीं शताब्दी तक हर मुस्लिम-मदरसे या अध्ययन-केन्द्र में ख़ुसरो की कृतियाँ पढ़ी जाती रहीं।

जायसी और ख़ुसरो के बीच कई अर्थों में होड़ है। ख़ुसरो ने जामी की प्रतिद्वन्द्विता में जो फ़ारसी प्रेमाख्यान लिखे, वे जायसी के सामने थे। ख़ुसरो ने अपने काव्य में हिन्दुस्तान की ज़मीन को जिस तरह अपनाया, उससे भी जायसी परिचित रहे होंगे। लेकिन सबसे बढ़कर ख़ुसरो ने अलाउद्दीन की चित्तौड़-विजय का जो आँखों-देखा हाल अपने 'ख़ज़ायनुल-फ़तूह' अथवा 'तारीख़े-अलाई' में लिखा था, उसी को जायसी ने *पद्मावत* के उत्तरार्द्ध की कथा का आधार बनाया। जायसी और ख़ुसरो में कितना अन्तर है, इसे समझने के लिए ख़ुसरो द्वारा लिखित वृत्तान्त को ध्यान में रखना आवश्यक है। ख़ुसरो का वृत्तान्त अत्यन्त अलंकृत फ़ारसी गद्य में है। उसका सरलीकृत अनुवाद इस प्रकार है :

"इस तारीख़ को विश्व-विजेता (अलाउद्दीन) ने चित्तौड़ की विजय के लिए डंका बजाने की आज्ञा दी और दिल्ली शहर से अपनी पवित्र ध्वजाओं को गतिमान किया। आकाश तक उठा हुआ सुल्तान का काला छत्र उस क्षेत्र में प्रविष्ट हुआ और अपने दमामे की आवाज़ से, जो आकाश के कानों में गूँजती थी, सुल्तान के दीन का सुसमाचार दिशाओं में गुंजरित करने लगी।

बादशाह ने अपना दरबार, जो आकाश के बादलों जितना ऊँचा था, उस जगह दोआबे के बीच स्थापित किया और उसके उल्लसित उत्साह से दोनों समुद्रों के किनारे तक भूकम्प आ गया। दाहिने और बायें की सेनाओं को आज्ञा दी कि गढ़ पर दोनों ओर से चढ़ाई करें। दो महीने में तलवार की बाढ़ के साथ पहाड़ी की कमर तक ही पहुँच सके और उसके ऊपर न जा सके। विचित्र गढ़ था कि पत्थरों की मार भी उसे तोड़ न सकी।"

इस 'धर्मयुद्ध' का कुछ और अलंकृत वर्णन करने के उपरान्त ख़ुसरो बतलाता है कि सोमवार, ता. 8 जमादि उस्सानी, हि. सं. 702 (अर्थात् 28 जनवरी, 1303 ई.) को क़िला फ़तेह हुआ :

"और वह जहन्नुमी राय, ईश्वरीय कोप की बिजली से सिर से पैर तक जलकर, पत्थर के दरवाज़े से इस तरह उछलकर आया, जैसे पत्थर से आग उछलती है और उसने अपने को पानी में डाल दिया। वह जहाँपनाह के दरबार की ओर दौड़ा और तलवार की बिजली से बच गया। हिन्दू कहते हैं कि जहाँ पीतल होता है, वहाँ बिजली गिरती है। राय का चेहरा पीतल की तरह पीला पड़ गया था। निश्चित था कि अगर वह शाह की सेवा और शरण में न आ गया होता, तो तलवार की बिजली से नहीं बच सकता था।

जिस दिन राय ने आत्म-समर्पण किया, सुल्तान का गुस्सा ठण्डा नहीं हुआ था। लेकिन शाकाहारी राय जब पैरों-तले रौंदी हुई घास की तरह मुरझाकर गिड़गिड़ाने लगा तो, यद्यपि वह बाग़ी था, फिर भी बादशाह ने उसकी जान बख़्श दी। लेकिन बादशाह ने अपने कोप की लू दूसरे बाग़ियों की ओर चलाई और हुक्म दिया कि जहाँ कहीं जवान हिन्दू देखें, घास-फूस की तरह जला डालें। एक दिन में, बादशाह की प्रचण्ड आज्ञा से, लगभग तीस हज़ार दोज़खी लोग काट दिये गये और ख़िज्राबाद (चित्तौड़) के मैदान में लगता था कि घास नहीं, लाशें उगी हैं। बादशाही क्रोध की हवा ने सभी प्रमुख लोगों को जड़ से उठाकर उस प्रदेश से दोरंगापन ख़त्म कर दिया। और खेत जोतने वाली रैयत को, जिनमें काँटे नहीं उगते, मदद पहुँचाई। इस नीले दुर्ग की शाखाओं और जड़ों को महान् साम्राज्य के महानवृक्ष ख़िज्र ख़ाँ के हवाले कर दिया गया और दुर्ग का नाम ख़िज्राबाद रख दिया गया। बादशाह ने उन सभी हिन्दुओं को, जो इस्लाम के वृत्त के बाहर पड़ते थे, क़त्ल कर डालने का कर्त्तव्य काफ़िरों का वध करने वाली अपनी दुधारी तलवार को इस तरह सौंपा कि अगर आज के दिन राफ़िज़ी, अर्थात् भिन्न मत रखने वाले नाम को भी इन काफ़िरों के हक़ की माँग करें, तो सच्चे सुन्नी लोग ईश्वर के इस ख़लीफ़ा का समर्थन सौगन्ध खाकर करेंगे।"

इसी तरह गुजरात में पट्टन अथवा अनहिलवाड़ा को अलाउद्दीन द्वारा जीते जाने के वृत्तान्त का कुछ अंश अमीर ख़ुसरो के शब्दों में इस प्रकार है :

"इस प्रकार सोमनाथ के मन्दिर को मक्का की ओर झुकाया गया और जिस प्रकार पहले मन्दिर ने अपना सिर नवाया और बाद में समुद्र में जा गिरा, आप कह सकते हैं कि पहले उसने नमाज़ पढ़ी और बाद में स्नान किया। ऐसा दारुलकुफ़्र, अर्थात् कुफ़्र का देश, जो काफ़िरों का तीर्थ था, अब इस्लाम का मदीना हो गया कुफ़्र के इस पुराने देश में अज़ान की आवाज़ इतनी ऊँची उठी कि बग़दाद और मदीना तक सुनाई पड़ने लगी और ज़मज़म के कुण्ड तक गूँजने लगी इस्लाम की तलवार ने देश को उसी तरह शुद्ध कर दिया जिस तरह सूरज पृथ्वी को शुद्ध कर देता है।"

शुद अज़ शमशीरे इस्लाम आँ ज़मीं पाक।<br>
चुनाँ कज़ आफ़ताबे आसमाँ खाक।।

अमीर ख़ुसरो ने रणथम्भौर की विजय का भी उल्लेख किया है। इस वर्णन का मुहावरा भी इसी तरह कट्टर साम्प्रदायिक काफ़िर हिन्दू बनाम पवित्र इस्लाम का है। रणथम्भौर में क़िला टूटने के समय जौहर हुआ था। चूँकि जौहर का ज़िक्र जायसी ने *पद्मावत* के अन्त में चित्तौड़ के सम्बन्ध में किया है, अतः ख़ुसरो के वर्णन का कुछ अंश तुलनीय है। ख़ुसरो के अनुसार इस्लाम की सेना ने जहन्नुमी हिन्दुओं को रणथम्भोर में घेर लिया। कुछ दिन के घेरे के बाद जब क़िले में पानी और अन्न की कमी हो गयी और दुर्ग का पतन निकट आ गया तो राजा ने—

"पहाड़ की चोटी पर लाल फूलों के पर्वत की भाँति ऊँची आग जलाई और अनार की तरह स्तनों वाली सुन्दरियों को, जो उस क़िले में पली थीं, आग में झोंक दिया, यों कि आग से भी फ़रियाद उठने लगी। जब राजा ने उन बहिश्त की परियों-जैसी स्त्रियों को अपने सामने जहन्नुम में भेज दिया तो एक-दो और काफ़िरों को साथ लेकर क़िले में उतरा, ताकि अपने नाम की रक्षा करते हुए जान दे दे। यद्यपि सुबह की हवा चल रही थी, लेकिन पहरेदारों की नरगिसी आँखें नींद में डूबी थीं। जब राजा वहाँ पहुँचा, बुलबुल की तरह आवाज़ करने वाला मुतरिब वहाँ आया। उसने पुकार दी। सभी सिपाही अपनी तलवारें खींचकर वहाँ कूदकर आ गये और राजा का सिर उड़ा दिया।"

ख़ुसरो ने इस पर टिप्पणी की है कि यह क़िस्सा रणथम्भौर की विजय का है जो इस प्रकार ईश्वर की मर्ज़ी से दारुल-कुफ़्र सें दारुल-इस्लाम बन गया।

"दास्ताने फ़तहे रणथम्भोर कन्दर यक ग़ज़ा।
गश्त अज़ाँसाँ दारे-कुफ़्रे दारे-इस्लाम दर क़ज़ा।।

चित्तौड़ के क़िले के टूटने और जौहर का उल्लेख जायसी ने पद्मावत के अन्त में इस दोहे से किया है :

जौहर भई इस्तिरी पुरुख भये संग्राम।
पातसाहि गढ़ चूरा चितउर भा इसलाम।।

शायद जायसी के दोहे में अमीर ख़ुसरो के शेर की स्मृति है। लेकिन दोनों की मनःस्थिति में भारी अन्तर है। ख़ुसरो काफ़िरों के ख़ून से धुलकर पृथ्वी को पाक होता देखता है और उल्लसित होकर इस साम्राज्यवादी सत्ता-संघर्ष को इस्लाम की विजय मानता है। जौहर करती हुई स्त्रियों के अनार की तरह कठोर स्तन ही उसे दीखते हैं। इसके विपरीत, जायसी उड़ती हुई दो मुट्ठी राख की तरह इस पृथ्वी-विजय को झूठा देखते हैं और उनकी आवाज़ में ट्रेजेडी, व्यंग्य और एक गहरे विषाद का सम्मिश्रण है जो जायसी के इस्लाम और अलाउद्दीन में गम्भीर अन्तर की अनुभूति प्रस्तुत करता है।

अलाउद्दीन द्वारा दक्षिण-विजय के वृत्तान्तों में से एक और अंश उद्धृत करना

चाहूँगा जिससे अमीर खुसरो की ख़ून का स्वाद लेने वाली शैली अधिक स्पष्ट हो जायेगी :

"हिन्दू राव घुड़सवारों की सेना के साथ बढ़ते आते थे, लेकिन तुर्की सवारों के आगे मिट्टी में मिल जाते थे। पानी और ख़ून की बाढ़ ख़लीफ़ा (अलाउद्दीन) की फ़ौज के सामने दया की भीख माँगने आती थी या, यों कहें कि काफ़िरों की आत्माओं की प्रसन्नता के कारण ख़ून का प्याला इतना स्वादिष्ट हो गया था कि हर बार जब बादल ख़ून पर पानी बरसाता था तो ख़ून की प्यासी धरती उसे बहुत आनन्द से पी जाती थी। रक्त की इस शराब में नशा पैदा करने की ज़बर्दस्त ताक़त के बावजूद साक़ी आकाश की बोतल से बारम्बार उसमें और भी साफ़ पेय डालता रहता था, ताकि नशा और भी बढ़ जाये। इसी शराब और पानी से मृत्यु ने अपनी पहली घूँट का निर्माण किया था। इसके बाद हड्डियाँ ही दिखती थीं।"

इन उदाहरणों में सन्निविष्ट मानसिक कट्टरता पर टिप्पणी करना व्यर्थ है। जायसी का समूचा *पद्मावत* अमीर खुसरो की इस मनोवृत्ति पर ज़बर्दस्त टिप्पणी है। खुसरो का एक प्रसिद्ध शेर है :

"मुल्के दिल करदी ख़राबज़ तीरे नाज़
व-दरीं वीराना सुलतानी हनोज़।"

(तूने हृदय के देश को अपने नाज़ की तलवार से उजाड़ डाला और अब इस वीराने में तू सुल्तान बनकर बैठा है।)

इतिहासकार खुसरो पर सबसे अच्छी टिप्पणी ग़ज़ल कहने वाले अमीर खुसरो का यह शेर ही है। जायसी की कंथा का अन्त करने वाले दोहे में, जिसमें स्त्रियाँ जल गईं, पुरुष संग्राम में लड़ मरे, दुर्ग चूर-चूर हो गया—और इस वीरान में इस्लाम के नाम पर सुल्तान बैठा हुआ है, शायद अमीर खुसरो के इस प्रसिद्ध शेर की अनुगूँज भी है। अमीर खुसरो और जायसी के तुलनात्मक अध्ययन पर विस्तृत शोध की अपेक्षा है। लेकिन इसके संकेत काफ़ी मिलते हैं कि जायसी के सामने खुसरो की कविता और अन्य रचनाएँ, विशेषतः 'ख़जायनुल-फ़तूह' थीं। खुसरो ने बादशाह कैकुबाद के फ़ैज़ाबाद में पहुँचने और वहाँ कुछ दिन रहने का वृत्तान्त अपनी एक रचना में दिया है। फ़ैज़ाबाद के शासक ने बादशाह की बड़ी ख़ातिर की और लम्बी-चौड़ी दावत दी। दावत के वर्णन में खाने-पीने की चीज़ों की लम्बी सूची फ़ारसी में प्रस्तुत करने में खुसरो ने क़लम तोड़ दी है। *पद्मावत* में रतनसेन ने अलाउद्दीन की दावत की है। वहाँ भी जायसी ने जो खाने-पीने की चीज़ों का क़लम-तोड़ वर्णन किया है, उससे सहज अनुमान होता है कि गाँव की भाषा अवधी की होड़ सरकारी भाषा फ़ारसी से लगी हुई है। देखने वाले देखें और लोहा मानें।

प्रस्तुत सन्दर्भ में खुसरो के 'ख़जायनुल-फ़तूह' से विस्तृत उद्धरण देने का मुख्य

उद्देश्य जायसी और ख़ुसरो की सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टियों में गहरा अन्तर परिलक्षित करना ही है। इस अन्तर को देखे विना हम अच्छी तरह नहीं समझ पायेंगे कि जायसी के लिए अपने समय के सूफ़ियों का सांस्कृतिक घेरा क्यों छोटा पड़ता है और ख़ुसरो से मुक़ाबले में अनुभूति की गहराई, मर्म तक पहुँचाने वाली अन्तर्दृष्टि और मानवीय भावना की समरस और उदार व्यापकता—इन सब कसौटियों पर जायसी क्यों ज़्यादा बड़े कवि हैं।

ख़ुसरो हिन्दुस्तान में सूफ़ी शायरी के शीर्ष पर हैं। ख़ुसरो का ख़ुद का दावा अगर हम स्वीकार कर लें तो उनकी कविता ने फ़ारसी के प्रसिद्ध कवि जामी के काव्य को भी भूकम्प-ग्रसित कर लिया। फ़ारसी के आधुनिक आलोचकों ने ख़ुसरो को हिन्दुस्तान-ईरान-समेत फ़ारसी कवियों में शिखरस्थ माना है। ख़ुसरो न सिर्फ़ सूफ़ी कवि थे, वल्कि चिश्तिया अखाड़े के प्रसिद्ध सूफ़ी वावा निज़ामुद्दीन औलिया के प्रिय शिष्य भी थे। निज़ामुद्दीन औलिया दिल्ली के पास रहते थे और ख़ुसरो को बहुत मानते थे। कहा जाता है कि रात को जब औलिया अपनी कोठरी का दरवाज़ा बन्द करके पूजा में लीन हो जाते थे, तो उस समय भी ख़ुसरो को इजाज़त थी कि दरवाज़ा खुलवाकर बावा से संपर्क करें। दूसरी तरफ़ ख़ुसरो ने यह भी कमाल दिखलाया कि दिल्ली की गद्दी पर एक के बाद दूसरे सुलतान, प्रायः पहले सुलतान को क़त्ल करके बैठे, लेकिन सरकारों की इस हिंसात्मक उठा-पटक में ख़ुसरो बराबर राजकवि बने रहे और तरक्क़ी भी करते रहे। सरकार और मठ, दोनों का जैसा तालमेल ख़ुसरो ने वैठाया, उससे भी स्पप्ट है कि सूफ़ियों के बारे में जो मूल्यांकन डॉ. अशरफ़ ने किया है, वह कुल मिलाकर ठीक ही है। हिन्दू-तुर्क सत्ता-संघर्ष के बारे में जो संकुचित दृप्टि ख़ुसरो के 'ख़ज़ायनुल-फ़तूह' में मिलती है, वह बादशाहों और मुल्लाओं को ख़ुश करने वाली तो थी ही, निज़ामुद्दीन औलिया के मठ के लिए भी लाभदायक और स्वीकार्य थी।

ख़ुसरो की दृष्टि अपवाद नहीं है। वस्तुतः दरबार और मठ के तालमेल से निकली हुई सांस्कृतिक-सामाजिक दृष्टि जायसी के समय और उसके बाद भी काफ़ी शक्ति के साथ अपने को अभिव्यक्त करती रही। बरनी और बदायूँनी जैसे लेखकों में भी यह दृष्टि मिल जायेगी। ख़ुसरो तो औरों के मुक़ाबले में अधिक उदार हैं।

लेकिन, वास्तविकता इतनी ही नहीं है। मुहम्मद गोरी के हमले के वाद दिल्ली की बादशाहत का इतिहास दो अतिभिन्न समाजों के मिलने, अलग होने, फिर मिलने का इतिहास है। आकर्षण-विकर्षण की इस प्रक्रिया में ही बहुतों के लिए उनका बौद्धिक माहौल बनता है। इस घात-प्रतिघात के अलग-अलग विन्दुओं पर सभी लेखक खड़े हैं, चाहे वे फ़ारसी में लिखने वाले ख़ुसरो, बरनी, बदायूँनी, अबुलफ़ज़ल या दाराशिकोह हों, या हिन्दी में लिखने वाले मौलाना दाऊद, कबीर, जायसी, सूरदास

या तुलसीदास हों। इनमें शायद कबीरदास और जायसी ये दो ही लेखक हैं जो इन मिलते-टकराते समाजों के सन्धि-स्थल पर खड़े हैं; कबीरदास की प्रमुख मुद्रा हिन्दू-मुसलमान, दोनों समाजों के सरग़नाओं को चुनौती देने वाली है। उनका स्वर प्रतिरोधी है। लेकिन जायसी का स्वर प्रतिरोधी नहीं है। एक ज़बर्दस्त करुणा उन्हें आप्लावित कर रही है। इस करुणा की व्यथा जायसी के लिए इतनी भारी है कि उनके पास चुनौती और प्रतिरोध की फ़ुर्सत नहीं है। अपने प्रतिरोध को शक्ति देने के लिए कबीरदास को एक अलग तरह के ईश्वर, एक अलग अध्यात्म और सम्भवतः एक अलग मठ की ज़रूरत थी। कबीरदास के लिए इस घात-प्रतिघात के परिणाम बर्दाश्त के बाहर हैं। वे जल्दी-से-जल्दी एक हल और, सम्भव हो तो, एक नया संगठन खड़ा करना चाहते हैं जो मुल्लाओं और ब्राह्मणों से अलग लोगों को रास्ता दिखा सके।

लेकिन जायसी का प्रस्थान-बिन्दु न ईश्वर है, न कोई नया अध्यात्म है। उनकी चिन्ता का मुख्य ध्येय मनुष्य है—मनुष्य, जैसा कि वह सामान्य ज़िन्दगी में उठता-बैठता है, सीखता है, प्रेम करता है, गृहस्थी चलाता है, युद्ध में वीरता और कायरता दिखलाता है, राज्य स्थापित करता है, छल-कपट, बेईमानी और कमीनापन करता है, सम्प्रदाय स्थापित करता है, बटोर करने के लिए नारे लगाता है—और, इस सबके बाद अपनी अपर्याप्तता की गहरी त्रासदी से ग्रस्त हो जाता है। अपनी मूल प्रकृति में *पद्मावत* एक त्रासदी है... शायद हिन्दुस्तान या सम्भवतः एशिया की धरती पर लिखा हुआ एकमात्र ग्रन्थ है जो यूनानियों की ट्रैजेडी के काफ़ी निकट है। यह आश्चर्य का विषय हो सकता है कि जायसी को यह दृष्टि कहाँ से मिली। यूनान की ट्रैजेडी से *पद्मावत* की भिन्नता दर्शायी जा सकती है। स्पष्ट है कि जायसी के सामने यूनान के सोफ़ोक्लीज़ या यूरीपाइडीज़ नहीं थे और न काव्य-सम्बन्धी अरस्तू का विवेचन ही था। लेकिन भिन्नताओं के बावजूद जायसी उस मानवीय अनुभूति के ही साक्षी हैं जो सारे वैभव के बाद पृथ्वी को दो मुट्ठी क्षार में बदल देती है और साथ ही यह भी याद दिलाती है कि फूल मर जाता है, लेकिन गन्ध शेष रह जाती है :

> केईं न जगत जस बेचा केईं न लीन जस मोल।
> जो यह पढ़े कहानी हम सँवरे दुई बोल।।

विशाल मानवीय करुणा के इस स्तर पर सारे आध्यात्मिक दर्शन बराबर प्रासंगिक और बराबर अप्रासंगिक हो जाते हैं। इसीलिए क्या तसव्वुफ़ की शब्दावली हो, क्या हठयोग की हो, क्या चारों ओर घटित होता हुआ राज्यों का उत्थान-पतन हो, क्या गाँवों से उठता हुआ बारहमासा हो, क्या कामशास्त्र की झलक देता हुआ रति-वर्णन या नायिका-भेद हो—यह सब जायसी के लिए सहज उपलब्ध भावना के

मुहावरे हैं जिनका एकमात्र उद्देश्य मनुष्य के मर्म में प्रविष्ट होना है जिस तक जायसी स्वयं अपने ही मर्म को बार-बार उघार कर पहुँचे थे। जायसी अपने समय की प्रचलित शास्त्रीय, अर्द्धशास्त्रीय या अशास्त्रीय शब्दावली का व्यवहार करते हैं, लेकिन इसे केंचुल की तरह छोड़कर बराबर आगे बढ़ जाते हैं।

जायसी जहाँ खड़े थे, वहाँ से वे बहुत आसानी के साथ कबीर की तरह एक वैकल्पिक अध्यात्म की सृष्टि कर सकते थे। उन्हें कबीर की जानकारी है। *अखरावट* में उनकी चौपाई है—"ना नारद तब रोइ पुकारा। एक जुलाहे से मैं हारा।" विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि शैतान को भी हराने वाले जुलाहे से यहाँ जायसी का अभिप्राय कबीरदास से ही है। हो सकता है ऐसा हो। तब जायसी के आध्यात्मिक मार्गद्रष्टाओं की सूची में एक कबीरदास का नाम भी जोड़ना पड़ेगा। परन्तु जायसी कबीरदास की परिणति भी देख चुके थे। सारी तेज़ी और सारा प्रतिरोध उस विशिष्ट समाज में एक नये पन्थ को जन्म देकर शेष समाज की धारा से कट जाने के जोखिम में पड़ गया था। एक बार मठ या सम्प्रदाय की जकड़ मज़बूत हो जाने पर प्रतिरोध कर्मकाण्ड में बदल जाता है, ताज़गी ख़त्म हो जाती है और शेष समाज के मर्म पर फिर वही संकीर्ण पपड़ियाँ पड़ने लगती हैं। लोग विचलित नहीं होते, मान लेते हैं कि एक बाबा और हुआ और उसका एक पन्थ और हुआ। हिन्दुस्तान में बड़ी क्रान्तिकारी आवाज़ों के सम्प्रदायों और अखाड़ों में बदल जाने की आवृत्ति बार-बार हुई है। आज हम इस इतिहास से अच्छी तरह परिचित हैं और इसके ख़तरे से चिन्तित भी हैं। जायसी की निर्मल दृष्टि मानवीय समस्या को जिस प्रकार देख रही थी, उसमें कबीरदास की परिणति से अपने को बचाना ज़रूरी था। इसीलिए जायसी ने न कोई अखाड़ा बनाया, न चेले बनाये, न बाबागिरी अपनाई, न किसी आध्यात्मिक दर्शन का रूपक बाँधा। उन्होंने अपने लिए कवि, और केवल कवि की भूमिका चुनी जिसका दावा सिर्फ़ इतना ही है कि जिसने उनका मुँह देखा, उसे हँसी आ गयी, लेकिन जब काव्य सुना तो आँसू आ गये। लगता है, जायसी अपने पाठक से सिवा इस एक प्रश्न के और कुछ भी नहीं पूछना चाहते कि आपका अध्यात्म चाहे जैसा हो, ईश्वर चाहे जैसा हो, कर्मकाण्ड चाहे ज़ैसा हो, लेकिन आपकी आँखों में आँसू आने की क्षमता शेष है या नहीं।

अगर हम एक बार तसव्वुफ़ और सूफ़ी-आन्दोलन की चारदीवारी को तोड़कर जिसमें स्वयं हमने जायसी को क़ैद कर दिया है, उन्हें बाहर निकाल सकें तो जायसी में बहुत-कुछ ऐसा है जो अपने बेलाग कवि-रूप में हमारे लिए महत्त्वपूर्ण साक्षात्कार का विषय बन सकता है। जायसी ने वह मुहावरा विकसित किया था जो एक साथ कई स्तरों पर झंकृत होता है। उनका स्वाभाविक पाठक-वर्ग, अलग धर्मों और संस्कृतियों के बावजूद, बिना किसी दुराव या सांस्कृतिक सीमारेखा के एक साथ

उनके सृजनात्मक संसार में शामिल हो सकता है। जैसा मैंने कहा, कबीरदास भी अपनी प्रतिरोधात्मक वाणी के साथ उसी सन्धि-स्थल पर खड़े हैं। लेकिन कबीरदास के हिन्दू और मुसलमान, दो जमातों में अलग-अलग उनके पाठक हैं। कबीरदास जान-बूझकर दोनों से समान्तर दूरी की नीति बनाते हैं, ताकि उनकी निष्पक्षता पर आँच न आवे। हिन्दू-मुसलमान, दोनों बिना राह पाये भटक रहे हैं, लेकिन दोनों के भटकाव अलग-अलग हैं। जायसी एकमात्र कवि हैं जिनके सामने हिन्दू-मुसलमान अलग-अलग नहीं हैं, वे घुल-मिलकर सामान्य पाठक या श्रोता हो गये हैं। इसीलिए जायसी को न चौकन्नी तटस्थता की ज़रूरत पड़ती है, न आलोचना और प्रतिरोध के तराज़ू के दोनों पल्लों को बराबर बनाये रखने की चिन्ता व्यापती है। जायसी इस या उस धार्मिक या साम्प्रदायिक गिरोह की समीक्षा नहीं करते, न इस या उस कर्मकाण्ड के सुधार या स्वीकृति की ही उनकी अभिलाषा है—अपने युग से जायसी ने जो बौद्धिक उन्मेष खोज निकाला, वह अनोखा था; उनकी समीक्षा का विषय धर्म नहीं, मनुष्य है।

इतिहास की धारा के प्रवाह में बहुत-सा कीचड़, सेवार, गर्द-गुबार लहरों में उठता-गिरता बहता रहता है। कभी-कभी ही ऐसा होता है कि नदी का पानी थोड़ी देर के लिए स्थिर और निर्मल हो जाता है। जिस मिले-जुले समाज की छान-बीन हम कर रहे हैं, उसका पानी इसी तरह जायसी के सामने कुछ देर के लिए स्थिर हो गया और जायसी के माध्यम से हिन्दी साहित्य ने न सिर्फ़ अपने युग की, बल्कि युगों के भीतर कड़कती हुई मानवीय विषाद की तसवीर देखी जिसमें निष्कलंक आदर्श भी हैं और बहुत कड़वे यथार्थ भी हैं, झिलमिलाती यूटोपिया भी है और रिश्वतख़ोरी पर चलते हुए कारागार भी हैं, सत और साका भी है और छल से भरा हुआ विध्वंसकारी राजहठ भी है। इस कवि की निर्मलता इसमें नहीं है कि जायसी सिर्फ़ चुनी हुई निष्कलंक चीज़ें देखते हैं, बल्कि इसमें है कि अच्छा-बुरा जो कुछ भी है, अपनी विविधता के साथ सम्पूर्ण परिदृश्य का अंग हो गया है। इस सम्पूर्ण परिदृश्य को आत्मसात् कर लेने के बाद ही वह गहरा विवेक जन्म लेता है जो मनुष्य की आख़िरी पीड़ा को देख सकता है, और उसे 'प्रेम की पीर' जैसा नाम दे सकता है, जो सारी कमियों के बावजूद मनुष्य के बैकुण्ठी हो जाने की अनुभूति जागृत कर सकता है। फिर इतिहास की नदी में वेग आया। पानी बह चला और मटमैला हो गया। जायसी की तरह भारतवर्ष और उसके समाज की छवि को फिर कोई न देख सका। सूरदास और तुलसीदास ने निर्मल छवियों को अपने युग से बहुत दूर, अपने अन्तर्मन में अवस्थित त्रेता और द्वापर के मिथकों में देखा। परन्तु इतिहास की नदी में झाँकने पर उन्हें कलियुग की सेवारों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिखाई दिया और इन मिथकों के साथ आये सम्प्रदाय, कर्मकाण्ड, अध्यात्म और दर्शन के विविध

वाद, ईश्वरीय अनुग्रह को तरसती हुई आँखें और चारों ओर के निरर्थक बयाबान में एक बूँद अमृत की तलाश।

जायसी न सुधारक हैं, न दार्शनिक और न उनके पास अपने किसी अध्यात्म या दर्शन का संदेश है। तब वे क्या हैं ? क्या वे केवल मनोरंजनकर्ता हैं ?

जायसी मनोरंजनकर्ता भी नहीं हैं। वस्तुतः मात्र मनोरंजक साहित्य और मात्र सन्देशवाहक साहित्य, दोनों अक्सर एक सिक्के के दो पहलू ही साबित हो जाते हैं। मनोरंजक साहित्य यह देखने के लिए तैयार ही नहीं होता कि ज़िन्दगी को अर्थ से आलोकित करने वाले तत्त्व क्या हैं और कहाँ हैं ? अतः ज़िन्दगी का वह बड़ा हिस्सा, जहाँ मानवीय विवेक और भावनाओं के लिए मूलभूत प्रश्न खड़े होते हैं, मनोरंजनकर्ता लेखक के हाथ से छूट जाता है। मात्र सन्देशवाहक साहित्य यह मानकर चलता है कि मूलभूत प्रश्न अैर मूलभूत उत्तर सब प्राप्त हो चुके हैं, उन्हें शब्दों और मुहावरों में बाँधा जा चुका है और वे सारे प्रश्न जो इस बने-बनाये ढाँचे से बाहर पड़ते हैं, अप्रासंगिक और अनावश्यक हैं, बल्कि प्रश्नकर्ता की कुटिल बुद्धि से ही उपजते हैं इस कटे-छँटे संदेश का भी परिणाम यही होता है कि ज़िन्दगी का बहुत बड़ा हिस्सा, जहाँ मानवीय विवेक और भावनाओं के लिए वास्तविक चुनौतियाँ होती हैं, लेखक के हाथ से छूट जाता है। छोटे लेखकों के साथ तो यह घटित होता ही है, बड़े लेखकों के साथ भी अन्ततः यह अपर्याप्तता सामने आने लगती है। जितना असंदिग्ध सन्देश होता है, उतनी ही जल्दी वह पुराना और बासी पड़ता जाता है।

मात्र मनोरंजन और मात्र आध्यात्मिक सन्देश—इन दो ख़तरों को वेधकर जायसी किस तरह अपनी अनुभूति को अर्थवान् बनाते हैं, यही उनकी सृजनात्मक क्षमता का रहस्य है। जायसी के आसपास की कुछ अन्य रचनाओं से उनके *पद्मावत* की तुलना करने पर यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी। जैसा हमने पहले कहा, जायसी ने इतिहास और युग की निर्मल छवि देखी। यह उनकी क्षमता का परिचायक है। लेकिन अपने आस-पास की शताब्दियों में वे अकेले कवि हैं जिन्हें इस युग-दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ, यह और भी आश्चर्य की बात है। हमने अमीर ख़ुसरो की एक झलक देखी और पाया कि अपनी कल्पना-शक्ति और निज़ामुद्दीन औलिया के पथ-प्रदर्शन के बावजूद ख़ुसरो संपूर्ण समाज का चित्र देखने में असमर्थ हैं। जायसी के पहले के हिन्दी कवि मुल्ला दाऊद का *चन्दायन* अब काफ़ी कुछ उपलब्ध हो गया है। जायसी के आस-पास कुतबन ने *मृगावती* लिखी। कुछ और बाद में मंझन ने शाहजहाँ के काल में 'मधुमालती' लिखी। इन सभी कृतियों को, जो अवधी दोहा-चौपाई में लिखी हुई हैं, प्रेम-कहानियाँ होने के कारण *पद्मावत* की बिरादरी में शामिल कर लिया जाता है। यह भी जायसी के साथ ज़्यादती है।

दाऊद को तक़ीउद्दीन वाइज़ रब्बानी और बदायूँनी ने ईश्वरीय संकेतों का वाहक

होने का प्रमाणपत्र दिया। हमारे पास यह जानने का कोई साधन नहीं है कि कविता की समझ इन महानुभावों के पास आज के आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा से अधिक थी या नहीं। लेकिन दाऊद का *चन्दायन* कुल मिलाकर चमत्कारी घटनाओं की एक शृंखला-मात्र ही ठहरता है। इन चमत्कारों को संगठित करने में भी कल्पना की प्रचुरता कम ही दिखती है। चन्दा को एक बार साँप से कटवा कर मन्त्रबल से जिलाने के बाद कवि को सन्तोष नहीं हुआ तो दूसरी बार और शायद तीसरी बार उसे साँप से कटवाया और ज़िन्दा किया। लोरक और चन्दा जिस तरह निरर्थक भ्रमण करते हैं और तरह-तरह के जादू-टोनों और पराक्रमों के बीच से होकर गुज़रते हैं, वह पूरा वृत्तान्त मध्ययुग के *तोता-मैना* और *सिंहासन-बत्तीसी* जैसे क़िस्सों से अधिक ऊपर नहीं उठ पाता। कुतबन की *मृगावती* भी इसी तरह चमत्कारों की ऊबड़-खाबड़ शृंखला है। परियाँ और जादू-टोना इस कथा में भी भरपूर हैं और कुल मिलाकर कथा में तत्कालीन रुचि के अनुसार मनोरंजकता का ही निर्वाह किया गया है। यही दशा मंझन की *मधुमालती* की भी है। मंझन दाऊद और कुतबन दोनों से कुछ अधिक समर्थ कवि हैं। लेकिन उनके काव्य में भी घटनाओं और वर्णन की भूमिका केवल कुतूहल के उद्रेक का ही सृजन करती है और कल्पना का वह अदृश्य फैलाव नहीं उत्पन्न होता जो साधारण और सामान्य घटनाओं को भी समरस अर्थवत्ता में डुबो देता है। बेशक इन कवियों का उद्देश्य मात्र मनोरंजन नहीं था। उन्हें कभी-कभी याद आता है कि उनके पास श्रोताओं से कहने के लिए एक सन्देश भी है। बीच-बीच में मनोरंजनकर्ता कवि सन्देशवाहक कवि में बदल जाता है और इसका प्रमाण प्रस्तुत करता है कि सृजनशीलता के अभाव में मनोरंजन और सन्देशवाहन, दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

साहित्य में किसी विचारधारा या दार्शनिक सिद्धान्त का वहन करना एक बात है और अपने युग की सम्पूर्ण चिन्तनशीलता में उलझी हुई अनुभूति को आत्मसात् करना दूसरी बात है। यह आत्मस्थ चिन्तनशीलता गम्भीर साहित्य को एक बौद्धिक सघनता प्रदान करती है। यदि हम इस प्रकार बौद्धिक सघनता और मात्र दार्शनिक स्थापना या विचारधारा में अन्तर करें तो जायसी की मनःस्थिति को अधिक सन्तोषजनक ढंग से परिभाषित कर सकते हैं। जायसी में दर्शन का अभाव हो, ऐसा नहीं है। विद्वानों ने तसव्वुफ़, वेदान्त, हठयोग, गोरखपन्थ, सहजयान—सभी कुछ जायसी में देखा है। ये सारे वाद और मत-मतान्तर जायसी के चारों ओर वातावरण में फैले हुए थे। ऋषेश्वर, संन्यासी, रामजन, मसवासी, ब्रह्मचर्यपन्थी, दिगम्बर, सरस्वतीसिद्ध, जोगी, वियोगी, महेसुर, जंगम-जती, देवी-सती-पूजक, सेवरा, खेवरा, बानपरस्ती, सिध, साधक, अवधूत—सभी जायसी के सिंघल द्वीप में आत्माभूत को जलाकर आसन मारे बैठे हुए हैं। जायसी इन सबके प्रति खुले हुए हैं। लेकिन

प्रचलित मान्यताओं के इस पुंज का उपयोग जब भी जायसी करते हैं, तो उनका उद्देश्य केवल कथा के विशिष्ट सन्दर्भ को अधिक जागरूक, अधिक संवेद्य, अधिक घनीभूत बनाना ही होता है। पद्मावत की कथा अपनी समरस तन्मयता के साथ आगे बढ़ती जाती है। विचारों या वादों के टुकड़े उससे जुड़कर केवल सम्पूर्ण भावात्मक संश्लेषण को अधिक तीव्र बनाते रहते हैं। दूसरे शब्दों में ठोस मानवीय स्थिति वैचारिक आग्रह में घुलकर अप्रस्तुत नहीं हो जाती, जैसा अन्योक्ति में होता है, बल्कि वैचारिक मुहावरा ठोस परिस्थिति में ही घुल जाता है और ऊपर से सरल दिखने वाली घटनाएँ लहर पर लहर फैलती हुई चिन्तनशीलता में डूबी हुई दिखती हैं। अपने सम्पूर्ण प्रसार में यह चिन्तनशीलता पूरी कथा में एक तरल विषाद-दृष्टि का सृजन करती है जिसमें मानवीय व्यापार के प्रति पीड़ा है, किन्तु अवसाद नहीं है; हल्का वैराग्य है, लेकिन गहरी संसक्ति भी है; तटस्थता है, लेकिन स्पष्ट नैतिक विवेक भी है। यही वह सुगन्ध है जो फूल के मरने के बाद भी नहीं मरती।

फ़ारसी के प्रसिद्ध सूफ़ी मसनवी-लेखक मौलाना रूम ने अपनी विख्यात 'मसनवीये-मानवी' का आरम्भ इश्क़ की प्रशस्ति से शुरू किया है। काफ़ी दूर तक यह प्रेम-स्तवन चलता है और इस प्रकार एक प्रेम के पन्थ की स्थापना होती है। हिन्दी में जायसी के परवर्ती कवि मंझन ने भी अपनी *मधुमालती* के आरम्भ में कई कड़वकों में प्रेम की महिमा बखानी है। मंझन ने जायसी से कम सीखा, मौलाना रूम से अधिक। लेकिन मंझन की शेष कहानी प्रेम को उस तीव्रता से संवेद्य नहीं बना पाती, क्योंकि मंझन के पास सिद्धान्त अधिक हैं, भावनात्मक संश्लेष कम। मंझन की दोनों नायिकाओं का विरह नागमती के विरह की भाँति इतना प्रामाणिक नहीं हो पाता कि इतने बड़े दर्शन का बोझ वहन कर सके। इसके विपरीत, जायसी में सन्दर्भ से अलग करके कहीं प्रेम की प्रशस्ति नहीं गायी गयी है। बेशक बीच-बीच में प्रेम-प्रशस्ति की चौपाइयाँ आती हैं, किन्तु उनका औचित्य कथा के सन्दर्भ तक ही सीमित रहता है। वे स्वयं कथा का सन्दर्भ बनने का दावा नहीं करतीं। मंझन का उद्देश्य पन्थ के अनुसार प्रेम की महिमा स्थापित करना है, जायसी का उद्देश्य पद्मावती की कथा कहना है जिसमें सिंघल-लोक भी है, चित्तौड़ और दिल्ली का लोक भी है, प्रेम भी है, युद्ध भी है, गहरे अनुभूत होने वाला भावात्मक स्वप्न भी है और अपनी अविराम गति से चलने वाला उद्दण्ड इतिहास भी है। इस मिली-जुली भूमि पर सारे चरित्र—पद्मावती, रतनसेन, हीरामन, राघव चेतन, अलाउद्दीन, गोरा बादल—उठकर खड़े होते हैं और अन्त में विलीन हो जाते हैं। अन्त में कोई मतवाद नहीं, केवल एक सुगन्ध रह जाती है—विषाद, जागरूकता और सूक्ष्म नैतिक विवेक से परिपूरित सुगन्ध। जायसी बड़े कवि हैं, मंझन छोटे कवि हैं।

बौद्धिक सघनता और मात्र विचारधारा की प्रतिबद्धता के अन्तर को स्पष्ट करने

के लिए हम कुछ उदाहरण जायसी से लें। पहला उदाहरण मैं एक ऐसे अवसर से लेता हूँ जिस पर आलोचकों ने अलग से दार्शनिक-व्याख्यात्मक दृष्टि नहीं डाली है। सिंहलद्वीप में हीरामन तोता पद्मावती के पास था। पद्मावती के पिता राजा गन्धर्वसेन तोते से नाराज़ हो गये। उसे मार डालने पर उद्यत हो गये। पहले तो वह पद्मावती की अनुनय-विनय के कारण बच गया। लेकिन उसके मन में खटका हो गया। एक दिन वह पिंजरे से उड़ गया। पद्मावती उस समय उसके पास नहीं थी। मानसरोदक गई थी। वहाँ उसे बताया गया कि पिंजरा ख़ाली है। वह तोते को अपने प्राणों के समान चाहती थी। वह बहुत दुखी हुई। पद्मावती को सखियों ने समझाया। पद्मावती का दुख और फिर सखियों का समझाना जायसी ने इस प्रकार वर्णित किया है :

सुआ जो उतर देत हा पूँछा। उड़ि गा पिंजर न बोलै छूँछा।।
रानी सुना सुक्ख सब गएऊ। जनु निसि परी अस्त दिन भएऊ।।
गहनै गही चाँद कै करा। आँसु गगन जनु जखतन्ह भरा।।
टूटि पालि सरवर बहि लागे। कँवल बूड़ मधुकर उड़ि भागे।।
एहिं बिधि आँसु नखत होइ चुए। गगन छाँड़ि सरवर भरि उए।।
चिहुर चुवहिं मोतिन्ह कै माला। अव संकेति बाँधा चह बाला।।
उड़ि वह सुअटा कहँ बसा खोजहु सखी सो बासु।
दहुँ है धरति कि सरग गा पवन न पावै तासु।। 67 ।।
चहूँ पास समुझावहिं सखी। कहाँ सो अव पाइअ गा पँखी।।
जौ लहि पिंजर अहा परेवा। अहा बाँदि कीन्हेसि नित सेवा।।
तेहि बँदि हुते जौं छूटै पावा। पुनि फिरि बाँद होइ कित आवा।।
ओइँ उड़ान फर तहिअै खाए। जब भा पंखि पाँख तन पाए।।
पिंजर जेहि क सौंपि तेहि गएऊ। जो जाकर सो ताकर भएऊ।।
दस बाटैं जेहि पिंजर माहाँ। कैसैं बाँच मँजारी पाहाँ।।
एहँ धरती अस केतन लीले। तस पेट गाढ़ बहुरि नहिं ढीले।।
जहाँ न राति न देवस है जहाँ न पौन न पानि।
तेहि बन होइ सुअटा बसा को रे मिलावै आनि।। 68 ।।

यह उद्धरण जायसी की सामान्य शैली का अच्छा नमूना है। तोते के उड़ जाने के दुख को पहले हल्के स्पर्श के साथ 'पिंजर न बोलै छूँछा' या 'दहुँ है धरति कि सरग गा' आदि मुहावरों के आधे अभिधात्मक और आधे व्यंजनात्मक प्रयोगों से किसी प्रिय व्यक्ति की मृत्यु के संकेत से जोड़ा गया। फिर सखियों के समझाने की भाषा इस मृत्यु-संदर्भ को पूर्णतः खोलकर और उस समय के प्रचलित मुहावरे के अनुसार शरीर से आत्मा के निकल जाने के अभिप्राय के साथ व्यंजित कर देती है।

"तोते ने जिसका पिंजरा था, उसे सौंप दिया। जो जिसका था, उसका हो गया। जिस पिंजरे में दस दरवाज़े हैं, उसमें रहने वाला बिल्ली के आक्रमण से कैसे बच सकता है ? इस पृथ्वी ने ऐसे कितनों को खा डाला। एक बार जो इसके पेट में समा गया, वह बाहर नहीं आया। जहाँ न रात है, न दिन है; जहाँ न हवा पहुँचती है, न कोई गन्ध ही आती है—ऐसे जंगल में तोता जाकर बस गया है। अब उसे कौन लाकर मिला सकता है ?"

इस प्रकरण में अन्योक्ति का पूरा मसाला मौजूद है और यदि हम कुछ चौपाइयों को सन्दर्भ से काट दें, या घटना और परस्पर कथन की नाटकीय स्थिति को आँखों से ओझल हो जाने दें तो हमारी व्याख्या यह हो जायेगी कि जायसी के लिए तोते के उड़ जाने की घटना एक अवसर मात्र है और इस बहाने से जायसी अपने युग की प्रचलित सन्त-वाणी को दुहराना चाहते हैं कि यह शरीर नश्वर है, इसमें दस इन्द्रियों के द्वार हैं और तोते की भाँति आत्मा इनसे उड़कर चली जाती है। अप्रस्तुत आध्यात्मिक अर्थ प्रधान हो जायेगा और कथा का ठोस भावात्मक संदर्भ गौण हो जायेगा। यह होगी विचारात्मक प्रतिबद्धता।

लेकिन समूचे प्रकरण को ध्यान में रखने पर स्पष्ट लगता है कि अर्थ बराबर कथा के तोते के ही चारों ओर चक्कर काटता है। शरीर और आत्मा का दर्शन प्रधान अर्थ नहीं बनता। यदि किसी उक्ति से दो अर्थों की प्रतीति हो, जैसा यहाँ है, तो इन दो अर्थों के परस्पर सम्बन्ध तीन प्रकार से हो सकते हैं। एक, पहला अथवा वाच्यार्थ गौण हो जाये; और दूसरा, अर्थात् व्यंजित अर्थ प्रधान हो जाये। इस प्रकार प्रस्तुत वस्तु का अर्थ व्यंजित अर्थ में विलीन हो जायेगा। यह अवस्था अन्योक्ति की होगी। दूसरी स्थिति यह हो सकती है कि वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ, दोनों ही प्रधान और स्वतन्त्र रूप में अवस्थित रहें। हम इच्छानुसार जो अर्थ चाहें, ले लें। सम्भवतः जब आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जायसी की शैली को समासोक्ति का नाम दिया, तब उनके मन में यही अवधारणा थी। परन्तु विचार करने पर दो अर्थों की प्रधान और स्वतन्त्र सत्ता बहुत सन्तोषजनक नहीं होगी। अक्सर ऐसा लगेगा कि लेखक प्रस्तुत प्रकरण से बहक कर ख़ाहमख़ाह दर्शन, अध्यात्म अथवा नीति सम्बन्धी कथन में व्यस्त हो गया है। शुक्लजी ने कहीं-कहीं इसे जायसी का दोष कहकर गिनाया है। तीसरी अवस्था यह हो सकती है कि वाच्यार्थ अथवा प्रस्तुत प्रसंग की प्रमुखता बराबर बनी रहे और दूसरा, अर्थात् अप्रस्तुत या व्यंजित अर्थ थोड़ी देर के लिए अतिरिक्त झलक दिखाकर पहले अर्थ में विलीन हो जाये। मेरी विनम्र धारणा है कि जायसी की शैली में दुहरे अर्थों का परस्पर व्यापार इस तीसरे प्रकार का ही है। इस तीसरी अवस्था में अप्रस्तुत अर्थ के समाहित हो जाने से प्रसंगगत अर्थ में तीव्रता, वैचारिक तरंगाकुलता और भावों के संश्लेष का समायोजन होता है। यही है वह

विस्तृत होती हुई झंकार जिसे हम बौद्धिक सघनता कह सकते हैं।

प्रस्तुत उदाहरण को कथा-प्रसंग में देखने पर हम जायसी की कल्पना की इस वृत्ति को हृदयंगम कर सकते हैं। दूसरे कड़वक की अन्तिम तीन चौपाइयों और दोहे के आध्यात्मिक अर्थ को हमने देखा। परन्तु इसके पहले की चार चौपाइयों में अतिरिक्त अर्थ की व्यंजना है :

चहूँ पास समुझावहिं सखी। कहाँ सो अब पाइअ गा पँखी।।
जो लहि पिंजर अहा परेवा। अहा बाँदि कीन्हेसि नित सेवा।।
तेहि बँदि हुते जौं छूटै पावा। पुनि फिरि बाँद होई कित आवा।।
ओइँ उड़ान फर तहिऐ खाए। जब भा पंखि पाँख तन पाए।।

इन चौपाइयों में प्रथमतः तो पक्षी पर साधारण मानवीय भावना का आरोप किया गया है जो सामान्यतः बन्धन तोड़कर मुक्त हो जाना चाहता है। बेशक पिंजरा और बन्धन की उक्ति हमें आगे आने वाले आध्यात्मिक अर्थ के लिए भी तैयार करती है। लेकिन 'उड़ान का फल उसी दिन तोते ने खा लिया जब उसके शरीर में पंख उगे' यह उक्ति अर्थ के लौकिक एवं मानवीय पक्ष को पूरी संवेदना से व्यक्त करती है। आगे आने वाली आध्यात्मिक ध्वनि अर्थ पर अंकुश रखती है। पाठक के भावात्मक उद्रेक को यह पूरा वर्णन विपरीत प्रतीत होती हुई दिशाओं में संचालित करता है। जब पद्मावती के दुख और आँसुओं का वर्णन हुआ तो हमारी सह-अनुभूति पद्मावती के साथ जागृत की गयी। सखियों के समझाने के प्रकरण में वह सह-अनुभूति तोते के पक्ष में जागृत की गयी, जैसे ठीक ही हुआ कि तोता उड़ गया—मुक्त आकाश में उड़ान के फल खाने वाला पक्षी कब तक पिंजरे में बँधा रहता ? इस उद्रेक के तत्काल बाद धरती द्वारा सभी प्रियजनों को खा जाने और तोते के कालातीत लोक में चले जाने की उक्ति हमारी सह-अनुभूति को फिर उन लोगों की ओर वापस भेजती है जिनका प्रिय पात्र हमेशा के लिए बिछुड़ गया है।

फिर भी ये विपरीत भाव, व्यापक समूचे अर्थ में समरस होकर, विलीन हो जाते हैं। उनकी विपरीतता विलुप्त हो जाती है क्योंकि प्रकरण का प्रतिपाद्य अर्थ है सखियों का समझाना कि अब तोते को तलाश करने से कोई प्रयोजन नहीं सिद्ध होगा।

लेकिन यह प्रतिपाद्य अर्थ भी कथा-प्रबन्ध की धारा के प्रमुख अर्थ में अन्ततः विलीन हो जाता है। दोनों दोहों को साथ-साथ देखने पर यह स्पष्ट हो जायेगा। पहले दोहे में पद्मावती सखियों से कहती है :—

उड़ि वह सुअटा कहँ बसा खोजहु सखी सो बासु।
दहुँ है धरति कि सरग गा पवन न पावै तासु।।

और सखियाँ उत्तर में कहती हैं :

जहँ न राति  न देवस है जहँ न पौन न घानि।
तेहि बन होइ सुअटा बसा को रे मिलावै आनि।।

ये दोनों दोहे वस्तुतः लोकगीतों की परिचित प्रश्नोत्तर-शैली में गुंजरित हैं। लोकगीतों की प्रश्नोत्तर-शैली वस्तुतः न प्रश्न पूछती है, न उत्तर द्वारा प्रश्न का समाधान करती है। वह केवल भावों को संगीत-तत्त्व प्रदान करके अधिक मर्मस्पर्शी बनाती है। इस संगीत-तत्त्व की तरलता के लिए सुआ की जगह 'सुअटा' और बीच में 'रे' का प्रयोग भी उपयुक्त है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने नागमती के विरह-वर्णन में 'पिय सन कहहु सँदेसड़ा' में 'ड़ा' के प्रयोग के औचित्य को इसी भाँति परिलक्षित किया है। 'ऐसा शब्द उस दशा में मुँह से निकलता है जब हृदय प्रेम, माधुर्य, अल्पता, तुच्छता आदि में से कोई भाव लिये हुए होता है।' 'सुअटा' में प्रेम और स्नेह जनित अल्पता, दोनों भावों का समावेश है।

इस प्रकार जब पद्मावती सखियों से कहती है कि तोते को खोजो—तो अभिप्राय यह नहीं है कि सचमुच खोजने के लिए दूत दौड़ाये जायें। दोहे का यह वाच्यार्थ मूलतः पद्मावती के दुख की चरम अवस्था को ही व्यंजित करता है। इसी प्रकार जब सखियाँ पद्मावती को समझाती हैं कि अब पक्षी कहाँ मिलेगा, वह तो बन्धन तोड़कर अपने स्वभाव के अनुसार मुक्त हो गया अथवा शरीर से निकलने वाली आत्मा की भाँति अदृष्ट लोक में चला गया, तो वास्तविक अर्थ मात्र पद्मावती को विपरीत तर्कों द्वारा समझाना नहीं होता। कथा-प्रबन्ध की प्रमुख धारा के अनुसार तोते के उड़ जाने की घटना अपने आप में मर्मस्पर्शी, मूल्यवान् और प्रस्तुत प्रकरण में अन्तिम बनकर सजीव हो जाती है। सारा कथोपकथन लौकिक अथवा पारलौकिक संकेत, लोकगीतों की प्रतिध्वनि सब कुछ इसी सजीवता के सर्जनात्मक उपादान के रूप में तरंगित होता है। यही है बौद्धिक सघनता। इस सघनता को चित्रात्मक अथवा भावात्मक न कहकर बौद्धिक इसलिए कहा गया कि विचारों और भावों के सम्मिलित उद्रेक द्वारा घटना में मूल्यवत्ता का आयाम जुड़ता है।

कथा-प्रबन्ध में इस कथोपकथन के बाद जायसी इस प्रसंग को यहीं छोड़ देते हैं। हमें यह नहीं बताया जाता कि सखियों के इस समझाने का क्या प्रभाव हुआ और पद्मावती ने क्या कहा। इसकी आवश्यकता भी नहीं प्रतीत होती, क्योंकि व्यंजित अर्थ द्वारा इस बौद्धिक अर्थ की सिद्धि हो चुकती है कि तोते के उड़ जाने में एक अन्तिमता है और इस दिशा में कौतूहल का कोई प्रयोजन नहीं है। आगे की कथा 'तोते के साथ क्या हुआ' इस ओर जुड़ जाती है। वस्तुतः आगे के सौ से अधिक कड़वकों तक हमारी भेंट पद्मावती से नहीं होती, क्योंकि कथा का केन्द्र रतनसेन हो जाता है।

इस विश्लेषण के परिणामों को ध्यान में रखकर हम अन्य अवसरों पर भी दृष्टिपात कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, हम उस प्रसिद्ध प्रकरण की परीक्षा करें जहाँ सिद्ध-गोटिका देते समय महादेव रतनसेन को सिंहलगढ़ का रहस्य समझाते हैं। जायसी के शब्दों में :

गढ़ तस बाँक जैसि तोरि काया। परखि देखु तैं ओहि की छाया।।
पाइअ नाहिं जूझि हठ कीन्हें। जेइँ पावा तेइँ आपुहि चीन्हे।।
नौ पँवरी तेहि गढ़ मँझिआरा। औ तहँ फिरहिं पाँच कोटवारा।।
दसव दुआर गुपुत एक नाँकी। अगम चढ़ाव बाट सुठ बाँकी।।
भेदी कोइ जाइ ओहि घाटी। जौं लै भेद चढ़ै होइ चाँटी।।
गढ़ तर सुरँग कुण्ड अवगाहा। तेहि महँ पन्थ कहौं तोहि पाहाँ।।
चोरि पैठि जस सेंधि सँवारी। जुआ पैंति जेउँ लाव जुआरी।।
जस मरजिया समुँद धँसि मारै हाथ आव तव सीप।
ढूँढ़ि लेहि ओहि सरग दुआरी औ चढ़ु सिंहल दीप।। 215।।
दसवँ दुआर तारु का लेखा। उलटि दिस्टि जो लाव सो देखा।।
जाइ सो जाइ साँस मन बंदी। जस धँसि लीन्ह कान्ह कालिन्दी।।
तूँ मन नाँथु मारि के स्वाँसा। जौं पै मरहि आपुहि करु नाँसा।।
परगट लोकचार कहु बाता। गुपुत लाउ जासौं मन राता।।
हौं हौं कहत मन्त सब कोई। जौं तूँ नाहिं आहि सब सोई।।
जियतहिं जौ रे मरै एक बारा। पुनि कत मीचु को मारै पारा।।
आपुहि गुरु सो आपुहि चेला। आपुहि सब सो आपु अकेला।।
आपुहि मीचु जियन पुनि आपुहि तन मन सोइ।
आपुहि आप करै जो चाहै कहाँ क दोसर कोइ।। 126।।
सिद्धि गोटिका राजैं पावा। औ भै सिद्धि गनेस मनावा।।
जब संकर सिधि दीन्ह गोटेका। परी हूल जोगिन्ह गढ़ छेंका।

शुक्लजी समेत सभी विद्वानों और व्याख्याकारों का ध्यान इन पंक्तियों की ओर गया है। इसमें सन्देह नहीं कि गढ़ के इस वर्णन में तत्कालीन हठयोगी साधनाओं की शब्दावली का खुलकर प्रयोग हुआ है। इन पंक्तियों को अक्सर जायसी की आध्यात्मिक मान्यताओं के स्पष्टीकरण के रूप में व्याख्यायित किया जाता है और इस अतिरिक्त अर्थ के सहारे पूरे *पद्मावत* के सूफ़ी ग्रन्थ होने का प्रमाण प्रस्तुत किया जाता है।

इसके विपरीत, इन पंक्तियों का अर्थ कथा-प्रबन्ध में कुछ इस प्रकार का होगा– "पद्मावती के चले जाने के बाद राजा अत्यन्त व्याकुल होकर रोने लगा। उसकी विरहाग्नि की ज्वालाएँ सकल सृष्टि को जलाने लगीं। रतनसेन व्याकुल होकर

चिता में चढ़कर जल मरने को उद्यत हुआ। उस समय शंकर-पार्वती उसकी परीक्षा लेने आये। पार्वती के अप्सरा-रूप पर राजा मोहित नहीं हुआ। इस प्रकार परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ। राजा ने शंकर को सिद्ध पुरुप के रूप में पहचाना और रोता हुआ पैरों पर गिर पड़ा। शंकर ने उसे सिद्ध-गुटिका दी और समझाया कि निराश होकर आत्महत्या करने की कोई आवश्यकता नहीं है। राजा मन में हिम्मत बाँधे। न मृत्यु का भय करे, न और लोग क्या कहेंगे या करेंगे, इसकी चिन्ता करें। मन को एकाग्र करके, मरजिया बनकर आगे बढ़े, अवश्य सिद्धि प्राप्त होगी। गढ़ कठिन अवश्य है, लेकिन जान पर खेलने वाले के लिए दुर्भेद्य नहीं है। जिस प्रकार हठयोगी अपनी काया के चक्रों को भेद कर ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँच जाता है, उसी प्रकार यह गढ़ भी भेद्य है। शंकर की यह बात सुन कर राजा ने निराशा छोड़ दी और अन्य योगियों के साथ गढ़ को घेर लिया।"

ध्यान देने पर हम पायेंगे कि आध्यात्मिक रूपक के साथ कथा-प्रवन्ध का यह अर्थ वरावर प्रधान वना रहता है और इस नाटकीय विम्व के सहारे जायसी केवल उस आन्तरिक एकाग्रता और दृढ़ संकल्प को ही स्थापित करते हैं जिसने निराश राजा को प्रतीक्षा और रोना-धोना छुड़ाकर कुछ कर गुज़रने या जान दे देने पर उतारू किया। सिद्ध-गोटिका यद्यपि किसी चमत्कारी वस्तु की भाँति शंकर के हाथ से रतनसेन के हाथ में पहुँचाई गयी है, परन्तु आगे की घटनाओं में इस चमत्कारी वस्तु की कोई भूमिका नहीं दिखती। सुरंग से चढ़ने पर आधे रास्ते में पकड़े जाने और शूली तक पहुँचाये जाने पर भी सिद्ध-गोटिका से कोई कमाल दिखाने को नहीं कहा जाता। वस्तुतः सिद्ध-गोटिका उस आन्तरिक निर्णय का ही दूसरा नाम है जिसके सहारे राजा अपनी अन्तिम छलाँग लगाता है।

गहरे अर्थ में पूरा सिंहलद्वीप अंगरेज़ी शब्द 'यूटोपिया' द्वारा अभिव्यंजित उस आन्तरिक लोक का ही विम्बात्मक बाध्यीकरण है जो जायसी के मूल्यबोध का महत्त्वपूर्ण अंग है। यूटोपिया को हम क्या नाम दें ? मैं उसे जायसी से ही शब्द उधार लेकर 'सिंहल-लोक' कहूँगा। एक अर्थ में यह यूटोपिया ही है जो सूरदास के अन्तस् से द्वापर की ब्रजभूमि वनकर प्रकट होती है और तुलसीदास के अन्तस् में त्रेता के अवध की भाँति अवस्थित है। परन्तु सूरदास और तुलसीदास की यूटोपिया का आधार सामान्य समाज में पौराणिक विश्वास के रूप में पहले से ही उपस्थित है। अतः इस यूटोपिया की वास्तविकता अथवा उसका बाह्य स्वरूप इन कवियों के निजी संसार से अधिक है। पौराणिक विश्वासों का साधारणीकरण ब्रजभूमि या अवध को सचमुच इन कवियों से बाहर वस्तुपरकता प्रदान करता है और सूरदास या तुलसीदास की कथनात्मक वृत्ति इस कृष्णमय अथवा राममय यूटोपिया को आत्मसात् करने की है। इससे भिन्न जायसी के सिंहल-लोक की कोई पौराणिक अथवा साधारणीकृत

मिथक-सरीखी सत्ता नहीं है। सिंहल-लोक सौ फ़ीसदी कवि द्वारा निर्मित आन्तरिक दृष्टिकोण का वस्तु-सदृश प्रक्षेपण है। अधिक-से-अधिक कवि के मानस से बाहर उसका अस्तित्व उन अर्द्ध-जागरूक कवि-समयों या लोकगाथाओं में है जिन्हें परिश्रम से खोजकर शोधकर्ताओं और विद्वानों ने कहीं-कहीं परिलक्षित किया है। इसलिए जायसी का सिंहल-लोक निरन्तर आधे स्वप्न, आधी वास्तविकता की तरह आभासित होता है। *पद्मावत* का लेखक कवि है, भक्त अथवा साधक नहीं है और न उसे अपनी यूटोपिया के लिए किसी श्रद्धा-विश्वास-समन्वित पौराणिकता का ही आश्रय उपलब्ध है।

पौराणिकता मानवीय कल्पना की वह अवस्था है जहाँ आन्तरिक स्वप्न की देशकाल-विहीन यथार्थता देशकाल-निबद्ध जगत में घटित इतिहास को पूरी तरह भेद कर युगबद्ध हो जाती है। दोनों का अन्तर मिट जाता है। परन्तु जायसी का सिंहल-लोक इस प्रकार का नहीं है—वह इतिहास को भेदकर उससे एकात्म नहीं हो पाता। वस्तुतः जायसी की समस्या मूलतः यही है कि जहाँ दो तरह की पौराणिकताएँ एक-दूसरे का निषेध करके केवल विध्वंस और कट्टरपन को जन्म देती हों, जहाँ इतिहास आन्तरिकता के अभाव में वीराने में सुल्तान खड़े करता हो, वहाँ बिना पौराणिकता का आश्रय लिये काल और कालातीत, इतिहास और इतिहासातीत को कैसे जोड़ा जाये। यही समस्या कबीरदास के सामने थी जिसने उन्हें अक्खड़, प्रतिरोधी और वैकल्पिक स्वर दिया। यही समस्या जायसी को वह 'ट्रैजिक विज़न' प्रदान करती है जिसे हमने पहले विषाद-दृष्टि कहा। यह विषाद-दृष्टि इतिहास और इतिहासातीत के छटपटाते हुए सम्मिलन की भावभूमि किस प्रकार *पद्मावत* में चरितार्थ हुई है, इसको प्रत्यक्ष करने के लिए *पद्मावत* की पूरी बनावट के विश्लेषण की आवश्यकता है। आगे हम यह विश्लेषण करेंगे। सम्प्रति इस दृष्टि को ध्यान में रखकर ही हम ऊपर से आध्यात्मिक प्रतीत होने वाली शब्दावली के अर्थ को देखें जिसका प्रयोग शंकर ने गढ़ के वर्णन के लिए किया है।

अगर हम उन चौपाइयों के आध्यात्मिक अर्थ को जायसी की धार्मिक या आध्यात्मिक मान्यता की स्वीकृति के रूप में देखें तो तत्काल कई अड़चनें पैदा होती हैं। हठयोग या उससे मिलती-जुलती शुद्ध साधना क्या जायसी की मुख्य स्थापना है ? आरम्भ में ही शंकर कहते हैं कि हठ करके गढ़ को नहीं पाया जा सकता। अपने को पहचान कर ही उसे पाया जा सकता है। यहाँ हठयोग का निषेध है। हठयोग का निषेध जायसी ने अन्यत्र भी किया है। शंकर कहते हैं कि जिस प्रकार चोर सेंध में चुपचाप घुसता है, उसी तरह तुम स्वर्ग का द्वार खोज लो और चुपचाप चढ़ जाओ। प्रकट में लोकाचार की बातें करो, मन उसी पर स्थिर रखो जिसके रंग में रंग गये हो। परन्तु इस पिपीलिका-योग का तत्काल निषेध होता है क्योंकि शंकर

के हटते ही रतनसेन सब लोकाचार त्याग कर सरेआम गढ़ को घेर लेता है, मुख्य दरवाज़े से घुसने की कोशिश करता है। दरवाज़े फटाफट बन्द होने लगते हैं और तमाशा देखने के लिए औरतें छज्जों पर आ जाती हैं। जायसी ने इस हरकत पर एक टिप्पणी भी की है :

गुपुत जो रहै चोर सो साँचा। परगट होइ जीव नहिं बाँचा।।'

यह पिपीलिका-योग नहीं है, खँजड़ी की चोट, घेराव है। फिर अपने को पहचानने वाली भाषा आत्मज्ञान अथवा राजयोग की भाषा है। जायसी ने अन्यत्र कहा है–

मुहमद बाईं दिसि तजे एक सरवन एक आँखि।
जब ते दाहिन होइ मिला बोलु पपीहा पाँखि।।

यह दाहिने होकर प्रिय से मिलना क्या है ?–हठयोग या राजयोग या इनसे भी अलग कोई तीसरी चीज़ ?

शंकर बोलते-बोलते यहाँ तक कह जाते हैं :

आपुहि मीचु जियन पुनि आपुहि तन मन सोइ।
आपुहि आपु करै जो चाहै कहाँ क दोसर कोइ।।

यहाँ तक आते-आते अध्यात्म शुद्ध वेदान्त-जैसा हो जाता है। इसमें से कौन-सा मार्ग जायसी का अभिप्रेत है ?

इन अड़चनों के सामने डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने इस प्रकार व्याख्या की है : "योग के दो मुख्य रूप जायसी के समय में मान्य थे–एक हठयोग का चक्रभेदन काया जिसे पिपीलक-योग कहते थे; दूसरा, राजयोग का आत्मज्ञान था जिसे विहंग-योग कहते थे।" इस छन्द में जायसी ने अपनी गुह्य साधना के और विस्तारों का निरूपण किया है और खुलकर किया है। उसमें पुनः जीवन में ही एक बार मरण की आवश्यकता का प्रतिपादन अमरत्व और दिव्य ज्योति की प्राप्ति के लिए किया है। इस छन्द की अन्तिम पंक्तियों में जायसी का आत्मवाद वहुत मुखर है जो इस्लाम से विल्कुल भिन्न है।" डॉ. गुप्त का यह विवेचन जिज्ञासा का शमन नहीं करता, बल्कि और भी प्रश्न खड़े कर देता है। आत्मवाद की प्रतिष्ठापना को जायसी की आत्म-स्वीकृति और *पद्मावत* का प्रमुख सन्देश मान लेने पर तो जायसी न सिर्फ़ सीधे-सादे मुसलमान नहीं रह जाते, बल्कि एक तरफ़ *पद्मावत* और दूसरी तरफ़ *अखरावट* और *आख़िरी कलाम* में ऐसी कशमकश पैदा हो जाती है जिसका हल नहीं निकलता। जायसी ने सिंहल द्वीप के वर्णन में साधुओं और योगियों की एक चलताऊ फ़ेहरिस्त गिनाई है :

गढ़ मंडप चहुँ पास सँवारे। जपा तपा सब आसन मारे।।
कोइ रिखेस्वर कोइ संन्यासी। कोइ रामजन कोइ मसवासी।।
कोइ ब्रह्मचर्ज पँथ लागे। कोइ दिगंबर आछहिं नाँगे।।

कोइ सरसुती सिद्धि कोइ जोगी। कोइ निरास पँथ बैठ बियोगी।।
कोइ महेसुर जंगम जती। कोइ एक परखै देबी सती।।
सेवरा खेवरा वानपरस्ती सिध साधक अवधूत।
आसन मारि बैठ सब जारि आतमा भूत।। 30।।

यह सूची पूरी नहीं है। इसके अन्त में एक 'इत्यादि-इत्यादि' की ध्वनि छिपी हुई है। इस सूची में इन भाँति-भाँति के 'जपा-तपा' लोगों के लिए स्वीकृति या प्रतिबद्धता नहीं है और न प्रतिरोध या उपहास की ही भावना है। केवल एक तटस्थ उदारता है। यह तटस्थ उदारता ही जायसी की वास्तविक दृष्टि है। महादेव ने जो बातें रतनसेन को बताईं, उन्हें भी जायसी की इसी तटस्थ उदारता के सन्दर्भ में देखने पर जिन अड़चनों को हमने देखा, वे समाहित हो जायेंगी। किसी एक तथाकथित गुह्य साधना को जायसी के मत्थे मढ़ देना जायसी की आन्तरिकता को एक ऐसे खूँटे से बाँध देना होगा जिससे बँधने के लिए जायसी तैयार नहीं हैं।

इस सम्बन्ध में एक और प्रश्न की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा। हमने देखा कि घटना-क्रम में महादेव की सलाह के बिल्कुल विरुद्ध रतनसेन सीधे दरवाज़े से गढ़ में घुसने की चेष्टा करता है और प्रकट लोकाचार को छोड़ देता है। लेकिन आगे चलकर जब रतनसेन पकड़ लिया जाता है और यह प्रश्न खड़ा होता है कि पद्मावती से रतनसेन का विवाह कर दिया तो जायसी ऐसा क्यों करते हैं कि पहले यह प्रमाणित हो जाये कि रतनसेन वस्तुतः योगी नहीं राजा ही है। अन्तिम मिलन में यह योगी होना ही बाधा का कारण बनता है। भाट दसौंधी और हीरामन तोता यत्न करके राजा गन्धर्वसेन को समझाते हैं कि रतनसेन राजा ही है। आख़िरकार महादेव की सलाह या उनकी सिद्ध-गोटिका नहीं, बल्कि चित्तौड़ का राज्य और 'चौहान वंश' ही काम आता है। इतना ही नहीं, विवाह के बाद जब अकेले शयनागार में पद्मावती और रतनसेन का मिलन होता है तो पद्मावती फिर रतनसेन के योगी होने और खुद के राजकुमारी होने को लेकर रतनसेन की ख़ासी चुटकियाँ लेती है। यह सब कहना जायसी के लिए क्यों ज़रूरी है ? संयोग-शृंगार, जो शुद्ध साधना की चरम परिणति होना चाहिए था, राजा के अनुरूप युद्धस्थल के मुहावरे में क्यों वर्णित है ? इन ऊपर से विरोधी लगने वाले प्रकरणों का समाहार हम जायसी की अन्तर्दृष्टि को समझने के लिए किस प्रकार करें ? समाहार तो है—क्योंकि जायसी की भंगिमा ऐसी है कि इन छोटी भँवरियों के बावजूद कथाप्रवाह अपनी सरल अनवरुद्ध गति से चलता है, कहीं धक्का नहीं लगता, कहीं दिमाग़ चक्कर में नहीं पड़ता। कारण यही है कि भाषा का प्रयोग जिस स्तर पर जायसी ने किया है, उसमें यह सारी शब्दावली आन्तरिकता के सामान्य मुहावरे भर का प्रयोजन सिद्ध करती है, किसी एक अथवा अनेक गुह्य सिद्धान्तों का प्रतिबद्ध प्रतिपादन नहीं करती।

इसीलिए 'अपने को पहचानना' या 'बस एक ही रह जाता है, दूसरा कोई नहीं', इस तरह के वाक्यांशों को यदि हम आन्तरिक अखण्डता और भावनात्मक उत्कर्ष से अधिक किसी तरह के मतवाद की भाँति देखेंगे तो हम वही ग़लती करेंगे जिस तरह अचेतन-अवचेतन की शब्दावली देखकर लोगों ने इलाचन्द्र जोशी को फ्रायडवादी, अज्ञेय को मनोविश्लेषणवादी और ग़रीब-अमीर की खाई का ज़िक्र देखकर प्रेमचन्द को मार्क्सवादी चौखटे में कस देने का प्रयास किया।

जायसी के युग में मनुष्य की आन्तरिकता को व्यंजित करने वाले यही बौद्धिक मुहावरे थे। उन्होंने इन शब्दों का पारिभाषिक नहीं, भावात्मक उपयोग किया। इसीलिए इन शब्दों का अर्थवृत्त विशिष्ट अथवा साम्प्रदायिक नहीं बनता। वस्तुतः पारिभापिक शब्दावली के तो जायसी विरुद्ध खड़े हैं, वरना क़ुरान को पुरान या पाढ़ित, अल्लाह को गुसाईं, खालिक़ुल मुतलक़ को 'आदि एक करतारू' कहने की और सृष्टि में चौदह भुवनों की चर्चा करने की आवश्यकता क्यों पड़ती ?

बौद्धिक सघनता और वैचारिक प्रतिबद्धता के अन्तर को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हमारे सामने सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न स्वयं पद्मावती की व्याख्या का है जिस पर अव तक के सभी आलोचकों और विद्वानों की दृप्टि रही है। आचार्य शुक्ल ने पद्मावती को भागवत-प्रतीक के रूप में देखा। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने पद्मावती की इस आध्यात्मिक भूमिका के साथ विभिन्न स्थलों से जायसी की चौपाइयों की व्याख्या करके पद्मावती के पारस-रूप, जगव्यापी प्रतिविम्बवाद, विभिन्न बाधाओं के पार चमकने वाले परम लक्ष्य की भाँति व्याख्यायित किया। आधुनिक आलोचना में *पद्मावत* को सूफ़ी ग्रन्थ बनाने में इस व्याख्या का बहुत बड़ा हाथ है। लेकिन यह सारी व्याख्याएँ, सारा प्रतिबिम्ववाद या प्रतीकवाद आधी कहानी या सिंहल-लोक वाली पद्मावती पर ही लागू होता है। बाद वाली पद्मावती इस विश्व-ज्योति की व्याख्या में नहीं समाती। क्यों ?

अब तक के विवेचन से यदि हमने जायसी की मूल सर्जनात्मक वृत्ति तक पहुँचने में कुछ भी उपयोगी परिणाम निकाले हैं तो अब तक के सूफ़ीवादी व्याख्याकारों को विनयपूर्वक प्रणाम करके हम जायसी की मानवीय उद्भावनाओं के मध्य में ही पद्मावती को रखना उचित समझेंगे। पद्मावती को आध्यात्मिक प्रतीक का दर्जा देना न पूरे कथा-प्रबन्ध का अभीष्ट है, न जायसी की वास्तविक तलाश।

अब हम अपनी उधेड़-बुन के उस केन्द्र में पहुँचते हैं जहाँ पूरी कथा की बनावट और जायसी की शिल्प-विधि के विश्लेषण की आवश्यकता है। वस्तुतः हमारी खोज पद्मावती की नहीं, *पद्मावत* की होनी चाहिए। अव तक की आलोचना में पद्मावती की खोज ने आलोचकों को *पद्मावत* की खोज से काफ़ी हद तक विमुख ही रखा है।

---

**विजयदेव नारायण साही**

# साहित्य क्यों

शायद आप में से अधिकांश ने ग़ालिब का वह प्रसिद्ध शेर सुना होगा :

सुख़न में ख़ामः-ए-ग़ालिब की आतश अफ़शानी
यक़ीं है हमको भी, लेकिन अब उसमें दम क्या है

साहित्य क्यों ? इस प्रश्न को पूछने के साथ हम एक ऐसे सन्दर्भ की कल्पना कर सकते हैं जहाँ लेखक अपनी स ारी ज़िन्दगी तन्मयता और लगन के साथ साहित्यिक रचना में गुज़ारने के बाद अपने पूरे कार्यकाल पर वापस मुड़कर देखता है, शायद उसने अपने रचना कर्म से अपने से बाहर कुछ निर्मित करने की आशा की थी। परिवेश पर कुछ प्रभाव डालने की, किसी कल्पना लोक का सृजन करने की जिसकी साक्षी और लोग भी दे सकें, समाज या मनुष्यता को बदलने की या कम-से-कम अपने विषय में लोगों में एक ख़ास तरह का रुझान पैदा करने की। जब सारी ज़िन्दगी के बाद वह इसमें से कुछ भी घटित होता हुआ नहीं देखता—सचमुच या भ्रमवश—तब वह पूछता है, इसमें दम क्या है ? शायद ग़ालिब का प्रश्न इसी मनःस्थिति को व्यक्त करता है—कुछ हृदय की पुकार, कुछ प्रतिरोध की भावना, कुछ अपने कर्म के प्रति गहरी प्रतिबद्धता और कुछ थकान और हताशा। कहा जा सकता है कि बाद में ग़ालिब को जितना व्यापक आकर्षण मिला वह उनके प्रश्न का पर्याप्त प्रत्युत्तर है और सिद्ध करता है कि ग़ालिब का सवाल कितना भ्रमपूर्ण और क्षणभंगुर था। लेकिन क्या सचमुच ग़ालिब का सवाल इतना स्थूल, इसलिए निरर्थक और क्षणभंगुर है ? क्या इस प्रश्न में एक ऐसा गुण नहीं है जो तमाम रस्मी उत्तरों के बाद भी शान्त नहीं होगा ? रचनाकर्म के पूरे विस्तार में अनुभूत लेकिन अदृश्य हवा की तरह मँडराता रहता है ?

अगर सब उत्तरों के बाद भी यह प्रश्न शेष रह जाता है तो ग़ालिब के लहजे से हम इतना तो सीख ही सकते हैं कि सामान्य और यशोगान वाले उत्तरों से काम नहीं चलेगा। इस प्रश्न को और उस पर उपजी प्रतिक्रिया को सघन, प्रत्यक्ष और तात्कालिक होना पड़ेगा। इसलिए मैं इस प्रश्न को आपके सामने विचारार्थ प्रस्तुत करते समय भरसक सघन संदर्भ को ही निर्मित करने की कोशिश करूँगा। एक अर्थ

में यह प्रश्न इतना पुराना और दूरदराज़ का है कि इसे विस्मृत या उत्तरित मानकर चला जा सकता है। कम-से-कम आज के रचनाकर्म से इसका कोई ख़ास रिश्ता नहीं दीखता। क्या इसका कोई और अर्थ भी है ? जिस अर्थ में यह प्रश्न सिर्फ़ बीती हुई रचनाओं पर सिंहावलोकन या सिर्फ़ थकान या मोहभंग से नहीं उपजता बल्कि बीते हुए, वर्तमान और आने वाले सृजनात्मक क्षणों में भी कभी प्रत्यक्ष, कभी परोक्ष गूँजता है ? दूसरे शब्दों में क्या यह प्रश्न जीवित सृजन क्रम से जुड़ता है ? मैं समझता हूँ कि यह अनुगूँज है। मेरी कोशिश होगी कि उस अनुगूँज के सम्बन्ध में कुछ आनुषंगिक प्रश्न आपके सामने रख दूँ। स्पष्टतः इस प्रश्न के उत्तर में मैं कोई सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं करूँगा। न शायद विषय प्रवर्तक से आप इस तरह की उम्मीद ही करेंगे।

ग़ालिब के शेर के बाद मैं विनयपूर्वक इस सिलसिले में एक व्यक्तिगत बातचीत का उल्लेख करने की इजाज़त चाहूँगा। इस लेख को लिखने के पूर्व मैंने आज के रचनारत कवि, जिन्हें अपना मित्र कहने का सौभाग्य मुझे है, श्री सर्वेश्वरदयाल सक्सेना से पूछा कि "साहित्य क्यों ?" इस विषय पर उनकी क्या प्रतिक्रिया है ? उन्होंने प्रश्न का उत्तर सीधे न देकर एक विडम्बना प्रस्तुत की। उस विडम्बना को उन्होंने कुछ इस तरह परिभाषित किया : उनके अनुसार सवाल यह है कि हम कितने बड़े या छोटे साहित्यिक सन्दर्भ में इस प्रश्न को पूछते हैं। अगर हमारे सामने साहित्य का इतना विशाल चित्रफलक है जिसमें वाल्मीकि, होमर, कालिदास, शेक्सपीयर, गेटे, टाल्सटाय इत्यादि सब बड़े भारी काल विस्तार में प्रकाशमान हैं तो प्रश्न का आकार बहुत छोटा या लगभग अनर्गल-सा हो जाता है। मनुष्यता का इस साहित्यिक विस्तार के प्रति व्यवहार इस 'क्यों' का शमन कर देने के लिए काफ़ी होना चाहिए। दूसरी तरफ़ जब वे आज के विशिष्ट देश-काल में—या और प्रत्यक्ष शब्दों में इस 1970 के भारतवर्ष में हिन्दी के किसी रचनारत लेखक की ओर या स्वयं अपनी ओर देखते हैं, और साथ ही साथ अपने समूचे समाज की गिरावट, कुल मिलाकर एक मानव-व्यापी असमर्थता, नपुंसकता और इस सबको ढकने के लिए आज के कवच-पर-कवच धारे मनुष्य को देखते हैं तो इस प्रश्न का आकार बढ़ता जाता है—और लगता है कि प्रश्न सटीक है और शायद आवश्यक भी।

मेरे विचार से सर्वेश्वरजी ने विडम्बना को जिस ढंग से रखा उसमें आज के लेखक के लिए मात्र अपने बिछड़ जाने का सामान्य अनुभव नहीं है जिसका जवाब आज नहीं तो कल हर लेखक को मिल जाता है। यह विडम्बना भी कुछ ज़्यादा प्रखर ढंग से उसी ओर संकेत करती है कि सब उत्तरों के बाद प्रश्न शेष रह जाता है और सृजन कर्म पर दबाव डालता है। साहित्य की एक ख़ास क़िस्म की उपादेयता, अर्थवत्ता या मूल्यवत्ता जो विशाल चित्रफलक को सहज ही उपलब्ध है—किन कारणों

से छोटे और विशिष्ट सन्दर्भ में घटित नहीं हो पाती ? किन कारणों से और किन अर्थों में वाल्मीकि या कालिदास का साहित्य होना सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की सहायता नहीं कर पाता ? हम सब जानते हैं कि हिटलर के जिन सिपाहियों के ज़िम्मे बन्दी केन्द्रों में नृशंसता के साथ लोगों की चमड़ी उधेड़ने का काम था, उनमें से बहुतों के बीच शेक्सपीयर बहुत लोकप्रिय था। इसके लिए किसकी प्रशंसा की जाये ? शेक्सपीयर की ? साहित्य की ? या उन नाज़ी कोतवालों की ? मैं उम्मीद ही कर सकता हूँ कि सर्वेश्वरजी को कभी ऐसी परिस्थितियों में लोकप्रिय होने का बोझ नहीं उठाना पड़ेगा। लेकिन यदि दुर्भाग्य से ऐसा हुआ, तो सर्वेश्वरजी की पुस्तक के बग़ल में पड़ी हुई शेक्सपीयर की पुस्तक उनकी सहायता कहाँ तक करेगी ? किस अर्थ में करेगी।

शायद इस ढंग से इस प्रश्न को रखना सिर्फ़ एक तनाव को पैदा करना है। इसलिए मैं फिर कुछ व्यापक शब्दावली में प्रश्नों को दोहराने की अनुमति चाहूँगा। यदि परम्परित उत्तर आज के लेखन कर्म के लिए ज्यों के त्यों उपलब्ध नहीं हैं तो इस प्रतीति के क्या नतीजे आज के लेखन कर्म के लिए निकलते हैं ? यदि हम मान भी लें कि परम्परित उत्तरों से बचकर हम नहीं जा सकते तो भी उन उत्तरों को हम किस तरह अपने आज के रचना कर्म के लिए जीवन दे सकते हैं ? क्या हम इस टूटी हुई कड़ी को जोड़ सकते हैं ? विशाल चित्रफलक और सृजनशील बेचैन रेखा के बीच जो खाई है वह हमारे लिए किन चुनौतियों का निर्माण करती है ? इस विडम्बना का सामना करने या उससे कतराने का क्या परिणाम है ? क्या हम छलाँग लगाकर इस विडम्बना से बाहर निकल सकते हैं ? प्रश्नों की एक लम्बी क़तार एक के बाद एक दिखलायी पड़ती है।

मैं यह स्वीकार करता हूँ कि लेखक के लिए ज़रूरी नहीं है कि इन तमाम सवालों का जवाब दे। मेरा इरादा इस तरह के उत्तरों की शुरुआत करने का है भी नहीं। उन लोगों के लिए जो आज की गोष्ठी में उपस्थित और रचना कर्म में स्वयं प्रवृत्त नहीं हैं, केवल साहित्य के पाठक हैं। मैं सिर्फ़ उन सीमाओं का संकेत देना चाहता हूँ जो रचना में लगे हुए लेखक के लिए प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से, ज़्यादातर परोक्ष रूप से लेखन कर्म को घेरती रहती हैं और उस अनवरत तलाश को जन्म देती हैं जिसे हम रचा जाता हुआ साहित्य कहते हैं। और उन सज्जनों के लिए, जो स्वयं रचना में रत हैं और जिनकी ओर से मुझे सिर्फ़ इसलिए चुना गया है कि विषयप्रवर्तक के रूप में मैं उन अस्पष्ट ध्वनियों को रूपायित कर दूँ जिनसे वे स्वयं अवगत हैं, मैं केवल परिभाषाकार का काम कर रहा हूँ। मैं केवल इतनी आशा कर सकता हूँ कि ये प्रश्न उन्हें अपने अनुभवों और अनुभूतियों को याद दिलायेंगे और उन विचार-शृंखलाओं को झंकृत कर देंगे जिन्हें सुनने के लिए हम आज यहाँ उपस्थित हुए हैं।

इसके पूर्व कि मैं कुछ और पहलुओं की चर्चा करूँ इस विडम्बना से बच निकलने के लिए सिद्धान्ततः दो आसान रास्तों का उल्लेख करूँगा। एक तो यह कि कर्म को ऐसी नैसर्गिक प्रक्रिया के रूप में देखा जाये जिस पर लेखक का वश नहीं है। साहित्य कुछ इस तरह लिखा जाता है जिस तरह बुलबुल गाती है। यहाँ क्यों का प्रश्न अनर्गल है। मैं नहीं समझता कि कोई व्यक्ति आज इस तर्क को गम्भीरतापूर्वक प्रस्तुत करेगा। जिस अर्थ में बुलबुल का गाना नैसर्गिक है, स्पष्टतः लेखक का लेखनकर्म उस अर्थ में नैसर्गिक नहीं है।

दूसरा आसान रास्ता व्यावहारिक है। 'साहित्य क्यों' इस तरह का प्रश्न ऐसे लोगों के बीच उठाने का क्या प्रयोजन है जो इस क्यों को सोचने के पहले ही लेखन-कर्म के प्रति प्रतिबद्ध हो चुके हैं ? शायद हर लेखक की ज़िन्दगी में एक ऐसा समय आता है जब उसे अपने आप से प्रश्न पूछना पड़ता है। जब संक्रामक रोग की तरह लगी हुई साहित्यिक कृतित्व की पहली उत्तेजना ढीली पड़ने लगती है। ज़्यादातर लोग इसका एक चालू उत्तर दे डालते हैं। लेकिन मैं समझता हूँ कि एक स्तर पर हर गम्भीर लेखक के मन में प्रश्न शेष रह ही जाता है। रचना का हर कर्म साथ ही साथ इस प्रश्न से उलझने या इससे कतराने का कर्म भी बनता रहता है। आख़िरकार वास्तविकता इतनी ही नहीं है कि लेखक कवि है इसलिए कविता लिखता है। ज़्यादा मूलभूत सत्य यही है कि लेखक कविता लिखता है इसलिए कवि है।

लेकिन व्यावहारिक स्तर पर भी लेखकों का इस तरह किसी गोष्ठी में इकट्ठा होना अपने आपमें विचित्र और असंगत स्थिति है, अगर हम यही संकल्प करें कि सृजनशीलता एक ऐसा कर्म है जिसके लिए सहकर्मियों के साथ संवाद की कोई सार्थकता नहीं है। मैं मानकर चलता हूँ कि इस संवाद की सार्थकता है—चाहे वह संवाद आमने-सामने हो या देश-काल के बड़े अन्तराल को पार करके। मगर यह बात ठीक है तो इस संवाद में साहित्य क्यों का प्रश्न अन्ततः उठेगा ही। इस स्तर पर इस प्रश्न का स्वरूप कुछ इस तरह का होगा : क्या इस संवाद की कोई भूमिका सृजन-कर्म में है ? क्या लेखकों को इस तरह की गोष्ठियों की उपयोगिता है—उस स्पष्ट उपयोगिता के अतिरिक्त प्रचार और मेल-जोल के द्वारा (जो इस तरह की गोष्ठियों में अनिवार्य है) उस माहौल का निर्माण किया जाये कि इस समय कौन ज़्यादा कौन कम प्रतिष्ठित है ?

साहित्य के रचना-कर्म और साहित्य को प्रतिष्ठित करने की प्रक्रियाओं को लेकर भी बहस उठायी गयी है। जैसे वे दोनों परस्पर विरोधी और एक दूसरे को विध्वंस करने वाली प्रक्रियाएँ हों। इस पहलू पर भी कुछ बातें कहना चाहूँगा। समाज में साहित्य को प्रतिष्ठादान करने वाली मशीनरी—गोष्ठियाँ, विश्वविद्यालय, प्रचार,

पुरस्कार, सम्मान, अभिनन्दन—संक्षेप में वह सब जिसे प्रतिष्ठान का नाम दिया जाता है (और जिसमें विद्रोह का प्रतिष्ठान भी शामिल है) ये सब साहित्य के अनिवार्य सम्बन्धी हैं। यह प्रतिष्ठादानी मशीनरी भी साहित्य के उस विराट चित्रफलक से ही अपनी सार्थकता ग्रहण करती है जिसका ज़िक्र मैंने पहले किया। लेकिन अक्सर यह प्रतिष्ठान उस बेचैन रेखा के साथ जो विडम्बना का दूसरा छोर है उत्पात करता है। क्या यह सम्भव है या क्या यह वांछनीय है कि इस प्रतिष्ठादानी मशीनरी को ध्वस्त कर दिया जाये ?

लगभग दो दशक पहले इंग्लैण्ड में साहित्य के सन्दर्भ में प्रतिष्ठान का अलग से नामकरण किया गया और सृजनशील-कर्म या लेखक की निजी अनुभूति की परिभाषा कुछ इस तरह की गयी कि प्रतिष्ठान मात्र का विध्वंस साहित्य के अस्तित्व से जुड़ा हुआ है। आज भी हम उस प्रतिष्ठान-विरोध की कुछ धमक सुन सकते हैं। क्या सम्भव या वांछनीय है कि प्रतिष्ठादानी मशीनरी को ध्वस्त कर दिया जाये ? मुझे सम्भावना और वांछनीयता दोनों में ही संदेह है। मैं कल्पना करता हूँ कि अगर किसी जादू से समाज की प्रतिष्ठादानी मशीनरी बिलकुल ख़त्म हो जाये—पुरस्कार, गोष्ठियाँ, पत्र-पत्रिकाएँ, विश्वविद्यालय सब हों, लेकिन ये सब साहित्य के प्रति चुप्पी साध लें—तो क्या कुछ ही दिनों में ये तमाम लेखक मिलकर इस प्रतिष्ठादानी मशीनरी को फिर से निर्मित नहीं कर डालेंगे ? यूरोप के लेखक का जो भी अनुभव हो और उसके नारे का जो भी मतलब हो—लेकिन भारतवर्ष की भाषाओं में पिछले सौ या अधिक वर्षों से क्या हम इस प्रतिष्ठान के निर्माण में लेखकों को रत नहीं देखते ?

समूचा साहित्य जन्म लेते ही प्रतिष्ठान की विकराल दाढ़ों में समाने लगता है। प्रतिष्ठान की दाढ़ों की चक्की बहुत सटीक या पूरी विचक्षणता के साथ नहीं चलती। इसीलिए बहुत कुछ बाहर गिर जाता है, या जो कुछ भी पिसकर, चिकना होकर मानवता की धरोहर के रूप में प्रतिष्ठान से हमें मिलता है उसमें बहुत-सा हमारे लिए स्वीकार्य भी नहीं होता। लेकिन केवल इसी आधार पर साहित्यिक सृजन और प्रतिष्ठान के दो विपरीत और परस्पर विरोधी ध्रुवों की कल्पना कर लेना प्रतिष्ठान की प्रकृति को ग़लत समझना है। इससे भी आगे साहित्य की प्रकृति पर एक झूठा नक़ाब डालने की कोशिश है। हम ऐसे प्रतिष्ठान की कल्पना कर सकते हैं जो सौ फ़ीसदी अचूक और विचक्षण हो। चुनाव में न सही तो इसमें कि जो कुछ भी चुनाव से छूट जाये उसका नितान्त विनाश प्रतिष्ठान कर दे और जो कुछ भी चुना जाये उसे अस्वीकृत करने वाले संशय का भी विनाश कर दे। इस तरह का प्रतिष्ठान शायद अनन्तकाल तक अपनी सत्ता की गारण्टी तो नहीं दे सकता लेकिन इतना तो किया ही जा सकता है कि प्रतिष्ठान का संशोधन प्रतिष्ठान के अंगों के अतिरिक्त

और किसी प्रतिष्ठान-विरोध से संभव न हो। इस शताब्दी का ही मानवीय इतिहास इसके उदाहरण प्रस्तुत कर चुका है। साहित्यहीन प्रतिष्ठान की कल्पना तो की जा सकती है लेकिन प्रतिष्ठानहीन साहित्य की कल्पना असंभव है।

साहित्यिक परिवेश में बहुत-सी धूल, गर्द, गुबार, दिलों का टूटना, ग़द्दारी और बेइमानी की शिकायत—विद्रोह, फिर विद्रोह के प्रति विद्रोह, तेज ईमानदार गुस्सा और फिर उस ईमानदार गुस्से का पाखंड की शक्ल अख़्तियार कर लेना—यह सब साहित्य और प्रतिष्ठान के रिश्ते को ग़लत ढंग से प्रस्तुत करने का परिणाम है। असली समस्या इस रिश्ते को ख़त्म कर देने की नहीं है बल्कि प्रतिष्ठान को कुछ ज़्यादा लचीला, विविध और ज़िम्मेदार बनाने की है। सिद्धान्ततः अचूक कहे जाने वाले प्रतिष्ठान के मुक़ाबले में मैं ऐसे प्रतिष्ठान को पसंद करूँगा जो चूक की संभावना को स्वीकार करके चले और इस जागरूकता के साथ उसमें विविधता और लोच हो। उस लोच और विविधता की क्या शर्तें होंगी—जैसे ही हम इस पर विचार करेंगे हमें 'साहित्य क्यों' इस प्रश्न से उलझना पड़ेगा।

पिछले 20-25 वर्षों में भारतीय साहित्य में शायद सबसे ज़्यादा विप्लवी चेतना 'विश्व साहित्य' जैसी धारणा की चेतना रही है। मेरी यह क्षमता तो नहीं है कि मैं आपके समक्ष भारत की सभी भाषाओं के साहित्य के बारे में कुछ कर सकूँ। मुझ से आशा यही की जायेगी कि मैं अपने नतीजे हिन्दी के अनुभव से ही निकालूँगा। लेकिन आदरपूर्वक इतना निवेदन अवश्य करना चाहूँगा कि जो कुछ भी थोड़ी जानकारी मुझे है, 'विश्व साहित्य' की अवधारणा की चेतना ने सभी जगह एक विशिष्ट प्रेरकशक्ति की भूमिका अदा की है।

इस चेतना के प्रभावी होने का ढंग क्या रहा है ? बीस-पच्चीस वर्षों की सीमा लगाने का तात्पर्य क्या है ? 'विश्व साहित्य' की चेतना भारतवर्ष में आज़ादी के पहले भी विद्यमान और सक्रिय थी। लेकिन मुख्यतः इस चेतना का स्वरूप महान् उपलब्धियों की चेतना का था। इसके केन्द्र में थी यूरोपीय सभ्यता या संस्कृति की महान् प्रतिष्ठित विभूतियाँ। यह यूरोपीय सभ्यता या संस्कृति फलतः एक पूर्ण निर्मित वस्तु थी, एक ऐसी तस्वीर जिसके सारे रंग भरे जा चुके थे और जो उस समय की स्थायी और असुविधाजनक दुनिया पर एक ख़ासतौर की रोशनी फेंकती थी। बीसवीं सदी के तीसरे और चौथे दशक वाले भारतीय मानस के लिए यूरोप के प्रकाश स्तम्भ मुख्यतः पूर्ण निर्मित और समूचे अर्थों वाले, पूरी तरह अवतरित प्रकाश स्तम्भ थे—ऐसे आदर्श जिन्हें या तो स्वीकार किया जा सकता था या जिन्हें अस्वीकृत किया जा सकता था। ये ही दो विकल्प थे। इन आदर्शों के प्रतिरोधी लगभग उसी तरह प्राचीन भारत के प्रकाश स्तम्भ थे जो उतने ही दूर, अलग-अलग अपने आप में सम्पूर्ण—पूरी तरह बाहर अवतरित प्रकाश स्तम्भ थे। जो अतीत की स्वतः पर्याप्त

सभ्यता के प्रतीक थे—दूसरे शब्दों में आदर्श थे। भारतवर्ष का सर्जनात्मक मानस 'विश्व साहित्य' के दबाव को महसूस करता है—लेकिन आदर्शों की तरह। एक आदर्श का विकल्प दूसरा आदर्श है।

दूसरे महायुद्ध के बाद की परिस्थिति ने, जो भारतवर्ष के लिए स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद की स्थिति भी है, इस तस्वीर को बदल दिया। युद्धोत्तर परिस्थिति गोरी सभ्यता को एक पूर्णतः निर्मित वस्तु की तरह नहीं, बल्कि एक ऐसी वस्तु की तरह प्रस्तुत करती है जिसमें ठहराव नहीं है। उसमें निरन्तर ऐसे परिवर्तन हैं जिनकी कल्पना भी पहले नहीं की गयी थी। इस बदली हुई या बदलती हुई परिस्थिति में चेतना पर 'विश्व साहित्य' की अवधारणा का दबाव विप्लवी बनकर पड़ता है—समसामयिक, निरन्तर बदलता हुआ—कुछ ऐसा जो ख़ास अर्थों में बीसवीं शताब्दी के नाम से अभिहित किया जाता है। इस बीसवीं सदी को एक सर्वमान्य नामकरण की तरह महसूस किया गया—उस समस्त संपुंज के लिए जिसमें तूफ़ान और भूकम्प हैं, विज्ञान और यांत्रिकी की चुनौतियाँ हैं, समाज को आमूल बदल डालने के निमित्त प्रयोग हैं, औसत आदमी की ज़िन्दगी को नये सिरे से ढालने के सपने हैं बड़े पैमाने पर उत्पादन है, महानगर हैं, निरन्तर उठते हुए जीवन-स्तर हैं—और इस अभियान के बीच व्यक्ति के निजी, परम्परित या भावुक विश्वासों के लिए कोई जगह नहीं है। संक्षेप में 'विश्व साहित्य' की इस चेतना ने 'आधुनिक' या 'समसामयिक' की मुद्रा ग्रहण कर ली जिससे हम सब परिचित हैं और साहित्य बीसवीं शताब्दी की तीर्थयात्रा पर निकल पड़ा।

आज हम उस समय मिल रहे हैं जब इस तीर्थ-यात्रा के पहले उत्साह को बीते हुए काफ़ी कुछ अरसा गुज़र गया है। बीसवीं शताब्दी ढल रही है। इसका अवसर आ गया है कि हम थोड़ा तटस्थ होकर देखें—क्या इस सारे कुहराम में कोई अर्थ रहा है ? इतिहास की इस कभी उत्तेजित, कभी हताश गति में क्या कोई ऐसी रूपरेखा रही है, जो याद किये जाने के योग्य हो ? शीघ्र ही, शायद हम में से बहुतों की ज़िन्दगी में, इक्कीसवीं शताब्दी की शुरुआत होते ही यह बीसवीं शताब्दी उस सबके लिए पर्याय बन जायेगी जो ख़त्म हो चुका है, मर चुका है—हमेशा के लिए दूर जा चुका है, उस समय यह बीसवीं शताब्दी कैसी दीखेगी ?

अलग-अलग दिशाओं में खिंचती हुई यह चरमराती हुई कोशिशें, यह गति और प्रति गति, बढ़ते हुए पानी के ऊपर मुँह निकाले रहने की छटपटाहट, मनुष्य को मानवीय बनाने की असम्भावना और साथ-साथ व्यापक सृजनशील कर्म में अवसन्न आस्था—साहित्यिक सृजन के ये सारे सन्दर्भ किस तरह दीखेंगे ? क्या इतिहास में हमें क्रान्ति के मोह में पड़ी हुई शताब्दी की तरह याद किया जायेगा—जिस तरह आज हम उन्नीसवीं शताब्दी को प्रगति के मोह से आविष्ट शताब्दी के नाम से

पुकारते हैं ? क्या साहित्य ढलती हुई बीसवीं शताब्दी के मन में गहरे घुमड़ने वाले इन बेचैन और विप्लवी प्रश्नों की अनुभूति कराने में सक्षम है ?

बीसवीं शताब्दी ढल रही है, मैंने उस सन्दर्भ को प्रस्तुत करने की कोशिश की है जिसमें आज साहित्य रचा जा रहा और जिसके साथ रिश्ता जोड़कर साहित्य को अर्थवत्ता देने की कोशिशें हो रही हैं। बहुत-सा बदलाव, उलट-फेर इस छटपटाहट से उपजा है। इस सन्दर्भ में ही 'साहित्य क्यों' का दबाव हमारी सृजनशीलता पर पड़ता है। 'बीसवीं शताब्दी' की अवधारणा ने इस चेतना को जन्म दिया कि बड़े पैमाने पर साहित्य विश्व स्तर पर सभ्यता और संस्कृति से उलझने का प्रयास है। इसी से 'विश्व साहित्य' की कभी धुँधली, कभी अस्पष्ट तस्वीर का निर्माण होता है। यह मान्यता काफ़ी हद तक बीस-पच्चीस वर्षों में अन्तर्निहित रही है कि विश्वसभ्यता या संस्कृति के इस अभियान की सृजनशील ज़िम्मेदारी की दिशा तय हो चुकी है। साहित्य के लिए प्रश्न इतना ही है कि उस ज़िम्मेदारी को किस तरह की उन्मुक्तता स्वीकार करती है और किस तरह की उन्मुक्तता उससे कतराती है।

जिस तरह की विडम्बना का ज़िक्र सर्वेश्वरजी ने किया, या प्रतिष्ठान और प्रतिष्ठान-विरोध के नारों में जिस गर्दोगुबारवाली उत्तेजना का दर्शन हमें होता है, वे सब इस परिस्थिति के उदाहरण हैं कि हमारे लिए साहित्यिक सन्दर्भ की बीसवीं शताब्दी वाली वनी बनायी मान्यता को स्वीकार करके चलना निरन्तर कठिन होता जा रहा है, मैंने शुरू में जो तार्किक बहस उठायी उसका उद्देश्य केवल इतना था कि इस कठिनाई के एहसास को अवरुद्ध करने वाले जो भी तार्किक गुंजलक हमने अपनी कल्पना के चारों ओर लपेट लिये हैं उनसे बाहर निकल जाने का रास्ता साफ़ हो और हम इस ढलती हुई बीसवीं शताब्दी के यथार्थ को उसके मोहक आवरणों से थोड़ा अलग करके देख सकें।

स्वप्नदर्शी मन जब सपने देखते-देखते रुक जाता है और उन सपनों को कहीं साकार होते नहीं पाता तो ख़तरनाक पाखण्ड में पड़ता है—वह पाखण्ड यथार्थ के किसी उदाहरण को जल्दी से स्वप्न का साकार रूप मान लेने का; ताकि अपने को स्वप्न की सार्थकता का आश्वासन दे सके, या फिर बहुत कड़ुवाहट और तेज़ी के साथ उन स्वप्नों पर आक्रमण शुरू करता है। इस आक्रमण की शक्ल चीख़ती हुई मूल्यहीनता, अर्थहीनता और बड़बड़ाहट की होती है। दोनों ही शक्लें उस घबराये हुए ज़िद्दी मन की हैं जो स्वप्न और यथार्थ की दुर्लंघ्य खाई को तो देखता है लेकिन उन आधारभूत मान्यताओं पर प्रश्नचिह्न नहीं लगाना चाहता जिसके कारण इस खाई का निर्माण हुआ है।

बीसवीं शताब्दी के बहुत से अन्तर्विरोधों में से एक का उल्लेख उदाहरण के लिए काफ़ी है। हमने बीसवीं सदी को मूलतः यान्त्रिकी और वैज्ञानिक उन्नति, विपुल

उत्पादन और निरंतर विकासमान जीवन स्तर के रूप में प्रतिबिम्बित किया। इस प्रतिबिंब में एक स्वप्नलोक जैसा गुण है। यथार्थ और स्वप्न के इस मिले-जुले रूपाकार को ही हमने बीसवीं शताब्दी का नाम दिया। काल के भीतर से विकसित होते हुए इस स्वप्न ने ही दैत्य की तरह दुनिया को गति दी या गतिहीनता पर कोड़े लगाये। यह प्रतिबिंब ही सारी दुनिया पर एक इकाई होने का ठप्पा लगाता है। उम्मीद की गयी कि साहित्य अपनी विविध आवाज़ों के साथ इस आधारभूत परिभाषा के साथ सामंजस्य स्थापित करेगा। लेकिन बीसवीं शताब्दी ने परिभाषा के इस दर्पण में अपनी जो छाया देखी—उसमें साहित्य या साहित्यिक सृजनशीलता का कोई समावेश है ही नहीं। अगर छाया सचमुच ऐसी ही है तो अब तक साहित्य को चुप हो जाना चाहिए था। साहित्य निर्मित होता रहा है, यह इसका प्रभाव है कि साहित्य ने मानव सभ्यता से उलझने के अपने दावों के बावजूद या तो दोयम दर्जे की भूमिका स्वीकार कर ली या फिर दर्पण में दिखती छाया सही नहीं है। इस शताब्दी के आरम्भ में स्पेंगलर ने जो छाया देखी थी उसमें साहित्य अनुपस्थित था। स्पेंगलर द्वारा दी हुई परिपाभा स्वीकार कर ली गयी लेकिन उसके परिणामों को नहीं स्वीकार किया गया—यही अन्तर्विरोध है। इसी अन्तर्विरोध से छुटकारा पाने के लिए साहित्य ने इस शताब्दी में विश्वस्तर पर अपने को नये रूपों में ढालने की कोशिश की है—क्या अन्तर्विरोध से छुटकारा सचमुच मिल गया ? जिस युगबोध को बार-बार ध्वनित करने की कोशिशें की गयीं—वह सब रह-रहकर बीमार आदमी के करवटें बदलने की तरह क्यों लगता है ?

क्या इस आधारभूत मान्यता पर प्रश्नचिह्न लगाने का अवसर आ गया है ? हममें से अधिकांशतः जो बीसवीं शताब्दी की इस छाया के निर्माता कम रहे हैं, उत्साहित दर्शक अधिक रहे हैं, अक्सर इस बेचैनी को महसूस करते रहे हैं और तमाम विप्लवी प्रभावों के बावजूद इस बेचैनी के लक्षण भारतीय साहित्य में दीखते रहे हैं। अक्सर इस बेचैनी की रूपरेखा सामने स्पष्ट नहीं रही है और उसने आधारभूत प्रश्न का स्वरूप तो बड़े पैमाने पर शायद नहीं लिया। संशय की धुँधली आवाज़ें ज़रूर आती हैं। जिस रूप में—मानव-सभ्यता के जिस स्वप्न के रूप में—यह बीसवीं शताब्दी हमारे लिए संदर्भ प्रस्तुत करती रही है—क्या वह सचमुच हमारा वास्तविक सन्दर्भ है—या सिर्फ़ एक मायालोक है जो हमें थोड़ा आविष्ट और थोड़ा हताश छोड़ जाता है ? इस विडम्बना के भीतर से हमारी पर्याप्त प्रतिक्रिया की आवाज़ क्या है ?

विषय प्रवर्त्तन के लिए लिखे गये लेख की सीमा होती है। जैसा मैंने पहले ही निवेदन किया, मेरा काम सन्दर्भ को उजागर करने भर का है। कोई सिद्धान्त या मतवाद प्रस्तुत करने का नहीं। आज की तमाम साहित्यिक चीख़-पुकार, आन्दोलन,

टकराहट, गिरोह-बन्दियों, घोषणापत्रों की सतह के नीचे अगर मैं किसी हद तक उस गहरे अतल की ओर आपको उन्मुख कर सका हूँ, और आप महानुभावों को इस विचार-विमर्श में योगदान देने के लिए कुछ भी प्रेरित कर सका हूँ तो मैं अपने काम को पूरा समझूँगा। मेरे लिए इतना काफ़ी होगा यदि मैं आपके सम्मुख स्पष्ट कर सका हूँ कि जिन मान्यताओं के ऊपर हम खड़े हैं उन पर फिर एक बार प्रश्नवाचक दृष्टि डालने की ज़रूरत है।

अन्त में, कवि सर्वेश्वर के ही कुछ शब्दों को उद्धृत करके मैं अपने इस विषय प्रवर्त्तन को समाप्त करने की इजाज़त चाहूँगा।

पाँव रखते ही<br>
बाँस का पुल चरमराता डोलता है<br>
कहीं नीचे बहुत गहरे<br>
अतल खाई है।

---

# प्रेमा पुमर्थो महान्

हजारीप्रसाद द्विवेदी का पहला प्रकाशित लेख है 'वैष्णव कवियों की रूपोपासना' (1933) और पहली प्रकाशित पुस्तक *सूर साहित्य* (1936)। बीस वर्ष बाद उन दिनों को याद करते हुए उन्होंने लिखा था कि उन दिनों इस महान भक्त की कविता का नशा था। (*सूर साहित्य*, द्वितीय संस्करण, निवेदन, 1955) वैसा नशा फिर भले न हुआ हो, लेकिन बाद की रचनाएँ बतलाती हैं कि उसका असर कभी गया नहीं। शायद इसलिए कि वह प्रथम प्रेम था। इस कृष्ण भक्ति में उन्हें एक नया मन्त्र मिला था—प्रेम सबसे बड़ा पुरुषार्थ है : प्रेमा पुमर्थो महान्। इस मन्त्र का प्रभाव था एक नया जन्म ! इस मन्त्र को पाकर स्वयं सूरदास एक अन्धे भिखारी से ऊपर उठकर सूरदास हो गये—सूर शूर हो गये थे।

*चौरासी वैष्णवों की वार्ता* तो बहुतों ने पढ़ी और वल्लभाचार्य से सूरदास के मिलन का उल्लेख भी किया; किन्तु द्विवेदीजी के लिए वह घटना इतनी महत्त्वपूर्ण थी कि उसका उल्लेख उन्होंने अनेक बार किया है और बहुत रस लेकर किया है। उन्हें उस घटना में विशेष अर्थ मिला। महाप्रभु ने जब सूरदास को कुछ सुनाने का आदेश दिया, तो उन्होंने गाया : 'प्रभु हौं सब पतितन कौ नायक' और 'प्रभु हौं सब पतितन कौ टीकौ।' प्रभु ने दो ही भजन सुने और फिर डाँटकर कहा—"सूर है कै ऐसो घिघियात काहे को हौ, कछु भगवत् लीला वर्णन करि।" इस पर सूर ने अपना अज्ञान बताया तब महाप्रभु ने उपदेश किया। सूरदास को ज्ञानोदय हुआ और उन्होंने यह पद गाया : 'चकई री चल चरन सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग।' आचार्य सन्तुष्ट हुए। बाद को सूरदास ने यह पद सुनाया 'ब्रज भयौ महर के पूत जब यह बात सुनी।' यह *सूर सागर* की शुरुआत थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह पद ब्रज में 'महर' के पूत—कृष्ण के ही होने की सूचना नहीं है—उनके भक्त सूरदास के भी जन्म का उद्घोष है।

क्या इस वार्ता में स्वयं हजारीप्रसाद द्विवेदी के नये जन्म की आत्मकथा निहित नहीं है ? शान्तिनिकेतन आने पर रवीन्द्रनाथ से मिलने की घटना का ज़िक्र करते हुए अपने संस्मरणों में द्विवेदीजी ने एक जगह भाव-विह्वल भाषा में लिखा है—"उनके

पास जाने से बराबर यह अनुभव होता था कि मैं छिन्नवृन्त तूलखण्ड की भाँति व्यर्थ ही इधर-उधर मारे-मारे फिरने के लिए नहीं बना हूँ।" (*मृत्युंजय रवीन्द्र*, पृ. 7)

याद करें तो यह 'छिन्नवृन्त तूलखण्ड' सूरदास का 'जहाज का पंछी' ही है जिसके भटकने की पीड़ा ही उसके परम आश्रय का अर्थ-सन्दर्भ है। अपने अन्तिम दिनों के लिखे एक लेख 'यह अन्धा गायक कौन था ?' (1978) में द्विवेदीजी ने इस भटकने की पीड़ा का बड़ा ही मार्मिक चित्र खींचा है। लिखते हैं : "यह अन्धा मनुष्य जो महाप्रभु वल्लभाचार्य की शरण में गया था, जो अपने को 'सब पतितन कौ टीकौ', 'जनमत ही कौ पातकी' बताकर व्याकुल वेदना से 'घिघिया' उठा था (स्वयं महाप्रभु ने ही इस शब्द का प्रयोग किया था) और अपने को भगवत्‌लीला के विषय में अनजान बताया था, वह कौन था ? वह किन अवस्थाओं में अन्धा हुआ था; कहाँ-कहाँ भटकता हुआ गऊघाट पहुँचा था; कितना अपमान, कितनी अवहेलना, कितना तिरस्कार पा चुका था, इसका कुछ भी पता नहीं है। किस बड़भागी माता-पिता ने उसे जन्म दिया था, किन निदारुण परिस्थितियों में उनका यह लला दर-दर भटकनें को मजबूर हुआ था, कोई नहीं जानता। किसी ने जानने की परवा भी नहीं की। जिसका दृढ़ विश्वास हो गया था कि मैं 'जनमत ही कौ पतित' हूँ, 'सब पतितन को नायक' हूँ, वह कितना उपेक्षित हो चुका होगा, कितना अपमानित जीवन बिता चुका होगा, किन असहाय परिस्थितियों में जीने की दुर्वार लालसा ने उस भरमते-भटकते को विवश किया होगा—हमें बिल्कुल नहीं मालूम। अलौकिक चमत्कारों के विश्वासी हमारे इस देश के लोगों ने मान लिया कि वह तो जन्मान्ध होकर दिव्यदृष्टि सम्पन्न था, या फिर उसने अपनी आँखों को कुमार्ग में प्रवृत्त होते देख स्वयं फोड़ लिया था, या पूर्वजन्म के अभिशाप और वरदान की आँख-मिचौनी के कारण इस जन्म में अन्धा होकर भी दिव्यदृष्टि पाकर नित्यलीला-विहार का साक्षी बना रहा, इत्यादि-इत्यादि। उसे कभी कोई कष्ट नहीं हुआ, दुख नहीं हुआ, जलती रेत में पटकी हुई मछली की भाँति कभी छटपटाया नहीं, हाहाकार की झंझा उसके हृदय को कभी विकल वेदना से झटका नहीं दे गयी—सब प्रकार से सन्तुष्ट, सब प्रकार से विगतशंक, दिव्यदृष्टि-सम्पन्न लोकोत्तर पुरुष ! परन्तु भरमा वह अवश्य था। सारे कष्टों की कहानी अब मालूम नहीं, पर उसे भटकना अवश्य पड़ा था।" (ग्रन्थावली, 4/161)

जिस अनुभूति के साथ सूरदास के भरमने और भटकने की पीड़ा का वर्णन किया गया है, वह केवल सूरदास तक ही सीमित नहीं लगती। जो हो, कृष्ण की भक्ति का महत्त्व इस भटकन की पीड़ा से त्राण में है। जो अपने आपको पतित समझने के लिए विवश किये गये थे वे भक्तवत्सल कृष्ण की शरण में आकर इस पाप-बोध से मुक्त हुए और उनमें आत्म-गौरव का संचार हुआ। *बाणभट्ट की*

*आत्मकथा* में जब बाणभट्ट पहली बार नारायणभक्त सुचरिता से उसकी कुटिया में मिलते हैं तो सुचरिता यही कहती है : "मानव देह केवल दण्ड भोगने के लिए नहीं वनी है, आर्य ! यह विधाता की सर्वोत्तम सृष्टि है। यह नारायण का पवित्र मन्दिर है। पहले इस बात को समझ गयी होती, तो इतना परिताप नहीं भोगना पड़ता। गुरु ने मुझे अब यह रहस्य समझा दिया। मैं जिसे अपने जीवन का सबसे बड़ा कलुष समझती थी, वही मेरा सबसे बड़ा सत्य है। क्यों नहीं मनुष्य अपने सत्य को देवता समझ लेता आर्य ?" (आवृत्ति बारहवीं, 1979 पृ. 182)

सुचरिता को इस सत्य का साक्षात्कार तब हुआ जब उसमें अपने समस्त कर्मों को नारायण को समर्पित कर देने का भाव आया। तभी तो वह बाणभट्ट से कहती है : "मन क्यों नहीं समझ पाता आर्य, कि वह किसी कार्य का उत्तरदायी नहीं है ? वासुदेव के रहते इतना वृथा सोच क्यों करता है वह ?" (वही, पृ. 183)

जो बात इतने सीधे सहज शब्दों में सुचरिता ने कही है, यही तो वल्लभाचार्य का आदेश था। आचार्य के 'अणुभाष्य' का कथन है : "कर्म दुख रूप तब होता है जब वह अभिमानपूर्वक किया जाता है कि 'मैं कर रहा हूँ।' ब्रह्मविद् जो कर्म करता है वह अपने को कर्त्ता मानकर नहीं, ब्रह्म को असली कर्त्ता मानकर। इस प्रकार उसके सारे कर्म ब्रह्म को अर्पित हो जाते हैं। जिस प्रकार जगत के सारे व्यापारों को वह ब्रह्म-प्रयत्न के रूप में देखता है वैसे ही अपने कर्मों को भी। सबकुछ करता हुआ भी वह समझता है कि मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ। इस प्रकार व्यक्तिगत सत्ता का लोकसत्ता में लय हो जाने से प्रिय-अप्रिय की परिमित भावना का परिहार हो जाता है। इस दशा को प्राप्त जीव कर्त्ता और भोक्ता होकर भी दुख से परे रहता है।"

मध्ययुग में इस दिव्य दर्शन नें दुखी प्राणी को कितनी राहत दी होगी, इसका अनुमान करना कठिन नहीं है। फिर भी यह प्रश्न तो रहता ही है कि मनुष्य में पाप-बोध क्यों जगता है ? द्विवेदीजी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में यह प्रश्न उठाया है और इसके उत्तर की ओर भी संकेत किया है। 'आत्मकथा' में बाणभट्ट कहते हैं– "निपुणिका ने कल कहा था कि मेरी ही शपथ करके तुम सत्य-सत्य कहो आर्य, मेरा कौन-सा ऐसा पाप-चरित्र है जिसके कारण मैं आजीवन दुख की निदारुण भट्ठी में जलती रही, क्या स्त्री होना ही मेरे अनर्थो की जड़ नहीं है ? इन शब्दों में कितना मर्मान्तक दुख है यह मैं ही जानता हूँ। निपुणिका में इतने गुण हैं कि वह समाज और परिवार की पूजा का पात्र हो सकती थी, पर हुई नहीं। इतने दिनों से साथ हूँ, उसके चरित्र में मैंने कहीं कोई कलुष नहीं देखा। वह हँसमुख है, कृतज्ञ है, मोहिनी है, लीलावती है–ये क्या दोष हैं ? मेरा चित्त कहता है कि दोष किसी और वस्तु में है, जो इन सारे सद्गुणों को दुर्गुण कहकर व्याख्या करा देती है। वह वस्तु क्या

है, निश्चय ही कोई बड़ा असत्य समाज में सत्य के नाम पर घर बना बैठा है।" (वही, पृ. 243) इसी प्रसंग में द्विवेदीजी का वाणभट्ट अन्यत्र कहता है कि "मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धों की जड़ में ही कहीं कोई बहुत बड़ा दोप रह गया है।" (वही, पृ. 242)

बाणभट्ट जिस सामाजिक दोष की ओर केवल संकेत करके रह जाता है, उसे बाबा अघोर भैरव बहुत पहले अपनी दो-टूक साफ़ भाषा में उससे कह चुके थे। बाबा ने कहा था– "देख रे ! तेरे शास्त्र तुझे धोखा देते हैं। जो तेरे भीतर सत्य है, उसे दबाने को कहते हैं; जो तेरे भीतर मोहन है, उसे भुलाने को कहते हैं; जिसे तू पूजता है उसे छोड़ने को कहते हैं। मायाविनी है यह मायाविनी, तू इसके जाल में न फँस। समस्त पुरुषों को भरमा रही है, स्त्रियों को सता रही है, माया का दर्पण पसारे है। तू उसे नहीं देखता, मैं देख रहा हूँ।" (वही, पृ. 77)

मध्ययुगीन समाज के सन्दर्भ में यह 'माया दर्पण' सामन्ती-पुरोहिती व्यवस्था है जिसके शस्त्र के रूप में शास्त्रों ने पाप-पुण्य के कठोर नियम बनाये और इस तरह पाप के भय से मनुष्य को वन्दी बनाये रखा। *सूर-साहित्य* में द्विवेदीजी ने सप्रमाण दिखलाया है कि मध्यकाल के आरम्भ में किस प्रकार बड़े-बड़े निबन्ध-ग्रन्थों और टीका-ग्रन्थों की रचना हुई, जिनका एकमात्र प्रयोजन था "मनुष्य की दुर्बलता को दबाने के लिए कठोर-से-कठोर विधि-व्यवस्था का आयोजन।" इस प्रसंग में द्विवेदीजी ने यह भी लिखा है कि इस प्रयास में टीका युग के पण्डित असफल रहे। इनकी तुलना में सूरदास जैसे महापुरुष कहीं अधिक सफल रहे क्योंकि "महापुरुषों की विशेषता यह है कि वे मनुष्य की दुर्बलता को पहचानते हैं और इन्हीं दुर्बलताओं को, उसकी रक्षा के लिए उपयुक्त प्रहरी बना देते हैं।" यह सब किस प्रकार सम्भव होता है, इसकी व्याख्या करते हुए आगे वे कहते हैं : "ये दुर्बलताएँ हैं क्या चीज़ ? नरक भय, दण्ड, अभिशाप आदि के नाम पर मानव जाति के कल्याणकामी शास्त्रकारों ने विधि-निपेध की सीमाएँ निर्धारित कर दी हैं। परन्तु जिस प्रकार हवा बाँधने से नहीं रुकती, उसी प्रकार मनुष्य की प्रकृति भी बन्धन से नहीं बँधती। एक तरफ़ बाँधने से वह दूसरी ओर निकल पड़ती है—भयानक वेग से। यह दूसरी ओर निकली हुई प्रवृत्तियाँ मनुष्य की दुर्बलताएँ हैं। जिन दिनों टीका युग के विद्वान 'तथा हि' और 'अपि च' की धुआँधार वर्षा के साथ शास्त्रों का आदेश मानव समाज पर लाद रहे थे उन्हीं दिनों :

जोवन-मद जन-मद मादक-मद धन-मद विध-मद भारी।
काम-विवश परनारि भजत दुइ पंचसरहिं फिरि मारी।।

सूरदास आदि सन्त कवियों ने इसी विरुद्धगामी प्रवृत्ति को भगवान की ओर फेर देने की चेष्टा की और आश्चर्यजनक सफलता पायी।" (सूर साहित्य, पृ. 77.78)

यदि इस कथन को फ्रायडीय भाषा के खोल से हटाकर धर्मशास्त्रों के ठोस ऐतिहासिक सन्दर्भ में देखें तो स्पष्ट हो जायेगा कि मानवीय प्रवृत्तियों का दमन सामन्ती दमन का ही एक अंग है। अमानवीकरण की यह प्रक्रिया शासक वर्गों के दमन का प्रमुख अस्त्र रही है। सामन्ती युग में इस दमनकार्य के लिए शासक वर्ग धर्म का सहारा लेता था, और आधुनिक पूँजीवादी युग में धर्म के अतिरिक्त वैज्ञानिक-तार्किक-व्यावहारिक नीतिशास्त्र का भी। इस दिशा में स्वयं मार्क्स ने तो संकेत किया ही है, हर्बर्ट मार्कुज़े ने इस दमन की व्याख्या के लिए *इरोस एण्ड सिविलिज़ेशन* नामक पूरी पुस्तक ही लिखी है। कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी में सूरदास आदि का भक्तिकाव्य इस सामन्ती दमन के विरुद्ध मानवीय विद्रोह था।

द्विवेदीजी ने *सूर-साहित्य* में प्रवृत्तियों के दमन का जो विरोध किया है उसकी अनुगूँज आगे चलकर *बाणभट्ट की आत्मकथा* में भी सुनायी पड़ती है। बाणभट्ट बाबा अघोर भैरव के एतद्विषयक उपदेश का सार अपने ढंग से निउनिया को समझाते हुए कहते हैं कि "प्रवृत्तियों को दबाना भी नहीं चाहिए और उनसे दबना भी नहीं चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति का देवता अलग होता है। देवता का परिचय शायद प्रवृत्तियाँ ही कराती हैं। हम बहुत बार अपने देवता को मन-ही-मन पूजते तो रहते हैं, पर हमें पता नहीं होता।" (पृ. 90) बाबा की एक बात बाणभट्ट दबा गये कि "त्रिभुवन मोहिनी ने जिस रूप में तुझे मोह लिया है, उसी रूप की पूजा कर, वही तेरा देवता है।" (पृ. 86)

प्रेमाभक्ति की चर्चा में *बाणभट्ट की आत्मकथा* की सहायता लेने पर शायद आपत्ति की जा सकती है। इसलिए स्पष्टीकरण के लिए भट्टिनी की इस घोषणा का उल्लेख आवश्यक है कि "मुझे भागवत धर्म में यह पूर्णता दिखायी देती है।" (पृ. 259) इसके अतिरिक्त यह अकारण नहीं है कि इस कथाकृति के सभी प्रमुख चरित्र–निपुणिका, भट्टिनी, सुचरिता यहाँ तक कि स्वयं बाणभट्ट भी या तो महावराह के उपासक हैं या नारायण के। यह भी कम संकेतपूर्ण नहीं है कि उपन्यास का 'उपसंहार' करते हुए व्योमकेश शास्त्री अपनी ओर से यह टिप्पणी जोड़ना ज़रूरी समझते हैं– "मध्ययुग के किसी-किसी कवि ने राधिका की इस उत्कट अभिलाषा का वर्णन किया है कि वे समझ सकतीं कि कृष्ण उनमें क्या रस पाते हैं। श्रीकृष्ण ने भी कहते हैं, राधिका की दृष्टि से अपने को देखना चाहा था और इसीलिए नवद्वीप में चैतन्य महाप्रभु के रूप में प्रकट हुए थे। काव्य की और धर्मसाधना की दुनिया में जो कल्पना थी उसे दीदी ने अपने जीवन में सत्य करके दिखा दिया।" (पृ. 294) इस प्रकार 'आत्मकथा' की पूरी परिकल्पना ही कृष्ण-भक्ति की एक निगूढ़ भावना में विन्यस्त की गयी है।

जहाँ तक भक्ति के प्रसंग में तान्त्रिक अवधूत बाबा अघोरनाथ के विचारों के

औचित्य का प्रश्न है, वह भी सर्वथा संगत और प्रासंगिक है। द्विवेदीजी का प्रतिपाद्य ही यह है कि कृष्ण भक्ति के विकास में तन्त्र की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। *बाणभट्ट की आत्मकथा* में सुचरिता के गुरु वेंकटेश भट्ट का परिचय 'श्रीपर्वत से आये हुए वैष्णव तान्त्रिक' के रूप में दिया गया है जो एक समय उड्डीयानपीठ में सौगततन्त्र की उपासना करते थे। (पृ. 173-174) उल्लेखनीय है कि *सूर-साहित्य* का प्रथम अध्याय 'राधा-कृष्ण का विकास' है जिसके अन्त में यह कहा गया है कि "व्रजभाषा काव्य की युगलमूर्ति का परिचय अपूर्ण ही रह जायेगा यदि हम तन्त्रवाद और सहजवाद का रहस्य न समझ लें।" (पृ. 33) कृष्णभक्ति में सहजमत की यह धारणा अन्तर्भुक्त हुई कि मनुष्य अपने सहज स्वाभाविक रास्ते में ही भगवान को प्राप्त कर सकता है। (पृ. 34) इसके अतिरिक्त "तन्त्रवाद के ससीम रस से सीमाहीन की उपलब्धि के सिद्धान्त ने तात्कालिक जन-समुदाय को, सखा रूप से, प्रिय रूप से, कृष्ण की उपासना के प्रति अग्रसर कर दिया था।" (पृ. 35) द्वितीय अध्याय 'स्त्रीपूजा और उसका वैष्णव रूप' में यह दिखाया गया है कि "शाक्तों का एक सम्प्रदाय जो पराशक्ति की उपासना स्त्री-रूप से करता था इसका प्रभाव भागवत सम्प्रदाय पर भी पड़ा।·· राधा और गोपियों के रूप में तन्त्रशास्त्र का उक्त अंग भी इसमें सुलभ हो गया।" (पृ. 39) इसी क्रम में द्विवेदीजी ने यह भी दिखाने का प्रयास किया है कि वैष्णव भक्ति-विशेषतः चैतन्य देव के वैष्णव सम्प्रदाय में परकीया-प्रेम को जो इतना ऊँचा स्थान दिया गया है वह भी एक तरह से तान्त्रिक साधना का ही परिमार्जित रूप है। (पृ. 40)

कृष्णभक्ति के मूल स्रोत ढूँढ़ने के लिए तन्त्रादिक साधनाओं तक दौड़ इसलिए लगानी पड़ी कि भक्ति के विषय में ग्रियर्सन जैसे पण्डित ने "अचानक बिजली की कौंध के समान फैल जाने" की बात लिख दी; यही नहीं, बल्कि उन्होंने इसे ईसाई-प्रभाव भी वता डाला। इसलिए प्रतिवादस्वरूप द्विवेदीजी को अतीत से अनेक तथ्य जुटाकर पहले तो यह साबित करना पड़ा कि 'बिजली की कौंध' प्रतीत होनेवाली भक्ति के प्रकाश के लिए "सैकड़ों वर्षो से मेघखण्ड एकत्र हो रहे थे।" फिर यह भी दिखलाना पड़ा कि हिन्दू भक्तों का पाप-बोध ईसाई धर्म के पाप-बोध से तत्त्वतः भिन्न है। द्विवेदीजी के शब्दों में "सूरदास आदि भक्त कवियों का पाप बाह्य या आगन्तुक वस्तु है, परन्तु ईसाई भक्तों का पाप आन्तर और स्वाभाविक है।" (पृ. 71) इस पूरे खण्डन-मण्डन में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि "सूरदास आदि स्वभावतः अपने आपको पापात्मा नहीं समझते।" (पृ. 70) स्पष्ट है कि यदि मनुष्य स्वभावतः पापात्मा नहीं है और पाप बाह्य आरोप है तो इस बाहरी स्रोत का पता लगाकर उससे निपटने की कोशिश की जा सकती है। स्वयं भक्तों में यह चेतना कितनी थी, यह बात विवादास्पद हो सकती है किन्तु द्विवेदीजी द्वारा प्रस्तुत हिन्दी

भक्ति काव्य की व्याख्या यह चेतना जाग्रत करती है, इसमें सन्देह नहीं।

प्रेम पाप नहीं है, बल्कि मनुष्य का 'स्व-भाव' है और इस स्वभाव को स्वीकार करके ही चरम लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है—यह स्थापित करने के लिए ही द्विवेदीजी ने गोया *अनामदास का पोथा* नामक अपना अन्तिम उपन्यास लिखा। रैक्व की पीठ को जब से जाबाला का स्पर्श प्राप्त हुआ तभी से उसमें एक सनसनाहट-सी होती है और उसे वह खुजलाया करता है। भगवती अरुन्धती पूछती हैं तो वह कहता है कि वह तो पाप का फल है। मैंने पाप किया था, उसी का दण्ड भोग रहा हूँ। इस पर भगवती समझाती हैं कि यह जो सनसनाहट है वह पाप के कारण नहीं है, मन के कोने में छिपी हुई किसी दुर्दम अभिलाष-भावना की देन है। यह बात तू कभी न सोच कि तूने पाप किया और उसका दण्ड भोग रहा है। नहीं, इसमें पाप की कोई बात नहीं है। कुछ देर बाद इस प्राण के उपासक ऋषिकुमार को दार्शनिक स्तर पर उसकी समस्या का समाधान करते हुए भगवती फिर बतलाती हैं कि तुम्हारा झुकाव प्राण-तत्त्व की ओर है, और तुम ब्रह्म के प्रिय रूप को अपनाने में समर्थ हो। महाज्ञानी याज्ञवल्क्य ने प्राण की उपासना करनेवाले को 'प्रिय ब्रह्म' का अधिकारी बताया था। रैक्व यह गूढ़ दर्शन ठीक से समझ नहीं पाता तो भगवती उसे जनक-याज्ञवल्क्य संवाद का पूरा ब्योरा देते हुए फिर कहती हैं कि 'प्रियता' प्राण से ही तो प्रकट होती है—तभी तो कहते हैं 'प्राण-प्रिये !' निष्कर्ष यह कि तुम्हारा स्वभाव प्रेम है। उसी के माध्यम से तुम सत्य का साक्षात्कार कर सकते हो। इस प्रकार *अनामदास का पोथा* मनुष्य की उस मूलभूत 'कामभावना' की अकुण्ठ प्रतिष्ठा करता है जो पाप के नाम पर निर्मित समस्त वर्जनाओं को चुनौती देती है। 'प्राण' शक्ति के रूप में कामभावना का निरूपण करके द्विवेदीजी यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि यह मनुष्य की आन्तरिक ऊर्जा है जो उसके विकास का बीज है। भगवती अरुन्धती की दार्शनिक व्याख्या एक प्रकार से प्रेमनिष्ठ भक्ति का ही मूलमन्त्र है।

इस पाप-बोध जगानेवाले वर्ग से निपटने के लिए भक्तों के पास सबसे अमोघ अस्त्र था—प्रेम। आश्चर्य नहीं कि पुरोहिती हितों के पोषक पण्डितों ने सबसे अधिक कोप इस 'प्रेम' पर ही प्रकट किया। कोप का एक रूप तो यह है कि इसे अभारतीय कहकर अग्राह्य बना दिया जाये। विचित्र विडम्बना है कि हिन्दी भक्ति-काव्य के अनेक लोकवादी मूल्यों के प्रशंसक आचार्य शुक्ल ने भी भक्तिकाव्य के प्राण 'प्रेम' को अभारतीय कहा। भक्ति-सम्प्रदाय में प्रेम का ही दूसरा नाम माधुर्य भाव है। यह माधुर्य भाव कबीर और जायसी में भी है तथा सूर और मीरा में भी। जायसी आदि सूफ़ियों के काव्य में प्रेम का महिमा-गान देखकर आचार्य शुक्ल को कुछ ऐसा विश्वास हो चला कि यह माधुर्य भाव मूलतः फ़ारसी परम्परा की वस्तु है और इस प्रकार अभारतीय है। उन्होंने कुछ कटुता के साथ लिखा कि "भारतीय भक्ति का

सामान्य रूप रहस्यात्मक न होने के कारण इस 'माधुर्य भाव' का अधिक प्रचार नहीं हुआ। आगे चलकर मुसलमानी ज़माने में सूफ़ियों की देखा-देखी इस भाव की ओर कृष्णभक्ति शाखा के कुछ भक्त प्रवृत्त हुए। इनमें मीराबाई हुईं जो 'लोक-लाज खोकर' अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के प्रेम में मतवाली रहा करती थीं।'' मीरा को व्यंग्य का लक्ष्य बनाने के वाद आचार्य ने लिखा कि ''चैतन्य महाप्रभु में सूफ़ियों की प्रवृत्तियाँ साफ़ झलकती हैं।'' फिर निर्गुण धारा के सन्तों का ध्यान आया तो कहा कि ''निर्गुण धारा के कबीर, दादू आदि सन्तों की परम्परा में ज्ञान का जो थोड़ा-बहुत अवयव है वह भारतीय वेदान्त का है, पर प्रेमतत्त्व बिल्कुल सूफ़ियों का है। इसमें से दादू, दरिया साहब आदि तो ख़ालिस सूफ़ी ही जान पड़ते हैं। कवीर में 'माधुर्य भाव' जगह-जगह पाया जाता है।'' इसके अतिरिक्त स्वयं ''जायसी ने इश्क़ के दास्तानवाली मसनवियों के प्रेम के स्वरूप को प्रधान रखा है।''

इस प्रकार भक्तिकाल के प्रेम और माधुर्य भाव को फ़ारसी की सूफ़ी काव्य-परम्परा का प्रभाव कहकर आचार्य शुक्ल ने अपनी भारतीय परम्परा से उन्हें बाहर कर दिया। इस 'प्रेम' को अभारतीय कहने का कारण यह है कि वह 'ऐकान्तिक' और--'लोक बाह्य' है। शुक्लजी की दृष्टि में एक तुलसीदास को छोड़कर प्रायः सभी भक्त कवियों का प्रेम 'ऐकान्तिक' है। कबीर, सूर, मीरा आदि का प्रेम तो 'ऐकान्तिक' है ही, शुक्लजी के अति प्रिय जायसी का *पद्मावत* भी एक नागमती विरहवाले प्रसंग को छोड़कर मुख्यतः 'प्रेमगाथा' ही है।

जायसी के सन्दर्भ में इस प्रेम की 'ऐकान्तिकता' की व्याख्या करते हुए शुक्लजी ने लिखा है– ''वह संसार की वास्तविक परिस्थिति के वीच नहीं दिखाया जाता, संसार की और सव बातों से अलग एक स्वतन्त्र सत्ता के रूप में दिखाया जाता है। उसमें जो घटनाएँ आती हैं वे केवल प्रेममार्ग की होती हैं, संसार के और व्यवहारों से उत्पन्न नहीं। साहस, दृढ़ता और वीरता भी यदि कहीं दिखायी पड़ती है, तो प्रेमोन्माद के रूप में, लोक कर्त्तव्य के रूप में नहीं।''

शुक्लजी के इस आरोप का खण्डन करने के लिए द्विवेदीजी का केवल यह एक वाक्य काफ़ी है : ''(इस ऐकान्तिक प्रेम) में लोकमर्यादा का अतिक्रम दोष नहीं गुण समझा जाता है।'' (सूफ़ी साधकों की मधुर साधना, *मध्यकालीन धर्म साधना*, तृतीय संस्करण, 1962, पृ. 255) वस्तुतः जिस 'लोकमर्यादा' के विरोध में जायसी का प्रेमी नायक घर-बार छोड़कर निकल पड़ता है, उसी के निर्वाह की उम्मीद उससे कैसे की जा सकती है ? जिस प्रेम को शुक्लजी लोक-बाह्य कहते हैं। वह दरअसल एक निश्चित सीमा में जुड़े हुए लोक से बाहर है–निष्प्राण नियमों और रीति-रिवाजों में बँधे हुए समाज से बाहर निकलने का प्रयास है। उस प्रेम की ऐकान्तिकता ही उसकी लोकोन्मुखता है और वैयक्तिकता ही सामाजिकता; जैसा कि हर रोमैण्टिक

विद्रोह में होता है। इसीलिए शुक्लजी की दृष्टि में जो 'दोष' है वह वस्तुतः गुण है!

उल्लेखनीय है कि अपने इस पूर्वग्रह के बावजूद आचार्य शुक्ल सूरदास की गोपियों के प्रेम की स्वच्छन्दतावादी प्रकृति को लक्षित करने में समर्थ हुए हैं। लिखते हैं : "इस प्रेम को हम जीवनोत्सव के रूप में पाते हैं।... सूर के कृष्ण और गोपियाँ पक्षियों के समान स्वच्छन्द हैं। वे लोकबन्धनों से जकड़े हुए नहीं दिखाये गये हैं। जिस प्रकार स्वच्छन्द समाज का स्वप्न अंग्रेज़ कवि शेली देखा करते थे, उसी प्रकार का यह समाज सूर ने चित्रित किया है।" (*सूरदास*, प्रथम संस्करण, 1942, पृ. 173)

कृष्ण-भक्ति के रूढ़ि-विरोधी प्रेम की प्रकृति से शुक्लजी परिचित न हों, ऐसा भी नहीं। वल्लभाचार्य के 'पुष्टिमार्ग' की विशेषताएँ बतलाते हुए वे स्पष्ट लिखते हैं, "इस पुष्टि मार्ग में आने के लिए पहली आवश्यक बात यह है कि लोक और वेद दोनों के प्रलोभनों से दूर हो जाये—उन फलों की आकांक्षा छोड़ दे जो लोक का अनुसरण करने से प्राप्त होते हैं तथा जिनकी प्राप्ति वैदिक कर्मों के सम्पादन द्वारा कही गयी है।" जो प्रेम 'लोक और वेद' दोनों के 'प्रलोभनों' से दूर है उसे लोकविरोधी अथवा लोक-निरपेक्ष कैसे कहा जा सकता है ? वस्तुतः जैसाकि कुछ आलोचकों ने लक्षित किया है, शुक्लजी "अनेक दृष्टियों से विचारों में प्रगतिशील होते हुए भी भावबोध की उसी दुनिया में रहते थे जिसके सम्राट आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी थे।" और इसीलिए वे प्रेम के मामले में द्विवेदी-युगीन 'सामाजिक रूढ़िवाद' और 'सशंक नैतिकता' के समर्थक थे। यही कारण है कि भक्तों के प्रेम की लोकवादी भूमिका को वे पूरी तरह न पचा सके।

हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा भक्ति-काव्य के प्रेम की उन्मुक्त स्वीकृति इस सन्दर्भ में निश्चय ही शुक्लजी के चिन्तन के आगे की कड़ी है और इसीलिए प्रगतिशील भी।

*सूर साहित्य* में भक्ति आन्दोलन की विशेषताएँ गिनाते हुए एक स्थान पर वे कहते हैं कि इस भक्ति मार्ग में 1. प्रेम ही परम पुरुषार्थ है; 2. भगवान के प्रति प्रेम कौलीन्य से बड़ी चीज़ है; 3. भक्ति के बिना शास्त्रज्ञान और पाण्डित्य व्यर्थ है; और 4. भक्त भगवान से बड़ा है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि यह मत "ब्राह्मण धर्म का विरोधी तो नहीं था, परन्तु सम्पूर्ण अनुगामी भी नहीं था।" (पृ. 91) अन्यत्र सूरदास के सन्दर्भ में इसी बात को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहते हैं : "इसका मतलब यह नहीं कि सूरदास स्मार्त पन्थ के विरोधी हैं। वे भक्ति को सर्वोपरि समझते हैं। अगर भक्ति है तो तीर्थ-व्रत की ज़रूरत नहीं, अगर भक्ति नहीं है तो तीर्थ-व्रत से कुछ बड़ी चीज़ की प्राप्ति नहीं होगी। भगवान की दृष्टि में जाति-पाँति, कुलशील आदि कोई चीज़ नहीं है। केवल प्रेम चाहिए, प्रेम से ही वे मिलते हैं।" (पृ. 65)

इन दोनों उद्धरणों से ब्राह्मण धर्म अथवा स्मार्त धर्म के विषय में सूरदास आदि भक्तों के विरोध-समर्थन से अधिक स्वयं द्विवेदीजी की अपनी झिझक का आभास मिलता है। प्रेम की पुरोहितवाद-विरोधी और सामन्तवाद-विरोधी शक्ति का समर्थन करते हुए भी वे जैसे व्यवस्था को आमूल चुनौती देने से हिचकते प्रतीत होते हैं। हो सकता है, यह मध्ययुगीन भक्ति के ऐतिहासिक सन्दर्भ का भी अनुरोध हो। क्योंकि सर्जनात्मक कृतियों में जहाँ किसी धार्मिक प्रसंग का बन्धन नहीं है, वे लोक-जीवन के उन्मुक्त प्रेम के सम्मुख शास्त्र को झुकाने का आग्रह खुलकर करते हैं।

उदाहरण के लिए *पुनर्नवा* का वह प्रकरण जब चन्द्रा के 'व्यवहार' को लेकर अमात्य पुरन्दर और आचार्य पुरगोभिल में विचार-विमर्श हो रहा है। बाहर आभीर महिलाओं की मण्डली से सहसा एक युवती अपभ्रंश में लोकगान गाती है, जिसका अर्थ है कि वह शास्त्र और पुरजनों का बरजना जल जाये, जो प्रिय मिलन का निवारण करता है और साजन को मार डालता है। आचार्य पुरगोभिल अमात्य की ओर देखकर मुस्कराते हुए कहते हैं : "सुन लिया धर्मावतार, हर गाँव हर हाट, हर गली में ये गाने सुनायी देंगे। आज आप इसे केवल भाव-लोक का विद्रोह कहकर टाल सकते हैं। पर लोकमानस में शुष्क धर्माचार और रूढ़ मान्यताओं के प्रति यह भाव-लोक का विद्रोह किसी दिन वस्तुजगत के विद्रोह का रूप ले सकता है। जानते हैं धर्मावतार, आदि मनु ने धर्म के लिए हृदय पक्ष को ध्यान में रखने पर भी बल दिया था—'हृदयोनाभ्यनुज्ञातः' कहा था। पुराण ऋषि जानते थे कि आचार मात्र धर्म नहीं है।" अन्त में आचार्य पुरगोभिल चुनौती के स्वर में कहते हैं : "अगर निरन्तर व्यवस्थाओं का संस्कार और परिमार्जन नहीं होता रहेगा, तो एक दिन व्यवस्थाएँ तो टूटेंगी ही, अपने साथ धर्म को भी तोड़ देंगी।" (पृ. 172-173)

प्रेम के इसी लोक-आधार पर द्विवेदीजी ने हिन्दी के भक्ति काव्य की स्वीकृतिपरक व्याख्या की है। अपने अन्तिम दिनों के लिखे एक निबन्ध 'सूर-काव्य : प्रेरणा और स्रोत' (1958) में वे सप्रमाण यह स्थापित करते हैं कि "असल में *सूरसागर* शास्त्रीय वैष्णव भक्तिशास्त्र से प्रेरणा अवश्य लेता है; पर शास्त्रीय की अपेक्षा लोकधर्म के अधिक निकट है।" इसी क्रम में आगे वे फिर कहते हैं कि "लोक-जीवन ही *सूरसागर* की लीलाओं की मुख्य सामग्री है। बिसातिन, दही बेचनेवाली, नट-बाजीगर, मेला, पनघट आदि के प्रसंग में सूरदास की वाणी सहस्र सुरों में मुखरित हो जाती है। टोना-टोटका, मन्त्र-जन्त्र, झाड़-फूँक आदि के लोकप्रचलित विश्वासों के माध्यम से रस का महास्रोत उमड़ पड़ा है। इसका सन्धान किसी प्रस्थानत्रयी या प्रस्थान चतुष्ट्य में खोजना बेकार है।" (ग्रन्थावली 4/152-159) इस प्रसंग में *सूरसागर* में कृष्ण के लिए प्रयुक्त 'लंगर' के लोक-स्रोत

की खोज सबसे दिलचस्प है। निष्कर्ष यह कि भक्तों के प्रेम ने यदि मध्ययुग में पण्डितों के शास्त्र को चुनौती दी तो उसका आधार लोक-जीवन है। आकस्मिक नहीं है कि इस शास्त्र-विरोध में अग्रणी भूमिका उन्होंने अदा की जो समाज में 'पतित' समझे जाते हैं—जाति से भी और परिवार से भी। उल्लेखनीय है कि *चारु चन्द्रलेख* की सबसे मधुर नारी-चरित्र 'नाटी माता' हैं जो जाति से कारुनट हैं और गिरिधर नागर को प्रेम करने के कारण अपने आपको 'नागर नटी' कहती हैं—संक्षेप में ना-टी। तान्त्रिक साधनाओं के विस्तार का भ्रम पैदा करते हुए भी यह उपन्यास तन्त्र पर भक्ति की विजय का उद्घोष है। नागर नटी द्वारा गायी जानेवाली शिखरिणी 'गताऽहं कालिन्दीं गृहसलिलमानेतुमनसा' प्रेमभक्ति के मधुर संगीत की अनुगूँज के समान समूचे उपन्यास पर छायी रहती है। कवि मण्डन के 'अलि हौं तो गई जमुना जल कौ' वाले सवैये में निहित भक्ति-भावना का यह जीवन्त निरूपण सृजन का शृंगार है। एक शृंगारी समझे जानेवाले सवैया को भक्ति की गरिमा प्रदान कर द्विवेदीजी ने परोक्ष ढंग से उस सुधारवादी दृष्टि पर भी चोट कर दी जो लोक-भाव प्रसूत स्वच्छन्द प्रेम की अनेक सरस रचनाओं को तथाकथित रीतिकाव्य के दरबारी दायरे में डाल चुकी है। प्रसंगवश यह भी उल्लेखनीय है कि *सूर-साहित्य* के अन्तर्गत 'ब्रजभाषा साहित्य में ईश्वर' और 'ब्रजभाषा के कवि और युगलमूर्ति' शीर्षक से दो परिशिष्ट भी सम्मिलित हैं जिनमें रसखान के अलावा मतिराम, देव, ठाकुर और पद्माकर जैसे रीतिवादी कहे जानेवाले शृंगारी कवियों की भी कविताएँ उद्धृत हैं।

जिनके मानस में हजारीप्रसाद द्विवेदी की प्रतिमा कबीर के साथ एकाकार है वे शायद इन बातों से कुछ विचलित हों, किन्तु इसमें आश्चर्य के लिए जगह नहीं है। *सूर-साहित्य* से चलकर ही द्विवेदीजी 'कबीर' तक पहुँचे थे, यह तथ्य है। और सच पूछिए तो इस विचार-यात्रा में कोई विरोध भी नहीं है। सूर से कबीर तक की यात्रा प्रेम के पन्थ की ही भाव-यात्रा है। सामाजिक विद्रोह का एक रूप वह भी है, जो प्रेम की भाषा में अभिव्यक्ति पाता है। आकस्मिक नहीं है कि द्विवेदीजी के कबीर पर सूर की प्रेमभक्ति का गहरा रंग है। द्विवेदीजी के कबीर उनके सूर से निश्चय ही अधिक मुखर क्रान्तिकारी हैं, और इसीलिए द्विवेदीजी उनकी ओर आकृष्ट भी होते हैं; पर ऐसा लगता है कि उनके अन्दर कहीं-न-कहीं सूरदास के रूप में एक मृदु-विद्रोही भी बैठा हुआ था जिसका प्रवेश साहित्य-साधना की उस वय में हुआ जिसका संस्कार जल्दी नहीं छूटता और प्रायः स्थायी हुआ करता है।

*सूर-साहित्य* में उन्होंने लिखा है : "सूरदास आदि भक्त कवियों में कहीं विरोध की ध्वनि नहीं है, वे अगर किसी बात को अनुचित समझेंगे तो अत्यन्त मृदु भाषा में उसकी उपेक्षा पर ज़ोर देंगे। यह उपेक्षा भी वे सीधे नहीं कहेंगे। कवि की भाषा

में, लक्षणा और व्यंजना का आवरण डालकर। इनकी तुलना उपनिषद् के ऋषियों से की जा सकती है जो यज्ञयाग के विरोधी नहीं, उपेक्षक थे। सूरदास का *सूरसागर* प्रेम का काव्य है। इस प्रेम की लीला का वर्णन करते-करते प्रसंगवश वे कहीं-कहीं योग, तीर्थ आदि पर कुछ कह गये हैं।'' (पृ. 61)

इसी बात को आगे चलकर *हिन्दी साहित्य की भूमिका* में अधिक व्यवस्थित रूप में इस प्रकार कहा गया है : ''सूरदास सुधारक नहीं थे, ज्ञानमार्गी भी नहीं थे, किसी को कुछ सिखाने का मान उन्होंने कभी किया ही नहीं। वे कहीं भी सम्प्रदाय, मतवाद या व्यक्ति विशेष के प्रति कटु नहीं हुए। यह भी उनके सरल हृदय का ही निदर्शक है। लेकिन वे कबीर की तरह ऐसे समाज से नहीं आये थे जो पद-पद पर लांछित और अपमानित होता था, और जहाँ का गृहस्थ-जीवन वैराग्य जीवन की अपेक्षा ज़्यादा कठोर और तपोमय था। सूरदास जिस समाज में पले थे उसका गृहस्थ जीवन विलासिता का जीवन था, मिथ्याचार और फ़रेब का जीवन था और 'यौवन मद, जनमद, धनमद, विधमद भारी' का जीवन था। इसीलिए इस समाज से वैराग्य ग्रहण करना उनका मत था। वे तुलसीदास की भाँति दृढ़चेता सेनानायक नहीं थे, जो समाज की कुरीतियों से कुशलतापूर्वक बाहर निकलकर उस पर गोलाबारी आरम्भ कर दें। नन्ददास की तरह पर-पक्ष की युक्तियों को तर्क-बल पर निरास करना भी वे नहीं जानते थे। वे केवल श्रद्धालु और विश्वासी भक्त थे जो झगड़ों में पड़ने के नहीं।'' (पृ. 101-102)

जिस प्रकार तुलनात्मक ढंग से कवीर, तुलसीदास और नन्ददास-जैसे प्रमुख भक्तों से अलगाते हुए सूरदास के विशिष्ट व्यक्तित्व को यहाँ उभारा गया है उसमें द्विवेदीजी के अपने झुकाव को परिलक्षित करना ज़्यादा कठिन नहीं है। किसी के प्रति कटु न होना और झगड़े में न पड़ना द्विवेदीजी का काम्य भले ही रहा हो, किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि द्विवेदीजी सूरदास के-से कथित समाज से नहीं आये थे। यदि वे ऐसे पद-पद पर लांछित और अपमानित होनेवाले समाज से नहीं आये थे, तो सूरदास के-से सम्पन्न समाज से भी उनका जन्मना सम्बन्ध न था। इसलिए यदि द्विवेदीजी के स्वभाव को सूरदास के समान समझने की प्रवृत्ति होती है तो यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि उसका कारण जन्मना प्राप्त समाज और परिवेश नहीं है। वैसे भी किसी लेखक के दृष्टिकोण को उसे पैदा करनेवाले जाति, वर्ग या समाज के आधार पर निर्धारित करने का प्रयास 'फूहड़ समाजशास्त्र' है। जो द्विवेदीजी को निकट से जानते हैं उनके सामने द्विवेदीजी का बहुत कुछ ऐसा ही व्यक्तित्व है कि वे विरोध में कभी कटु नहीं हुए और भरसक झगड़ों से बचे रहना चाहते थे। किन्तु यह भी तथ्य है कि वे झगड़ों में खींचे भी गये और विरोध भी उनका कम नहीं हुआ। इन सबके बीच उन्होंने स्वर में कभी कटुता नहीं आने दी तो इसका अर्थ

यह नहीं कि उनके विचारों में विरोध और विद्रोह नहीं था ! ज़रूरी नहीं कि विद्रोह का स्वर भी उग्र हो ! यह बात सूर के बारे में जितनी सच है, उतनी ही द्विवेदीजी के बारे में भी। विद्रोह भी आख़िर प्रेम का—'मधुर भाव' का ही तो है—मधुर नहीं होगा तो और क्या होगा ?

---

नामवर सिंह

# आलोचना की संस्कृति और संस्कृति की आलोचना

यदि "प्रच्छन्नता का उद्घाटन," जैसा कि आचार्य शुक्ल ने कहा है, "कवि-कर्म का प्रमुख अंग है" तो आलोचना-कर्म का वह अभिन्न अंग है। यह प्रच्छन्नता सभ्यता के आवरण निर्मित करते हैं। इसलिए, "ज्यों-ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नए-नए आवरण चढ़ते जायेंगे, कवि-कर्म कठिन होता जायेगा" और उसके साथ ही आलोचना-कर्म भी। इस सभ्यता के कारण "क्रोध आदि को भी अपना रूप कुछ बदलना पड़ता है, वह भी सभ्यता के साथ अच्छे कपड़े-लत्ते पहनकर समाज में आता है जिससे मार-पीट, छीन-खसोट आदि भद्दे समझे जानेवाले व्यापारों का कुछ निवारण होता है।"

जो कार्य आचार्य शुक्ल के ज़माने में 'सभ्यता' द्वारा सम्पन्न होते थे, अब हिन्दी आलोचना में वही काम 'संस्कृति' से लिया जा रहा है। वैसे भी संस्कृति सभ्यता की संगोतिया है और अक्सर दोनों का प्रयोग साथ-साथ होता है। दोनों में अन्तर भी किया गया है—यहाँ तक कि सभ्यता की आलोचना के लिए संस्कृति का इस्तेमाल किया गया है। इस बीच हिन्दी साहित्य ने भी ऐसी संस्कृति विकसित कर ली है जैसा कि जनवरी-अप्रैल 1987 के पूर्वग्रह के सम्पादकीय में अशोक वाजपेयी के इस कथन से पता चलता है--"साहित्य अपनी विशिष्ट संस्कृति भी विकसित करता है। यह साहित्यिक संस्कृति साहित्य में सक्रिय शक्तियों और दृष्टियों के बीच संवाद का शील निरूपण करती है, सीमाएँ निर्धारित करती है, खेल के नियम बनाती है ताकि कुछ सीमाओं का अतिक्रमण न हो सके।" इस वक्तव्य में 'खेल के नियमों' का पूरा ब्योरा तो नहीं दिया गया है किन्तु उन नियमों का कुछ आभास इस वाक्य से लग सकता है कि "वह (संस्कृति) असहमति और अन्तर्विरोधों को मुख्य प्रक्रिया में समाहित करती है।" यह है वह 'विशिष्ट संस्कृति' जिसका विकास 'असहमति को मुख्य प्रक्रिया में समाहित' करने के लिए किया गया है।

हिन्दी में संस्कृति के इस उपयोग को देखकर सहसा मैथ्यू आर्नल्ड की याद ताज़ा हो आती है जिन्होंने लगभग सौ साल पहले अपने ज़माने की 'अराजकता' को नियंत्रित करने के लिए 'संस्कृति' का सहारा लिया था। उनकी दृष्टि में

आलोचना संस्कृति का वर्चस्व बढ़ाती है और संस्कृति समरसता एवं सन्तुलन स्थापित करने का साधन है क्योंकि वह समरसता और सन्तुलन की अभिव्यक्ति भी है। इस संस्कृति में वही सहयोग दे सकते हैं जो झगड़ा-फ़साद जैसे व्यावहारिक मसलों से अलग रहते हों और जो अपने-आपको तथा अपनी भाषा को "हाट-बाज़ार के धुएँ से काला नहीं करते।" आशा की गई कि इस संस्कृति के द्वारा सभी वर्गों से ऐसे रंगरूट भर्ती होंगे जो एक प्रकार से किसी के न होंगे। इस प्रकार संस्कृति वर्ग-विसर्जन और सामंजस्य का अमोघ अस्त्र बनकर आई। ज़ाहिर है कि ऐसी दुर्लभ वस्तु के हक़दार चंद गिने-चुने विशिष्ट जन ही हो सकते हैं।

संस्कृति का यह सामाजिक उपयोग स्वभावतः उन ऐतिहासिक परिस्थितियों की पड़ताल करने को प्रेरित करता है जिनमें 'संस्कृति' की यह अवधारणा पैदा हुई। हाट-बाज़ार का वह धुआँ, झगड़ा-फ़साद, अभिजात वर्ग की सत्ता को चुनौती देनेवाले नए वर्गों का उदय और इन सबके कारण उत्पन्न होनेवाली तथाकथित अराजकता आदि घटनाएँ सहज ही उस औद्योगिक क्रान्ति की ओर संकेत करती हैं जिससे निपटने के लिए सन्तुलन और सामंजस्य के नारे के साथ 'संस्कृति' का विकास किया गया।

उल्लेखनीय है कि इस दौर में वह शास्त्र भी विकसित हुआ जिसे 'सौन्दर्यशास्त्र' जैसी भव्य अभिधा दी गई। रंगमंच पर नाटक का अभिनय लोग हज़ारों साल से करते और देखते आ रहे थे। नृत्य, संगीत, चित्र, मूर्तिकला, स्थापत्य, काव्य आदि से लोगों का काफ़ी पुराना परिचय था। इन सबको कला नाम से पुकारने की परम्परा भी पहले से चली आ रही थी। इनके अलावा और तरह के सौन्दर्य पर भी लोगों की दृष्टि थी। इन सब पर अलग-अलग ढँग से सोच-विचार भी चल रहा था। किन्तु सबको मिलाकर एक दर्शन के ढाँचे में चिन्तन की प्रक्रिया लगभग अठारहवीं सदी में शुरू हुई और सबके लिए 'इस्थेटिक' यानी 'सौन्दर्यशास्त्र' जैसी दार्शनिक संज्ञा दी गई। इस सौन्दर्यशास्त्र ने 'संस्कृति' की प्रकृति पर इतना बड़ा प्रभाव डाला कि उसकी दिशा ही बदल गई।

सौन्दर्यशास्त्र से सम्पर्क होते ही सौन्दर्यबोध संस्कृति की पहली शर्त बन गया। सौन्दर्य का प्रमुख आधार कलाएँ हैं, इसलिए कलात्मक सृजन से जुड़े हुए समस्त क्रिया-व्यापार को आदर्शीकृत करके संस्कृति का अनिवार्य अंग बना दिया गया और यह आवश्यक समझा गया कि जो इन कलाओं के सौन्दर्य के आस्वाद में सक्षम है वही संस्कृति का वास्तविक अधिकारी है और उसी को 'संस्कृत' या कि 'सुसंस्कृत' माना जा सकता है। सौन्दर्यानुभूति की उपलब्धि संस्कृति के लिए आवश्यक अर्हता घोषित की गई। एक ओर 'सौन्दर्यानुभूति' का स्वरूप-निरूपण सौन्दर्यशास्त्र का केंद्रीय प्रश्न बना तो दूसरी ओर सौन्दर्यानुभूति की सारी विशेषताएँ

संस्कृति के आदर्श तत्त्वों के रूप में समाहित कर ली गईं। 'सामंजस्य' और 'सन्तुलन' जैसी अवधारणाएँ इसी स्थानान्तरण के उदाहरण हैं। अन्तर इतना ही आया कि जो 'सामंजस्य' और 'सन्तुलन' सौन्दर्यशास्त्र में शुद्ध मानसिक क्षेत्र तक सीमित थे, संस्कृति ने उन्हें अपनाकर सामाजिक बना लिया और इस प्रकार उनसे व्यक्ति के मन को सन्तुलित और समरस करने के साथ-साथ समाज में संघर्षशील विभिन्न वर्गों के बीच भी सन्तुलन और सामंजस्य स्थापित करने का काम लिया जाने लगा। संस्कृति ने सन्तुलन और सामंजस्य को गरिमा भी प्रदान की। यह स्थापना की गई कि जो व्यक्ति स्वयं सन्तुलित और समरस है वह श्रेष्ठ है। इसके विपरीत असन्तुलित असमंजस मनवाले व्यक्ति स्तर से नीचे ही नहीं, असामान्य हैं और भले लोगों के बीच उठने-बैठने लायक़ नहीं हैं। इसी प्रकार समाज को सन्तुलित और समरस रखना उच्च कोटि का सामाजिक कर्म है और जो समाज के इस सन्तुलन को बिगाड़ता या तोड़ता है वह असामाजिक कार्य करता है—यहाँ तक कि इस कार्य में लगे हुए लोगों को असामाजिक और समाज-विरोधी भी कहा जा सकता है। इस प्रसंग में जानबूझकर असुविधाजनक प्रश्नों को न तो उठाया जाता है और न उठाने ही दिया जाता है। जैसे, समाज में सन्तुलन से किसके हित विशेष रूप से सुरक्षित रहेंगे और कौन-से लोग घाटे में रहेंगे ? इस सन्तुलन को बदलनेवाले क्या चाहते हैं, किन सुविधाओं की माँग करते हैं, समाज में उनकी स्थिति क्या है, आर्थिक-सांस्कृतिक दृष्टि से वे कितने सम्पन्न या विपन्न हैं ? इत्यादि।

इसी प्रकार सौन्दर्यानुभूति की एक अन्य विशेषता है 'निःसंगता'। काण्ट के शब्दों में प्रयोजनहीन प्रयोजनशीलता। संस्कृति ने इस मानसिक व्यापार का भी समाजीकरण कर डाला। सुसंस्कृत व्यक्ति के लिए केवल अपने-पराए के भेद-भाव से ऊपर उठना ही काफ़ी नहीं है, बल्कि उसे सभी वर्गों से ऊपर उठना भी ज़रूरी है। सच्चा बुद्धिजीवी वह है जो यथार्थ में चाहे जिस सामाजिक वर्ग का हो, मानसिक रूप से अपने वर्ग के हितों को छोड़कर ही वह सच्ची संस्कृति का अधिकारी होगा। निःसंगता की इस शर्त का पालन करने में अन्ततः कौन-सा वर्ग घाटे में रहेगा, इसे स्पष्ट करना आवश्यक नहीं है। आकस्मिक नहीं कि मैथ्यू आर्नल्ड की संस्कृति और साहित्यालोचन की प्रमुख अवधारणा यह 'निःसंगता' ही थी और इसीलिए सच्चे आलोचक की पहली शर्त भी। रही 'प्रयोजनहीन प्रयोजनशीलता', वह अपने विरोधाभास के चमत्कार के लिए ही दिलचस्प नहीं है बल्कि संस्कृति के अंतर्गत हाथ का काम न करनेवाले और दूसरों की मेहनत पर गुलछर्रे उड़ानेवाले वर्ग के भोगवाद का उदात्त दर्शन है। कलाकृति की रचना जीवन के चाहे जितने व्यावहारिक अनुभव से हो और उसकी रचना करनेवाले चाहे जितनी भौतिक कठिनाइयों से जूझते हुए कलाकृति का निर्माण करें, आस्वाद लेनेवालों को उन सबसे क्या

प्रयोजन ? यदि भोक्ता का ध्यान उन विषय व्यावहारिक परिस्थितियों की ओर गया तो कला के आनन्द में विघ्न अपरिहार्य है। कलात्मक आनन्द तो रोज़-रोज़ की उन व्यावहारिक समस्याओं से मुँह मोड़कर ही प्राप्त किया जा सकता है। यह तो हुई कला और संस्कृति की प्रयोजनहीनता। प्रयोजनशीलता यह हुई कि इससे भोक्ता को तो मानसिक सन्तुलन और सामंजस्य की उपलब्धि हुई और दूसरी ओर कला के उत्पादकों का मुँह भी व्यवहार की दुनिया से मोड़ लिया गया। दो प्रयोजन एक साथ सिद्ध, एक ही ढेले से दो शिकार। यह है सौन्दर्यशास्त्र की सांस्कृतिक उपलब्धि।

सौन्दर्यशास्त्र ने संस्कृति को कई तरह से सीमित और संकुचित किया। संस्कृति जीवन-जगत की वास्तविकता से कटकर अलग हुई; उत्पादन-प्रक्रिया से विच्छिन्न हुई, जीवन्त क्रिया-व्यापार से रहित होकर अमूर्त प्रेत बनी; और अन्ततः व्यापक जनसमुदाय से कटकर एक छोटे-से परजीवी वर्ग की भोग्या बन गई। इस प्रक्रिया में 'संस्कृति' 'सभ्यता' से भी अलग हो गई। सभ्यता और संस्कृति में अन्तर किया गया। दोनों की अलग-अलग कोटियाँ भी निर्धारित कर दी गई। सभ्यता स्थूल, संस्कृति सूक्ष्म। सभ्यता भौतिक वैभव, संस्कृति आध्यात्मिक गरिमा। विडम्बना यह कि सभ्यता का अवमूल्यन स्वयं 'सभ्य' लोगों ने किया। अवमूल्यन सभ्यता का हुआ, लेकिन सभ्य लोगों का भूल्य बढ़ गया। जो सभ्य थे वे 'संस्कृत' हो गए। लेकिन ध्यान दें तो लड्डू दोनों हाथ। एक हाथ में सभ्यता, दूसरे हाथ में संस्कृति। आदमी वही।

वैसे, कहने के लिए सौन्दर्यशास्त्र नें संस्कृति को संकुचित किया, किन्तु हक़ीक़त में वह शिष्ट वर्ग है जिसने आगे-पीछे सौन्दर्यशास्त्र ओर संस्कृति दोनों को संकुचित किया।

इस प्रक्रिया में संस्कृति अपने सही अर्थ में एक 'विचारधारा' बन गई। विचारधारा की पूरी ताक़त के साथ। संस्कृति का एक अलग वाद खड़ा हो गया। नाम पड़ा 'संस्कृतिवाद'।

इस 'संस्कृतिवाद' ने साहित्य की 'आलोचना' को भी प्रभावित किया। संस्कृतिवाद ने जिस तरह संस्कृति को संकुचिन किया, उसी तरह उसने साहित्य की आलोचना को भी संकुचित किया। संस्कृतिवाद की शब्दावली में कहें तो संस्कृति ने साहित्य की आलोचना को संस्कृत-सुसंस्कृत किया।

आलोचना अपनी कोख से ही 'आलोचनात्मक' रही है। हिन्दी में 'आलोचना' शब्द की व्युत्पत्ति भले ही 'लुच्' धातु से बताकर चारों ओर अच्छी तरह देखने के अर्थ में इसका प्रयोग किया जाये, इस देखने के 'तेवर' कई तरह के रहे हैं। आलोचना के देखने का एक तेवर वह भी रहा है जो चीज़ों के आर-प्रार देखना

है। देखने की वह भी एक दृष्टि होती है जो सारे छद्म को तार-तार करके रख देती है। यह वह दृष्टि है जिससे बने हुए सभ्य और संस्कृतजन घबराते हैं, डरते हैं, थर्राते हैं। अंग्रेज़ी का 'क्रिटिसिज़्म' शब्द अपने उस आलोचनात्मक अर्थ को आज भी सुरक्षित रखे हुए है। दोष-दर्शन और छिद्रान्वेषण के अर्थ में आज भी आलोचना का व्यवहार देखा और सुना जाता है। अंग्रेज़ी में मैथ्यू आर्नल्ड से पहले साहित्यिक आलोचना का दोष-दर्शन वाला रूप प्रचलित था और शायद प्रबल भी। साहित्य के आलोचक सामाजिक आलोचना के लिए भी इस अस्त्र का उपयोग करते थे। रूस में बेलिंस्की जैसे तेजस्वी आलोचक ने साहित्यिक आलोचना को जिस तरह सामाजिक और राजनीतिक आलोचना के प्रखर अस्त्र के रूप में इस्तेमाल किया वह उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध के इतिहास का सम्भवतः सबसे शानदार अध्याय है। हिन्दी में भी उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध से चलकर बीसवीं सदी में महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा से आती हुई साहित्यिक आलोचना का वह सामाजिक-राजनीतिक तेवर अब भी बरक़रार है।

किन्तु सौन्दय शास्त्र के सम्पर्क से संस्कृति की तरह और लगभग संस्कृति के साथ ही साहित्यिक आलोचना का 'सौन्दर्यीकरण' हुआ। सौन्दर्यीकरण शब्द सुन्दर नहीं है। 'सुन्दरीकरण' कहें तो भी बात बनने की जगह बिगड़ती-सी लगती है। ठेट हिन्दी में हिन्दी के अपने देसी लहजे में कहें तो सौन्दर्यशास्त्र ने आलोचना को 'सुन्दर' बनाया। 'सुन्नर' बनाया। मैथ्यू आर्नल्ड की कृपा से वह भी 'निःसंगता' की साधना करने लगी। अंग्रेज़ी आलोचना में सौन्दर्यशास्त्र से एक शब्द आया 'टेस्ट'। हिन्दी ने अपने ढंग से उसे 'रुचि' में बदला। पूरा अर्थ न खुला तो उसे 'सुरुचि' कहा। फिर 'अभिरुचि'। अपनी संस्कृत की पुरानी परम्परा में 'रस' शब्द पहले से मौजूद है। अंग्रेज़ी के 'टेस्ट' से हल्का भी नहीं। बल्कि कहीं अधिक अर्थगर्भ। अब आलोचना के कर्म में 'अभिरुचि' दाख़िल हुई तो फिर 'टेस्ट' के साथ 'एप्रिसिएशन' का महत्त्व बढ़ा। हिन्दी में इसके लिए उचित शब्द की तलाश शुरू हुई। हारकर इस बार संस्कृत के उसी रस-सिद्धान्त की ओर जाना पड़ा और 'आस्वाद' से सन्तुष्ट होने के अलावा कोई चारा न रहा। 'आस्वाद' की उपलब्धि के साथ साहित्यिक आलोचना मूल आलोचना कर्म से हटकर कलाकृतियों के आस्वाद में रुचि लेने लगी। आम आदमी की भाषा में वह साहित्यिक कृतियों की जुगाली करने लगी।

सौन्दर्यशास्त्र से साहित्यिक आलोचना में 'टेस्ट' के साथ एक और शब्द आया 'डिस्क्रिमिनेशन'। हिन्दी में फिर प्रतिशब्द की तलाश शुरू हुई। संस्कृत का काव्यशास्त्र फिर मदद के लिए पहुँचा। वहाँ पहले से 'व्यक्ति-विवेक' 'काव्य-विवेक' जैसे शब्द काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थों के रूप में मौजूद थे। अन्ततः 'विवेक' शब्द

अपनाया गया। लेकिन सौन्दर्यशास्त्र के साहचर्य से यह विवेक सौन्दर्य और कला की वस्तुओं में ही विवेक करने तक सीमित रहा। सौन्दर्य, कला और साहित्य के सामाजिक और राजनीतिक पहलुओं में भी विवेक करना ज़रूरी है, इस ओर से ध्यान हट गया। इस विवेक का प्रयोग मुख्यतः कलाकृति के रूप में सूक्ष्म से सूक्ष्म भेद करने के लिए होने लगा। संस्कृत काव्यशास्त्र में पहले भी यह किया जा चुका था। अलंकार, रीति, गुण, वक्रोक्ति, ध्वनि और रस के जितने भेदोपभेद यहाँ किए गए, दुनिया के किसी साहित्य में शायद ही ऐसी कोई मिसाल मिले। बहरहाल आधुनिक हिन्दी में वर्गीकरण-समर्थ वैसी मनीषा तो मिलने से रही पर 'रूपवाद' की प्रवृत्ति निश्चय ही बढ़ने लगी। यह रूपवाद मूलतः सौन्दर्यशास्त्र की देन है। आचार्य शुक्ल ने क्रोचे की आलोचना करते हुए बहुत पहले इस कलावादी प्रवृत्ति के प्रति सावधान किया था। इसीलिए उन्होंने साहित्य को कला के अंतर्गत मानने का विरोध किया था। साहित्य को कला के छूत से बचाना जो था। यह कला कलावाद की है। कला मात्र नहीं।

आज भी साहित्य में जहाँ रूपवाद और कलावाद है, कलाओं के संसर्ग के कारण। भोपाल की मध्यप्रदेश कला परिषद भी साहित्य को कलाओं के साथ और कलाओं के बीच रखने का गर्व करती रही है। यह सबकुछ संस्कृति विभाग के शामियाने के नीचे हुआ है। इस सहअस्तित्व से कलाओं का क्या बना, यह तो नहीं पता, साहित्य की आलोचना ज़रूर कलात्मक और कलामय हो गई। **जहाँ बहुत कला होगी, परिवर्तन नहीं होगा**—यह लिखते समय रघुवीर सहाय के ध्यान में यह स्थिति भी थी ?

सच तो यह है कि साहित्य के लिए न तो कलाओं का सम्पर्क हानिकर है, न सौन्दर्यशास्त्र का। हानिकर है कलावाद की कला और कलावाद का सौन्दर्यशास्त्र; और इस सौन्दर्यशास्त्र पर कलावाद की छाप इतनी गहरी है कि वह सौन्दर्यशास्त्र की अधिकांश अवधारणाओं तक में घर किए बैठी है—यहाँ तक कि सौन्दर्यशास्त्र की समूची भाषा कलावादी अभिरुचि से ओतप्रोत है। इस भाषा में सोचनेवाला व्यक्ति साहित्य को तो रूपाकारों में देखने का अभ्यस्त हो ही जाता है, जीवन-जगत और समाज को भी उन्हीं रंग-रूपों की तरह देखने लगता है। "देखहिं चराचर नारिमय जे ब्रह्ममय देखत रहे।" आकस्मिक नहीं कि इस सौन्दर्यशास्त्रीय प्रभाव में सारा साहित्य सिमटकर 'काव्य' बन जाता है, अभिरुचि कविता तक सिमट रहती है आगे बढ़ी तो नाटक तक और वह भी इसलिए कि उसमें विविध कलाओं का योग रहता है। उपन्यास और कहानी इस अभिरुचि के दरवाज़े के बाहर होते हैं इनमें से एकाध को प्रवेश भी मिल पाया तो इसलिए कि उनमें 'कवित्व' है। यहाँ 'कवित्व' का अर्थविशेष है। एक ख़ास काट का कवित्व। नख-दन्त-विहीन। गर्द-गुबार रहित।

जिन बातों के कारण कहानी-उपन्यास वर्जित रहते हैं।

वैसे, रूपाकार का मज़ा लेना अपने आप में बुरा नहीं है। शुद्ध रूप का भी अपना रस है। रूप को केवल रूप की तरह बहैसियत रूप देखना भी अच्छा लगता है और यह कोई गुनाह नहीं है। लेकिन ऊपर-ऊपर से जो रूप मात्र प्रतीत होता है, वह भी आख़िर मानव की कृति है—मानवीय कृति। उसकी प्रक्रिया ही मानवीय नहीं होती, उसकी अपनी प्रकृति भी मानवीय है। कला-समीक्षक और स्वयं कलाकार कहते रहें कि उसका कोई अर्थ नहीं है, वह सिर्फ़ 'है', फिर भी वह मानवीय होने के नाते अपने सृजन और अधिग्रहण दोनों में सामाजिक क्रिया है और इस नाते एक निश्चित सामाजिक प्रक्रिया का अभिन्न अंग है। देश-काल का अतिक्रमण करने और कराने की क्षमता रखने के बावजूद उसका अस्तित्व असंदिग्ध रूप से सामाजिक है। इसलिए सामाजिक विश्लेषण के द्वारा ही उसका ठीक-ठीक महत्त्व आँका जा सकता है। समाज के सन्दर्भ को छोड़ देने पर तो वह समझ से भी परे चला जाता है। सौन्दर्यशास्त्र ने आलोचना से उसका यह समाज छीन लिया, समाज का आधार हटा दिया। निराधार आलोचना अपनी आलोचनात्मक क्षमता खो बैठी। आलोचना नितान्त 'रचनात्मक' हो गई। शुद्ध रचनात्मक आलोचना। रचना के अनुकरण पर एक दूसरी रचना। स्वधर्म छोड़ उसने परधर्म स्वीकार कर लिया। और 'स्वधर्मे निधनं श्रेयो परधर्मो भयावहः'। निःसंदेह इस धर्म परिवर्तन के लिए वह सराही भी जाती है। अपने सराहनेवालों की वह स्वयं भी सराहना करती है। उसमें सिर्फ़ सराहने की क्षमता बच रहती है। एक दरबारी की तरह। इस सराहने को ही वह आलोचना का धर्म-कर्म समझने लगती है। अन्ततः आलोचना का एक नया शास्त्र तैयार हो जाता है, सम्प्रदाय खड़ा हो जाता है। मंगलाचरण में आलोचनात्मक आलोचना का प्रत्याख्यान और उपसंहार में आशंसा का वखान। नामकरण 'आस्वादवादी आलोचना।' वैसे संक्षेप में अपने आपको वह आलोचना ही कहती है, गोया आलोचना अगर कोई है तो सिर्फ़ वही। 'रचनात्मक आलोचना' का यह ख़िताब रचनाकारों का दिया हुआ है।

सौन्दर्य ने राजनीति को भी सुन्दर बनाया है। राजनीति सुन्दर होकर 'फ़ासिज़्म' की शक्ल में आई। सन् पचहत्तर की इमरजेंसी भूली न होगी। हर शहर को सुन्दर बनाने का अभियान चलाया गया था। दिल्ली के तुर्कमान गेट को सुंदर बनाने के लिए गोलियाँ चलानी पड़ीं। राजनीति की सुन्दरता का वह पहला स्वाद था। घूँट ख़ून की थी। सुन्दर राजनीति की अद्वितीय सौन्दर्यानुभूति ! अफ़सोस उस राजनीति के सौन्दर्यशास्त्र का कोई शास्त्र नहीं रचा गया। इस सौन्दर्यशास्त्र में भी ज़ोर रूप पर था। इस रूपवाद का सूत्र वाक्य था अनुशासन। ठीक कलानुशासन की तरह। शुद्ध रूप को ही देखने की शर्त हो तो रूप का यह अनुशासन बुरा न था। कुछ

कलापारखी उसे अच्छा कहनेवाले भी थे। फ़ासिज़्म उन्हें कहीं और दिखाई पड़ता था। वहाँ नहीं जहाँ सचमुच था। ऐसे कलापारखियों में कुछ मार्क्सवादी भी थे। स्तालिनकाल के रूपवाद से भली-भाँति परिचित। अनुशासन के प्रशंसक ! इस प्रकार सौन्दर्यशास्त्र कभी-कभी राजनीति को भी इतना 'सुन्दर' बना देता है कि राजनीतिक आलोचना की दृष्टि धुँधली हो जाती है, धार कुन्द पड़ जाती है। जब राजनीति का यह हाल है तो साहित्यिक आलोचना के अन्जाम का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है।

इसलिए 'आलोचना की संस्कृति' को ठीक से समझने के लिए संस्कृति की आलोचना ज़रूरी है और संस्कृति की आलोचना का पहला चरण है 'संस्कृतिवाद की आलोचना'।

'संस्कृतिवाद' एक ऐसी विचारधारा है जो जीवन की सारी समस्याओं को समेटकर संस्कृति की समस्या बना देती है क्योंकि उसके अनुसार जीवन की तमाम समस्याएँ सिर्फ़ संस्कृति की समस्याएँ हैं। किन्तु 'संस्कृतिवाद' की विचारधारा यहीं नहीं रुकती। इसके बाद वह संस्कृति की अवधारणा को भी संकुचित करती है। इस विचारधारा में अमूर्तन की विशेष भूमिका होती है। संस्कृति एक जीते-जागते क्रिया-व्यापार की जगह कुछ अमूर्त मूल्यों की तालिका बनकर रह जाती है, देश-काल से परे कुछ ऐसी विशेषताएँ जो सार्वभौम और शाश्वत हैं। संस्कृतिवाद की संस्कृति ऐसी अनूठी वस्तु है जिसे किसी मानव-समाज ने नहीं बनाया, बल्कि जो मानव-समाज को बनाती है। 'मोहिं तौ मेरो कवित्त बनावत' की तरह। संस्कृतिवाद की विचारधारा के प्रभाव को नष्ट करने के लिए संस्कृति के इस रहस्यवाद और अमूर्तन का विरोध आवश्यक है।

किन्तु संस्कृतिवाद का विरोध करते समय कुछ गल्तियों के प्रति सतर्क रहना ज़रूरी है। आवेश में कभी-कभी संस्कृति मात्र का विरोध होने लगता है। संस्कृति के अमूर्तन का विरोध ज़रूरी है किन्तु उसकी सापेक्ष स्वायत्तता को नकारना ग़लत है। मार्क्सवादी आलोचक संस्कृति के सामाजिक आधार पर ज़ोर देने के लिए संस्कृति को आर्थिक आधार मात्र बनाकर रख देते हैं; यह मार्क्सवाद नहीं, मार्क्सवाद का मज़ाक़ है। किसी देश की आर्थिक स्थिति के सुधर जाने से अपने आप सांस्कृतिक उत्थान नहीं हो जाता। आर्थिक स्थिति पर अंशतः निर्भर रहने के बावजूद संस्कृति की सत्ता अंशतः स्वायत्त भी होती है और इस स्वायत्त क्षेत्र के विकास के लिए अलग से भी प्रयास करने की आवश्यकता है। यहाँ तक कि कभी-कभी सांस्कृतिक पिछड़ापन स्वयं आर्थिक विकास में बाधक बन जाता है।

यहीं प्राथमिकता का प्रश्न उठता है। पहले संस्कृति या पहले आर्थिक और राजनीतिक उत्थान ? सच पूछिए तो यह प्रश्न ही ग़लत ढंग का उठाया गया है। एक निश्चित ऐतिहासिक स्थिति की विशिष्टता के अनुरूप यह सामान्य प्रश्न भी

विशिष्ट रूप में सामने आता है। इतिहास की संश्लिष्ट प्रक्रिया में प्राथमिकता का प्रश्न इतने सामान्य रूप में प्रस्तुत नहीं होता और न आगे-पीछे के ढंग से वह हल ही किया जाता है। मिसाल के लिए उपनिवेशवादी दौर में जब राजनीतिक स्वाधीनता भारत का प्रथम लक्ष्य था, सारे सांस्कृतिक प्रयास इस बिना पर मुल्तवी नहीं रखे गये कि आज़ादी मिल जाने के बाद ही संस्कृति की ओर ध्यान दिया जायेगा। आज़ादी के इन्तज़ार में यदि डेढ़-दो सौ वर्षों तक सारे सांस्कृतिक कार्य ठप्प रखे गये होते, स्वाधीन भारत कितनी मूल्यवान सांस्कृतिक विरासत से वंचित रह जाता। यही नहीं बल्कि आज़ादी के बाद क्षतिपूर्ति असंभव होती। यह कहना कि संस्कृति एक दिन में नहीं बनती—संस्कृतिवाद नहीं है।

इसी प्रकार का एक भ्रम यह भी है कि संस्कृति का बुद्धि-विलास विकसित और समृद्ध यूरोप, अमेरिका तथा जापान को मुबारक, एशिया-अफ्रीका-लैटिन अमेरिका के देश फ़िलहाल संस्कृति की ऐयाशी में अपने सीमित साधनों का अपव्यय नहीं कर सकते। एक तो इस कथन के पीछे स्पष्टतः संस्कृति की अत्यन्त सीमित धारणा निहित है। दूसरे, विकास में संस्कृति की सक्रिय भूमिका की कोई पहचान नहीं है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि तथाकथित तीसरी दुनिया के देशों ने सांस्कृतिक चेतना का विकास करके ही साम्राज्यवादी शिकंजे से अपनी राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त की। राष्ट्रीय चेतना के विकास के बिना स्वाधीनता की प्राप्ति असंभव थी, और कहने की आवश्यकता नहीं कि राष्ट्रीय चेतना वस्तुतः एक सांस्कृतिक चेतना है। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद इस सांस्कृतिक चेतना की आवश्यकता कम नहीं हुई है। आर्थिक विकास और जनतांत्रिक राजनीति का विस्तार करने के साथ ही अपनी स्वाधीनता की रक्षा निश्चय ही प्रधान आवश्यकताएं प्रतीत होती हैं, किन्तु इन सभी कार्यों को सम्पन्न करने के लिए देश की जनता को सांस्कृतिक चेतना से लैस करना भी उतना ही आवश्यक है। यदि इस बात पर ज़ोर न दिया गया तो संस्कृति का समूचा मैदान ऐसे तत्त्वों के हाथ पड़ जायेगा जो किसी-न-किसी तरह संस्कृतिवाद की विचारधारा का ही प्रचार करते हैं। संस्कृतिवाद का जवाब अर्थवाद नहीं है; जवाब है संस्कृति की ऐसी मूलगामी आलोचना जो आलोचना की संस्कृति के मूल अभिप्राय का मायाजाल छिन्न-भिन्न करने में समर्थ हो।

---

कुँवर नारायण

# आधुनिकता-समय-रचनात्मकता

रचनात्मकता के मनोविज्ञान का समय के साथ भी एक ख़ास तरह का रिश्ता है--अपने समय के साथ, अपने से पहले समय के साथ, और आने वाले समय के साथ। अतीत, परम्परा, वर्तमान, भविष्य इनकी लगातार उपस्थिति का बोध, या इनमें से किसी एक की अति-उपस्थिति का बोध निर्धारित करता है कि एक कलाकार अपने समय में मनुष्य की स्थिति और उसकी आधुनिकता को अपनी रचनाओं में किस तरह ग्रहण और परिभाषित करता है।

मनुष्य की स्थिति को मुख्यतः आत्मवादी और मुख्यतः वस्तुवादी दोनों ही दृष्टियों से देखा समझा जा सकता है। दोनों को लेकर द्वन्द्वात्मक भी रहा जा सकता है और समन्वयात्मक भी। मेरी समझ में यह भारतीय जीवन-मूल्यों की आधार-मान्यताओं के पक्ष में जाता है कि हम आज भी, भारतीय तथा विदेशी दोनों प्रकार के चिन्तनों में, रचनात्मक मिज़ाज को भौतिक की अपेक्षा आत्मिक सन्दर्भ में बेहतर समझ पाते हैं। यह रचनात्मकता के अर्थ की खोज है : इसका अर्थ भौतिक का अस्वीकार नहीं।

औद्योगीकरण, तकनीकी प्रगति, वैज्ञानिक प्रगति आदि के साथ भी मोटे तौर पर 'आधुनिक' शब्द जुड़ा हुआ है--लेकिन कलाओं के साथ जब हम आधुनिकता की बात सोचते हैं तब उसके मतलब भिन्न होते हैं। सबसे पहले तो यह कि कला वस्तुमात्र नहीं है, न वस्तु की तरह उसकी व्याख्या की जा सकती है। कला सब से पहले एक रचनात्मक चेष्टा है और सौन्दर्य-प्रमुख दृष्टि है। 'आधुनिकता' विशुद्ध भौतिक सन्दर्भ में, हमारे जीवन में वह बदलाव है जो विज्ञान और औद्योगीकरण की वजह से आया है : आधुनिक कला एक माने में उस बदलाव के साथ नये, कलापूर्ण और सार्थक रिश्तों की तलाश है। कलाओं में आधुनिकता का प्रमुख अर्थ यह होगा कि मनुष्य अपनी बनाई चीज़ों और अपने बारे में उपलब्ध नयी पुरानी जानकारियों को किस तरह मानवीय और सुन्दर बनाता है।

आधुनिकता शब्द का रचनात्मक आशय वर्तमान को केन्द्र में रखते हुए अतीत और भविष्य के प्रति भी सचेत रहना है, इसलिए 'समकालीन' 'प्रत्यक्ष' या

'तत्कालीन' जैसे शब्दों के साथ भी इसके गहरे और सतही दोनों सम्बन्ध हैं।

भौतिक प्रगति का स्वभाव सामान्यतः एकदिशात्मक, यानी एक दिशा में गतिशील पदार्थ की तरह है। इस गति की कल्पना अतीत-वर्तमान-भविष्य को एक सीधी रेखा में रखकर की जा सकती है। लेकिन रचनात्मक चेष्टा, आध्यात्मिक चेतना की तरह एक चेतन बिन्दु से विकीर्ण होती हुई शक्ति या ऊर्जा की तरह है; वह एक ही समय में एक साथ अतीत, वर्तमान और भविष्य की उपस्थिति का बोध है।

किसी रचना या कृति को 'पदार्थ' मानकर भी उसकी व्याख्या की जा सकती है। कुछ इसी अर्थ में फ्रैंक करमोड ने एक उपन्यास की संरचना में आरम्भ-मध्य-अन्त के क्रम को समय के सन्दर्भ में पदार्थ की एकदिशात्मक गति से तुलनीय माना है। इसी तरह एक कला-कृति की व्याख्या भी 'वस्तु' की तरह की जा सकती है, और एक 'वस्तु' की व्याख्या 'कला-कृति' की तरह भी ग्रूशॉ द्वारा—की जा चुकी है।

लेकिन यहाँ वस्तु या कला-कृति से थोड़ी देर के लिए ध्यान हटाकर उस दृष्टि को केन्द्र में रखना चाहता हूँ जो वस्तुजगत को लेकर मुख्यतः रचनात्मक है, भौतिकतावादी या उपयोगितावादी नहीं। यानी किसी भी रचित वस्तु को लेकर इन दोनों कोशिशों को अलग-अलग पहचानना ज़रूरी है—कोशिश जो रचना की समस्याओं से सामना है, और कोशिश जो रचना की समस्याओं से अलग है। यही कला और अ-कला के बीच बुनियादी फ़र्क़ को स्थापित करता है। शाब्दिक कलाओं में भी और अशाब्दिक कलाओं में भी कला ओर यथार्थ उस 'विशेष भाषा' पर निर्भर है जो दोनों के बीच एक गहरा सम्बन्ध भी है और एक अलगाव भी—अलगाव इसलिए क्योंकि कला की भाषा और व्यवहार की भाषा के बीच कभी भी एक सहज और सीधा रिश्ता नहीं होता। व्यावहारिकता भाषा को एक तरह इस्तेमाल करती है, कला बिल्कुल दूसरी तरह और बिल्कुल अपनी तरह। लेवी-स्त्रोस ने इसे ही सामान्य भाषा से परे की 'कला-भाषा' (मेटा-लैन्गुएज़) कहा है। कला की भाषा में व्यावहारिक भाषा के अर्थ ढूँढ़ना व्यावहारिक भाषा में कला के अर्थ ढूँढ़ने की तरह है।

कबीर या ग़ालिब की भाषा अक्सर यह भ्रम उपजाती है कि वह आसान है क्योंकि उसमें पहचाने जा सकनेवाले रोज़ की भाषा के शब्द हैं। लेकिन उनकी कविता वस्तुतः शब्द-कठिन नहीं अर्थ-कठिन कविता है। जब ग़ालिब कहते हैं—

> न था कुछ तो ख़ुदा था, न होता कुछतो ख़ुदा होता।
> डुबोया मुझको होने ने, न होता मैं तो क्या होता।

तब ज़ाहिर है कि वो एक भी ऐसा शब्द नहीं इस्मेताल कर रहे जो रोज़मर्रा का न हो, लेकिन उन शब्दों का एक भी ऐसा अर्थ नहीं जो रोज़मर्रा का हो ! यानी

वो शब्दों के ज़रिये रोज़मर्रा की भाषा से परे कला की एक अलग भाषा को रच रहे हैं।

कलाकार के लिए पूरा यथार्थ कच्चा माल है—उसका माध्यम जिससे वह नया कुछ रचता है। यह 'नया कुछ' परिभाषित किया जा सकता है—सुन्दर के सन्दर्भ में भी और उपयोगिता के सन्दर्भ में भी; यह दोनों के सन्दर्भों से बिल्कुल बाहर भी परिभाषित किया जा सकता है इस तरह कि न तो सुन्दर हो न उपयोगी, केवल 'नया कुछ' हो। रोज़ेनबर्ग ने ध्यान आकृष्ट किया है कि नये की भी एक लीक है। साहित्य और कलाओं में वह सभी जो नया है ज़रूरी नहीं कि 'आधुनिक', या 'कला' भी हो ही—न यही कि रचनात्मक ज़रूरतों से की जानेवाली प्रयोगशीलता, और सिर्फ़ 'नये कुछ' के लिए की जानेवाली प्रयोगशीलता का दर्जा एक ही है।

आधुनिकता शब्द पिछले 500 वर्षों से भी अधिक लगातार इस्तेमाल में रहा और कई बार इस शब्द के अर्थों की झाड़पोंछ होती रही है—कभी नये, कभी पुराने, कभी परम्परा, कभी इन सब को समझने-समझाने की कोशिश में। बहुत कुछ इस पर निर्भर रहा कि एक कलाकार ने अपने समय और अपनी रचनात्मक ज़रूरतों के बीच किस तरह का सम्बन्ध स्थापित किया। आज भी यह कोशिश हमें साहित्य और कला सम्बन्धी चिन्तन में बराबर दिखाई देती है।

टी.एस. एलियट की आधुनिकता में क्लासिकल विचारधारा का ख़ासा दबाव रहा। स्पेन्डर ने आधुनिक तथा समकालीन के बीच फ़र्क़ पर ज़ोर दिया। हेराल्ड रोज़ेनबर्ग ने नये की परम्परा की ओर ध्यान खींचा। फ्रेंक करमोड ने 'आधुनिकता' को दो वर्गों में रखा : एक तो, 'प्राक्-आधुनिकतावाद' जिसमें जॉयस, स्राविन्स्की पिकासो, एलियट आदि की कलाएँ आती हैं जो प्रयोगात्मक होते हुए भी परम्परा और अतीत से भी कुछ-न-कुछ नाता बनाये रखती हैं, और दूसरा, 'नव-आधुनिकतावाद' जिसमें उन्होंने उन अवाँगार्द कलाओं को रखा है जो अपने को परम्परा से बिल्कुल तोड़कर प्रयोगशील हैं जैसे दादावाद, अतियथार्थवाद वग़ैरह।

लेकिन किसी भी कला के लिए शायद यह कहना मुश्किल है कि उसमें अतीत या परम्परा की कोई भी याद मौजूद नहीं, क्योंकि मन—विशेषरूप से रचनात्मक मन—किसी गतिमान वस्तु की तरह किसी एक ही दिशा में नहीं चलता। बर्गसां ने वर्तमान के साथ अतीत को अनिवार्यरूप से संश्लिष्ट माना है—दोनों के एकत्र आभास द्वारा ही हमें पूर्ण अस्तित्व-बोध होता है। यह अतीत और वर्तमान का चेतना में एक साथ होना क्रोचे और कालिंगवुड के विचारों की भी ज़मीन है। कालिंगवुड का कहना कि इतिहास दस्तावेज़ों में नहीं इतिहासकार के दिमाग़ में होता है और उस समय जी उठता है जब इतिहासकार उन दस्तावेज़ों की समीक्षा और व्याख्या कर रहा होता है,

हमें रचनात्मक स्वभाव के एक प्रमुख गुण की याद दिलाता है। रचना प्रक्रिया में बर्गसों ने 'स्मृति-चिन्तन' को विशेष महत्त्व दिया है। इसीलिए, रचना-शक्ति की बात करते हुए बर्गसों ने इस पर ज़ोर दिया था कि रचनात्मक जैसी आत्मिक चेष्टा को समझाने के लिए वे पद ठीक नहीं जिनके द्वारा विज्ञान, पदार्थ-जगत के तथ्यों और नियमों को समझने की कोशिश करता है। समय, गति, परिवर्तन, आत्मा, मन, रचनाशीलता आदि की प्रकृति को विज्ञान जब भी समझने चलता है तो उसकी विचार पद्धति और भाषा चल को अचल में बदल देती है--जब कि रचना-शक्ति एक निरन्तर प्रवाहित ऊर्जा है। क्रोचे ने कविता और कलाओं की प्रकृति को समझने के लिए भी इसलिए तर्क-शक्ति की अपेक्षा प्रज्ञा-शक्ति को ज़्यादा महत्त्व दिया। प्रसिद्ध साहित्य समीक्षक वेलेक कविता के स्वभाव को समझने के मामले में क्रोचे के विचारों को आज भी बहुत ज़रूरी मानते हैं।

कुछ ऐसे साहित्यकारों को जिनकी रचनाओं को हम 'आधुनिक क्लासिक्स' मानते हैं और देखें कि वे अपनी कृतियों में समय को किस तरह सोचते हैं। प्रूस्त, मलार्मे, रिल्के, काफ़्का, जॉयस, मन्न, ब्रेश्ट, एलियट—ये सभी समय के साथ एक ख़ास रिश्ता बनाते हैं। इनकी रचनाओं में समय हमारे दैनिक अनुभवों का समय नहीं होता, मिथकीय या रहस्यात्मक समय होता है जिसे हम कला-काल कह सकते हैं और जो स्वप्न-काल की तरह हमारे सामान्य जीवन-काल से भिन्न होता है।

प्रूस्त के *अ ला रेशार्स द्यू ताम्प्स पर्द्यू* में घटनाएँ सामान्य जीवन की तरह एक-के-बाद-दूसरी के क्रम से नहीं व्यतीत होतीं, पूर्वघटित को स्मृति में पुनः जीवित करके वर्तमान में एक बार फिर जिया जाता है। मलार्मे की कविताओं में 'वस्तुओं का मिटता हुआ-सा रूप, मूर्त न-हो-पाने का आभास मात्र' मिलता है। (स्वप्नवत्)। काफ़्का के उपन्यास *ट्रायल* में नायक 'के' एक दुःस्वप्न-काल में एक यथार्थाभास को विक्षिप्त-सा जीता चला जाता है। जॉयस के *यूलिसिस* में ब्लूम पूरे उपन्यास को चौबीस घन्टों से भी कम के 'मानसिक समय' में जीता है। *मैजिक माउन्टेन* में मन्न का नायक हन्स कस्टार्प टी बी. सनॉटोरियम में—सामान्य जीवनधारा से बिल्कुल अलग कटा हुआ किसी पहाड़ पर—एक ऐसे जीवनकाल में पूरे जीवनानुभव को भोगता है जो समय की दृष्टि से संक्षिप्त लगते हुए भी अनुभव-तीव्रता में सम्पूर्ण लगता है। ब्रेश्ट वर्तमान को भी ऐतिहासिक-काल की तरह देखते थे, " जिस तरह समानानुभूति (एम्पैथी) द्वारा असाधारण को रोज़मर्रा का साधारण अनुभव बनाया जा सकता है उसी तरह साधारण को विलगाव (एलिअनेशन) द्वारा असाधारण बनाया जा सकता है। सामान्य को भी इस तरह असामान्य बनाकर रखा जा सकता है कि वह सचमुच विशेष लगे--तब ऐसा होगा कि देखनेवाला वर्तमान से इतिहास

में पलायन नहीं करेगा. वर्तमान ही इतिहास बन जायेगा ।" एलियट के अनुसार एक लेखक समय में पूरी तीव्रता से अपनी स्थिति, समकालीनता को तब समझ पाता है जब वह अतीत के अतीतपन को नहीं बल्कि वर्तमान में भी उसकी उपस्थिति को महसूस कर सके।

समय को लेकर ये विभिन्न परिप्रेक्ष्य हमें कुछ भारतीय क्लासिक्स की याद दिलाते हैं। महाभारत के घटना-प्रधान कालक्रम (वर्तमान) को रोक कर *गीता* के सम्पूर्ण प्रसंग को एक दूसरे समय में रचा गया है : इसी तरह *गीता* के 11वें अध्याय में कृष्ण *गीता* के काल को फिर एक बार रोक कर पूरे महाभारत के परिणाम, उसके अन्त को वास्तविक घटना से पहले ही एक अलौकिक समय में दिव्य-दृष्टि (रचना-दृष्टि) द्वारा दर्शाते हैं। समय को लेकर विभिन्न दृष्टियाँ हमें व्यास और संजय के प्रसंगों में भी दी गई हैं। इसी तरह *रामायण* में बाल्मीकि अपने ही कथानक में एक पात्र भी हैं और उस कथानक के द्रष्टा भी ; वे एक साथ समय के दो आयाम प्रस्तुत करते हैं—जीवन सापेक्ष भी और जीवन मुक्त भी। इस दोहरे परिप्रेक्ष्य को हम एक रचनाकार की स्थिति में भी पहचान सकते हैं और भारतीय विचारधारा में भी कलाकार एक ऐसा जीवनानुभव देने की कोशिश करता है जिसमें वह होता भी है, और जिसके वह बाहर भी होता है। उसकी चेतना वर्तमान तक सीमित नहीं, वर्तमान से मुक्त भी होती है।

वस्तुवादी यथार्थ-बोध से मतलब है समय के वस्तुओं की अपेक्षा बीतने और समाप्त हो जाने का एहसास। यह चीज़ों की मृत्यु और त्रासदी का एहसास भी है। लेकिन भारतीय यथार्थवोध न तो जीवन को मात्र देह-वस्तु मानता है न ही त्रासदी—"सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिव अजायते पुनः।" वह चेतन या आत्म-तत्त्व को यथार्थ मानता है जो शरीर से परे भी है। वह स्वप्न भी है और स्वप्नद्रष्टा भी, रचित भी है और रचयिता भी। भारतीय दर्शन, साहित्य और कलाओं में यह न केवल एक कलात्मक दृष्टिकोण बल्कि बुनियादी जीवनदर्शन के रूप में व्याप्त है—

स्वप्नान्तं जागरितांतं चोभौ येनानुपश्यति।
महान्तं विभुमात्मान मत्वा धीरो न शोचति।।

यह वस्तु-जगत का अस्वीकार नहीं उससे एक उदात्त सम्बन्ध है। भारतीय कलाओं में प्रकृति और मानव-प्रकृति, प्रत्यक्ष तथा अ-प्रत्यक्ष, लौकिक तथा अलौकिक, काल तथा कालातीत के बीच सन्तुलन ढूँढ़ती हुई जीवनदृष्टि की ओर बार-बार हमारा ध्यान जाता है। वह मानती है कि रचना और आनन्द का स्रोत आदमी के अंदर है, आदमी के बाहर नहीं। भारतीय जीवनदर्शन ने इसीलिए आदमी के स्वभाव को सब से पहले विचारणीय माना। भरत मुनि का *रस-सिद्धान्त* कला

के सिद्धान्तों का ही नहीं मनुष्य के मनोभावों का भी विस्तृत विश्लेषण और वर्गीकरण है।

भारतीय कला स्थूल जगत के अनुकरण के सिद्धान्त को कभी स्वीकार न कर सकी—न आधुनिक कला में ही उसका विशेष महत्त्व है। (लोक-कलाओं तक में जन-जीवन का नहीं देवी-देवताओं के ही जीवन का बाहुल्य रहा)। यद्यपि ऐसा नहीं कि आरम्भ से ही वह अनुकरणात्मक कला के घनिष्ठ सम्पर्क में न आती रही हो। लेकिन भरपूर यूनानी प्रभाव के बावजूद व्यक्ति-केन्द्रित कला यहाँ कभी विकसित न हो सकी। गंधार कला-शैली भी भारतीय कला-बोध में अलग-सी ही रही क्योंकि बुद्ध और बोधिसत्व के चेहरे अपनी यथार्थवादी सजीवता में उस आध्यात्मिक छवि से ख़ाली हो गये जिस छवि को हम मथुरा की अन्तर्मुखी बुद्ध प्रतिमाओं में देखते हैं। आगे चल कर राजस्थान और काँगड़ा चित्रकला में व्यक्तिचित्रण पर ध्यान दिया गया लेकिन वह भी बहुत पनप न सका। मुग़लकालीन कला में भी, प्रोत्साहन के बावजूद यह कला उस शिखर तक न पहुँच सकी जैसी रिनेसांस कालीन योरप या 19वीं सदी की प्रभाववादी और उत्तर-प्रभाववादी कला में।

प्रतिरूपात्मक कला (रिप्रेजेंटेशनल आर्ट) के अस्वीकार में इस सदी की योरपीय कला और भारतीय कला-आदर्शों में एक ऊपरी समानता दिखती है। अमूर्त कला के एक ख़ास पक्ष को सोचें-द कूनिंग, पोलक, क्लाइन, गोर्की की कलाओं में एक अन्तर्तुखी आध्यात्मिक जुनून-सा है जो उनकी कलाओं में फ़ॉर्म के माध्यम से प्रकट होता है। यह कला चीज़ों के बाहरी रूपों से बँधी हुई नहीं है, न उनसे किसी प्रकार की बहस है। वह अपनी पूर्ण स्वच्छन्दता में चीज़ों के आतंक से मुक्त लगभग अलौकिक है। रंगों और रेखाओं की प्रकृति में पदार्थ की स्थिरता नहीं रंगों और रेखाओं की विक्षिप्त दौड़-सी है, छोटी-छोटी लयों का सटाव नहीं, विकेन्द्रित बड़ी लयों के धक्के हैं। या फिर रोथको या न्यूमान जैसे चित्रकारों की अपेक्षाकृत अधिक विघटनात्मक कृतियों में हम एक तरह का निराकार ठंडापन महसूस करते हैं जो हमें *वेस्टलैंड* के अन्त की शान्ति की याद दिलाता है।

दूसरे शब्दों में कहें तो आधुनिक कला का एक ख़ासा बड़ा हिस्सा सादृश्य का न्यूनतम इस्तेमाल करते हुए रचनात्मक आंतरिकता, या वस्तुओं से परे की दिशा में यात्रा है।

आज जब हम एक कैंडिंस्की, क्ले, पिकासो या पोलक की कला का मूल्यांकन करते हैं तब उस कला में स्थानीय, देशगत या जातिगत गुणों को उतना नहीं ढूँढ़ते जितना इन कलाकारों की निश्चित रचनात्मक पहचान और विशिष्ट कला-शैलियों को। हम अपने समय को लेकर उनके विचारों, प्रतिक्रियाओं और टिप्पणियों को सोचते हैं

जो वे अपनी कलाओं के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। इनकी कलाएँ केवल बाहरी जीवन से ऊपरी सरोकार की कलाएँ नहीं हैं। रचनात्मक स्तर पर गहरे आत्मान्वेषण की भी कलाएँ हैं। वे इस बुनियादी यक़ीन की कलाएँ भी हैं कि वे समस्याओं को सबसे पहले कला की दृष्टि से देख रहे हैं कला के बाज़ार की दृष्टि से नहीं।

"यह सोचना सरासर ख़ामख़याली है कि बाह्य-प्रकृति में किसी प्रकार की व्यवस्था नहीं है और हम उसमें किसी प्रकार की व्यवस्था ला सकते हैं सच तो यह है कि हम अपने अन्दर ही अगर थोड़ी बहुत व्यवस्था ले आ सकें तो वही बहुत है..."—द कूनिंग का यह कथन रचनात्मक स्वभाव की एक ख़ास समस्या को रेखांकित करता है। सूजन सोण्टाग का कहना कि हर युग को अपने लिए अपनी तरह आत्मिकता के सार को खोजना पड़ता है, आज की कला के लिए भी उतना ही सच है जितना किसी भी युग की कला के लिए रहा है।

कोई भी कला सबसे पहले रचनात्मकता का अनुभव है। रचनात्मकता ही कला का प्रमुख विषय (कान्टेंट) होता है।

वस्तुजगत का यथावत् चित्रण वस्तुजगत का अनुभव हो सकता है, लेकिन कला का अनुभव भी वह तभी होगा जब उसमें हम किसी प्रकार की रचनात्मक प्रतिभा और प्रेरणा को असंदिग्ध रूप से पहचान सकें।

रचे हुए में सौन्दर्य को परिभाषित कर सकना, या अरचित में सौन्दर्य को रच सकना, इसीलिए, कला भी है और अध्यात्म भी।

व्यक्ति, समाज, मनुष्य जीवन का कोई भी पक्ष कला पूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है। और वह इस तरह भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि कलापूर्ण न हो ; हमें उसमें रचनात्मकता का अभाव लगे। या हमें ऐसा लगे कि उसमें जो भी सुन्दरता दिखती है वह कलाकार की रची हुई नहीं है, उन चीज़ों का स्वाभाविक गुण है जिन्हें कलाकार केवल पेश कर रहा है, वह हमें केवल याद दिला रहा है कि एक फूल, नदी, या पहाड़ सुन्दर होते हैं—अपनी ओर से उसने सुन्दर या असुन्दर के बारे में ऐसा कोई नया विचार या भावना नहीं दी है जो उनके बारे में हमारे पूर्व अनुभवों या पूर्व ज्ञान में नया कुछ जोड़ता हो, हमें यक़ीन दिलाता हो कि कलाकार की ओर से भी हमें ऐसा कुछ मिला जो सुन्दर के बारे में, या ज़िन्दगी के बारे में, हमारे अनुभवों में विशिष्ट कुछ जोड़ता हो।

आधुनिकीकरण के आज अनेक उदाहरण हमारे सामने हैं। भारतीयता, समकालीनता, स्थानीयता, सामाजिकता आदि के हम कला में क्या अर्थ लगाते हैं यह बहुत कुछ इस पर निर्भर करता है कि इनका आज हमारे जीवन में क्या अर्थ है। भारतीय

कला-मन अनेक विषम ऐतिहासिक परिवर्तनों से गुज़रा है और अनेक अन्तर्सांस्कृतिक अनुभवों से मिलकर बना है।

संस्कृति विशेष में नये विचार किस प्रकार ग्रहण होते हैं, या ग्रहण नहीं हो पाते हैं—यह बहुत कुछ उन आचार-विचार आदि पर भी निर्भर है जो उस संस्कृति में परम्परा के रूप में, जातीय स्मृति के रूप में और भाषा में जीवित रहते हैं। अमरीका या रूस जैसे देश जिनकी ऐतिहासिक स्मृति बहुत लम्बी नहीं नये विचारों को—या नये-से लगते पुराने विचारों की भी—लेकर जल्दी प्रतिकृत होंगे। यह प्रतिक्रिया उन देशों में धीमी और सशंक होगी जिनका ऐतिहासिक अनुभव बहुत पुराना है और जिनके अचेतन, भाषाई, सामाजिक और जातीय मन पर ऐतिहासिक उतार-चढ़ाव की अनेक तहें जमी हुई हैं।

मैं समझता हूँ जिस तरह आज हमारे सामने 'आधुनिकता' का एक विश्व-परिप्रेक्ष्य (ग्लोबल पर्सपेक्टिव) है उसी तरह कलाओं के अतीत और परम्पराओं का भी होना चाहिए, क्योंकि कलाओं के रूप कभी एक देश तक सीमित नहीं रहे—कई देशों में और कई रूपों में परिवर्तित होकर घूमते रहे। विदेशी प्रभावों को लेकर आज हम ज़रूरत से कुछ ज़्यादा ही चौकन्ने हो गए हैं, लेकिन जिसे हम आज प्राचीन या मध्यकालीन भारतीय कला कहते हैं उसमें तमाम विदेशी प्रभाव मौजूद हैं—लेकिन इसके बावजूद वह अपने समय की, अपनी जगह की और अपने ढंग की कला रही है। अनेक विदेशी प्रभावों को बराबर ग्रहण करते रहने के बावजूद उसकी अपनी पहचान और बुनियादी भारतीयता कभी दबने नहीं पाई क्योंकि वह एक निश्चित जीवन-दर्शन और विश्व-दृष्टि से जुड़ी हुई कला—सही मानों में भारतीयता के गूढ़ आशयों से जुड़ी कला—थी जिसने विदेशी प्रभावों को अपनी तरह ग्रहण और इस्तेमाल किया।

दो या दो से अधिक कलाओं के मिलने से दोनों के रूप बदलते हैं ; उनका एक दूसरे पर एक ख़ास तरह का नस्ली प्रभाव (म्यूटेशनल इफ़ेक्ट) पड़ता है जिससे उनमें नवीनता और शक्ति आती है। विदेशियों की लगातार उपस्थिति का जो असर भारतीय कलाओं पर पड़ा उसे किसी हद तक राजनीतिक दृष्टि से अलग करके देखना ज़रूरी है, तभी हम अपनी—और दूसरों की भी—कलाओं के इतिहास को राजनीतिक इतिहास से भिन्न समझ सकेंगे। यानी, यह ज़रूरी है कि आधुनिकता की ही तरह हम उसके अतीत और परम्पराओं को भी सार्वभौमिक (ग्लोबल) परिप्रेक्ष्य में रखकर देखें। एक विदेशी प्रभाव के रूप में भारतीय कला-चेतना पर अंग्रेज़ी प्रभाव अगर ग़लत कहा जा सकता है तो इस मामले में कि उसके एकाधिपत्य ने दूसरे विदेशी प्रभावों के साथ भारत के लिए खुले आदान-प्रदान के रास्तों को अवरुद्ध किया—इसलिए नहीं कि वह स्वयं एक विदेशी प्रभाव था।

ऐसी अनेक विचारधाराएँ आज हैं जो एक देश नहीं पूरी मानवजाति के लिए महत्त्व रखती हैं। मार्क्स, फ्रायड, आइन्स्टाइन आदि के विचारों का दायरा आज उनके ही देश में नहीं बल्कि उनके विषयों के बाहर भी उस पूरे चिन्तन में व्याप्त है जिसे हम आधुनिक कहते हैं। स्थानीय तत्त्वों के अध्ययन के पीछे भी एक सार्वभौमिक दृष्टि रहती है—नृशास्त्रीय, भाषाई, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टियों से मनुष्य की विभिन्न जीवनपद्धतियों और विश्वदृष्टियों का अध्ययन और विश्लेषण। आधुनिकता का एक तात्पर्य जहाँ अपनी जड़ों की छानबीन है (अपनी स्थानीयता, इतिहास, परम्परा आदि में) वहीं उसका दूसरा तात्पर्य कलात्मक अभिव्यक्ति की उन श्रेष्ठतम उपलब्धियों की जानकारी भी है जिनसे कला का इतिहास बना है।

परम्परा से वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति का कोई अनिवार्य विरोध नहीं है—और दोनों ही एक स्तर पर अपनी तरह रचनात्मक हैं। आधुनिकता अक्सर अनेक पुराने विचारों को अपनाती और तथाकथित अवाँगार्द विचारों को अस्वीकार करती रही है। बहुत से देश जो तकनीक, औद्योगीकरण, विज्ञान आदि में भारत से आगे हैं भारत से कम परम्परावादी नहीं हैं। मुझे लगता है कि भारतीय प्रवृत्ति नये या वैज्ञानिक विचारों के मामले में सतर्क रखते हुए भी निषेधात्मक नहीं रही। जहाँ किसी भी 'ज्ञान' को 'धार्मिक अनुभव' जैसी चीज़ माना गया हो वहाँ 'धर्म ? या विज्ञान ?' जैसी वह बहस जो कभी डार्विन के विचारों को लेकर योरप में उठी थी शायद निरर्थक लगती। औषधि-विज्ञान के चरक, कामशास्त्र के वात्स्यायन, भाषाशास्त्री पाणिनि, वैज्ञानिक आर्यभट्ट—सभी जहाँ 'ऋषि' कोटि में रखे जाते रहे वहाँ 'धर्म' विज्ञान का विरोधी नहीं मनुष्य के आचरण और लोक-व्यवहार का नियामक माना गया। चीज़ों को जानना, और चीज़ों को जाननेवाले को जानना, दोनों को ही ज्ञान की उस व्यापक परिधि में रखा गया जिसके बिना आदमी अपनी रची दुनिया पर नियन्त्रण नहीं रख सकता। मैं समझता हूँ आज भी आदमी जो कुछ अपने बारे में जानता है और अपनी दुनिया के बारे में जानता है उसके बीच सही और जीवन्त रिश्तों की खोज कलाओं की एक सार्थक कोशिश है।

---

कुँवर नारायण

# सामाजिक यथार्थ और कविता का आत्मसंघर्ष : कुछ नोट्स

कविता जब भी यथार्थ के बहुत नज़दीक जाती है, अथवा यथार्थ को अपने बहुत नज़दीक लाती है, उसके जीवन-विवेक पर सबसे अधिक दबाव पड़ता है। वह सब जो हो रहा है सही ग़लत का मिला-जुला रूप है, यथार्थ है, व्यावहारिक है : वह सब जो होना चाहिए यथार्थ से दूर हो सकता है। कविता यथार्थ को नज़दीक से देखती मगर दूर की सोचती है। वह एक बारीक मगर ज़रूरी फ़र्क़ करती है जीवन—यथार्थ और जीवन-सत्य के बीच। दुनिया जैसी है और जैसी उसे होना चाहिए के बीच कहीं वह एक लगातार बेचैनी है। एक कवि में अगर दूर तक सोच सकने की ताक़त नहीं है तो उसकी कविता या तो यथार्थ की सतह को खरोंच कर रह जायेगी, या किसी भी आदर्श से चिपककर। जब मैं जीवन-सत्य की बात करता हूँ तो मेरा मतलब कविता के पीछे काम करने वाली उस सतर्क-बुद्धि संवेदनशीलता से होता है जो ज़िन्दगी को तीव्रतम एहसासों और विवेक के स्तरों पर एक साथ जीने में सक्षम हो और सही जीवनमूल्यों की पहचान करा सके। उसकी जिजीविषा का स्रोत उदात्त अर्थों में आत्मिक और उसी नाते सार्वभौमिक भी हो। समकालीन और स्थानीय पर उसकी पकड़ सच्ची और प्रामाणिक होनी चाहिए लेकिन उस तक ही सीमित नहीं, अपनी व्यापकता और सदाशयता में दोनों का अतिक्रमण करती हुई भी हो।

जो यथार्थ कवि को उद्विग्न करता और जो आदर्श उसे आश्वस्त, उनके बीच कविता की स्थिति और सार्थकता को बनाये और बचाये रखने की कोशिश कविता की सही ज़मीन खोजते रहने की कोशिश है। केवल ऊपर से देखें तो यथार्थ की पहचान और पकड़ दोनों ही भ्रामक हो सकती हैं, और अकसर उन्हीं सचाइयों का निषेध करती हुई हो सकती हैं जिनकी तलाश में कविता हमेशा प्रत्यक्ष की त्वचा से एक या कई सतह नीचे या भीतर की कविता होती है।

**: दो :**

कबीर, ग़ालिब या निराला ने अपने समय के यथार्थ को भरपूर जिया और सोचा,

लेकिन उनकी कविता उस यथार्थ से आक्रान्त कविता नहीं है; उन जीवन-सत्यों की कविता है जो यथार्थ का बारीक अवलोकन भी है और उस पर सारगर्भित टिप्पणी भी। उससे भिन्न ऐसी तमाम वक़्ती कविताएँ ध्यान में आती हैं जो अपने समय की घटनाओं, चरित्रों, आचरणों आदि को लगभग अख़बारी फुर्ती से व्यक्त करती हैं; हमारे लिए उतनी ही महत्त्वपूर्ण भी साबित होती हैं और लगभग उतनी ही जल्दी अप्रासंगिक हो जाती हैं। सही मानों में कविता यथार्थ पर उससे कहीं ज़्यादा गहरे सम्बन्धों, विचारों और आत्म-मन्थन का नतीजा होती है।

कवि के व्यक्तित्व को एक अत्यन्त संवेदनशील माध्यम के रूप में सोचें तो सामाजिक सन्दर्भ में उसकी भूमिका अहम है। निराला की 'सरोज-स्मृति', 'वह तोड़ती पत्थर' या 'कुकुरमुत्ता' यथार्थपरक कविताएँ होते हुए भी एक माने में अत्यन्त आत्मीय और निजी कविताएँ भी हैं; तथा 'राम की शक्तिपूजा', 'तुलसीदास' या 'जुही की कली' यथार्थी कविताएँ न होते हुए भी भारतीय लोक-मानस के गहरे आत्मीय संस्कारों से जुड़ी हुई कविताएँ हैं। निराला का निजी संसार उनकी कविता का उतना ही आवश्यक हिस्सा है जितना वह समाज जिसमें वे जी रहे थे। ख़ास बात है निराला की समझ और संवेदना का विस्तार जो उनकी कविताओं की रीढ़ है, और जो इस पर इतना नहीं निर्भर करता कि कवि अपने चारों ओर की ज़िन्दगी का कितना सही सही चित्रण करता है बल्कि इस पर कि वह अपने बाहर और भीतर के यथार्थ का कितना संश्लिष्ट रूप हमें दे पाता है और इसके दौरान जो जीवन-दृष्टि हमें देता है वह कितनी मूल्यवान है। यह दृष्टि निराला की कविताओं और गीतों में बराबर मौजूद रहती है। निराला ने कुछ बहुत ही अच्छे गीत अपने कवि-जीवन के अंतिम वर्षों में लिखे, जबकि एक कवि गीतों को प्रायः अपने प्रारंभिक, यानी कमोबेश अप्रौढ़ या किशोर-वर्षों में लिखता है। 'जुही की कली' को अगर निराला की प्रारम्भिक गीति-संवेदनाओं की देन मानें तो उनका कृतित्व अपने दार्शनिक और यथार्थवादी दौर से होता हुआ *अर्चना* के गीतों में एक महत्त्वपूर्ण परिक्रमा पूरी करता है।

मुक्तिबोध की कविताओं में प्रत्यक्ष यथार्थ के चित्रण से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है उनका परोक्ष अर्थ-विन्यास। कभी-कभी उनके यथार्थ-खण्ड बिल्कुल रिवाजी और ढीले बँधे हुए लगते हैं—शब्दों की तरह प्रतीकार्थक—स्वयं में उतने अर्थवान नहीं जितने एक दूसरे से जुड़कर किसी वृहत्तर संयोजन में अर्थवान। ठीक उसी तरह जैसे एक अच्छी फ़िल्म में सामान्य यथार्थ-खण्डों को शाब्दिक-सी योजना देकर अर्थ-सम्प्रेषण किया जाता है। मुक्तिबोध की कविता जब चूकती है तब भी वह मुझे एक फ़िल्म की तरह चूकती लगती है, मानो वे लम्बे-लम्बे 'अनकट रशेज़' हों जिनका कुशल सम्पादन अभी बाक़ी हो, या पढ़नेवाले पर छोड़ दिया गया हो। अनेक ऐसी आधुनिक

कविताएँ ध्यान में आती हैं जिन्हें हम केवल ग्रहण ही नहीं करते, अपने अन्दर उनकी पुर्नरचना भी करते हैं।

वैसे, यथार्थ चित्रण को लेकर कविता का शिल्प कभी भी बहुत निश्चित नहीं रहा, बावजूद इसके कि साहित्य की अनेक विधाओं की झलक उस पर पड़ती रही। अज्ञेय की 'असाध्य वीणा' का चुस्त और सावधान गठन अपने शिल्प और तराश में लगभग औपन्यासिक है, पर एक निश्चित कथानक के बावजूद कथ्य में एक भावगीत की तरह अठोस। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की 'कुआनो नदी' आंचलिक ज़मीन पर अत्यन्त अंतरंग भावनाओं की वर्णनात्मक कविता है। विनोदकुमार शुक्ल की कविताओं और उपन्यास के शिल्प में अद्भुत समानता है। धूमिल की 'मोचीराम' या विष्णु खरे की एक 'चीज़ के लिए' में नाटकीयता का कुशल इस्तेमाल है। इस तरह सोचें तो एक उत्कृष्ट कविता व्यापक अर्थों में पूरा साहित्य भी हो सकती है और बहुत ही संकुचित अर्थों में छोटी-सी तुकबन्दी मात्र भी। पहले के अनेक कवियों ने यथार्थ की ज़्यादा ठेठ और क्रमबद्ध तस्वीरें दी हैं, उनकी अपेक्षा इधर की अनेक अच्छी कविताओं में यथार्थ की नितान्त सांकेतिक तस्वीरें (जिन्हें शायद यथार्थ की तस्वीरें न कहकर यथार्थ के फटे-चिटे टुकड़े मात्र कहना ज़्यादा सही होगा) मिलेंगी, क्योंकि उनके पीछे यथार्थ को एक कैमरा की तरह देखने की कोशिश उतनी नहीं होती जितनी एक कवि की संवेदना से देखने की कोशिश।

: तीन :

इधर की ऐसी भी तमाम कविताएँ, जिनमें सामाजिक यथार्थ अक्सर ज़िक्री तौर पर ज़्यादा फ़िक्री तौर पर कम आ रहा है। सन् 40 के आसपास सामाजिक विषयों का जो दौर आया था उसे सबसे पहले और सबसे ज़्यादा ग़ज़लों और गीतों ने गाया। ऐसा नहीं कि इन विषयों को लेकर ईमानदार या पुरअसर कविताएँ भी नहीं लिखी गईं लेकिन उस वक़्त भी कवियों का एक बड़ा वर्ग ऐसा था जो नये विषयों के लिए कविता के पुराने फ़ॉर्म को नाकाफ़ी मान रहा था। छन्दों के प्रभुत्व और जादू को तोड़ना इसलिए भी ज़रूरी था, क्योंकि छन्द ही कविता का पर्याय-सा बन गए थे, और कविता का प्रमुख काम हमें किसी न किसी तरह की दिमाग़ी राहत दिलाना मान लिया गया था। कविता को छन्दों की जेल से छुड़ाने के पीछे एक चिन्तन यह भी था कि कविता की उन ताक़तों का मुक्त विकास हो सके जो छन्दों पर आश्रित नहीं होतीं।

आज अगर मुक्त-छन्द, या छन्दों से मुक्ति की भी परिपाटी-सी बन गयी लगती है, यहाँ तक कि वह कविता की नहीं बल्कि कविता से पलायन की पहचान बनती जा रही, तो नये रूपों की ज़रूरत की ओर फिर ध्यान जाना स्वाभाविक है। इस

सिलसिले में अगर छन्दों की ओर ही ध्यान जाता है तो इस ख़तरे की ओर भी ध्यान जाता है कि कहीं कविता का आत्मसंघर्ष, उसकी रचनात्मक ऊर्जा, नये फ़ॉर्म खोजने की बजाये फिर उन्हीं पुराने रूपों की चहारदीवारी में घिरकर न रह जाए जिनकी अतियों के ख़िलाफ़ उसने कभी संघर्ष किया।

समकालीन कविता में आज अगर कुछ ठहराव-सा लगता है तो गीत या ग़ज़ल को ही उसका विकल्प मानना ठीक नहीं लगता। विकल्प वे इसलिए भी नहीं हो सकते क्योंकि वे कभी भी मुक्तछन्द वाली या छन्द-रहित कविता के प्रतिद्वन्द्वी नहीं थे, उसके सहयात्री थे यद्यपि उनके पाठक, श्रोता और मंच बिल्कुल अलग थे, उसी तरह जैसे आज फ़िल्मी गानों की जात बिल्कुल अलग है। फ़िल्मी गीतों में भी साहित्यिकता हो सकती है पर वे किसी भी साहित्यिक विधा का विकल्प नहीं हो सकते—साहित्यिक गीतों का भी नहीं। निराला के गीत या दुष्यन्तकुमार की ग़ज़लें उनकी कविताओं के विकल्प नहीं हैं, गीत और ग़ज़ल के क्षेत्र में उनका अलग काम है। निराला समर्थ गीतकार थे लेकिन उनकी काव्य-यात्रा में सामाजिक यथार्थ का दौर भी वही था जो उनकी कविता का सबसे प्रयोगशील दौर था—यानी नये कथ्य की समस्या कहीं न कहीं अनिवार्य रूप से फ़ॉर्म की समस्या से भी जुड़ी रही है, और आज गीत या ग़ज़ल के फ़ॉर्म की बात का उठना फ़ॉर्म की ही समस्या का उठना है भले ही हम उसे कथ्य की ओर से उठायें और कथ्य की ही समस्या मानें। सम्प्रेषणीयता के तर्क को भी एक सीमा तक ही छन्दों या लोकरंजक काव्यरूपों के पक्ष में खींचा जा सकता है। अन्ततः तो यह एक कवि का बिल्कुल निजी फ़ैसला ही होगा कि वह अपनी कविता के लिए छन्दों और गीतात्मकता को कहाँ तक और किस रूप में ज़रूरी मानता है, अगर उन्हें ज़रूरी मानता है।

## : चार :

हिन्दी में 'रूप' और 'कथ्य' या फ़ॉर्म और कन्टेन्ट को लेकर जो बहसें हुई उन्होंने समस्या को सही जगह पर नहीं स्थिर किया। साहित्य में और कविता में विशेषकर, यथार्थ किस रूप में आये कि एक ओर अगर वह अपना संज्ञानात्मक काम (कॉग्नीटिव फ़ंक्शन) पूरा कर सके तो दूसरी ओर कला के सौन्दर्यानुभूति मूलक काम (एस्थेटिक फ़ंक्शन) को भी ? इस पर जो लम्बी और विचारोत्तेजक बहस योरप में चली थी और जिसके केन्द्र में लुकाच, ब्रेश्ट, ब्लॉख़, बेन्जामिन और अडार्नो जैसे विचारक थे उसने साहित्य शास्त्र की कई समस्याओं की ओर ध्यान खींचा था, ख़ासतौर पर सामाजिक यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में। लेकिन कविता के बारे में सोचते वक़्त कुछ विशिष्ट समस्याओं पर भी ध्यान देना ज़रूरी है। लूकाच के विचारों पर ब्रेश्त की प्रतिक्रियाओं के पीछे भी हम उस ज़रूरी फ़र्क़ को महसूस कर सकते हैं, जहाँ

ब्रेश्ट प्रमुखतः एक कवि और नाटककार की हैसियत से बोलते हैं, और लूकाच प्रमुखतः उपन्यास के सन्दर्भ में एक सिद्धान्तकार की हैसियत से।

कविता के सन्दर्भ में 'सामाजिक यथार्थ' और 'व्यक्ति' के सम्बन्धों को लेकर ब्रेश्ट के विचार मुझे आज भी महत्त्वपूर्ण लगते हैं। पहली बात तो यह कि सामाजिक यथार्थ को वे मात्र विवरणात्मक या वृत्तात्मक न मानकर मूलतः अध्ययनात्मक मानते हैं—(रियलिस्टिक मीन्स डिस्कवरिंग द कॉज़ल कॉम्पलेक्सेस ऑफ़ सोसायटी) दूसरी बात, वे शिल्प, प्रयोग आदि के मामले में कवि की पूरी आज़ादी के क़ायल थे तथा इसके ख़िलाफ़ थे कि आदमी की भीतरी ज़िन्दगी को महत्त्वहीन (क्वान्टिटी नेग्लीजिएबल) माना जाये। एक रचनाकार की हैसियत से ब्रेश्ट जिन सिद्धान्तों की जकड़बन्दी में स्वतन्त्र लेखन को दुश्वार पा रहे थे उस पर तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए उनका कहना था कि जन-समुदायों के बारे में चिन्ता का यह मतलब कदापि नहीं होना चाहिए कि व्यक्ति को मूल कारणात्मक कड़ी (कॉज़ल नेक्सस) के रूप में भुला दिया जाये।

लूकाच का उस समय मार्क्सवादी समीक्षा और चिन्तन के क्षेत्र में काफ़ी दबदबा था। ब्रेश्ट उनके ख़िलाफ़ खुल्लमखुल्ला कुछ कहने के मामले में सावधान थे, लेकिन वे विशुद्ध साहित्यशास्त्री के सिद्धान्तों का रचनात्मक साहित्य पर जो अनावश्यक दबाव महसूस कर रहे थे उसका उनके मन में ख़ासा असन्तोष था। लूकाच के यथार्थवादी सिद्धान्तों को लेकर ब्रेश्ट का कहना था कि साहित्य-सिद्धान्तों का भी अपना रूपवाद हो सकता है जो रचनात्मक साहित्य में रूप के महत्त्व को समझने में बिल्कुल असमर्थ साबित हो सकता है। 19वीं सदी के उपन्यासों के अध्ययन से निकले यथार्थवाद को आज के साहित्य पर प्रमाण की तरह लादना ग़लत है। नयी ज़रूरतों के हिसाब से नये शिल्प की खोज ज़रूरी है। इसके लिये लेखक को प्रयोगों की पूरी छूट होनी चाहिए। शिल्प का अस्वीकार नहीं उसका विकास ज़रूरी है। यथार्थ को लेकर ब्रेश्ट का कहना था कि "यथार्थ बदलता है तो उसे व्यक्त करने के तरीक़े भी बदलेंगे ही।"

ऐसा नहीं कि सामाजिक यथार्थ को समझने के मामले में लूकाच ने बहुत ही मूल्यवान चिन्तन नहीं दिया है, लेकिन ब्रेश्ट कविता पर जिस सैद्धान्तिक आग्रह की ज़्यादतियों को महसूस कर रहे थे वह कहीं एक रचनाकार की कठिनाइयों को प्रकट करता है, सामाजिक यथार्थ को ख़ारिज नहीं।

## : पाँच :

कविता में 'मैं' की व्याख्या केवल आत्मकेन्द्रण या व्यक्तिवाद के अर्थ में करना उसके वृहत्तर आशयों और सम्भावनाओं दोनों को संकुचित करना है। कविता पर सामाजिक

यथार्थ का दबाव इस रूप में नहीं पड़ना चाहिए कि कवि-व्यक्तित्व की कोई स्पष्ट पहचान ही न उभर पाये : इससे कविता का एक बहुत ही जीवन्त पक्ष पंगु हो जायेगा। सामाजिक यथार्थ के साथ एक कवि का सम्पूर्ण व्यक्तित्व लिप्त होता है। यह उसकी कला की शर्त है कि वह अपने विषय को लेकर अनासक्त या तटस्थ नहीं रह सकता। एक उपन्यास या कहानी में लेखक के व्यक्तित्व का हस्तक्षेप न्यूनतम भी हो सकता है, जबकि एक कवि अपने पूरे पैशन के साथ सामाजिक यथार्थ में हिस्सेदारी रखता है, और उसे अपने व्यक्तित्व का वह अतिरिक्त आयाम देता है जिसके बिना कविता सपाट और व्यक्तित्वहीन हो जायेगी। एक कवि यथार्थ को अपनी संवेदना में, या अपनी संवेदना से, परिवर्द्धित करता है। इस माने में कविता का 'मैं' जितना निर्वैयक्तिक होता है उसका 'वे' उतना ही व्यक्तिगत। एक कवि का व्यक्तित्व तथा उसकी समाज सापेक्षता कविता से बिल्कुल जुड़े हुए सवाल हैं। एक कवि के निजी अनुभवों का संसार दूसरों के किसी मतलब का है या नहीं यह बहुत कुछ उसकी निजी प्रतिक्रियाओं की व्यापकता, मानसिक समृद्धि, समझ आदि पर निर्भर करता है। जिस तरह निजी अत्यन्त उदार अर्थों में सामाजिक या सार्वभौमिक हो सकता है, उसी तरह सामाजिक अत्यन्त संकुचित अर्थों में बिल्कुल निजी भी हो जा सकता है। अतः निजी और सामाजिक के बीच बुनियादी विरोध न मानकर निजी के साधारणीकरण की समस्या को ही कला की मूल समस्या मानने में प्राचीनों का यह मत ठीक लगता है कि श्रेष्ठ काव्य-रचना वही है जिसमें 'परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च' वाली स्थिति हो।

: छह :

कविता में आत्मसंघर्ष को दूसरे स्तरों पर कुछ इस तरह समझा जा सकता है—प्रेम या प्रकृति या निजी भावनाओं की कविताएँ इस माने में एक सुरक्षित दुनिया है कि उसकी मौजूदा सामाजिक या राजनीतिक यथार्थ से कोई सीधी टकराहट नहीं। सामाजिक और राजनीतिक यथार्थ से सीधा सामना न केवल एक कटु बल्कि ख़तरनाक अनुभव भी हो सकता है, क्योंकि वह कहीं-न-कहीं समाज की बर्बर ताक़तों के ख़िलाफ़ एक चुनौती भी होगा। इन ख़तरों को उठाने का मतलब कभी-कभी ज़िन्दगी को एक बहुत ही बेगाने, दुश्वार और अकेले बिन्दु पर जीना है—एक गैलीलिओ की तरह उत्पीड़ित या एक कबीर की तरह अपना घर फूँक कर ! आज कविता के संकट का एक कारण यह भी जान पड़ता है कि कवि जिस यथार्थ से क्षुब्ध है उसके साथ न तो वह समझौता ही कर पाता है न उसके विरुद्ध कोई कारगर लड़ाई ही, क्योंकि एक स्तर पर अगर वह आत्मिक रूप से नष्ट होता है तो दूसरे पर भौतिक रूप से।

: सात :

जो भाषा कविता की बुनियाद है वही अगर समाज के निहित स्वार्थों द्वारा शोषण और झूठ का ताक़तवर साधन बन जाती है तो कविता के लिए उसमें विश्वसनीय जगह बनाना सबसे मुश्किल हो जाता है। मूल्यों को जाँचने परखने का सबसे संवेदनशील माध्यम, यानी भाषा अगर व्यवहार में ख़ुद ही खोटी और कुन्द हो जाये तो वैचारिक और भावनात्मक स्तर पर उसकी कोई साख नहीं बचती। कविता की एक लड़ाई स्वयं भाषा के गिरते हुए मूल्य को, उसकी स्वतन्त्रता, प्रामाणिकता और ईमानदारी को बचाये रखने की कोशिश है।

: आठ :

मीडिया के साथ कविता का जो सम्बन्ध बनता है वह दो मानों में ख़ासतौर पर विचारणीय है। हमारे समाज और दुनिया को हमारे बहुत समीप लाने में मीडिया के तन्त्र का बहुत बड़ा हाथ है, लेकिन यह भी इतना ही सही है कि मीडिया द्वारा ही आज भाषा और यथार्थ का सबसे अधिक प्रदूषण और विकृतिकरण भी हो रहा है। जो तथ्य मीडिया द्वारा हम तक पहुँचते हैं वे अगर अधसच्चे या ग़लत या अतिरंजित होते हैं तो ज़ाहिर है कि उन पर कविता या साहित्य की प्रतिक्रिया का महत्त्व भी संदिग्ध, और इसलिए गौण या नगण्य होगा। दूसरी बात, मीडिया के सशक्त और सक्षम तन्त्र को वेध कर कविता के लिए उस जनमानस को प्रभावित करना बहुत मुश्किल होगा जिसकी भापा और चिन्तन को मीडिया की प्रणाली एक ज़्यादा बड़े पैमाने पर अपनी तरह प्रभावित कर चुकी होती है या करती रहती है।

वैसे ही, उत्कृष्ट और प्रतिभासम्पन्न साहित्य का उत्पादन इतना कभी भी नहीं हो सकता कि वह मीडिया की दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती हुई माँगों को पूरा कर सके। इस माँग के सामने साहित्य के एक बड़े हिस्से का ख़ुद भी अर्द्ध-साहित्यों और उप-साहित्यों में विघटन होना लाज़िमी है।

: नौ :

कविता मनुष्य के दिल और दिमाग़ के जितना ही नज़दीक अपनी जगह बनायेगी उसके लिए जीवित रहना उतना ही सम्भव और अर्थपूर्ण होगा। प्रचार प्रसार के तमाम माध्यमों के मुक़ाबले में और यों भी, कविता की स्थिति जितनी नाजुक है उतनी ही विशिष्ट भी, और यह विशिष्टता ही उसका प्रमुख बल है। कविता आज उसी या वैसे ही काम को करके ज़िन्दा नहीं रह सकती जिसे दूसरे माध्यम, या दूसरे प्रकार के लेखन, बेहतर कर रहे हैं। कविता को भाषा में वहाँ अपनी पक्की और स्थायी

पहचान बनाना है जहाँ आदमी के बनाये किसी भी स्थूल उपकरण की पहुँच नहीं। बदलते सन्दर्भों में मनुष्य के सबसे कम उद्घाटित या विलुप्त होते, जीवन-स्रोतों की खोज और भाषा में उनके संरक्षण की क्षमता शायद आज भी कविता की सबसे बड़ी ताक़त है।

---

रघुवीर सहाय

# स्वतन्त्रता के दिनों का संकट और मैं

यह कुछ विस्मय की और कुछ दुर्भाग्य की बात है कि हिन्दी कविता की उपलब्धियों एवं सम्भावनाओं पर बोलने के लिए अधिकांश में यहाँ उन्हीं लोगों को आमन्त्रित किया गया है जो इन उपलब्धियों के माध्यम रहे हैं, और जिनमें आगे की सम्भावनाएँ भी शायद हैं।

1947 के बाद उन्नीस-बीस वर्षों में यदि हिन्दी-साहित्य का अध्ययन और अध्यापन स्वसाहित्य के गौरव के अनुरूप हुआ होता तो आज कवि को अपनी उपलब्धियों का परिचय अपनी कविता से देना ही यथेष्ट रहता—बहुत होता तो उसके कविकर्म के कुछ अनुभव प्रकाशित होकर अध्यापकों की सहायता कर सकते थे। पर विश्वविद्यालय का हिन्दी विभाग कवियों से ही जानना चाहता है कि उन्होंने 'स्वातन्त्र्योत्तर' हिन्दी कविता में क्या उपलब्धियाँ की हैं ? जो हो, जानना चाहता है, यही क्या कम है ?

पर 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता' की उपलब्धियाँ क्यों ? 'हिन्दी कविता की स्यातन्त्र्योत्तर उपलब्धियाँ' क्यों नहीं ? अवश्य किसी कारण से ही विषय निर्धारित करने वाले प्राध्यापक ने स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता को उसके पहले की हिन्दी कविता से अलग माना है। आगे चलकर शायद दीख जाए कि वह कारण क्या है ? यहाँ उससे उलझना अभीष्ट नहीं।

पर एक बात साफ़ कर देना चाहता हूँ। यदि आप कवि से चाहते हैं कि वह कविता की उपलब्धियाँ बताये तो आपको उससे यह आशा नहीं करनी चाहिये कि वह आपके मनोरंजन के लिए साहित्यिक ले-दे में शामिल होगा। बहुत-सी बातों पर मैं न कोई बहस उठा पाऊँगा न उसमें शामिल हो पाऊँगा। उदाहरण के लिये नयी कविता, प्रयोगवादी कविता, अकविता या नकविता (यह नाम किसी नये नकवि को पसन्द हो तो ले सकता है) या नवगीत—ये सब मेरे लिए कोई अर्थ नहीं रखते। ये सब नाम आज के संकट के इर्द-गिर्द मँडराते हुए शिकारी हैं जिनमें उस संकट पर झपट्टा मारने की हिम्मत नहीं है। होते ही वे कविता हो जाएँगे। इन नामों को असल मानने में बहुत बड़ा ख़तरा यह है कि साहित्य के मूल्यांकन की पद्धतियाँ और

पाठक की संवेदनाएँ जहाँ तक आगे बढ़ी थीं वहाँ से भटक जाएँ और जिज्ञासा का जो तत्त्व नये पाठक में है वह असाहित्यिक उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल कर लिया जाए। इसी की कोशिश होती जान पड़ रही है। नये और पुराने का सवाल पीढ़ियों के संघर्ष के रूप में रखना इसी तरह की एक कोशिश है क्योंकि सब जानते हैं कि असली सवाल नये और पुराने का नहीं, अच्छी और विफल, युग चेतना से संपृक्त और असंपृक्त रचना का है। नये और पुराने का सवाल उस समाज की चतुराई की सीधी उपज जान पड़ता है जिसके लिए साहित्य 1947 के बाद भाषा के नाम पर राजनीतिक सत्ता के कुछ बचे-खुचे टुकड़े बटोरने का ज़रिया बना, मानवीय मान्यताओं की रक्षा में अन्याय का विरोध या नये मानवीय-मूल्यों की स्थापना करने को तैयार व्यक्ति के आत्मोत्सर्ग का साधन नहीं बना। राज्य के मन में कला और साहित्य के, विशेषतया राष्ट्रभाषा के साहित्य के प्रति संरक्षण की और कलाकार के प्रति स्वामित्व की जो भावना 1947 में कुछ नैतिक उभयसम्भव से शुरू हुई थी आज गहरी जड़ें जमा चुकी है। उन्नीस वर्षों में इतने अधिक साहित्यकार अपनी आत्मा का दैन्य राज्य को दिखा चुके हैं कि अब राज्य कला की स्वतन्त्रता का नाट्य करते रहने को बहुत उत्सुक नहीं है। हिन्दी के नाम पर दूसरे दर्जे की राजनीतिक सत्ता को जो संचयन प्रायः 1960 तक होता रहा था वह भी राजा की कोप दृष्टि का शिकार हो चुका है। इस उखड़ेपन की स्थिति में राजनीतिक साहित्य-सेवियों के सामने एक ही रास्ता बचा है कि जो कुछ भी उनके पास सत्ता के नाम पर बचा है उसे किसी तरह बचा लें, बचाए रखें। क्या ये लोग वे सवाल उठाएँगे जिनके उत्तर घिसी-पिटी मान्यताओं को झकझोर डालते हों और जिन मान्यताओं को सामने लाते हों वे प्रकारान्तर से सत्ता संचयन की या झुन्ड के प्रति समर्पण की तमाम प्रवृत्तियों का विरोध करती हों ?

दूसरी ओर आधुनिकता या कला अपने स्वभाव से व्यक्ति का विमोचन करती है : "अपनी एक मूर्ति बनाता हूँ और ढहाता हूँ और आप कहते हैं कि कविता की है।" साथ ही आज रचना के अपने आन्तरिक ख़तरों से कलाकार पहले से कहीं ज़्यादा आगाह है और वह अपनी कला के सिर्फ़ उस कला-माध्यम में ही सार्थक होने की अनिवार्यता से भी अपेक्षतया अधिक सचेत है। वह कला की आलोचना को कला-परम्परा से जोड़ने की ज़रूरत भी आज पहले से ज़्यादा समझता है। वह जानता है कि न झुन्ड का साहित्य हो सकता है न झुन्ड की आलोचना हो सकती है। इतना स्पष्ट है कि कलाकार के मन में व्यक्ति की रक्षा के लिए छटपटाहट आज किसी-न-किसी रूप में असहमति का अर्थ ग्रहण कर चुकी है। यही उसकी नियति है। उसने एक स्वप्न देखा था, एक शुभैषिणी मोदमयी भारतीय तस्वीर का—पर उसके बाद उसका बौद्धिक संघर्ष क़दम-क़दम पर राज्य के प्रति समर्पण के पत्थरों से टकराकर चला है या कभी नहीं भी चला—लड़खड़ाकर बैठ्

गया है। ऐसे ही किसी स्थल पर किसी ने सारा दोप पत्थर पर मढ़ भी दिया है—राजनीति से ही विद्रोह कर डाला है जबकि विरोध राजनीतिक शैलियों के साहित्य क्षेत्र में प्रच्छन्न प्रयोग से और आग्रह उनके राजनीति क्षेत्र में मुक्त उपयोग का करना चाहिए था। कलाकार के लिए मेरी समझ में एक ही सही रवैया यह है कि आज देश में कुन्द होती जा रही राजनीति में तेज़ी आए जान पड़े, क्योंकि आज सामूहिक कायरता व्यक्ति के साहस के लिए हमारे देश में जितना बड़ा ख़तरा बन गयी है उतना हमारी जान में कभी न थी। आज़ादी के बाद के वर्षों में एक के बाद एक करके व्यक्ति स्वातन्त्र्य की और व्यक्तिगौरव की मान्यताएँ सामूहिक स्तर पर तोड़ी-मरोड़ी गयी हैं।

परन्तु व्यक्ति पर इस आक्रमण के विरुद्ध आज एक रोमांटिक रुदन या आतंकवादी विस्फोट दोनों ही समकालीन नहीं हैं—दोनों की साहित्यिकता कभी असंदिग्ध थी पर पिछले वर्षो में हमारा साहित्य दोनों से उसी कारण से आगे बढ़ चुका है जिस कारण से उसने मार्क्सवादी विचारधारा के पोषण में व्यक्ति की अरक्षा का अनुभव किया था। आज कुछ है, कोई चीज़ ज़रूर है जो तीखे यथार्थ-बोध से अधिक कुछ की माँग करती है ताकि जो कुछ कवि के कवि होने में निहित है वह हो सके। यह वह मुनष्य से सीधे-नंगे बदन साक्षात्कार की खोज है—और यह खोज निर्णय लेने की एक आन्तरिक ज़िम्मेदारी के साथ और रचना-प्रक्रिया के ख़तरों के साथ ही आज कोई साहित्यिक महत्त्व की खोज हो सकती है। आज का संकट हर स्तर पर राजनीति के, कला के, विज्ञान के हर कार्यकर्त्ता से कुछ तकाज़ा करता है और वह तकाज़ा सामूहिक कायरता के विरुद्ध व्यक्ति के साहस के प्रयोग का तकाज़ा है। राजनीति में आज मान्यताओं की गड्डमड्ड और पार्टी-व्यवस्था के तीखेपन को जो यों भी ख़ास कम है; कुन्द करने की कोशिश, यही सामूहिक कायरता है जो राजनीतिक लोग कोशिश कर रहे हैं कि मान्यताओं के दो धुर साफ़ प्रकट हो जायें—एक ओर व्यक्ति की, चाहे आत्मा चाहे देह का शोपण करने वाले और दूसरी ओर व्यक्ति का सच्चा आदर करने वाले—वे राजनीतिक साहस के प्रतिनिधि हैं। उधर साहित्य में हम देखते हैं कि वे ही लोग जो 1947 से विश्वविद्यालय की, साहित्य-सम्मेलन की और अकादेमी की स्वतन्त्रता की रक्षा करने से कतरा रहे थे, जो हिन्दी के नाम पर जो कुछ भी मिल रहा है लेकर हिन्दी भाषा को, बल्कि उसके बोलने वालों को अनुवादजीवी बना रहे थे, आज 'हा हिन्दी का दुर्भाग्य' कहकर आँसू पोंछकर फिर नेता बन गए हैं। ऐसा कोई-व्यक्ति जब नये या पुराने के भेद को इस उद्देश्य से उठाता है कि दोनों में कुछ शाश्वत मूल्यों की समानता दिखाकर अपने जड़ को भी चेतन के साथ रख सके तो आसानी से देखा जा सकता है कि आज के संकट के मुक़ाबले उसने क्या रूख लिया है। क्या वह

मनुष्य की परिस्थिति में, जिसमें राजनीतिक स्थिति बिल्कुल शामिल है, परिवर्तन लाने के लिए कुछ कर रहा है ? या उसे यथावत् बनाये रखने में ही अपनी रक्षा मानता है ? एक लम्बी सूची उन प्रश्नों की गिनाई जा सकती है जिन पर ऐसे व्यक्ति अपना मन्तव्य दें तो वे एक जाने-पहचाने राजनीतिक वर्ग से एकाकार हो जाएँगे (अन्ततः आप देखेंगे कि उस राजनीतिक वर्ग की मान्यताएँ सत्तारूढ़ दल की मान्यताएँ हैं जिनमें विद्रोह नहीं है बल्कि किसी तरह असली विद्रोह में गड्डमड्ड करने का प्रयत्न है)। इसी तरह वह जो कहता है कि वही श्रेष्ठ साहित्य है जिसे एक विशिष्ट और एक बड़े प्रतिष्ठान में स्वीकृत आलोचना-पद्धति से देखने पर ही स्वीकार किया जा सके, वह अपनी संवेदना को या तो एक ख़ास तरह के निर्जीव सोद्देश्य साहित्य के हवाले कर देता है या फिर एक ऐसी बौद्धिक हदबन्दी के जिसमें मनुष्य की नियति को रूप देने वाली मान्यताओं की खोज नहीं है। इसलिए नहीं कि वह खोज आज के सन्दर्भ में अन्ततः एक राजनीतिक उथल-पुथल तक ले जाती है जिसमें उस व्यक्ति के लिए हिस्सा लेना कष्टदायक और लेने से बचना मुश्किल हो सकता है। इस साहित्यिक वर्ग में भी मान्यताओं को दो धुरछोरों पर न जाने देने की वैसी ही कोशिश है जैसी कांग्रेस में है।

पर आज के संकट में सबसे तीखा अहसास तो यह है कि हम नये लेखक और बुद्धिजीवी वर्तमान घुटन को तोड़ने में पूरी तरह शामिल नहीं हो रहे हैं। हम कुछ तोड़ रहे हैं पर क्या तोड़ रहे हैं ? कभी-कभी हम कहते हैं कि हमने भाषा को तोड़ा है पर उसी ज़बान से यह भी कहते हैं कि हमसे पहले भाषा को जिन्होंने तोड़ा उन्होंने कुछ नहीं पाया था, साथ ही हम यह भी मानने को तैयार नहीं कि भाषा को हमारा तोड़ना हमें कुछ देगा ही। क्यों देगा ? जबकि सब कुछ अर्थहीन है और हम अर्थ खोजना नहीं चाह रहे हैं क्योंकि हम अर्थ की रचना नहीं करना चाह रहे हैं क्योंकि हम सिर्फ़ उतनी ही तोड़-फोड़ करना चाह रहे हैं जो सिर्फ़ भाषा में हम कर सकते हैं, जिसके करने पर हमें कोई परिणाम नहीं भोगने पड़ते। इस परिस्थिति में हर तोड़ने वाले का उठा हुआ हाथ एक मुद्रा बन जाता है—जिसके ज़रिए ध्यान आकर्षित करना मुख्य हो जाता है, तोड़ना गौण। इस सिलसिले में फिर ऐसे सिद्धान्त निरूपित करने पड़ते हैं जो अपने प्रयत्न की निरर्थकता को ही सार्थक सिद्ध कर सकें—'लघु-मानव' से लेकर 'अकविता' तक के नारे सब इसी प्रकार के सिद्धान्त हैं।

इस झन्नपटक में लगे हुए हम वास्तव में क्या कर रहे हैं ? हम उस हिन्दी वाले के स्वार्थ के साथ जुड़ रहे हैं जो कुछ नहीं तोड़ना चाहता। पहले अपने हाथों हमारी भाषा का क्षय करके फिर उसका रोना रोकर, अंग्रेज़ी वालों को गाली देकर नयी हिन्दी का नेता बन जाना चाहता है जबकि सबसे बड़ा अंग्रेज़ी वाला खुद वही

है—वह जो कि हिन्दी को हिन्दी की जगह नहीं अंग्रेज़ी की जगह लाने का ढोल पीटता रहा था। हम उस राजनैतिक स्वार्थ के साथ जुड़ रहे हैं जो पहले अपनी नीतिहीन भ्रष्टाचारिता से नहरों और कुओं की खुदाई का पैसा खा जाता है, फिर अकाल से मरते हुए मनुष्य को समझाता है कि हम ही तुम्हें अन्न दे सकते हैं। हम उस सत्तालोलुप लोकतन्त्रीय तानाशाही के साथ जुड़ रहे हैं जो अपनी दासवृत्ति नीतियों के कारण देश की रक्षा-शक्ति नहीं बढ़ाता और युद्ध में भारतभूमि गँवाकर भी लोकतन्त्रीय बहुमत के सहारे 'लोकप्रिय' शासक बना रहता है। यह निरा संयोग नहीं है कि 'विद्रोही कविता' के पक्षधरों को अधिकांश में ऐसे लोगों की शुभाशंसा और मान्यता प्राप्त होती रही है जो साहित्य में प्रतिष्ठान के सबसे पुराने और पोढ़े मुवक्किल हैं। शायद वे जानते हैं कि जिस तरह का विद्रोह ये करते आ रहे हैं वह निरीह विद्रोह है और इसकी पीठ थपथपाने का मतलब है असली विद्रोह की सम्भावनाओं को और भी उलझा देना।

'असली विद्रोह' बहुत बड़ा शब्द है यह और वहुत आसानी से नकली माल पर इसका बिल्ला लगाया जा सकता है। वास्तव में बिल्ले लगे ही हुए हैं—वामपन्थी : दक्षिणपन्थी या प्रगतिशील : प्रतिक्रियावादी—मेनन-इंदिरा गाँधी : पाटिल मोरारजी। इसके वीच में असली विद्रोह बिना बिल्ले के कैसे देख सकते हैं हमारे बुद्धिजीवी ! अभी तक वे यह भी नहीं स्वीकार कर पाए हैं कि साहित्यकार का विद्रोह दोनों बिल्लों से विद्रोह है—जिसका हितैषी वह है उस मनुष्य के साक्षात् दर्शन की कोशिश विल्लों के साथ हो नहीं सकती और बिना बिल्लों के ही हो सकती है। परन्तु यह कहने का मतलब यह कहना है कि जिस मनुष्य का नाम अभी लिया गया है वह खुद विल्लों के सहारे नहीं अपने विद्रोह के सहारे खड़ा हो। ऐसा नहीं कि एक सामाजिक विद्रोह के विना एक कलाकार का विद्रोह नहीं हो सकता—परन्तु ऐसा है कि यदि कलाकार सामाजिक विद्रोह को पहचानता नहीं तो वह अपने मनुष्य को भी नहीं पहचानता—वह मनुष्य जिसके पहचानने पर कलाकार सामाजिक विद्रोह को भटकने से बचा सकता है : रास्ता दिखाने का दावा मैं नहीं करूँगा। इसलिए स्वतन्त्रता के अनन्तर इतने गुमसुम वर्षों के बाद जब ज़मीन का हिलना शुरू हुआ है तो विद्रोही मनुष्य को अपने पैरों खड़े होने में मदद न देने का मतलब है न समाज के विद्रोह को समझना न साहित्य के विद्रोह को जानना।

क्या यह समस्या सुलझ गई ? नहीं, मेरे दिमाग़ में नहीं। अभी और एक पेंच है—मेरे लिए महत्त्वपूर्ण पेंच और असली सवाल यह है कि कलाकार की आन्तरिक ज़िम्मेदारी किस हद तक उसके सामाजिक योगदान में आड़े आती है ? यदि वह आज के बँटवारों में नक़ली धुरों को बाँटकर समाज के विद्रोह की सही शक्तियाँ उभारने में सहायक होना अपने कलाकार की जीवन-शक्ति के लिए ज़रूरी समझता

है तो इस योगदान के बदले में वह अपनी स्वतन्त्रता का कितना अंश समाज को या उसकी कार्यकारिणी सरकार को देता है ? राजनीतिक से हमारे साहित्यकारों ने पिछले वर्षों में जो सम्बन्ध जोड़ा है वह राजनैतिक माध्यमों के प्रति सहकारिता का नहीं राजनीतिक सत्ता के प्रति विनीत सखा-भाव का रहा है। यह एक धुर है। इसके विपरीत दूसरा धुर है विचारधारा के प्रति या विचारधारा की ग़ुलामी के प्रति सखा-भाव। दोनों ही ग़लत हैं।

सही क्या है ? क्या वह अवसरवादिता तो नहीं है ? नहीं, यद्यपि यह मानना पड़ेगा कि जो भी सही है उसमें और अवसरवादिता में बहुत सूक्ष्म भेद है, इतना सूक्ष्म कि उसका पालन करने वाले को कभी-कभी अवसरवादिता के अपराध में लिप्त होते देखा जा सकता है। पर वह सही रास्ता इसीलिए और भी चुनौती-भरा और इसीलिए और भी सही रास्ता है। यह भी जानता हूँ कि उसकी परिभाषा करने का दम्भ मैं करूँ तो परिणाम घातक हो सकता है। क्योंकि अन्ततः कितनी ईमानदारी से मैं उसे निभाता हूँ, यह बात परिभाषा में शामिल नहीं की जा सकती। तो भी परिभाषा करनी होगी क्योंकि समाज से तादात्म्य की वह शर्त है।

मैं जानता हूँ कि मुझे राजनीति की उथल-पुथल में और उससे पैदा होने वाले रास्ते के विकास में हिस्सा लेना है मगर मैं किसी राजनैतिक दल को, सत्ताधारी दल को तो और भी नहीं, यह अधिकार नहीं देता कि वह मुझसे मेरे काम की कैफ़ियत माँगे। मैं जो करता हूँ, अपनी ज़िम्मेदारी पर करता हूँ और मेरी बेईमानी की सज़ा मेरे साहित्यकार की मृत्यु है। पर यह दण्ड मुझे न तो दल के साहित्यिक आलोचक दे सकते हैं न साहित्य अकादेमी के सलाहकार। यह दण्ड ठीक उसी तरह मेरी अपनी उपलब्धि ही हो सकता है जैसे साहित्य रचना ठीक मेरा अपना निर्णय है।

अनुमति हो तो इसकी कुछ व्याख्या भी करूँ। क्योंकि शायद आप आपत्ति कर रहे हों कि मैंने कोई दो-टूक जवाब नहीं दिया। मैं समस्या का कोई दो-टूक जवाब दे भी नहीं सकता। शायद वे दे सकते हों जो समाज से अपने सम्बन्ध को खुद तय कर चुके हैं या कहीं से तय कर लाये हैं। मैं तो देखता हूँ कि एक साहित्यकार की हैसियत से मुझे उस दुनिया में, जो मेरी अपनी दुनिया नहीं है दिन-ब-दिन पहले से ज़्यादा रहना पड़ रहा है मगर उससे न मैं आसानी से लगाव साध पा रहा हूँ, क्योंकि वह मेरी दुनिया नहीं है, और न अलगाव, क्योंकि सच्चे साहित्यकार के लिए अलगाव दिन-ब-दिन दुष्कर होता जा रहा है।

आज के संकट ने हमें इनसान की शानदार ज़िन्दगी और कुत्ते की मौत के बीच चाँप लिया है। इस स्थिति में सबसे आसान यह हो सकता है कि मैं सिर्फ़ आज की फ़िक्र करूँ और व्यक्ति के लिए जितनी स्वतन्त्रता अभी बची है उतने से सन्तोष करूँ।

इससे कुछ कम सुगम है कि मैं यह रियायत अस्वीकार करूँ और उनके आसरे ज़िन्दा रहूँ जो साहित्य के हथियारों से मेरी स्वतन्त्रता के लिए लड़ते हैं। दोनों से कठिन और एक ही सही रास्ता है कि कल के लिए मैं सब सेनाओं में लड़ूँ—किसी में ढाल सहित, किसी में निष्कवच, मगर मरने अपने को सिर्फ़ अपने मोर्चे पर दूँ—अपने भाषा के, शिल्प और उस अकेली मगर दोतरफ़ा ज़िम्मेदारी के मोर्चे पर जिसे साहित्य कहते हैं।

विराट भीड़ों के समाज को बदलने का आज सिर्फ़ एक ही साधन है। वह है उस सत्ता का उपयोग जो समुदाय का एक-एक व्यक्ति अलग-अलग निर्णयों से कुछ हाथों में देता है। सरकार, जो राज्य की प्रतिनिधि है, जो समाज की प्रतिनिधि है, जैसी भी वह हो, अधूरी, टूटी, नक़ली, मिलावटी, मूर्ख, वही अकेला कारगर साधन भीड़ के हाथ में है। मैं इस साधन के अधिक से अधिक सही इस्तेमाल के लिए लड़े बिना नहीं रह सकता, पर इसका मतलब यह नहीं कि मैं भीड़ का कायल हूँ। मैं बदमाशों, गधों, आधे पागलों और मक्कारों के लिए एक ज़िम्मेदारी महसूस करता हूँ, पर जो कुछ मैं रचता हूँ सिर्फ़ अपनी ज़िम्मेदारी पर रचता हूँ—या फिर नहीं रचता, फ़िलहाल अपने को रचने योग्य बनाए रखता हूँ।

से सतर्क होने की इच्छा बहुत बिखरे और बहुत अनमने भाव से साहित्य में दिखाई दी। और जब दिखाई दी तो जिन व्यक्तियों में दिखाई दी यानी जिन्होंने उसको प्रकट किया उन पर एक-दूसरे क़िस्म की संगठित राजनीति से जुड़े होने का सन्देह प्रकट किया गया। और साथ में मैं कहना चाहूँगा कि यह सचमुच हुआ भी है। ऐसे व्यक्ति भी हुए हैं जिन्होंने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की बात कही है—इसलिए कि वह एक प्रकार की संगठित राजनीति के हित में थी, इसलिए नहीं कि वे व्यक्ति स्वातन्त्र्य के पक्ष में थे। यह सारी स्थिति का एक अनिवार्य हिस्सा है जिसको छिपा कर हम केवल यह दो-टूक बात नहीं कर सकते कि जिसने भी व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की बात की उस पर संगठित राजनीति ने जवाबी आरोप लगा दिया। किन्तु मोटे तौर पर यह बात सही है कि जिन लोगों ने ईमानदारी से रचनाकार की राजनैतिक स्वतन्त्रता की बात की है, जो कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का दूसरा नाम है, वे खुद कम कर रहे हैं। उनमें अनमनापन रहा है, उदासीनता रही है। लेकिन यह बात ज़रूरी है कि संगठित राजनीति और रचना में तनाव का रिश्ता होना चाहिए और सत्ता और रचना में भी तनाव का रिश्ता होना चाहिए। रिश्ता होना चाहिए, मैं रिश्ते से इनकार नहीं करता—मैं इस बात को बिल्कुल नहीं कह रहा हूँ, और अगर कही जाए तो यह बड़ी बेवक़ूफ़ी की बात होगी कि रचनाकार हमेशा विरोध करता रहता है। रचनाकार वास्तव में हमेशा रचना करता रहता है, वह रचना बहुधा विरोध हुआ करती है। क्योंकि अगर आप यह मान लें कि रचनाकार विरोध किया करता है तब तो फिर आप इतने विरोध करेंगे कि रचना विल्कुल नहीं करेंगे। तो बहरहाल बीस-पच्चीस बरस में—आपने स्थापना की कि—इस बात को कुछ प्रमुखता मिली है कि रचनाकार और सत्ता के बीच में क्या रिश्ता है।

कविता क्या चीज़ें बचा सकती है ? बहुत सोच करके देखूँ तो भी मैं उसको कुछ पहचानी जाने वाली शक्लों में नहीं देख पाता—सिवा इसके कि कुछ चीज़ें हैं जो कि रोज़ हम अपनी ज़िन्दगी में करते हैं या पाते हैं और हर वक़्त एक तरह की भावना से आक्रान्त रहते हैं कि ये हमें रिआयतों के रूप में मिली हैं, जबकि वे हमारे अधिकार हैं। उन चीज़ों को अगर बचा रखा जा सके तो हम सोच सकते हैं कि कभी-न-कभी हम इनको अपने अधिकार की तरह से बरतेंगे। आप कह सकते हैं कि मैं चाहता हूँ कि इस बात को बचा रखा जाए कि बच्चा अपनी माँ और अपने बाप के साथ एक रिश्ता रखता है। आप कह सकते हैं कि इस बात को बचा रखा जाए कि मैं जव कोई बहुत ज़ायकेदार चीज़ खाता हूँ तो मेरे शरीर में एक संवेदन होता है। वह बचा रखने वाली चीज़ है। ये दोनों बहुत दो क़िस्म की चीज़ें हैं। इनके बीच में एक बहुत बड़ी और पूरी शृंखला है। इसलिए मैं सिर्फ़ इतना कहूँगा कि ऐसी शृंखला के अन्दर जो चीज़ें इन्सान को, उसके शरीर के द्वारा

उसकी अनुभूति और आत्मा में खुशी देती हैं (और बाइज़्ज़त खुशी और दूसरे के लिए इज़्ज़त रखते हुए खुशी—वह खुशी नहीं जो कि किसी को मार के मिलती है, वह खुशी नहीं जो एक चिड़िया का शिकार करके मिलती है) उन्हें कविता ही बचा सकती है। कविता जिन चीज़ों को बचा रख सकती है उनको पहचानने के लिए आप मुक्त हैं, पर वे अन्ततः वही होंगी जो कि आदमी को कहीं-न-कहीं आज़ाद करती हैं। मसलन, चिड़िया को मारने की खुशी आज़ाद नहीं करती। वह खुशी थोड़ी देर बाद जाके एक बन्धन में आदमी को बाँध देती है। लेकिन ऐसी बहुत-सी और खुशियाँ हो सकती हैं और उन खुशियों के साथ जुड़े हुए सन्देह हो सकते हैं। 'काला नंगा बच्चा पैदल बीच सड़क पर जाता था'—उसको जब मैंने खींच लिया तो 'मेरे मन ने (मुझसे) कहा कि यह तो तुमने बिल्कुल ठीक किया' लेकिन उसके बाद जब मैंने अपने अनुभव और करुणा के दायरे को बढ़ाने की कोशिश की तो मैं घबरा गया, वहाँ से भागा, क्योंकि जब उस आदमी ने कहना शुरू किया कि हाँ इसकी माँ भी मर गई है, और इसके भाई भी मर गए हैं तो अगली बात वह यह कहता कि इसलिए साहब मुझे एक रुपया दीजिए या मैं और भी कुछ आपसे हक़दार हूँ। करुणा का मेरा जो विस्तार था वह जटिल होने जा रहा था। पता नहीं वह झूठ बोल रहा था या सच बोल रहा था, लेकिन मैं थोड़ा डर गया कि अब मेरी ज़िम्मेदारियाँ बढ़ जाएँगी। यह मेरा कायरपन था। मैंने बड़ा अच्छा नहीं किया कि मैं भागा लेकिन भागा। वह खींच लेने का जो काम मैंने किया था जो कि मुझे आज़ाद करता था, उसके साथ एक यह विकृति भी जुड़ी हुई थी कि मैं अपने को पूरी तरह से आज़ाद नहीं कर सका। मैं समझता हूँ कि इस तरह की खुशियों को या आज़ादी की ऐसी इच्छाओं को और उनके साथ जुड़ी हुई इन स्थितियों को जिनमें आपको अपनी अपूर्णता का अनुभव होता है या जिनमें आप अपने मे प्रश्न करते हैं, दोनों को एक-दूसरे के समेत, अगर कविता बचाए रख सकती है तो बहुत बड़ी बात होती है और अगर कविता बचा सकती है तो अन्त में यही चीज़ बचा सकती है।

## कविता क्या करती है ?

कविता, उस आदमी को जिसने उसे लिखा है, एक बेहतर इन्सान बनाती है। और नहीं बनाती है तो वह कविता नहीं है। कविता क्या, कोई भी रचना नहीं है। हर रचना उसे हमेशा एक बेहतर व्यक्ति बनाती है जिसने उसको किया है। क्योंकि मैंने यह समझा है कि रचना के लिए क्रोध या हिंसा या प्रतिहिंसा हो सकता है कि बाधक न हों, लेकिन द्वेष, घृणा या अन्याय उसके साथ कोई मेल नहीं खाते। जिस व्यक्तित्व में रचना के क्षण में ये गुण या दुर्गुण मौजूद हों, उसके लिए मैं नहीं समझ पाता हूँ कि कोई भी रचना करना कैसे सम्भव है। रचना कम-से-कम उस

व्यक्ति को जो उसे कर रहा है एक बेहतर इन्सान ज़रूर बनाती है, क्योंकि पहले तो वह इन शर्तों का अनजाने पालन करता है कि उसके मन में द्वेष नहीं है। क्रोध हो सकता है, एक तरह की छटपटाहट हो सकती है, मजबूरी हो सकती है, लेकिन हताशा नहीं है और अन्याय भी नहीं है। दूसरे क़दम पर वह एक बेहतर इंसान इसीलिए बनता है कि हर रचना अपने व्यक्तित्व को बिखरने से बचाने का प्रयत्न है।

---

निर्मल वर्मा

# कलाकृति और आलोचना की मर्यादा

---

एक अच्छी आलोचना हमें क्यों उद्वेलित करती है ? इस प्रश्न को थोड़ा बदलकर इस तरह भी पूछ सकते हैं कि एक कलाकृति जिस तरह हमें उद्वेलित करती है, आलोचना द्वारा उत्प्रेरित उद्वेलन क्या वैसा ही होता है ? एक क्षण के लिए अगर हम इस शास्त्रीय बहस में न पड़ें, कि आलोचना और कला के उद्वेलन-स्रोत कहाँ एक-दूसरे से भिन्न हैं तो फिर इस जिज्ञासा का समाधान कैसे करें कि कभी-कभी कोई आलोचना हमें उतनी ही गहरायी से मथने लगती है जितनी कोई कलाकृति—या शायद उससे भी ज़्यादा ? एक समीक्षा के द्वारा हम उस समीक्षित-कृति का कोई विराट सत्य पा लेते हैं जैसे किसी उपन्यास को पढ़कर हम जीवन के एक अभेद्य रहस्य की कुंजी पा लेते हैं। अगर कलाकृति का सम्बन्ध उस चीज़ से है जिसे हम 'जीवन' कहते हैं जिसे आलोचना एक चकाचौंध की तरह आलोकित कर देती है ? इस अर्थ में दोनों ही अनुवादक हैं, लेखक अपने संसार का टेक्स्ट अपनी रचना में अनुवादित करता है, आलोचक उसी रचना को टेक्स्ट बनाकर वापिस मुड़ता है, वापिस उसी संसार में जो अब कलाकार की व्यक्तिगत सम्पत्ति न रहकर एक सार्वजनिक अनुभव बन गया है—कला का अनुभव—जिसमें सब साझा कर सकते हैं।

यह वापिस मुड़ना महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि महत्त्वपूर्ण आलोचना इसी 'मुड़ने' की प्रक्रिया में जन्म लेती है। यही चीज़ एक आलोचक को एक पाठक से भी अलग करती है। जब एक समीक्षक किसी कलाकृति का रसास्वादन करता है, वह स्वयं एक पाठक है, बल्कि एक अच्छे आलोचक की प्राथमिक शर्त यही है कि वह कितना भाव-प्रवण, कितना चौकन्ना, कितना उत्सुक पाठक है; किन्तु जब यही उत्सुकता पाठक को उस कृति का पुनरावलोकन करने को उत्प्रेरित करती है, जिसने उसे झिंझोड़ा है तो यहाँ रसास्वादन के साथ एक और चीज़ जुड़ जाती है—आलोचनात्मक जिज्ञासा—जो सिर्फ़ कृति का ही मूल्यांकन नहीं करती बल्कि पाठक को अपनी प्रतिक्रियाओं की पड़ताल करने को भी बाध्य करती है। अब वह कलाकृति का निस्संग भावक मात्र नहीं रहता, सिर्फ़ इसी से सन्तोष नहीं कर लेता कि किसी कविता या

कहानी में वह कितना डूबा है; वह डूबते-डूबते ऊपर आता है, उत्सुक और जिज्ञासु निगाहों से होता है, कौन-सी वह लहर थी जिसने उसे इतने गहरे तल में डुबो दिया था, कहाँ से आयी थी ? उसने जो डूबकर तल की गहरायी में देखा था, अब वही अनुभव उसे तल के ऊपर 'सतह' को देखने के लिए विवश करता है। एक कलाकृति की सतह—उसकी भाषा के दृश्य-संकेत—उतना ही बड़ा सत्य है जितनी उसके अर्थ की गहरायी; दोनों अभिन्न रूप से कला के सम्मुख सत्य के साथ जुड़े हैं; बिना एक को जाने दूसरे को जानना असम्भव है; दरअसल कला का रहस्य दोनों के अन्तर्निहित रिश्ते में वास करता है।

लेकिन रहस्य की एक अजीब विशेषता है; अगर वह पूरी तरह अभेद्य और अज्ञात हो, वह कभी 'रहस्य' नहीं रहेगा, क्योंकि तब वह अपने प्रति हमारी कोई जिज्ञासा नहीं जगा सकेगा। वे सब सत्य—और ऐसे लाखों सत्य होंगे—हमारे लिए कभी रहस्यमय नहीं हो सकेंगे क्योंकि वे हमेशा हमारे बोध के परे रहेंगे। ईश्वर का रहस्य उसके होने या न होने में नहीं है, न उसका रहस्य 'ईश्वर' शब्द के बोध में है, जो उसके होने या न होने के बारे में जिज्ञासा जगाता है। दूसरी तरफ़ वह सत्य भी कभी रहस्य का दर्जा नहीं प्राप्त करता, जिसके अर्थ को मनुष्य पूरी तरह उपलब्ध और हासिल कर लेता है, एप्रोप्रिएट कर लेता है—क्योंकि तब उस अर्थ के परे कुछ भी जानना शेष नहीं रहता। उदाहरण के तौर पर अख़बार की रपट जिस सत्य को सम्प्रेषित करती है, एक बार उसे जान लेने के बाद वह हमारे लिए कोई 'रहस्य' नहीं; रपट जिस स्थिति का वर्णन करती है; वह रहस्यमय भले ही हो, किन्तु स्वयं रपट का कथ्य नहीं। एक कलाकृति का सत्य यदि रहस्यमय होता है, तो इसलिए कि वह न तो पूरी तरह बोध के परे है, न पूरी तरह से मनुष्य उसे हासिल कर पाता है, वह कहीं इन दो चरमों के बीच में है; वह कुछ कहती है, कुछ नहीं कहती, इसलिए नहीं कि वह कहना नहीं जानती, बल्कि जो कलाकृति कहती है, उसमें वे अकथनीय सत्य भी शामिल होते हैं, जो अपनी चुप्पी के बावजूद उसमें मौजूद रहते हैं; आलोचना की यह एक बड़ी चुनौती है कि क्या वह कलाकृति के कथ्य से उसके अकथ्य को—उसकी भाषा से उसके मौन को—दो शब्दों में कहें तो उसकी सतह से उसकी गहरायी को उजागर कर पाती है या नहीं।

हिन्दी आलोचना में हमें प्रायः ऐसे वाक्य दिखायी दे जाते हैं—अमुक उपन्यास की भाषा बहुत सुन्दर और संवेदनशील है, किन्तु उपन्यास अपने में बहुत 'सफल' नहीं माना जा सकता। सफल शायद इसलिए नहीं है, कि वह किसी गहरे, महत्त्वपूर्ण सत्य को सम्प्रेषित नहीं कर पाता। किन्तु उपन्यास का सत्य अनिवार्यतः उसकी भाषा में संवेदित होता है। और यदि वह सत्य अनुपस्थिति है, या आलोचना की कसौटी

पर महत्त्वहीन और अप्रासंगिक है, तो उसकी भाषा को सशक्त या संवेदनशील माननेवाली कसौटी कौन-सी है ? क्या भाषा की सामर्थ्य को कलाकृति की अर्थवत्ता से अलग किया जा सकता है ? संवेदनहीन भाषा जिस तरह कलाकृति का अर्थ उद्घाटित नहीं कर पाती उसी तरह उस कलाकृति की भाषा कभी संवेदनशील नहीं मानी जा सकती, जो किसी महत्त्वपूर्ण सत्य से शून्य है। दिलचस्प बात यह है कि ऐसी आलोचना में भाषा के प्रति 'सौन्दर्यवादी' सम्मोहन और कलाकृति के प्रति समाजशास्त्रीय आग्रह—दोनों साथ-साथ चलते हैं—और आलोचक इसमें कहीं भी कोई आत्म-विरोध नहीं देख पाता। वह इस सत्य को अनदेखा कर देता है कि कलाकृति का रहस्य उसके अलग-अलग तत्त्वों या तन्तुओं में नहीं, उसके समूचे संघटन-विधान में जीवित रहता है और ज्यों ही हम एक तत्त्व को दूसरे से अलगाते हैं, कलाकृति का सत्य और सौन्दर्य दोनों ही बिखर जाते हैं, मुरझाने लगते हैं।

कला के इस स्वायत्त धर्म पर विश्वास करना कहाँ तक उचित है—यदि उचित है—तो इस विश्वास का स्रोत कहाँ है ? हम यह मानकर चलते हैं कि शब्दों के अर्थ होते हैं और ये अर्थ किसी-न-किसी रूप में बाह्य यथार्थ के अनुभवों से सम्बन्ध रखते हैं; जब हम हरे रंग का शब्द उच्चारित करते हैं, तो कहीं-न-कहीं घास का स्मरण हो आता है। अर्थ और अनुभव का यह साम्य (करेस्पॉन्डेन्स) सिर्फ़ बाहरी यथार्थ की ठोस चीज़ों पर ही नहीं, बल्कि हमारे अन्तर्मन की सूक्ष्म और अमूर्त अनुभूतियों पर भी लागू होता है। हर शब्द किसी अनुभव की याद है, किसी जाने-पहचाने यथार्थ की स्मृति जगाता है—किन्तु अजीब बात यह है कि शब्दों में संयोजित कविता अपने में एक ऐसे यथार्थ का सृजन करती है, जो शब्दों के अलग-अलग अर्थों में नहीं चुक जाता, बल्कि एक ऐसे अर्थ की सृष्टि करती है, जो कविता के बाहर कहीं उपलब्ध नहीं है। शब्दों के अर्थ परिचित हैं, किन्तु कविता में उनका रहस्यमय संयोजन एक ऐसे सत्य से साक्षात्कार कराता है, जो अब तक अपरिचित था, एक ऐसा अनूठा और स्वायत्त सत्य, जो हमारे समस्त परिचित अनुभवों से अलग है और चूँकि सत्य का यह चमत्कार शब्दों के भीतर संयोजित है—वह किसी दूसरी विधा में सम्प्रेषित नहीं हो सकता।

किन्तु यदि कलाकृति का सत्य अपने में बिल्कुल स्वायत्त और विशिष्ट है, तब उसके मूल्यांकन की कसौटी क्या हो ? क्या यह ज़रूरी है कि कलाकृति का स्वायत्त अर्थ अपने में महत्त्वपूर्ण, जीवनदर्शी और मूल्यवान सत्य भी हो ?

एक कलाकृति जो सत्य हमें सम्प्रेषित करती है, वह अपने में चाहे कितना अद्वितीय और अनूठा क्यों न हो—उसका मूल्य अन्ततः उन रिश्तों में उद्घाटित होता है जो वह अब तक के हमारे अर्जित किये, अनुभूत सत्यों के साथ जोड़ पाती है।

जब हम कोई महान उपन्यास या कविता पढ़ते हैं, किसी संगीत-रचना को सुनते हैं, किसी मूर्ति या पेंटिंग को देखते हैं तो वह उन सब अनुभवों की याद दिलाती है, जो न हमें सिर्फ़ दूसरी कलाकृतियों से प्राप्त हुए हैं बल्कि जो कला से बाहर हमारे अपने जीवन-अनुभव के भी सत्य हैं। एक कलाकृति का अनुभव अब तक के अर्जित हमारे समूचे अनुभव-संसार को झिंझोड़ जाता है। वह एक टूरिस्ट का निष्क्रिय अनुभव नहीं है जिसे वह अपनी नोटबुक में अंकित करके सन्तोष कर लेता। वह एक जीवन्त, सक्रिय अनुभव है जो हमारे अनुभव-संसार में प्रवेश करता है, उसमें अजीब क़िस्म की हलचल उत्पन्न कर देता है और अन्ततः हमें विवश करता है कि उस कलाकृति के आलोक में अपने समस्त अनुभव-सत्यों की मर्यादा का पुनर्मूल्यांकन कर सकें। एक महान कलाकृति मनुष्य को नहीं बदलती, न उसके संसार को बदलती है, वह सिर्फ़ उस रिश्ते को बदलती है जो अब तक मनुष्य अपने संसार से बनाता आया था; लेकिन एक बार रिश्ता बदल जाने के बाद न तो वह मनुष्य ही वैसा मनुष्य रह पाता है जैसा वह कलाकृति के सम्पर्क में आने से पहले था, न उसका संसार वैसा संसार रह जाता है जो उसे कलाकृति के अनुभव के बाद दिखायी देता है। एक आलोचक जितनी सूक्ष्म दृष्टि से इस बदलाव को परिभाषित कर सकेगा, उतनी ही अधिक प्रामाणिकता के साथ वह उस कलाकृति के मूल्य और अर्थवत्ता को भी रेखांकित कर सकेगा।

अतः यदि समर्थ आलोचना की पहली शर्त यह है कि वह कलाकृति के अखण्डित और स्वायत्त यथार्थ को पहचान सके; तो दूसरी शर्त यह भी है कि वह कलाकृति के बाहर फैले यथार्थ को भी एक सम्पूर्ण और अविभाज्य अनुभव के रूप में स्वीकार सके; एक ऐसा यथार्थ जिसकी अर्थवत्ता सिर्फ़ इतिहास और समाज के अनुभवों में ही समाप्त नहीं हो जाती—जो बिना मनुष्य के भी जीवित था और तब भी जीवित रहेगा जब मनुष्य नहीं होगा। जब तक वह यथार्थ के इस सार्वभौमिक अनुभव को अपनी आलोचना का सन्दर्भ-बिन्दु (रेफ़रेन्सपाइण्ट) नहीं बनाता, तब तक वह कलाकार की इस अदम्य लालसा को नहीं समझ पायेगा जो इस नामहीन यथार्थ को नाम, आकारहीन यथार्थ को बिम्ब, अराजक यथार्थ को एक अर्थ देना चाहती है। यदि कला का मूल रहस्य मनुष्य की इस सृजनात्मकता में निहित है कि वह यथार्थ के नामहीन अनुभव को रूपायित कर सके, तो क्या सृजनात्मक आलोचना की प्रतिज्ञा यह नहीं होगी कि वह इसी यथार्थ को कसौटी मानकर कलाकार के शब्द, रूप और नामों की सचाई और सार्थकता का परीक्षण कर सके? किन्तु इस अनुभव का मूल्यांकन मनुष्य की समूची संस्कृति के सन्दर्भ में ही हो सकता है। इसी अर्थ में एक महान आलोचक अपनी संस्कृति का भी आलोचक होता है; वह कलाकृति के स्वायत्त अनुभव को मानवीय संस्कृति की निरन्तरता में—जिसे हम परम्परा कहते

हैं—उसके भीतर परिभाषित करता है। वह एक साथ दो प्रश्नों का सामना करता है—क्या दुनिया का वाह्य यथार्थ कला के अन्तर्निहित यथार्थ का साक्षी हो सकता है ? इससे जुड़ा दूसरा प्रश्न है—क्या कला का अन्तर्निहित सत्य दुनिया के यथार्थ का साक्षी हो सकता है ?

ऊपर से देखने पर भ्रम हो सकता है कि कला का यथार्थ और दुनिया का यथार्थ दो स्वतन्त्र इकाइयाँ हैं ;—एक यदि इतिहास के द्वारा अनुशासित होती है तो दूसरी के नियम कहीं मनुष्य के भीतर परिचालित होने वाले मिथक और स्मृतियाँ एक कालातीत स्वप्न-भाषा—में बसते हैं। यह अकारण नहीं है कि अनेक यूरोपीय भाषाओं में उपन्यास को 'रोमान' या रोमान्स की संज्ञा दी जाती है, जिसका अनुभव मनुष्य के दैनिक और दुनियावी यथार्थ से बाहर और परे की चीज़ है। जब उपन्यास जैसी समाजोन्मुख विधा को काल्पनिक रोमांस माना जाता है तो कविता या संगीत जैसी विधाओं की लौकिक मर्यादा कितनी सन्दिग्ध हो सकती है, इसका अनुमान लगाना मुश्किल नहीं है। हम एक ऐसी सभ्यता में रहते हैं जहाँ दुनिया के यथार्थ को कला के सत्य से विलगित कर दिया गया है—पानी में खड़ी दो चट्टानों की मानिन्द—जिनकी छाया एक-दूसरे को भले ही छूती हो—किन्तु जिनका मूलतत्त्व और आधारभूमि एक-दूसरे से बिल्कुल अलग हैं। कहना न होगा, इस अलगाव के रहते न केवल हमारा जीवन-यथार्थ सत्वहीन हो गया है, बल्कि स्वयं कल्पनाशीलता की गरिमा—जो हर कलाकृति का ऊर्जा स्रोत है—धीरे-धीरे सूखने लगी है।

यथार्थ के प्रति यह खण्डित दृष्टिकोण हमारी आधुनिक सभ्यता की विलक्षण देन है, जो शायद पहले किसी समाज में मौजूद नहीं था। इस दृष्टिकोण के कारण स्वयं मार्क्सवादी आलोचना—जो एक समय में यथार्थ की समग्रता को प्रतिपादित करने का दावा करती थी—आज अविश्वास के उस विन्दु पर आ खड़ी हुई है, जहाँ बीसवीं शती के शुरू में प्रतीकवादी एस्थेटिक आलोचना थी। यदि एक का अविश्वास उस 'यथार्थ' से है, जो कलाकृति में जीवित रहता है, तो दूसरे का सन्देह उस कल्पनाशीलता से है, जो यथार्थ की अन्तहीन सम्भावनाओं को उजागर करती है। हम एक ऐसे विकट समय में रह रहे हैं जहाँ हमने यथार्थ के बहुमुखी स्वरूपों को इतिहास की एक-आयामी धारा में ढालकर सर्वथा श्रीहीन बना दिया है वहाँ कला को सिर्फ़ व्यक्ति के अन्तर्मन की छाया में संकुचित कर एक ऐसी विपन्न 'मिनिमल' अवस्था में डाल दिया है, जहाँ उसका दूसरे की स्मृति और संस्कार में कोई साँझा नहीं। दोनों ही स्थितियों में यथार्थ का अनुभव और कला की क्षमता अपने को एक खण्डित, और अवमूल्यित अवस्था में पाते हैं।

संकट के ऐसे बिन्दु पर आलोचना का हस्तक्षेप गहरे और व्यापी अर्थों में एक

नैतिक हस्तक्षेप होगा, ऐसा मैं मानता हूँ। नैतिक केवल कलाकृति के मूल्यों के निर्धारण में नहीं, बल्कि समूची सभ्यता की मर्यादाओं के मूल्यांकन में, जिसके बिना किसी भी कलाकृति की प्रासंगिकता या सार्थकता को नापना असम्भव है। कलाकृति की मूल्यवत्ता आँकने की तब एक ही विश्वसनीय और प्रामाणिक कसौटी रह जाती है—क्या वह अपने युग के सन्देह और अविश्वास के कुहरे को भेदकर एक ऐसे सत्य से साक्षात कराती है, जहाँ मनुष्य के मन और बाहर की सृष्टि में कोई विभाजन नहीं रहता ? एक कलाकृति में यह साक्षात्कार एक स्वप्न की तरह होता है, लेकिन यह स्वप्न मायावी नहीं है, आत्मछलना नहीं है; यह एक खोया हुआ सत्य है, जो एक समय में मनुष्य के अनुभव-संसार के केन्द्र में था, जिसे आधुनिक व्यक्ति—अपनी खण्डित अवस्था के बावजूद या शायद उसी के कारण—एक स्मृति की तरह सँभाले और सँजोए रहता है। आदमी उसी चीज़ का स्वप्न देखता है, जो कभी पहले थी, जो आज भी कहीं छिपी है; हम उसकी दी हुई मौजूदगी को एक गुज़री हुई याद की तरह महसूस करते हैं—नॉस्टेल्जिया की तरह नहीं, बल्कि एक छिपे हुए जख़्म की तरह। चूँकि हमने इस स्मृति को नहीं खो दिया है, इसलिए वह कभी भी हमारे यथार्थ में प्रवेश कर सकती है, उसका हिस्सा बनकर उसे सम्पूर्ण रूप से बदल सकती है। हर सृजनात्मक आलोचना इस विश्वास को केन्द्रबिन्दु बनाकर कलाकृति का मूल्य आँकती है—कलाकृति जो ख़ुद अपने में जख़्म है और एक जख़्मी विभाजित जीवन का अतिक्रमण करने का प्रयास भी !

आज तक हम कला को सभ्यता का अंग मानते आये थे, किन्तु पिछले चार सौ वर्षों के दौरान—विशेषकर यूरोपीय रेनेसांस के बाद—सभ्यता के सब प्रतीक वे चाहे विज्ञान के हों या दर्शन के—मनुष्य को उसके सम्पूर्णत्व, उसके आत्यन्तिक और अखण्डित 'आत्म' को विभाजित करते आये हैं। यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें मनुष्य की बुद्धि का उसकी समवेदना से, उसकी देह का उसकी आत्मा से, उसके अस्तित्व का उसकी सृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है। आज हमें इस अद्भुत विडम्बना का सामना करना पड़ता है कि कला जो क्लासिक और मध्यकालीन युग में मानव की सम्पूर्ण चेतना की सबसे समर्थ अभिव्यक्ति मानी जाती थी, हमारे युग में आते-आते उसकी सार्थकता संस्कृति का अंग बनने में नहीं, बल्कि उन मूल्यों और मर्यादाओं को अस्वीकृत करने में निहित हो जाती है, जिसके रहते मनुष्य का यथार्थ उत्तरोत्तर एकांगी, पंगु और विशृंखलित होता गया है। संस्कृति जो एक समय में कला की संरक्षित पीठिका थी, उसे पोषित करती थी—जिसके रहते दांते और तुलसीदास-जैसे कवियों को सहज रूप से ही अपने काव्य-संसार के भरे-पूरे रूपक और प्रतीक मिलते थे, अब उस संस्कृति ने अपनी परम्परागत भूमिका छोड़ दी है। आज का सुसंस्कृत

मनुष्य कोई भी हो, कलाकार नहीं है; उसका ऐसी 'संस्कृति' से कोई सरोकार नहीं जिसने व्यक्ति की स्वायत्तता के नाम पर उसे 'आत्म शून्य' बना दिया है और समूह के नाम पर लोक स्वभाव की सहज धारा और स्मृति को सुखा दिया है। सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि व्यक्ति-ग्रस्त और समूह-ग्रस्त दोनों ही व्यवस्थाओं ने एक ही समानधर्मा संस्कृति को जन्म दिया है—इतिहास, प्रगति और विज्ञान की आक्रामक मर्यादाओं से मण्डित, जिसमें कला समाज के केन्द्र में नहीं, बल्कि मानवीय अनुभव के हाशिए पर ठेल दी गयी है—एक उपभोग्य कला-वस्तु (आर्ट ऑब्जेक्ट) फिर चाहे उसे मनोरंजन का मात्र साधन माना जाये या समाज के लिए उपयोगी वस्तु, उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता।

यहीं पर एक कलाकृति का मूल्यांकन एक व्यापक सन्दर्भ में एक पूरी संस्कृति का मूल्यांकन हो जाता है; एक आलोचक आधुनिक मानसिकता की उस विश्लेषणात्मक शैली को नहीं स्वीकार करता जहाँ कलाकृति के सौन्दर्य को एस्थेटिक्स के हवाले कर दिया जाता है और उसकी प्रासंगिकता का इतिहास के फ़ार्मूलों द्वारा मूल्यांकन किया जाता है। वह आधुनिक संस्कृति के इस छद्म वर्गीकरण से ऊपर उठकर कलाकृति के मूल सत्य पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है। यह सत्य फ़िलासफ़ी या तर्कशास्त्र की बौद्धिक अवधारणाओं का सत्य नहीं है, बल्कि वह कहानी, कविता या उपन्यास रचने की प्रक्रिया में एक ऐसे संसार में उद्घाटित होता है, जिसके मिथक और प्रतीक आधुनिक संस्कृति की मर्यादाओं से बिल्कुल अलग हैं। हर महत्त्वपूर्ण कलाकृति का सत्य उसके विकल्पीय संसार में निहित रहता है। यह विकल्पीय संसार कोई ऐसा संसार नहीं है, जिसका यथार्थ से कोई नाता नहीं, बल्कि वह उस यथार्थ का सत्य है, जिससे मनुष्य का नाता टूट गया है; एक स्वायत्त संसार, किन्तु आत्मकेन्द्रित संसार नहीं, वह एक खुली स्पेस का संसार है, एक कला-वस्तु का सीमित, सुन्दर संसार नहीं, जिसे दर्शक बाहर से देखता है बल्कि एक सक्रिय और सम्पूर्ण सत्य का वाहक—जो बार-बार हमारी दुनिया में प्रवेश करता है, उसे भंग करता है, झिंझोड़ता है; सम्पूर्ति और सम्पूर्णता की स्मृति जगाता है। इसी अर्थ में कलाकृति की अनुभूति हमारी संस्कृति के विभाजित अनुभवों की सबसे सटीक और प्रखर आलोचना हो जाती है। व्यावहारिक आलोचना की मर्यादा यह है कि वह उस 'भाषा' का मूल्य पहचान सके, जिसमें एक कलाकृति हमारे युग की संस्कृति पर आलोचना करती है।

कलाकृति की भाषा—मैं इस प्रश्न पर दुबारा लौटना चाहूँगा। इस निबन्ध के आरम्भ में मैंने कहा था कि किसी कलाकृति का विशिष्ट सत्य उसकी भाषा में ही गुम्फित रहता है, उसके बाहर नहीं। किन्तु यह एकतरफ़ा व्यापार नहीं है। जहाँ यह

सच है कि एक कलाकृति का सत्य शब्दों के विशिष्ट संयोजन में ही उद्घाटित होता है, वहाँ यह भी उतना ही सच है कि वह सत्य कला की भाषा को भी अपनी विशिष्ट गुणात्मकता में उजागर करता है। दूसरे शब्दों में, एक कलाकृति की भाषा सम्प्रेषण का महज माध्यम मात्र नहीं है बल्कि कलाकृतियों में ही वह अपना आत्मीय और आत्यन्तिक चरित्र उद्घाटित करती है। यहीं पर कलाकृति की भाषा और संसारी-उपयोग की भाषा में पहली बार मूलभूत अन्तर दिखायी पड़ता है। हाइडेगर ने इस सत्य को बहुत सुन्दर ढंग से परिभाषित किया है। एक कारीगर जब औज़ार बनाने के लिए पत्थर का इस्तेमाल करता है तो औज़ार बनने पर पत्थर की उपयोगिता भी ख़त्म हो जाती है; किन्तु जब एक मूर्तिकार उसी पत्थर को मूर्ति बनाने में इस्तेमाल करता है तो वहाँ पत्थर माध्यम या साधन नहीं रहता, जिसकी उपयोगिता मूर्ति बनने के बाद चुक जाती है; उलटे स्वयं मूर्ति का सत्य पहली बार पत्थर के सहज आत्मीय गुण—उसके पत्थरपन—को उजागर करता है। एक अख़बारी रिपोर्ट में शब्दों की उपयोगिता रिपोर्ट के कथ्य को सम्प्रेपित कर देने के बाद समाप्त हो जाती है किन्तु एक कविता को एक बार पढ़ लेने के बाद शब्दों का महत्त्व ख़त्म नहीं हो जाता—यहाँ शब्द सिर्फ़ माध्यम नहीं हैं, इसीलिए हम बार-बार उसके पास लौटते हैं क्योंकि यदि शब्दों के बीच कविता ने अपना सत्य पाया है, तो इसी सत्य ने पहली बार कविता के शब्दों को 'शब्द' होने की मर्यादा से पुष्ट किया है। कविता में शब्द असली अर्थ में शब्द बनते हैं जैसे मूर्ति में पत्थर असली अर्थ में पत्थर बनता है।

यदि एक आलोचक भाषा के इस प्राकृतिक आयाम को नहीं समझ पाता, वह कला के एक अत्यन्त मूल्यवान सत्य को अनदेखा कर देता है जो उसे संस्कृति से नहीं—प्रकृति के विराट परिवेश से मिलता है, जहाँ मनुष्य का कोई दख़ल नहीं, किन्तु जो बार-बार मनुष्य के संसार को खटखटाता है। कुछ शब्द जादुई होते हैं, अपने अर्थों में नहीं; बल्कि उनके परे; दैहिक रूप से जादुई, जिनका जादू उनकी ध्वनि में निहित होता है, ऐसे शब्द जो कोई सन्देश देने से पहले भी अपना अर्थ रखते हैं, शब्द जो अपने में ही अर्थ और संकेत हैं, जिन्हें समझना नहीं, सुनना होता है, एक जानवर के शब्द, एक बच्चे की स्वप्न-भाषा मारिना स्वेतायेवा ने यह बात पुश्किन के सन्दर्भ में कही थी, किन्तु क्या यह हर कलाकृति पर लागू नहीं होती ? इसी अर्थ में एक कलाकृति मानवीय भी होती है, और ग़ैर-मानवीय भी। मिट्टी, पत्थर, स्वर, शब्द—शब्द जो सबसे शुरू में था—एक ऐसी भाषा की सृष्टि करते हैं, जिसे समझना नहीं, सुनना होता है, देखना होता है, अनुभूत करना होता है। किन्तु जो सभ्यता प्रकृति पर विजय पाने में ही अपना गौरव प्राप्त करती है, वह सुनने, देखने और अनुभूत करने की क्षमता को ही नष्ट कर देती है। उसका सम्बन्ध प्रकृति के प्रति उतना ही आक्रामक

है, जितना कलाकृति के प्रति लोलुप—समझना एक तरह से यह हासिल करने का पर्याय हो जाता है, जो गर्वीली स्पर्धा से उत्पन्न होता है, अनुभूत करने की विनयशील आत्मीयता से नहीं। कितना अजीब है कि जिस आक्रामक रिश्ते से प्रकृति का प्रदूषण होता है, कला की भाषा का दूषण भी ठीक उसी रास्ते से होता है। इसीलिए कुछ आश्चर्य होता है, अब लीविस और ऑर्वेल जैसे आलोचक कला-भाषा के अवमूल्यन पर तो विक्षोभ करते हैं—और ठीक ही करते हैं—किन्तु उसके कारण केवल राजनीति, पत्रकारिता या शिक्षापद्धति में ही टटोलकर सन्तोष कर लेते हैं। वे कला की भाषा को मात्र माध्यम मानकर चलते हैं, मानवीय-संस्कृति का मात्र एक उपादान—इसीलिए वे उस वैषम्य को नहीं देखते जो स्वयं मनुष्य की संस्कृति और कलाकृति की प्रकृति, शब्द और सत्य के बीच आ खड़ा हुआ है।

किन्तु यदि कलाकृति की भाषा अपनी 'गूँज' उस प्रकृति से लाती है, जो मनुष्येतर है, उसका सत्य बराबर उस स्वप्न में ध्वनित होता है, जो मनुष्य के भीतर है, जब वह प्रकृति से अलग नहीं हुआ था। इसीलिए एक कलाकृति से साक्षात् कभी-कभी एक गहरा आध्यात्मिक अनुभव भी होता है। क्या आज की आलोचना ने कभी ऐसे अनुभव को परिभाषित करने का प्रयास किया है, जो किसी दार्शनिक धर्मशास्त्र के घेरे में नहीं आता, जो परम्परागत अर्थ में 'आध्यात्मिक' नहीं है, जो मनुष्य को किसी धार्मिक सन्देश देने का दावा नहीं करता—लेकिन वह अपने मे इतना सम्पूर्ण है कि एक कौंध में हमें अपनी 'स्थिति के समूचे सत्य' से साक्षात् करा देता है। यह तभी हो पाता है जब एक कलाकृति विभाजित मानस की पीड़ा एक दूसरा दरवाज़ा भी खोलती है, जहाँ हर खण्डित अनुभव के बाक़ी अवशेष दिखायी देते हैं--जीवन की कुहलिका में उपेक्षित, दबे हुए, तिरस्कृत—किन्तु कलाकृति के आलोक में—उसी अनुभव को पूरा करते हुए, अर्थ देते हुए—जिसके कारण एक अद्भुत आनन्द की अनुभूति होती है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ऐसी कृति में आनन्द का अनुभव पीड़ा को काटता नहीं, न ही पीड़ा का घटाटोप आनन्द को ओझल करता है, बल्कि दोनों अनुभव एक साथ होते हैं। गोएटे का नायक वर्थर अपने खण्डित अनुभवों के बीच पहली बार प्रेम की सम्पूर्णता—उसके अलौकिक आनन्द—को अनुभूत करता है। बिना उस आनन्द के क्या वह अपनी पीड़ा को छू पाता जिसने उसे आत्महत्या करने को विवश किया ? किन्तु बिना उस पीड़ा को भोगे क्या हम प्रेम के उस सम्पूर्ण अनुभव को देख पाते हैं, जिसे कोई दूसरा उपयुक्त शब्द न मिलने के कारण मैंने 'आध्यात्मिक अनुभव' कहा है ?

यदि मैंने आलोचना के सन्दर्भ में वर्थर का उदाहरण दिया है, तो इसलिए कि हमारी आज की आलोचना ने अपने को ऐसे संकीर्ण दायरे में बाँध लिया है जिसके

बाहर कला के अनेक अनुभव उपेक्षित और अपरिभाषित पड़े रहते हैं जिन्हें आसानी से रोमांटिक या आध्यात्मिक कहकर ख़ारिज कर दिया जाता है। यही नहीं, हमारे विज्ञ आलोचक एक ही लेखक के अनुभव-संसार को विभाजित करने की शल्य-क्रिया करने में नहीं हिचकते—हम उन अनुभव-खण्डों को स्वीकार लेते हैं जो आज के हमारे सामाजिक-ऐतिहासिक आग्रहों से मेल खाते हैं, किन्तु उसी लेखक के उन पक्षों के बारे में चुप रहते हैं—जो उसकी बनी-बनायी इमेज को किसी रूप में भंग करते हैं, उसमें असंगति उत्पन्न करते हैं। यही कारण है कि हम तॉलस्तॉय के चिन्तनशील निबन्धों को 'धार्मिक प्रोपेगेण्डा' मानकर उपेक्षित करते हैं, जबकि उनके उपन्यासों को यथार्थवादी मानकर उनकी पूजा करते हैं—मानो तॉलस्तॉय के आध्यात्मिक अन्तर्द्वन्द्वों और विश्वासों का उनके कला के यथार्थ से कोई सम्बन्ध न हो। वे यह भूल जाते हैं कि इसी सम्बन्ध के रहते 'इवान ईलिच की मृत्यु' जैसी महान रचना का जन्म हुआ था। आलोचना की सबसे मूल्यवान मर्यादा यह है कि वह कलाकृति के समूचे तन्तुजाल के रेशों को विश्लेषित करे, जिसमें संसारी यथार्थ और आध्यात्मिक लोक के अनुभव एक-दूसरे से गुँथे रहते हैं—जिनके भीतर एक ऐसा सत्य जन्म लेता है, जहाँ एक यथार्थ का अनुभव दूसरे यथार्थ के अनुभव का निषेध नहीं करता, बल्कि वह एक खुली भूमि तैयार करता है, जहाँ यथार्थ की अनेक परतें खुलती हैं, एक-दूसरे से टकराती हैं, एक-साथ अनेक अर्थों को उद्घाटित करती हैं। यदि यथार्थ के विभिन्न अर्थों का कोई लोकतन्त्र है, तो वह केवल उस स्वतंत्रता में ही उपलब्ध होता है, जिसे हर कलाकृति अपने भीतर लेकर चलती है, जो न किसी एक अर्थ से अपने को नत्थी करती है, न किसी दूसरे अर्थ की तानाशाही स्वीकार करती है।

किन्तु सब अर्थ एक तरह से ही मूल्यवान नहीं होते। किसी कलाकृति का कोई भी अनुभव नगण्य नहीं है—लेकिन वह है, इसीलिए मूल्यवान नहीं बन जाता। समर्थ आलोचना—जहाँ अर्थों के लोकतन्त्र को स्वीकार करती है, वहाँ वह मूल्यों की वर्ण-व्यवस्था को भी गहरा सम्मान देती है, जिसके बिना किसी भी कलाकृति की गुणवत्ता या—गुणहीनता को पहचानना असम्भव है।

पिछले वर्षों में यदि हिन्दी आलोचना का परिदृश्य कुछ अधिक उत्साहवर्द्धक नहीं दिखायी देता तो इसका एक कारण शायद यह है कि स्वयं आलोचना ने अपनी मूल्य-व्यवस्था का निर्माण करने की कोई विशेष चेष्टा नहीं की। किसी रचना की समीक्षा पढ़ते हुए हमें आलोचक के सामाजिक आग्रह ज़रूर दिखायी देते हैं, किन्तु उन आग्रहों की मूल्यवत्ता जो परम्परा, संस्कृति और कलात्मक अनुभवों के सम्बन्धों के बीच निर्मित होती है, वह कहीं दिखायी नहीं देती। किसी कृति की आलोचना पढ़ते

समय हम आलोचक की राजनीतिक-सामाजिक विचारधारा से तो परिचित होते हैं—उस सांस्कृतिक परिवेश की आबोहवा से नहीं—जहाँ बहुत-सी धाराएँ एक साथ चलती हैं—जिनके बीच कलाकृति अपना विशिष्ट चरित्र बनाती है। चूँकि आलोचक का अपनी संस्कृति की व्यापक अर्थवत्ता से कोई लगाव नहीं, इसीलिए उसमें कलाकृति की अन्तर्निहित समग्रता को जाँचने का भी ज़्यादा उत्साह नहीं। इसीलिए हमारे यहाँ संस्कृति के विचारक एक वर्ग में आते हैं—कला के आलोचक दूसरे वर्ग में—दोनों में कहीं आदान-प्रदान नहीं होता। यदि हम हजारीप्रसादजी को अपवाद मानकर छोड़ दें—तो किसी एक आलोचक में दोनों लगाव लगभग साथ नहीं दिखायी देते।

हिन्दी आलोचना का यह दुर्भाग्य रहा है—और शायद सिर्फ़ हिन्दी आलोचना का नहीं—कि वह कलाकृति की बहुआयामी भूलभुलैयों में जाने से कतराती है—कोई कृति नितान्त वैयक्तिक पीड़ा में सामाजिक सन्दर्भों को खोल सकती है और सामाजिक यथार्थ के बीच व्यक्ति का रहस्यमय मनोसंसार उद्‌घाटित कर सकती है—कला के इस अन्तर्विरोधी चरित्र में उसे ज़्यादा विश्वास नहीं। वह एक सीधा-सादा रास्ता अपनाना पसन्द करती है, जहाँ एक ख़ास अर्थ को चुना जा सके—और फिर उस एकांगी अर्थ की सूली पर कलाकृति के समूचे चरित्र को टाँगा जा सके। मुश्किल यह है कि खूँटे से उतारकर जो चीज़ हाथ आती है, वह कलाकृति नहीं, उसकी मुर्दा देह है, जिसकी प्राणवत्ता को आलोचक न जाने किस अँधेरी गली में फेंककर फ़रार हो जाता है ? ऐसी आलोचना ने ही हमारे यहाँ प्रसाद को 'हिन्दू आध्यात्मिकता' और प्रेमचन्द को 'यथार्थवादिता' की सूली पर चढ़ाकर अपने कर्तव्य से मुक्ति पा ली है। यदि आज तक निराला और मुक्तिबोध ठीक-ठीक किसी एक सैद्धान्तिक कटघरे में फ़िट नहीं होते, तो उसका श्रेय हमारी आलोचना को नहीं, इन कवियों के उस विराट, संश्लिष्ट और अन्तर्विरोधी धाराओं में विस्फोटित होती हुई ऊर्जा को जाता है जिसे किसी एक सामाजिक और रूपवादी व्याख्या में रिड्यूस करना असम्भव है। हमारी आलोचना का अभिशाप यह नहीं है कि वह किसी मार्क्सवादी या कलावादी दृष्टि के बोध से आक्रान्त है—काश, ऐसी कोई विवेकशील दृष्टि अपनी सम्पन्न प्रखरता में हमारे पास होती—उसका अभिशाप यह है कि वह कला के प्रति बहुत ही सँकरा और सिकुड़ा हुआ—अंग्रेज़ी शब्द का इस्तेमाल करूँ—तो निरा रिडक्टिव रुख़ अपनाती है; उससे कलाकृति का अवमूल्यन तो होता ही है, उस दृष्टि या विचारधारा की विपन्नता भी ज़ाहिर होती है, जिसकी कसौटी पर कलाकृति को आँका गया है।

आशा की बात यह है कि समय-समय पर अवमूल्यन की इस प्रक्रिया का विरोध किया गया है, व्यवस्थित रूप से नहीं, लेकिन गहरी संस्कारसम्पन्न व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं के आधार पर। विजयदेव नारायण साही और कुँवर नारायण के अनेक

निबन्ध इस प्रतिक्रिया का सर्वोत्तम उदाहरण हैं। स्वयं डॉ. नामवर सिंह ने बरसों पहले कहानी के क्षेत्र में सामान्यीकृत धारणाओं का खण्डन करते हुए एक समर्थ और सृजनात्मक हस्तक्षेप किया था। अज्ञेय द्वारा नयी कविता का आकलन, नेमिचन्द्र जैन की उपन्यास-आलोचना इसी कोटि में आती है। किन्तु कला के प्रति जिस 'रिडक्टिव' रुख़ का उल्लेख मैंने ऊपर किया है, यदि उसका कोई निरन्तर, मूल्यवान और सब बाधाओं और अभियोगों के बावजूद एक सुचिन्तित और साहसी आलोचनात्मक विरोध हुआ है—उन युवा आलोचकों द्वारा—जिन्हें पूर्वग्रह की 'बदनाम मण्डली' का सदस्य माना गया है। पिछले वर्षों में आलोचना के क्षेत्र में यदि मलयज, रमेशचन्द्र शाह और अशोक वाजपेयी का योगदान इतना महत्त्वपूर्ण रहा है तो इसलिए कि उन्होंने आलोचना को मूल्यहीनता के कुहासे से निकालकर एक सांस्कृतिक पीठिका प्रदान की है, जिसमें आलोचक की दृष्टि उतनी ही महत्त्वपूर्ण है, जितनी कलाकृति की स्वायत्तता। दोनों के टकराव से ही ऐसी बिजली पैदा होती है, जो हमारी चिन्ताओं और सरोकारों के समूचे परिवेश को आलोकित कर पाती है।

हर महत्त्वपूर्ण आलोचक के पास अपनी दृष्टि या दर्शन होना चाहिए—सिर्फ़ कला के सम्बन्ध में नहीं, बल्कि समूची संस्कृति के बारे में—उसे आप उसकी 'आइडियालॉजी' कहें, तो भी इस प्रसंग में कोई अन्तर नहीं पड़ता। कोई आलोचक ख़ाली हाथ किसी कलाकृति के पास नहीं जाता; जो आलोचक ख़ाली हाथ जाते हैं, मुझे डर है, वे ख़ाली हाथ लौट भी आते हैं। एक आलोचक नंगा और निरीह होकर नहीं, अपने सब विश्वासों, पूर्वग्रहों, अस्त्रों-शस्त्रों से लैस होकर एक कलाकृति का सामना करता है। ये अस्त्र और औजार वह अपने अध्ययन, सूझ-बूझ और अनुभव-संसार से अर्जित करता है। इसी अनुभव-संसार के भीतर वह उन मूल्यों की व्यवस्था बनाता है जो उसे कलाकृति के मूल्यांकन में योग देती है। किन्तु यदि आलोचक की मूल्य-व्यवस्था कलाकृति के अनुभव को आलोकित करने के बजाय धुँधलाती है, खण्डित करती है, तो मूल्यांकन के वे सब अस्त्र-औज़ार बेकार और निरर्थक पड़े रहेंगे, जो वह अपने साथ लाया है। एक आलोचक इन्हीं औज़ारों से कलाकृति के मूल्यों को परखता है; किन्तु ऐसा भी होता है, कि कोई कलाकृति एक ऐसे विकल्पीय संसार के मूल्यों की रचना करे, जिसके सम्पर्क में आते ही आलोचक को अपनी मूल्य-व्यवस्था के सब औज़ार और कसौटियाँ अपर्याप्त, एकांगी और असन्तोषजनक जान पड़ें। यह उसके सामने गहरी चुनौती का प्रश्न है : क्या वह अपनी मूल्य-व्यवस्था से चिपका रहेगा, और किसी दर्शन, विश्वास और विचारधारा को अपनी बैसाखी बनाकर कलाकृति की वैकल्पिक सत्ता को ख़ारिज कर देगा—अथवा उसमें इतना नैतिक साहस और आलोचनात्मक विवेक होगा, कि वह अपने अस्त्रों और

विश्वासों को अनुपयुक्त मानकर छोड़ दे, और आलोचना के ऐसे औज़ारों का निर्माण करे, जो उस कलाकृति के अपरिचित संसार की अर्थवत्ता को नये सिरे से परिभाषित करने में सक्षम हो सकें। यदि आलोचना की मर्यादा इसमें है, कि वह तटस्थ होकर नहीं, अपने विश्वासों और आग्रहों के साथ कलाकृति से मुठभेड़ करती है, तो उससे कहीं ऊँची मर्यादा यह है कि ज़रूरत पड़ने पर वह अपनी उन सब कसौटियों और मापदण्डों को त्याग सकती है, जो उस कलाकृति के सामने झूठी और अप्रासंगिक बन गयी हों। किन्तु यह वही आलोचक कर सकेगा, जिसके पास छोड़ने को कुछ है, जो ख़ाली है, वह क्या कुछ छोड़गा ?

---

# रेणु : समग्र मानवीय दृष्टि

जब किसी कृति पर विभिन्न प्रकार की विरोधी धारणाएँ व्यक्त की जा चुकी हों—यहाँ तक कि उसकी आड़ लेकर वैयक्तिक स्तर पर अप्रासंगिक वाद-विवाद उठ खड़े हुए हों—तब ऐसी स्थिति में उस कृति पर सहज रूप से कुछ भी कह पाना कठिन हो जाता है। पुस्तक के सम्बन्ध में हमारी मौलिक प्रतिक्रियाओं के साफ़-सुथरे आइने पर बहस की धूल जमा हो जाती है और हम 'आलोचना के मानदण्डों' से इतने अधिक सन्त्रस्त हो जाते हैं कि हमें स्वयं अपनी अनुभूतियों पर अविश्वास होने लगता है। अतः यह आकस्मिक नहीं कि *परती : परिकथा* पर मेरे अनेक साहित्यिक मित्रों ने समय-समय पर अपनी राय बदली है (या एक ही समय दो परस्पर-विरोधी धारणाएँ व्यक्त की हैं।) यह कहना कठिन है कि ये 'विचार-परिवर्तन' हमेशा *परती : परिकथा* के आत्यन्तिक महत्त्व के आधार पर ही हुए हों। यह उलझाव किसलिए ?

ज़ाहिर है इसका कारण *परती : परिकथा* की कथावस्तु या शिल्प का उलझाव नहीं है, क्योंकि प्रस्तुत पुस्तक के सम्बन्ध में जो भी मतभेद रहा हो, उस पर दुरूहता या अस्पष्टता का आरोप शायद ही किसी ने लगाया है। वस्तुतः इस उलझाव का कारण *परती : परिकथा* में न होकर हमारी आज की आलोचना-पद्धति, साहित्य के तथाकथित मानदण्डों में सन्निहित है। *परती : परिकथा* के मूल्यांकन में उसकी प्रशंसा और भर्त्सना करते हुए जो अतिरंजित विशेषण प्रयोग किये गये हैं, उसे देखकर लगता है मानो उसके गुण-दोषों का तो विश्लेषण कम हुआ है, आलोचकों ने उसे अपने सैद्धान्तिक मानदण्डों के अमूर्त चौखटों (ऐब्सट्रैक्ट केटेगरीज़) में फिट करने का प्रयत्न ही अधिक किया है।

*परती : परिकथा* हिन्दी उपन्यासों की परम्परागत पद्धति से भिन्न है (हालाँकि *मैला आँचल* के बाद रेणु के कथा-शिल्प में कोई विशेष परिवर्तन नहीं दिखायी देता)। उसके प्रति हमारा दृष्टिकोण भी पुरानी लीकों से हटकर होगा। समूचा उपन्यास पढ़ जाने के बाद लगता है जैसे हम किसी गाँव का अद्भुत विचित्र 'कार्नीवाल' देख आये हैं। अनेकानेक रंगों, गन्धों, सुरों की हहराती धारा हमारे बीच बहकर आगे बढ़ गयी है, अनेक व्यक्तियों की असंगतियों, सुख-दुःख, हास-विलास

से हमने अपने को सम्पृक्त किया है; किन्तु ये चेहरे, रंग और सुर अपने में महत्त्वपूर्ण नहीं हैं—महत्त्वपूर्ण है इस 'कार्नीवाल' की गतिमयता, अविरल प्रवाह की कलकल, हवा में उड़ते रंगों की आभा, एक मायावी लय जो समस्त व्यक्तियों और घटनाओं के बीच गुज़रती हुई हमारे मस्तिष्क और हृदय को आलोड़ित कर देती है।

कहा गया है कि *परती : परिकथा* में केवल कच्चा माल है, उसमें किसी प्रकार का जीवन-दर्शन नहीं, कोई शृंखलाबद्ध योजना नहीं, उसमें किसी केन्द्रीय सूत्र का सर्वथा अभाव है। सहसा मन में प्रश्न उठता है—क्या ये तत्त्व *मैला आँचल* में विद्यमान हैं ? यदि नहीं, तो क्या हम यह मान लें (जो हमें मानना चाहिए, यदि हमारी समीक्षा-पद्धति तर्कसंगत है) कि *मैला आँचल* उपन्यास के स्वीकृत मानदण्डों पर खरा नहीं उतरता।

लगता है अब तक *मैला आँचल* की केवल भावुकतापूर्ण प्रशंसा की गयी है, उसके द्वारा 'रेणु' ने हिन्दी-उपन्यास के रचना-विधान और कथा-शिल्प के क्षेत्र में जो परिवर्तन किये हैं, नये मोड़ लिये हैं, उनके आधार पर हमने अपने रूढ़िगत मानदण्डों को परिवर्तित या परिमार्जित करना उचित नहीं समझा। यदि ऐसा किया होता, तो 'रेणु' के 'कथा-शिल्प' के सम्बन्ध में जो बहस *मैला आँचल* पर समाप्त हो जानी चाहिए थी, उसे नये सिरे से *परती : परिकथा* पर आरम्भ करने की आवश्यकता अनुभव न होती।

औपन्यासिक कला-शिल्प, कथा-संयोजन तथा चरित्र-गठन के प्रति—हर सजग लेखक की तरह —'रेणु' का अपना विशिष्ट दृष्टिकोण और आग्रह है, जो *मैला आँचल, परती : परिकथा* तथा उनके आगामी उपन्यासों में भी अवश्य मौजूद रहेगा, इस पर आपत्ति करना हर कलाकार के विशिष्ट कलात्मक व्यक्तित्व को ही अस्वीकार करना होगा। पहले उपन्यास की कथावस्तु, पात्रों की मानसिकता उथल-पुथल, समस्याएँ तथा संवेदनाएँ दूसरे उपन्यासों में बदल सकती हैं, उनके प्रति लेखक का विशिष्ट कलात्मक आग्रह अथवा शिल्पगत दृष्टिकोण नहीं (जब तक लेखक उसे स्वयं बदलने की आवश्यकता महसूस न करे)। इस दृष्टि से *परती : परिकथा* को *मैला-आँचल* की पुनरावृत्ति कहना उतना ही निरर्थक जान पड़ता है, जितना यदि हम वर्जिनिया वुल्फ़ के *टु द लाइट हाउस* को केवल इस आधार पर *मिसेस डे लोवे* की पुनरावृत्ति कहें कि दोनों उपन्यासों में एक ही प्रकार का कथाशिल्प दिखायी देता है। क्या यह बात भी समझाकर कहनी होगी कि 'रेणु' ही दोनों उपन्यासों के रचयिता हैं, अतः दूसरे उपन्यास में कम-से-कम उसकी पुनरावृत्ति होना अनिवार्य है ?

किन्तु जहाँ एक ओर दोनों उपन्यासों के रूप-विधान और रचना-गठन के बाह्य तत्त्व एक-दूसरे से मिलते-जुलते हैं, वहाँ *परती : परिकथा* का सामाजिक परिवेश न केवल *मैला आँचल* से अधिक व्यापक है, बल्कि उसका स्वरूप और आन्तरिक

प्रक्रियाएँ भी मूलतः भिन्न दिखायी देती हैं। राष्ट्रीय-आन्दोलन का ज्वार उतरने के बाद स्थायित्व के जिस वातावरण में परानपुर का ग्राम्य-जीवन चित्रित किया गया है, उसमें अनेक अन्तर्विरोधी तत्त्व विराजमान हैं, जो विभिन्न वर्गों और राजीनतिक दलों में एक गहरा तनाव-सा उत्पन्न करते हैं। इस तनाव के जो बीज *मैला आँचल* में राष्ट्रीय आन्दोलन की उच्छल प्राण-धारा तले दबे-से रह गये थे, वे 'परिकथा' में अधिक स्पष्ट और विकसित रूप में प्रकट हुए हैं। लैण्ड सर्वे, कोसी-प्रोजेक्ट, सर्वोदय इत्यादि आन्दोलन जहाँ इस तनाव को अधिक प्रखर और सुनिश्चित रूप प्रदान करते हैं, वहाँ दूसरी ओर वे एक विशाल 'सीसमोग्राफ़' के रूप में भी प्रयुक्त किये जा सकते हैं, जिसके द्वारा हम परानपुर के सामाजिक धरातल की परतों के भीतर छिपी वैयक्तिक स्वार्थों की टकराहट, राजनीतिक दलों की अवसरवादिता, और उच्च आदर्शों के पीछे दबी क्षुद्र, ओछी लिप्साएँ देख सकते हैं।

किन्तु इस कलह-क्लेश के बावजूद परानपुर में भी पूर्णिमा का चाँद उगता है। ताजमनी और मलारी का गीत-स्वर परती की सफ़ेद बालू पर पंख फड़फड़ाता हुआ उड़ता है। पाँचों कुण्डों में पाँच चाँद रात-भर झिलमिलाते हैं, शरद की चाँदनी में पहाड़ से उतरने वाले पक्षियों की पहली पाँत उतरती है· चाँदनी की यह स्वप्निल संगीतमयता 'परिकथा' में आद्योपान्त छायी रहती है।

इस तनाव और उल्लास के दो कूलों के बीच परानपुर के निवासियों की जीवन-धारा अविरल रूप से प्रवहमान है। भवेशनाथ के कैमरे के 'व्यूफ़ाइण्डर' से हम परानपुर गाँव का केवल धूसर, वीरान प्रान्तर, बन्ध्या धरती और वालुचरों की अन्तहीन शृंखला देख सकते हैं। वह सचमुच कैमरे की आँख है। किन्तु परती के आँचल तले पलते जनपद का, गाँवों के लोगों की आत्मा को कैमरे की आँख नहीं देख सकती, कलाकार की अन्तर्दृष्टि ही वहाँ तक पहुँच पाने में समर्थ हो सकती है।

'रेणु' की यह दृष्टि उपन्यासकार की दृष्टि है जो छोटी-छोटी घटनाओं को अद्‌भुत नाटकीयता प्रदान करती है। इन घटनाओं के माध्यम से 'रेणु' ने ठोस, जीवन्त कथा-पात्रों ('फ़िक्शनल कैरेक्टर्स') की सृष्टि की है, और यह उनकी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। साधारण, रोज़मर्रा की घटनाओं के महीन सूत्रों द्वारा कुछ गम्भीर सत्यों को उद्‌घाटित करना, उनके माध्यम से पात्रों की आकांक्षाओं और असंगतियों को अभिव्यक्त करना सचमुच एक कठिन समस्या है। हमेशा यह ख़तरा बना रहता है कि कहीं लेखक अपनी निरपेक्ष दृष्टि से च्युत होकर एक स्थूल, इतिवृत्तात्मक दृष्टिकोण न अपना ले। यह केवल हवाई ख़तरा नहीं है। पिछले वर्षों में हिन्दी उपन्यास का दुर्भाग्य ही यह रहा है कि लेखक अपने को 'सोशलॉजिस्ट' पहले समझता है—कलाकार बाद में। फिर चाहे उपर्युक्त दृष्टिकोण प्रच्छन्न रूप में मनोवैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्वों द्वारा प्रदर्शित हो (*नदी के द्वीप*) या सामाजिक विषमताओं

के सम्बन्ध में लम्बी सैद्धान्तिक बहसों के रूप में (*बूँद और समुद्र, जयवर्धन*)। यह एक अजीब 'काम्प्लेक्स' है, जिससे न्यूनाधिक मात्रा में हर लेखक पीड़ित दिखायी पड़ता है। यथार्थ के प्रति यह विकृत, विक्टोरियन दृष्टिकोण अधिकांश उपन्यासकारों के कलात्मक व्यक्तित्व को कुण्ठित-सा कर देता है। बाहरी नियन्त्रण (एक्सटरनल रेजीमेण्टेशन) का विरोध किया जा सकता है, क्योंकि हम उसके प्रति सजग हैं, किन्तु यथार्थ के प्रति यह 'सैद्धान्तिक' दृष्टिकोण एक अन्दरूनी विकार (इनर रेजीमेण्टेशन) उत्पन्न करता है, जो स्थूल रूप से दिखायी नहीं देता, इसलिए और भी अधिक घातक है।

इस सन्दर्भ में 'रेणु' से—एक कलाकार की हैसियत से—कोई जीवन-दर्शन प्राप्त करने की माँग करना सर्वथा अनुचित और असंगत जान पड़ता है। हमारी आलोचना-पद्धति की 'ट्रेजेडी' ही यह रही है कि हम हर कलाकार से एक 'जीवन-दर्शन' की माँग करते हैं। एक उपन्यास (या कोई भी कलाकृति) हमारी अन्तर्दृष्टि की सम्भावनाओं को अधिक व्यापक और संवेदनशील बनाने में समर्थ हो सके--इसी में उसकी सार्थकता निहित है। उस व्यापक दृष्टि के सहारे हम अपना जीवन-दर्शन स्वयं खोज सकें--यह अलग बात है।

*परती : परिकथा* की सबसे बड़ी शक्ति शायद यही है कि सतही तौर से हमें जहाँ विखराव या विशृंखला दिखायी देती है उसके पीछे परानपुर की समस्त विशेषताएँ और असंगतियाँ, हर छोटे-से-छोटे प्राणी का दुख-सुख, जीते-जागते, लड़ते-झगड़ते जीवित मनुष्यों की गाथा के दर्शन होते हैं। मुंशी जलधारीदास, लुत्तो, मलारी, सामबीती, पीसी—जैसे उपेक्षित नगण्य पात्रों के व्यक्तिगत झगड़ों, नैतिक कमज़ोरियों और आह्लाद-उल्लास के वृहत् कैनवास पर 'रेणु' ने ग्राम-जीवन का (एक मिनिएचर के रूप से) जो ठोस, संश्लिष्ट और विविध रंगों से गुम्फित चित्र प्रस्तुत किया है, वह अपने में अद्वितीय है। यहाँ तक कि भिम्मल मामा के अनर्गल प्रलाप द्वारा हम गाँव के जिन मीठे-कड़वे सत्यों को देख पाते हैं, वे कदाचित् उन लम्बी, उबा देनेवाली सैद्धान्तिक बहसों से उपलब्ध नहीं कर पाते, जिनका बाहुल्य आज के अनेक हिन्दी-उपन्यासों में दिखता है। ये चित्र इतने मांसल और उनकी समस्याएँ इतनी विश्वसनीय हैं, कि कभी-कभी यह भ्रम होने लगता है कि वे स्वतःचालित हैं, उनके पीछे कोई 'चालकशक्ति' ही नहीं है कलाकृति में यह भ्रम—इल्यूज़न—जिसके द्वारा हम 'चालकशक्ति' को भूलकर अपने को हाड़मांस के जीवन्त प्राणियों के दुख-सुख से एकीकृत कर सकें—शायद उसकी सबसे बड़ी सफलता है।

किन्तु इस सफलता के बावजूद क्या 'रेणु' अपने को समस्त आग्रहों से मुक्त रखने में समर्थ हुए हैं ? लगता है जैसे जित्तन की सृष्टि करने में उनकी निरपेक्ष, कलात्मक दृष्टि लड़खड़ा गयी है—वह उनके उपन्यास की सबसे निर्बल कड़ी है।

उपन्यासकार का प्राथमिक उद्देश्य जीवन्त, स्पन्दनशील पात्रों की सृष्टि करना है और उसमें 'रेणु' को अत्यधिक सफलता प्राप्त हुई है, किन्तु यह उसका केवल 'प्राथमिक उद्देश्य' है, सम्पूर्ण उपलब्धि नहीं। (यह बात दूसरी है कि हिन्दी के अनेक प्रमुख उपन्यासकार इस 'प्राथमिक उद्देश्य' को प्राप्त करने में भी सफल नहीं होते)। किन्तु एक महान लेखक इससे आगे जाता है—यथार्थ के प्रति एक गहन संवेदना तथा निर्वैयक्तिक और निरपेक्ष दृष्टिकोण की प्राप्ति के लिए अपने पूर्वाग्रहों से जूझता है; आत्म-संघर्ष के इस ऊँचे स्तर पर ही वह सही अर्थों में स्रष्टा बन पाता है—कला की यही सम्पूर्ण उपलब्धि है।

जित्तन को 'रेणु' की सहानुभूति प्राप्त हुई है, कलाकार ने उसके द्वारा अपनी संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है—यह अपने में बिल्कुल उचित है। कथाकृति के किसी एक केन्द्रीय पात्र की समस्याओं और संवेदनाओं के द्वारा हर लेखक अपनी समस्याओं को चित्रित करने में स्वतन्त्र है—तॉल्स्तॉय के 'पियर' और 'लेविन' इसके जीते-जागते सफल उदाहरण हैं। किन्तु इसके लिए कलाकार को अनिवार्य रूप से दो शर्तें पूरी करनी चाहिए। पहली-यह कि वह पूरी निर्ममता तथा तटस्थता से अपने इस 'केन्द्रीय पात्र' की निर्बलताओं, अन्तर्द्वन्द्वों तथा मानसिक उलझनों को चित्रित करे—उसके केवल एक या दो पहलुओं को उजागर करने में ही अपनी सार्थकता न समझ ले। दूसरे—अन्य प्राणियों के प्रति वह उतना ही संवेदनशील रह सके जितना वह अपने प्रिय पात्र के प्रति है।

कहना न होगा कि जित्तन के चरित्र-गटन में बहुत बड़ी सीमा तक 'रेणु' इन दोनों शर्तों को पूरा करने में असमर्थ रहे हैं। लुत्तो से लेकर मक़बूल तक जितने भी प्रतिस्पर्धी पात्र हमारे सामने आते हैं, वे जीवन्त और स्पन्दनशील प्राणी होने के बावजूद जित्तन वाबू की तुलना में विकलांग, निकृष्ट और विकृत दिखायी देते हैं। जित्तन का जितना गहरा लगाव, 'ट्रैक्टर' से है, उतना ही शायद वह परानपुर की धरती से दूर है। उसमें अभिजात वर्ग का सन्तुलन है, जो लुत्तन-जैसे निम्नवर्गीय, स्वार्थपरक व्यक्तियों में लुप्त हो चुका है, किन्तु यह सन्तुलन आत्म-मन्थन, मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों अथवा सत्य-असत्य के नैतिक प्रश्नों के अनिश्चय से उत्पन्न हुए हत-आलोड़न का परिणाम नहीं है। वह तो जित्तन के चरित्र का 'एरिस्टोक्रेटिक ट्रेट' है, जिसके आधार पर 'रेणु' ने उसे धूल में सने लड़ते-झगड़ते प्राणियों के 'असंतुलन' से उत्कृष्ट सिद्ध करने का प्रयास किया है।

'रेणु' ने जित्तन के इर्द-गिर्द जो स्वप्नजाल बुना है, उसके भीतर ताजमनी और इरावती-जैसी नारियों को गहन संवेदना के स्थान पर मिली हैं, 'रेणु' की कोरी भावुकतापूर्ण सहानुभूति, जिसके परिणामस्वरूप वे शरत बाबू के नारी-पात्रों की पीली छायाएँ-सी दिखायी देती हैं। जित्तन के इस स्वप्नजाल पर मिसेज़ रोडवुड की

डायरी के पन्ने भी टँगे हैं जो उपन्यास के उत्तरार्द्ध को अत्यन्त भावुकतापूर्ण, निर्बल और अविश्वसनीय बना देते हैं।

किन्तु इन कमियों और दोषों के बावजूद 'रेणु' ने *परती : परिकथा* में समाज के बदलते सन्दर्भ में व्यक्तियों की उत्तरोत्तर अधिक संश्लिष्ट होने वाली मानसिक प्रक्रियाओं और नैतिक दबावों का जो चित्रण किया है, सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलनों के सूत्रों में मनुष्य की जिन आकांक्षाओं और दुर्बलताओं को पिरोया है, वह अपने में सराहनीय है।

*परती : परिकथा* का 'बिखराव' 'रेणु' के कथाशिल्प का एक विशिष्ट प्रयोग है, जो उन्होंने ग्राम्य जीवन के वैविध्यपूर्ण, सर्वांगीण और परिवर्तनशील मानवीय सम्बन्धों को अभिव्यक्त करने के लिए अपनाया है—यही कारण है कि उपन्यास का हर पात्र, चाहे थोड़े समय के लिए ही हमारे सम्मुख आये, हमारे मानस-पटल पर अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप छोड़ जाता है। 'कार्नीवाल' के कोलाहल में हम उनकी आवाज़ों को, लोगों की भीड़ में उनके चेहरों को आसानी से पहचान सकते हैं। हम उनके क्रिया-कलापों को अन्य व्यक्तियों और घटनाओं के सन्दर्भ में आसानी से परख सकते हैं। उनके जीवन के सूत्र हवा में ही नहीं लटकते रहते—परानपुर की धरती के इतिहास से उनके जीवन का वैषम्य, सुख-दुख और संवेदनाएँ अन्तरंग रूप से जुड़ी दिखायी देती हैं। उनके भीतर 'टाइप' की समग्रता दिखती है, तो व्यक्तित्व का अलगाव भी मिलता है। अतः यह 'बिखराव' केवल एक शिल्पगत प्रयोग है। यदि वह उपन्यास में विशृंखलता या अराजकता न लाकर मानवीय सम्बन्धों को अधिक गहन और स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त करने में समर्थ होता है, तो उसकी उपयोगिता असन्दिग्ध है यह बात दूसरी है कि हम उपन्यास के क्षेत्र में एक ही प्रकार के 'यथार्थवादी' कथा-शिल्प को आदर्श मान बैठें और उसके प्रति हमारा आग्रह इतना प्रबल हो कि उपन्यास के रचना-विधान की अन्य समस्त पद्धतियाँ हमें निरर्थक और लक्ष्यहीन दिखने लगें।

*परती : परिकथा* में बिखराव है—मातीस के किसी चित्र के रंगों का-सा बिखराव ! सतही तौर पर देखने से कैनवास पर इधर-उधर बिखरे रंग के धब्बों और टूटी-फूटी रेखाओं के पीछे कोई भी चालक मस्तिष्क नहीं है, सब-कुछ बेडौल और अनगढ़-सा दिखता है। किन्तु ज़रा ध्यान से देखें तो इन्हीं रंग-बिरंगे धब्बों और अनगढ़ रेखाओं के बीच एक अद्भुत सिम्फ़नी की संगीतमय धारा उमगती दिखाई देती है। यह 'सिम्फ़नी' और कुछ नहीं, परती की ही धूल-धूसरित, स्नेहसिक्त गाथा है, जो जीवन की गतिमयता के संगीत से स्पन्दित परानपुर के धूसर, वीरान, अन्तहीन प्रान्तर में दिन-रात बहती है (1958) मुझे याद है। यह एक लम्बा जुलूस था, जो इमरजेन्सी से कुछ महीने पहले दिल्ली में निकाला गया था। जयप्रकाशजी सबसे आगे थे। हज़ारों

लोग उनके पीछे उमड़े आ रहे थे। देश के कोने-कोने से लोग जुलूस में शामिल होने आये थे। मैं चलते-चलते अपनी पाँत भूल बैठा और अजनबियों के एक जत्थे में चला आया। साथ चलनेवाले सज्जन से पूछा कि वह कहाँ से आये हैं ? 'बिहार से', उन्होंने कहा और तब तुरन्त बिना कुछ सोचे हुए मैं उनसे पूछ बैठा, 'रेणुजी भी आये हैं ?' उन्होंने गद्गद दृष्टि से मुझे देखा : 'नहीं, वह बीमार हैं। आ नहीं सके। आप उन्हें जानते हैं ?'

मैं चुपचाप उनके साथ चलने लगा। आप उन्हें जानते हैं ? यह प्रश्न बहुत देर तक मेरे भीतर गूँजता रहा। मैं उनसे केवल दो तीन बार मिला था, पर आज भी मैं आँखें मूँदकर उनका चेहरा हू-ब-हू याद कर सकता हूँ—उनके लम्बे झूलते बाल, एक संक्षिप्त-सी मुस्कराहट, जो सहज और अभिजात सौजन्य में भीगी रहती थी। कुछ लोगों में एक राजसी, 'अरिस्टोक्रेटिक' गरिमा होती है, जिसका ऊँचे या नीचे वर्ग से सम्बन्ध नहीं होता—वह सीधे संस्कारों से सम्बन्ध रखती है। रेणुजी में यह अभिजात भाव एक 'ग्रेस' की तरह व्याप्त रहता था। किन्तु जिस चीज़ ने सबसे अधिक मुझे अपनी तरफ़ खींचा वह उनका उच्छल हल्कापन था। वह छोटे-छोटे वाक्यों में संन्यासियों की तरह बोलते थे और फिर शरमाकर हँसने लगते थे। उनका 'हल्कापन' कुछ वैसा ही था जिसके बारे में चेखव ने एक बार कहा था, 'कुछ लोग जीवन में बहुत भोगते-सहते हैं—ऐसे आदमी ऊपर से बहुत हल्के और हँसमुख दिखायी देते हैं। वे अपनी पीड़ा दूसरों पर नहीं थोपते, क्योंकि उनकी शालीनता उन्हें अपनी पीड़ा का प्रदर्शन करने से रोकती है।'

'रेणु' ऐसे ही 'शालीन' व्यक्ति थे। पता नहीं ज़मीन की कौन-सी गहराई से उनका हल्कापन ऊपर आता था, यातना की कितनी परतों को फोड़कर उनकी मुस्कराहट में बिखर जाता था—यह जानने का मौक़ा कभी नहीं मिल सका।

वह अब नहीं हैं, मेरे लिए अब भी एक अख़बारी अफ़वाह है, जिस पर मैं विश्वास नहीं कर पाता। उनकी मृत्यु अभी तक मेरे लिए सत्य नहीं बनी है। मुझे हैरानी होती है कि उनकी बार-बार की बीमारी की ख़बर मुझे इस भयानक ख़बर के लिए तैयार नहीं कर पायी। हम कुछ मित्रों की बीमारी के इतने अभ्यस्त हो जाते हैं जैसे उनकी कुछ जानी-पहचानी आदतों के—मृत्यु के साथ उनका सम्बन्ध बिठाना असम्भव और असहनीय जान पड़ता है। मुझे अपना दुख भी असम्भव जान पड़ता है। जिस व्यक्ति को केवल दो-तीन बार देखा था उसके न रहने से मुझे अपनी लिखने की दुनिया इतनी सूनी और सुनसान जान पड़ने लगेगी, मैंने कभी ऐसा नहीं सोचा था।

अब सोचता हूँ, तो समझ में आता है, हमारी चीज़ों को चाहे बहुत लोग पढ़ें, किन्तु हम लिखते बहुत कम लोगों के लिए हैं। मैं जिन लोगों को ध्यान में रखकर लिखता था उनमें रेणु सबसे प्रमुख थे। मैं हमेशा सोचता था पता नहीं मेरी यह

कहानी, यह लेख, यह उपन्यास पढ़कर वह क्या सोचेंगे। यह ख़याल ही मुझे कुछ छद्म और छिछला, कुछ दिखावटी लिखने से बचा लेता था। कुछ लोग हमेशा हम पर सेंसर का काम करते हैं—सत्ता का सेंसर नहीं, जिसमें भय और धमकी छिपी रहती है—किन्तु एक ऐसा सेंसर जो हमारी आत्मा और 'कांशस', हमारे रचना-कर्म की नैतिकता के साथ जुड़ा होता है। रेणुजी का होना, उनकी उपस्थिति ही एक अंकुश और वरदान थी। जिस तरह कुछ साधु-सन्तों के पास बैठकर ही असीम कृतज्ञता का अहसास होता है, हम अपने भीतर धुल जाते हैं, स्वच्छ हो जाते हैं, रेणुजी की मूक उपस्थिति हिन्दी-साहित्य में कुछ ऐसी ही पवित्रता का बोध कराती थी।

वह समकालीन हिन्दी-साहित्य के सन्त लेखक थे।

यहाँ मैं सन्त शब्द का उसके सबसे मौलिक और प्राथमिक अर्थों में इस्तेमाल कर रहा हूँ—एक ऐसा व्यक्ति जो दुनिया की किसी चीज़ को त्याज्य और घृणास्पद नहीं मानता—हर जीवित तत्त्व में पवित्रता और सौन्दर्य और चमत्कार खोज लेता है—इसलिए नहीं कि वह इस धरती पर उगनेवाली कुरूपता, अन्याय, अँधेरे और आँसुओं को नहीं देखता, बल्कि इन सबको समेटने वाली अबाध प्राणवत्ता को पहचानता है, दलदल को कमल से अलग नहीं करता, दोनों के बीच रहस्यमय और अनिवार्य रिश्ते को पहचानता है। सौन्दर्य का असली मतलब मनोहर चीज़ों का रसास्वादन नहीं, बल्कि गहरे अर्थ में चीज़ों के पारस्परिक सार्वभौमिक, दैवी रिश्ते को पहचानना होता है—इसलिए उसमें एक असीम साहस और विवेक तथा विनम्रता छिपी रहती है। इस अर्थ में हर सन्त व्यक्ति अपनी अन्तर्दृष्टि में कवि और हर कवि अपने सृजनात्मक कर्म में सन्त होता है। रेणुजी का समूचा लेखन इस रिश्ते की पहचान है, इस पहचान की गवाही है और यह गवाही वह सिर्फ़ अपने लेखन में ही नहीं, ज़िन्दगी के नैतिक फ़ैसलों, न्याय और अन्याय, सत्ता और स्वतंत्रता की संघर्ष भूमि में भी देते हैं।

रेणुजी की इस पहचान में सौन्दर्य की नैतिकता उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी नैतिक अन्तर्दृष्टि की संवेदना। दोनों के भीतर एक रिश्ता है, जिसके एक छोर पर *मैला आँचल* है, तो दूसरे छोर पर जयप्रकाशजी की सम्पूर्ण क्रान्ति। दोनों अलग-अलग नहीं हैं—वे एक ही स्वप्न, एक लालसा, एक 'विज़न' के दो पहलू हैं। एक-दूसरे पर टिके हैं। कलात्मक 'विज़न' और क्रान्ति दोनों की पवित्रता उनकी समग्र दृष्टि में निहित है, सम्पूर्णता की माँग करती है : एक ऐसी सम्पूर्णता जो समझौता नहीं करती, भटकती नहीं, सत्ता के टुकड़ों पर या कोरे सिद्धान्तों की आड़ में अपने को दूषित नहीं करती। वह एक ऐसा मूल्य है जो खुली हवा में साँस लेता है और इसलिए अन्तिम रूप से पवित्र और सुन्दर और स्वतन्त्र है।

यह आकस्मिक नहीं था कि रेणुजी की इस समग्र मानवीय दृष्टि को अनेक

जनवादी और प्रगतिवादी आलोचक सन्देह की दृष्टि से देखते थे—कैसा है यह अजीब लेखक, जो ग़रीबी की यातना के भीतर भी इतना रस, इतना संगीत, इतना आनन्द छक सकता है, सूखी, परती ज़मीन के उदास मरुस्थल में सुरों, रंगों और गन्धों की रासलीला देख सकता है, सौन्दर्य को बटोर सकता है, आँसुओं को परख सकता है, किन्तु उसके भीतर से झाँकती धूल-धूसरित मुस्कान को देखना नहीं भूलता—एक सौन्दर्यवादी की तरह नहीं, जो सुन्दरता को अन्य जीवन्त तत्त्वों से अलग करके उनका रसास्वादन करता है। रेणु एथीस्ट नहीं थे। किन्तु वह हाय-हाय करते, छाती पीटते प्रगतिशील लोगों के आडम्बर से बहुत दूर थे, जो मनुष्य की यातना को उसके समूचे जीवन से अलग करके अपने सिद्धान्तों की लेबोरेटरी में एक रसायन की तरह इस्तेमाल करते हैं। कितनी बड़ी विडम्बना थी कि मार्क्सवादी आलोचक, जिन्हें सबसे पहले रेणुजी के महत्त्व को पहचानना था, अपने थोथे नारों में इतना आत्मलिप्त हो गये कि जनवादिता की दुहाई देते हुए सीधे अपनी नाक के नीचे जीवन्त जनवादी लेखक की अवहेलना करते रहे। किन्तु यहाँ मैं ग़लत हूँ। यह विडम्बना नहीं थी। यह एक ऐसी दृष्टि की भयानक परिणति थी जो एक तरफ़ अपने को प्रगतिशील घोषित करती थी, दूसरी तरफ़ बिहार के जन-आन्दोलन को फ़ासिस्ट और जयप्रकाशजी को देशद्रोही करार दे सकती थी : वह दृष्टि जो शब्दों के साथ इतना सिनिकल ढंग से बलात्कार कर सकती है, यदि वे रेणुजी को प्रतिगामी, सौन्दर्यवादी लेखक प्रमाणित करने की कोशिश करें तो हमें क्षोभ अवश्य हो, आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

रेणुजी ने बहुत निकट से मनुष्य की पीड़ा, मजबूरी और ग़रीबी को देखा था, इसलिए वह उसके साथ कोई सैद्धान्तिक खिलवाड़ नहीं कर पाते थे। साहित्य में वह ऐसी उम्र में आये थे जब अनेक लेखक बहुत-सी किताबें लिख चुके होते हैं। वह अपने साथ अनुभवों की पूरी सम्पदा लाये थे। ये अनुभव उनके उपन्यासों में इतने ताज़े और तात्कालिक जान पड़ते हैं कि लगता है कि जैसे उनके पात्रों में मिट्टी के ज़र्रे चिपके हैं, जिन्हें अभी-अभी उन्होंने धरती से निकालकर अपनी कथाओं में पिरोया है। उन्होंने जिस सूक्ष्म संवेदना और गहरे लगाव से बिहार के एक अंचल पूर्णिया की ज़मीन को कुरेदा था उसके फैलाव को महीन और मांसल छवियों में ध्वनित किया था, उसके लिए गद्य की भाषा को अप्रत्याशित रूप से काव्यात्मक मुहावरे में ढाला था, वह हिन्दी-उपन्यास में अभूतपूर्व घटना थी। अभूतपूर्व इस अर्थ में नहीं कि उनके पूर्व किसी अन्य लेखक ने अपने गाँव या क्षेत्र पर उपन्यास नहीं लिखे थे। अनेक कथाकारों का नाम लिया जा सकता है, जिन्होंने उनसे पहले भी आंचलिक उपन्यास लिखे थे। रेणु का स्थान यदि अपने पूर्ववर्ती और समकालिक आंचलिक कथाकारों से अलग और विशिष्ट है तो वह इसमें है कि आंचलिक उनका सिर्फ़ परिवेश था, उसके भीतर बहती जीवन धारा स्वयं अपने अंचल

की सीमाओं का उल्लंघन करती थी। रेणु का महत्त्व उनकी आंचलिकता में नहीं, आंचलिकता के अतिक्रमण में निहित है। बिहार के एक छोटे भूखण्ड की हथेली पर उन्होंने समूचे उत्तरी भारत के किसान की नियति-रेखा को उजागर किया था। यह रेखा किसान की किस्मत और इतिहास के हस्तक्षेप के बीच हुई थी, जहाँ गाँधीजी का सत्याग्रह-आन्दोलन, सोशलिस्ट पार्टी के आदर्श, किसान-सभाओं की मीटिंग अलग-अलग धागों से 'रेणु' का संसार बुनती हैं। सैकड़ों पात्र आते हैं, जाते हैं—उनकी गति, उनका ठहराव, उनकी ऊहापोह और आत्मसंघर्ष एक पूरी 'इमेज' हम पर अंकित कर जाता है। सिनेमा के परदे पर हम जैसे आइनस्टाईन की फ़िल्मों में व्यक्ति और समूह, चलती हुई भीड़ में स्तब्ध चेहरे और उनका गत्यात्मक द्वन्द्व, हलचल और तनाव देखते हैं; बिल्कुल वैसे ही पूर्णिया के परदे पर उसकी पीठिका में हम भारतीय ग्रामवासी और इतिहास के बीच मुठभेड़ और टकराव की गड़गड़ाहट सुनते हैं। एक ऐसा क्षण आता है जब पात्र और पीठिका में कोई अन्तर नहीं रहता—दोनों एक-दूसरे में इतना गुँथ जाते हैं कि मनुष्य, धरती और इतिहास के बीच सीमाएँ घुल-सी जाती हैं किन्तु आपसी मुठभेड़ से जो बिजली चमकती है, बिहार के अवसन्न, धूलभरे आकाश में जो चिंगारी कौंधती है, 'रेणु' ने कैमरे की आँखों से उसे अपनी जीवन्त फड़फड़ाती तात्कालिकता में पकड़ने की कोशिश की थी।

यह अद्भुत ड्रामा था। शायद ही किसी हिन्दी-उपन्यासकार ने उपन्यास की 'नैरेटिव' परम्परा को झिंझोड़कर उसे प्रेमचन्द ढाँचे से बाहर निकालकर इतना नाटकीय, इतना लचीला, इतना काव्यात्मक बनाया था जितना 'रेणु' ने और यह नाटकीयता, यह कविता अलंकारमय और कृत्रिम नहीं थी, क्योंकि परम्पराग्रस्त किसान और आधुनिक ऐतिहासिक आन्दोलन के बीच जिस मुठभेड़ को 'रेणु' ने अपना विषय बनाया था, उसमें पहले से ही बारूदी नाटकीयता विद्यमान थी। उसमें सिर्फ़ दियासलाई लगाने की देर थी।

'रेणु' ने जिस तीली से किसान के उदास, धूल-धूसरित क्षितिज में छिपी नाटकीयता को आलोकित किया था उसी तीली से हिन्दी के परम्परागत यथार्थवादी उपन्यास के ढाँचे को भी एकाएक ढहा दिया था। मेरे विचार में यह 'रेणु' की अविस्मरणीय देन और उपलब्धि है। *मैला आँचल* और *परती : परिकथा* महज़ उत्कृष्ट आंचलिक उपन्यास नहीं हैं, वे भारतीय साहित्य में पहले उपन्यास हैं जिन्होंने अपने ढंग से, झिझकते हुए, भारतीय उपन्यास को एक नयी दिशा दिखायी थी, जो यथार्थवादी उपन्यास के ढाँचे से बिल्कुल भिन्न थी। उन्होंने उपन्यास की नैरेटिव, कथ्यात्मक परम्परा को तोड़ा था—उसे अलग-अलग 'एपीसोड' में बाँटा था, जिन्हें जोड़ने वाला धागा कथा का सूत्र नहीं, परिवेश का ऐसा लैण्डस्केप था जो अपनी आत्यन्तिक लय में उपन्यास को रूप और फ़ॉर्म देता है। रेणुजी के यहाँ समय में

बँधी घटनाएँ नहीं, ऊबड़ खाबड़ ज़िन्दगियों की यह लय, यह स्पन्दन उपन्यास के हिस्सों को एक दूसरे से जोड़ती है। रेणुजी पहले कथाकार थे जिन्होंने भारतीय उपन्यास की जातीय सम्भावनाओं की तलाश की थी; शायद सजग रूप से नहीं; शिल्प और सिद्धान्त के स्तर पर तो अवश्य ही नहीं; बल्कि एक ऐसे रचनात्मक स्तर पर जहाँ ज़िन्दगी का कच्चा माल स्वयं कलाकार के हाथों अपने प्राण, जो फ़ॉर्म का दूसरा नाम है, खींच लेता है, ताकि वह एक नये खुले, मुक्त ढाँचे में साँस ले सके। फ़ॉर्म की असली उपलिब्ध इसी प्राणवत्ता में निहित है—बाक़ी सब प्रश्न तकनीकी और शिल्प के हैं, आलोचकों की बहस का विषय ज़रूर हों, कलाकार का उनसे कोई नाता नहीं।

मैं रेणुजी की मृत्यु को असामयिक नहीं कहूँगा। हर मृत्यु एक तरह से असामयिक होती है, क्योंकि ज़िन्दगी का कारोबार किसी बिन्दु पर पूरा नहीं होता, किन्तु ख़ास इस दौर में—इमरजेंसी की यातना के बाद उनका अचानक हमारे बीच से चला जाना बहुत क्रूर और असहनीय जान पड़ता है। यह उनकी विजय का क्षण था और वह नहीं हैं।

---

देवीशंकर अवस्थी

# चारु चन्द्रलेख : एक टूटा दर्पण

दिक्काल की माप में अघोरनाथ ने चन्द्रद्वीप की उपत्यका में चन्द्रगुहा के पिछले हिस्से में उट्टंकित वृत्त की जो प्रतिलिपि प्राप्त की, उसका काल है ईसा की बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी और घटनास्थल है आर्यावर्त—आज का उत्तरी भारत। यों उसमें प्रसंगतः मध्य एशिया, चीन, तिब्बत, किरात आदि देशों के रोचक विवरण हैं और केवल प्रसंगतः आ गई संज्ञाओं से कुछ अधिक ही हैं। कथा में राजनीति के दाँवपेंच हैं; प्रजातन्त्र का जयघोष है, तान्त्रिक और बौद्ध साधनाओं की मनोवैज्ञानिक व्याख्याएँ हैं; सिद्धों की सिद्धियों का चमत्कार है; गोरखनाथ के योग का प्रताप है; पटुनटकलाचपल कृष्ण की लीला का गान है; सामन्ती समाज-व्यवस्था पर प्रकाश है; रणनीति की विवेचना है; देश में सोने के रिज़र्व स्टाक की समाप्ति की घोषणा है और मुद्रास्फीति की समस्या है; विदेशी आक्रमण है; इस्लाम की विशिष्टता भी है और देशप्रेम की पुकार भी; आश्लेष में लेटी हुई बाहुएँ भी हैं और तलवार भाँजती हुई भुजाएँ भी। इसमें कोटिबेधी रस भी है और मर्मभेदी दृष्टि भी; अमोघवाक् भविष्यवाणियाँ भी हैं और पृथ्वी से पराजित होने वाले ग्रह-नक्षत्र भी। *चारु चन्द्रलेख* में भारतवर्ष की मोहक प्रकृति—वन, लता, वृक्ष, पुष्प, पर्वत, उपत्यका, चाँदनी, सूर्योदय—है और है कालिदास की कविता और उस कविता की व्याख्या। भाषाविज्ञान के विद्यार्थियों के लिए भी सामग्री है और चीनी आक्रमण के सन्दर्भ में यह भी जानने योग्य है कि शानवंश के प्रतापी राजाओं की एक लाख सेना को सिर्फ़ पाँच हज़ार विदेहों ने समाप्त कर दिया था और तिब्बत असल में हमारा ही है। अस्तु, इसमें अतीत का इतिहास है, वर्तमान के विचार हैं एवं भविष्य के लिए सन्देश है, और इस अर्थ में काल के एक खण्ड में सीमित न रहकर कथा 'त्रिकालव्यापिनी' हो जाती है—त्रिजगन्मनोज्ञा त्रिपुरसुन्दरी की भाँति।

देश और काल में ही नहीं, रूप और प्रकृति में भी इतनी फैली-बिखरी सामग्री को समेटनेवाली कथा के लिए इतिहास के प्रामाणिक स्रोत हैं : कुछ पुराने ग्रन्थों में मिलने वाली कथाएँ, कुछ साधनाग्रंथों के कर्मकाण्ड सम्बन्धी श्लोक, और दर्शन की चर्चा करने वाले ग्रन्थों के कुछ विचार। इतने क्षीण कथासूत्रों की वयनचेष्टा लेखक

की शक्ति और साहस का प्रमाण है और उस कल्पना को बधाई दी जानी चाहिए जो इस असाध्य साधन जैसे कार्य के लिए उन्मुख हुई। कथातत्त्व की कमी के सन्दर्भ में यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि कथानकतत्त्व का यह ह्रास आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासों से भिन्न प्रकृति और कोटि का है। यहाँ कथा में बाह्य वस्तुनिष्ठता बराबर रही है—कथा की बुनावट अन्तःप्रयाण पर आधारित नहीं है। *चारु चन्द्रलेख* में द्विवेदीजी की कल्पनाशक्ति को खुलकर खेलने का अवकाश मिला है। मुख्य कथा की क्षीणता को लेखक की उर्वर कल्पना ने अनेक ऐतिहासिक प्रसंगों, प्रसंगच्युत रोचक कथाओं, प्रकृति सुषमा, उद्बोधनात्मक विचारों आदि से पृथुलता में परिवर्तित करने की चेष्टा की है। अस्तु इस चेष्टा में कल्पना भागती गई है—बगैर शिल्प पर विचार किए, ठोस परिस्थितियों पर विचार किए कथा की संभावनाओं प्रतीतियों एवं मूल्यसत्ता पर विचार किए। कल्पना ने पीछे मुड़कर नहीं देखा कि कितनी धरती वह रौंद आई है—ठीक अपने नायक सातवाहन के समान, जो भटक जाने पर अलहना से कहते हैं : "लौटना कठिन है। लौट नहीं सकते। लौटना क्रिया ही ग़लत है। कोई नहीं लौटता। कभी नहीं लौटा जाता। लौटना निरर्थक पद है। ..तुम नहीं जानते अलहना, बिना सोचे-समझे बहुत दूर बढ़ गया हूँ। पीछे का रास्ता मिटता जा रहा है, आगे का सूझ नहीं रहा।" लगता है कि उपन्यास में भी इसी प्रकार 'मंगोलिया या तिब्बत' जैसी अनेक यात्राएँ व्यर्थ में भटका कर सम्पन्न करा दी जाती हैं। पीछे का तमाम गड्डमड्ड होता जाता है, एक स्पष्ट, साफ़ और संगत तस्वीर नहीं उभरती। उपन्यास के अन्त में आकर तमाम दर्शन, व्याख्याएँ, चेष्टाएँ प्रणयप्रसंग सब डूब जाते हैं—एक अन्धकार में। वह अन्धकार है इतिहास के इस प्रखर यथार्थ का। वह युग असफल है, वंध्य है। इस बात के अतिरिक्त लेखक जो कुछ कहना चाहता है वह प्रसंगानुकूल नहीं बन पाता या फिर 'जनवाद' आदि की 'थीमें' अधकचरी, अर्धमुक्त तथा वायवी बनी रह जाती हैं। अन्तिम अध्याय की ट्रेजेडी अवश्य कुछ न कुछ संकेतित कर जाती है, उस पूरे युग की व्यर्थता को। वहाँ क्रियाशक्ति मैना मृतप्राय है, इच्छाशक्ति रानी चलने में पंगु है तथा बोधशक्ति बोधा भयभीत और पलायनशील है। त्रिपुर की इस ट्रेजेडी को लेखक एक सीमा तक झेल सका—उसने कामायनी जैसा कोई काल्पनिक समाधान देकर विश्रान्ति का अनुभव नहीं करना चाहा—लेखक की रोमेंटिक कल्पना के लिए इतनी शक्ति और यह सफलता भी गणनीय मानी जानी चाहिए। हमारे साहित्यकार की यथार्थदृष्टि गहरी हुई है—इससे इतना संकेत तो मिलता ही है। पर जितने बड़े कैनवास में जितनी बड़ी बात व्यंजित करने की चेष्टा की गई थी, वह सफल नहीं होती।

अस्तु, कथा के जिस कच्चे माल की ओर हम ऊपर संकेत कर आए हैं उसे सरसरी तौर पर भी देखकर इतना तो कहा ही जा सकता है कि वह हीन नहीं है,

शक्ति की सम्पूर्ण सम्भावनाओं से युक्त है और स्थूल घटनापरकता से लेकर उच्चतम बौद्धिक विचारणाओं के लिए सक्षम है। इन तथ्यों के माध्यम से जो थीम उभरेगी उसे सबल होना चाहिए। पर एक दूसरी बात, जो यहाँ याद रखनी होगी, यह है कि ये तथ्य तो 'ऐब्स्ट्रैक्ट' है, निष्क्रिय है; इनके लिए दृढ़ कथासूत्र में विविध 'आब्ज़ेक्टिव कोरिलेटिव्ज़' होने चाहिए। पर लगता है कि मूलतः लेखक से चूक इसी बिन्दु पर प्रारम्भ होती है। कथा के अन्तर्गत संगत 'आब्ज़ेक्टिव कोरिलेटिव्ज' की खोज वस्तुतः शिल्प की खोज है और द्विवेदीजी के मन में शायद कहीं यह विद्यमान है कि कथ्य--यानी विचार या भाव--महान होना चाहिए; शेष सब गौण है। इस दृष्टिकोण के कारण सम्पूर्ण सामग्री से अपने को तटस्थ कर वे शिल्प के माध्यम से उसका विश्लेषण और विकास नहीं कर सके, उसकी तमाम निहित सम्भावनाओं का अन्वेषण भी नहीं कर सके तथा जो सबसे अधिक आवश्यक कार्य था, उसका मूल्यांकन--वह भी नहीं हो सका। यह कार्य शिल्प के माध्यम से ही सम्भव होता है और मेरा यह आरोप है कि लेखक को शिल्प के द्वारा अपनी सामग्री या विषयवस्तु की जो परिचर्या करनी थी, वह नहीं कर सका। इसे निष्ठा का अभाव भी कहा जा सकता है। परिणामस्वरूप प्रस्तुत उपन्यास में कच्चे माल का जिस परिणत कथावस्तु (अचीव्ड कांटेंट) में रूपान्तरण होता है वह सन्दिग्ध है। एक महत्त्वपूर्ण समीक्षक द्वारा लिखे जाने वाले उपन्यास में यह अनवधानता कुछ विचित्र-सी लगती है। इसीलिए यह सन्देह करना बहुत अनुचित होगा कि लेखक ने जो कुछ कहना चाहा है, उसका एक बहुत बड़ा अंश उसके अपने 'प्रामाणिक' अनुभव का अंग नहीं है--विचार और पाण्डित्य का भले ही हो। परिश्रमपूर्वक की गई ऐतिहासिक खोजों से प्राप्त घटनाओं, दृश्यों, कथाओं आदि को उपन्यासकार ने अत्यन्त वैयक्तिक व्याख्या देने की चेष्टा की है। इस प्रयत्न में जो ढाँचा खड़ा हुआ है उसमें 'शोध' और 'व्याख्या' का विचित्र मिश्रण हो गया है। इस ढाँचे को देखकर किसी रिसर्च प्रोजेक्ट की संवेदनशील रिपोर्ट याद आ जाए तो अस्वाभाविक न होगा। यह तथ्य भी इसी बात की ओर संकेत करता है कि कथा के एक बड़े अंश की अनुभवगत 'प्रामाणिकता' सन्दिग्ध है--अगर असन्दिग्ध हे तो पाण्डित्य का विलास। अस्तु, इस अंतर्योजना (स्ट्रक्चर) की जो बुनावट है, उसमें एक ओर तो इतिहास की घटनाओं, शब्दों, पिछले विचारकों के कार्यों, मंदिरों, मठों, संस्कारों, कर्मकाण्ड विधियों आदि की अद्‌भुत आग्रही प्राचीनतावादी दृष्टि (ऐंन्टीक्वैयरिनिज़्म) है और इन्हीं 'परिस्थितियों' के घातप्रतिघात में पात्रों के स्वभाव को ढलता दिखाया गया है; और दूसरी ओर इनके 'परिणाम' चित्रित करने में द्विवेदीजी एक आत्मनिष्ठ द्रष्टा बन गये हैं। इस प्रक्रिया में उन्होंने जिन चित्रों को ऐतिहासिक यथार्थ की पूरी वास्तविकता के साथ स्थापित करना चाहा था, उन्हीं पर आधुनिक विचारों एवं व्याख्याओं की एक नई और नितान्त काल्पनिक

डिजाइन थोप दी है। इस प्रसंग में अपने देश के उन पुरुत्थानवादी प्रचारकों की याद आती है जो हर पुरानी रीति की कोई न कोई वैज्ञानिक व्याख्या ढूँढ़ निकालते थे–कान में जनेऊ चढ़ाने से लेकर पैर में बिछिया पहनने तक। अस्तु, इस योजना के परिणामस्वरूप कथा का स्वरूपगुण अनाटकीय, स्थित्यात्मक एवं निष्कर्षवादी हो गया है।

इसे यों भी कहा जा सकता है कि इस उपन्यास की कथा-पद्धति चित्रसमीक्षक की प्रणाली जैसी है। पात्रों को अतीत की गैलरी में निश्चित चित्रों की भाँति उनके निश्चित स्थानों में टाँग दिया जाता है और परवर्ती इतिहास के आलोक-बिन्दु पर खड़े होकर उनकी समीक्षात्मक परीक्षा की जाती है और अन्तिम भाग में पुनः सबको उतारकर उनके वास्तविक स्थान–असफलता के अन्धकार–में भेज दिया जाता है। विद्याधर, धीर शर्मा, अक्षोभ्य भैरव, अमोघवज्र, बोधा, नाटी माता, रानी चन्द्रलेखा आदि ऐसे ही पात्र हैं जिन्हें राजा सातवाहन रूपी कलासमीक्षक–जो कि कथा का नैरेटर भी है–परखता जाता है और अपनी टिप्पणियाँ देता जाता है। इन पात्रों की पारस्परिक तनाव प्रतिक्रिया पूरे उपन्यास में नगण्य है–मैना अवश्य इस दिशा में अपवाद है। इस पद्धति का परिणाम यह हुआ है कि अभिप्रेत (मोटिवेशन) और संवादों का योग चरित्रविकास में कम है ही–प्रमुख कथानक का भी इस कार्य के लिए उपयोग कम ही हुआ है। मोहसाधना, चन्द्रलेखा के जन्म का परिचय, जयित्रचन्द्र-चन्देलकन्या प्रणयप्रसंग, चन्द्रलेखा के विक्षुब्ध चित्त से उत्सारित सिद्धिचमत्कार, अमोघवज्र का सातवाहन के सम्मुख वक्तव्य आदि जिन इतर कथाओं और वक्तव्यों का योग मुख्यतः वातावरण को सघन बनाने में होता है, उन्हीं का आरोपण या आवेश चरित्रों पर भी हुआ है। इसी कारण पूरे उपन्यास में यदि कोई दृष्टिबिन्दु है तो वह इस वातावरण में ही देखा जा सकता है, चरित्रों की सत्ता में नहीं। वे या तो नितान्त भावुक प्रतिक्रियाएँ करते हैं, या फिर कुछ अरूपताओं के उदाहरण बन जाते हैं।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि हजारीप्रसादजी की कथा-कल्पना की सारी कठिनाई उस द्विधाविभक्ति की है जिसमें वह अतीत के प्रति प्रामाणिक बने रहते हुए भी पूरे के पूरे वर्तमान समाज का रूपान्तरण करना चाहते हैं। अपने सामयिक बोध के आधार पर अतीत को देखना एक बात है और अतीत की ऐसी व्याख्या की चेष्टा कि जिसमें पूरा का पूरा वर्तमान वहीं प्रतिष्ठित हो जाए–गुणात्मक रूप से भिन्न, दूसरी बात है। यह तो मैं नहीं कहूँगा कि यह कार्य असम्भव है–बड़ी प्रतिभा सदा असाध्य साधन करती आई है–पर यह अवश्य कहूँगा कि इस चेष्टा में कथा का सारा ढाँचा चरमरा उठा है। या प्रतिभा आदि की चर्चा न करके यह कहूँ कि इतने बड़े लक्ष्य तथा फलक के लिए जिस प्रकार की कलादृष्टि और कथासंगठन की अपेक्षा थी, वह संभव नहीं हो सका। कथा का सारा ढाँचा चरमरा ही नहीं उठा है, वर्तमान के रूपांतरण के नाम पर एक प्रकार का अरूपीकरण (ऐब्स्ट्रैक्शन) प्रमुख हो गया है।

किसी भी ऐतिहासिक कथाकार के लिए यह याद रखने की बात होती है कि चाहे इतिहास की घटनाएँ हों या धर्मों, राष्ट्रों अथवा व्यक्तियों की नियतियाँ हों, उनका एक स्वाभाविक, वस्तुनिष्ठ वज़न होता है और एक साथ ही एक प्रकृत और वस्तुनिष्ठ अनुपात भी। यदि लेखक ऐसी कथा लिखने में सफल होता है जो कि ठीक से इन सम्बन्धों और अनुपातों को उत्पन्न करती है तो ऐतिहासिक सत्य के परिपार्श्व में मानवीय और कलात्मक सत्य अपने आप उभर आएगा। पर यदि उनके वज़न और अनुपात को विरूप किया गया तो कलात्मक चित्र भी उतना ही विरूप हो जाएगा। जनपद-पार्वती चन्द्रलेखा का सिद्धयोगिनी चन्द्रलेखा में जो संक्रमण है, वह ऐसे ही विरूपीकरण का उदाहरण है। मनुष्य के रोग-शोक, कष्ट-दुख, युद्ध, हिंसा आदि के किसी वस्तुनिष्ठ वज़न और अनुपात की कोटियों की रक्षा किये बिना यह जो धर्म परिवर्तन है वह चोट पहुँचाता है—केवल पाठक को ही नहीं, जाति की उस सम्पूर्ण वेदना को भी जिसे इस रूपान्तरण के लिए आधार बनाया गया है। कहना न होगा कि कला या शिल्प की दृष्टि से भी यह उपन्यास के सबसे कमज़ोर अंशों में से है। वस्तुतः ऐतिहासिक दृष्टि की कमज़ोरी पूरे कलानुभव की कमज़ोरी है, और कलानुभव की कमज़ोरी पूरे शिल्प की कमज़ोरी है।

इस पहचान की प्रशंसा की जानी चाहिए कि लेखक ने अपनी कथा के लिए जिस दिक्काल को चुना, वह वर्तमान के प्रक्षेपण के लिए बहुत कुछ उपयुक्त प्रतीत होता है। यह हमारे इतिहास का एक ऐसा अन्ध युग है जिसमें नाना प्रकार की अपरिभाषित परिस्थितियों की भरमार है। इस अपरिभाषित परिस्थितियों में एक बड़ी सीमा तक इतिहास के वातावरण की प्रामाणिकता को खण्डित न करते हुए भी काल्पनिक कथा की तरलता को अधिक मनमाने ढंग से ढालने की संभावनाएँ अधिक थीं। पर यह रूपान्तरण जीवन्त तभी हो सकता था जबकि कथा की अन्तर्योजना और बुनावट के अन्तर्गत ठोस मानवीय स्थितियों को सिरजा जाता और ये स्थितियाँ इतिहास की कोटियों के भीतर बनी भी रहतीं। मुझे लगता है कि प्रस्तुत उपन्यास में इन मानवीय परिस्थितियों का जीवन्त रूपायन नहीं हो सका—वर्णन भले ही हो। अतीत और वर्तमान के मध्य लेखक जिस सम्बन्ध सूत्र को जोड़ता है वह अत्यधिक प्रत्यक्ष है, अत्यधिक बौद्धिक है, तथा अत्यधिक सामान्यीकृत है। देखिए, रानी चन्द्रलेखा यह भाषण दे रही है :

**"महाराज,**

सैनिकों में उत्साह है, यह शुभ लक्षण है, परन्तु मैं जानना चाहती हूँ कि साधारण प्रजा क्या सोच रही है ! मैं ग्राम-बालिका हूँ। जनपद के लोगों को जानती हूँ। उन्हें इन युद्धों से भय होता है, वे इस राजा या उस राजा की जीत भी चाहते हैं, परन्तु

समूचे देश को अपना समझकर समयोचित उपचार वे नहीं जानते। उनमें प्रतिरोध की भावना ही नहीं होती। वे समझते हैं, राज्य राजा का होता है। एक राजा जीतता है, दूसरा हारता है। जो जीत गया उसका राज्य होता है। केवल सैनिक बल ऊपर ऊपर का बल है। कुछ ऐसा होना चाहिए कि इस जीत या हार को प्रजा अपनी जीत या हार समझे। युद्ध हो, दूसरा उपाय नहीं है, पर युद्ध का उद्देश्य बड़ा होना चाहिए। आप लोग इसके लिए क्या कर रहे हैं ?"

क्या इस उद्धरण को पढ़ने के बाद भी यह बताने की आवश्यकता है कि यह सिद्धान्त कथन है, सामान्यीकरण है; कि इस सिद्धान्त का रूपान्तरण ठोस मानवीय सम्बन्धों की इकाइयों में नहीं हो सका है। रूपान्तरण यदि कोई होता है भी तो सिद्धान्तकथन का उष्ण वाक्स्फीति में। देखिए :

"वीरो,

पश्चिम द्वार के कपाट-रूप शाकंबरी-नरेश पृथ्वीराज समाप्त हो गये, उत्तरापथ के एकच्छत्र सम्राट दलपंगुर महाराज जयित्रचन्द्र बालू की भीत की तरह ढह गये और प्रबल पराक्रमी चन्देल नरेश परमर्दिदेव विदेशी आक्रमण की आँधी में कूलद्रुम की भाँति भहरा गये।

इतनी बड़ी पराजय के बाद किस बल पर अवन्तिका के क्षीणबल राजा सातवाहन दुर्गतिग्रस्त प्रजा की रक्षा का साहस कर सकते हैं ? चारों ओर केवल अन्धकार ही अन्धकार दिखाई दे रहा है। महामन्त्री विद्याधर भट्ट अपनी अगाध विद्या का अभिमान खो चुके हैं। मृतकों में भी प्राण संचार करने वाले जगन्नायक भट्ट वीर छन्दों में लिखी ओजस्वी कविता का अभिमान छोड़ चुके हैं। समस्त शास्त्रों को हस्तामलक की भाँति देखने वाले धीर शर्मा अब सब ओर से निराश होकर असुर-शिरः सरोवर-विहारणी चण्डिका के चरणकमलों की ओर उन्मुख हो गये हैं। सर्वत्र निराशा और हतदर्पिता का भाव छा गया है। ऐसे अवसर पर इस पवित्र भूमि की रक्षा के लिए कौन-सा उपाय सोचा जाये ? वीरो, राजाओं का युद्ध समाप्त हो गया। अब कहीं आशा है तो प्रजा की संगठन शक्ति में है। मैं तुम्हें उसी शक्ति को उद्बुद्ध करने के लिए आमन्त्रित करती हूँ। वीरो, रणक्षेत्र के लिए प्रस्थान करो, तुम्हारी संख्या बहुत कम है, तुम्हारे पास युद्ध करने की सामग्री का अभाव है, किन्तु रानी चन्द्रलेखा तुम्हें आश्वासन देती है कि तुम्हें निराश नहीं होना पड़ेगा, मैं तुम्हारे पीछे प्रजावर्ग को संगठित करने जा रही हूँ। वीरो, सच्चे धर्म के लिए लड़ो। हार और जीत इतिहास-विधाता के इंगित के अनुसार होनी है।"

यह छठे अध्याय का अन्तिम अंश है। और सातवें अध्याय का वाक्य प्रारम्भ होता है : "रानी की योजना चरितार्थ हुई। समस्त मालव जनपद में एक अद्‍भुत नवजीवन जाग उठा। शत्रु को लौट जाना पड़ा।" यह अंश पुनः एक अल्प कथन है, जीवंत कोटियों में रूपायन नहीं।

वस्तुतः ऊँच-नीच, धर्म-संप्रदाय, कुल मिथ्याभिमान को मिटाकर जिस जनतान्त्रिक मानवतावाद को वह मुख्य कथ्य के रूप में स्वीकार करता है, उसके प्रति एक ऊँचे ऐब्स्ट्रैक्शन के स्तर पर लेखक अभिमुख होता है। परिणामस्वरूप कथा की तमाम चारित्रिक इकाइयाँ और घटनाएँ अरूप हो जाती हैं। *चारु चन्द्रलेख* के प्रारम्भ को लें--उपन्यास का प्रारम्भ ही विदेशी आक्रमण की एक कथित अरूप स्थिति से होता है, जिसमें नायक एक अरूप व्यक्ति सीदी मौला को ढूँढ़ने निकलता है। फिर रानी से मिलन, विवाह आदि एक अठोस, अरूप वातावरण में ही सम्पन्न होते हैं। यह अरूपता कहीं नागनाथ की तपस्या के वर्णन में है, कहीं नारी के बत्तीस लक्षणों की व्याख्या में झमाझम निकलने वाले श्लोकों के रूप में और कहीं विद्याधर के ओजस्वी व्याख्यान के रूप में। विदेशी आक्रमण के 'ऐब्स्ट्रैक्शन' की परिणति जनता को जगाने की जिस योजना में होती है, उसकी चर्चा भी हम ऊपर कर आए हैं। इस अरूपता तक ही बात सीमित नहीं रहती—इसके आगे गधैयाताल के प्रसंग में जिस पाण्डित्य का प्रदर्शन है, वह इस अरूपता को और अधिक वायवी बना देता है। राजा और रानी ही नहीं, विद्याधर, वोधा, गोरख, अमोघवज्र, सीदी मौला, नाटी माता सभी इसी प्रकार के बौद्धिक रूप से 'ऐब्स्ट्रैक्ट' और आदर्शीकृत पात्र हैं। ये पात्र जीवन कम जीते हैं, दर्शन या विचार को अधिक जी लेते हैं। कारण शायद यही है कि ये पात्र लेखक के अपने उन आधुनिक मानवतावादी विचारों तथा जनतांत्रिक आदर्शों के विग्रह हैं जिन्हें वह स्वयं अस्वीकार करता है या जिनके लिए संघर्ष करना श्लाघ्य समझता है, परन्तु ये सभी स्वयं उसके लिए वर्तमान सन्दर्भ में ऐब्स्ट्रैक्ट ही हैं। फलतः ऐतिहासिक अनुभव की तात्कालिकता इन पात्रों से तिरोहित हो जाती है; क्योंकि जीवन में ये समस्याएँ बिखरी और छिटपुट होती हैं तथा एकदम वैयक्तिक रूपों में प्रकट होती हैं, जिन्हें ये पात्र सामान्यीकृत करके एक ऊँचे बौद्धिक स्तर पर अभिव्यक्ति देते हैं। और इस प्रकार यह बौद्धिक सामान्यीकरण ऐतिहासिक चरित्र को कमज़ोर करता है।

तात्कालिक इतिहासानुभव की बौद्धिक परिणति का रास्ता इतना सँकरा, छोटा और अरूप है कि सम्पूर्ण प्रक्रिया राजा सातवाहन जैसे एक व्यक्ति में घटित होने लगती है। परिणामस्वरूप यह तात्कालिक अनुभव अपनी उसी विस्तृत और अनेकरूपता के उन पात्रों द्वारा नहीं भोगा जाता जिनके पास सामान्यीकरण का यह व्यापार नहीं है। विदेशी आक्रमण या धर्मसाधनाओं के प्रति इन पात्रों की प्रतिक्रिया

को लेकर इस बात को देखा जा सकता है कि प्रस्तुत उपन्यास में विदेशी आक्रमण के प्रति विभिन्न पात्रों की प्रतिक्रियाओं में न वह विविधता है और न बहुरूपता, जो प्रत्येक पात्र की सीधी, निजी प्रतिक्रिया से उत्पन्न होती है। फलतः युद्ध द्वारा उनकी ज़िन्दगियों की जो परिणति होती है, वह उनकी भावनाओं और अनुभवों में व्यंजित नहीं होती। जो प्रतिक्रियाएँ होती हैं उनमें कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं लगता। इसी के सन्दर्भ में तॉल्स्तॉय के उपन्यास *युद्ध और शान्ति* के फ्रेंच आक्रमण को लिया जाए तो स्थिति इसके विपरीत दिखाई देती है।

यही नहीं, *चारु चन्द्रलेख* में इस सँकरे रास्ते को और सँकरा कर दिया गया है, आत्मकथात्मक पद्धति के द्वारा। राजा यहाँ नायक भी है और 'नैरेटर' भी; अतः सारी प्रतिक्रियाओं का बोझ उसे ही सँभालना पड़ा है। हर स्थान और हर परिस्थिति में उसे एक समुचित ऐतिहासिक प्रतिक्रिया देनी पड़ती है। प्रतिक्रियाओं का इतना बोझ सामान्यीकरण के लिए विवश करता है। इस प्रकार अनुभव और सामान्यीकरण के मध्य का संक्रमण पथ और अधिक संकीर्ण हो जाता है; तथा जिन स्थानों में (यथा विष्णुप्रिया के आश्रम में मैना और बोधा की बातचीत के समय, या विद्याधर से अतीत की घटनाओं को सुनते समय) जब वह प्रतिक्रिया नहीं करता, मात्र अनुभव करता है, तब उन स्थानों में उसका चरित्र अपने ही स्तर से नीचे गिर जाता है क्योंकि प्रारम्भ से ही उसने ऐब्स्ट्रैक्शन के माध्यम से ही अपनी हैसियत को बनाए रखा है। वस्तुतः यहाँ जो पदार्थ खोए हुए हैं वे हैं अस्तित्व के ठोस तथ्य—और केवल वे ही लेखक को बता सकते हैं कि किसी युग के किसी पात्र के विचार, अनुभव या संवेदनाएँ क्या हो सकती हैं। इसका परिणाम है कि इन पात्रों के आन्तरिक मानसिक जीवन के उद्घाटन में भी किसी प्रकार की वस्तुनिष्ठता या तीखी चरित्रवत्ता की स्थापना नहीं हो सकी। हम कह चुके हैं कि राजा सातवाहन को 'नैरेटर' का पद देकर उसे एक ऐसा ऐतिहासिक दायित्व सौंप दिया गया है कि वह अपनी प्रतिक्रियाओं के माध्यम से उन चरित्रों की बात बता दे। वह एक ऐसा 'कार्डियोग्राम' है जो अन्य हृदयों की धड़कनों के 'ग्राफ़' अंकित करता चलता है। इस प्रक्रिया में उसका अपना कोई क्रियाशील व्यक्तित्व ही नहीं रह जाता। वह तो हर 'प्रभाव' के लिए खुला है; और जहाँ हर प्रभाव के प्रति खुलापन होता है, लगता है कि वहाँ अन्ततः कोई प्रभाव ही नहीं रह जाता। राजा का यह कथन स्वयं इस बात का प्रमाण है :

"हम तीनों (राजा, रानी और विद्याधर) के तीन लक्ष्य थे जो थोड़ी दूर तक एक रास्ते से चलने पर मिल जाते थे। इसी बीच मिले बोधा, विद्याधर भट्ट के अनुगत, मुझे सहायक समझने वाले। मिली मैना, रानी की प्रिय सहचरी, पर उनकी साधना से एकदम असहमत। वह मुझे सहायक के रूप में नहीं ग्रहण करती। उसने न जाने कैसे और क्यों अपने को मेरा रक्षक मान लिया। बाधा मैंने किसी को नहीं दी।

मुझे इस विभिन्न लक्ष्य के यात्रियों को साथ लेकर चलना है। कभी-कभी मैं स्वयं अपना प्रतिवाद-सिद्ध हुआ हूँ। रानी मुझसे भी अधिक सिद्ध हुई है। विद्याधर भक्त दृढ़ हैं। मैना भी सुना है, दृढ़ है। विचित्र योग है। राजा और रानी दोनों ही स्वतोविभक्त हैं, जो लोग अपने को उनका अनुगत मानते हैं, वे दृढ़ हैं।''

करे भी वह क्या : कर्तृत्वशक्ति उसने मैना को दे रखी है और इच्छाशक्ति रानी को तथा बोधशक्ति शायद बोधा को ! वह तो माध्यम हो जाता है दूसरों के विचारों तथा भावनाओं का। रानी के मानसिक जगत के उद्घाटन के लिए लेखक ने मनोविज्ञान की अपसारण प्रक्रिया को अपनाकर जो लेख लिखवाया है उससे वस्तुतः रानी के चेतनाप्रवाह का पता कम लगता है, कथानक को फैलाने, साधनाओं का परिचय देने, सिद्धियों का चमत्कार बताने, दार्शनिक-मनोवैज्ञानिक व्याख्याएँ देने का कार्य अधिक लिया गया है। और इस प्रकार इस आलेख का उपयोग कथा के वातावरण को अधिक सघन और सान्द्र बनाने में किया गया है। प्रसंगतः एक बात याद आती है कि द्विवेदीजी ने कहीं लिखा था कि आधुनिक उपन्यासकार यथार्थवाद से भयभीत है। द्विवेदीजी स्वयं भयभीत होकर चन्द्रलेखा के इस लेख में वर्णित चमत्कारों को एक समसामयिक विश्वसनीय आधार देने के लिए अमोघवज्र से कहलाते हैं कि यह सब ''चन्द्रलेखा के भयत्रस्त चित्त के विक्षोभ से निकली अद्भुत सिद्धि कथाओं का श्रवण है।'' पर जैसा कि मैं कह चुका हूँ, इस वर्णन से पात्र की आन्तरिकता की बजाय कथा के वातावरण का ही स्पष्टीकरण अधिक हुआ है। अरूप सिद्धान्तकथन, ऐब्स्ट्रैक्ट प्रतिक्रियाओं से अलग जीवन्त मानसिकता जिस पात्र में मिलती है, वह है क्रियाशक्ति की प्रतीक मैना। क्या इससे यह न समझा जाए कि वस्तुनिष्ठ कर्मशीलता ही वास्तविक रूप से मानसिक जीवन को समृद्ध करती है ? मैना में तीव्र संवेदना है, पर वह संवेदना प्रतिक्रियाशील न होकर क्रियाशील होने की है—क्रियाशील जीवन्त मानवीय इकाई के रूप में। सम्भवतः इसी कारण सारे अरूप सिद्धान्त कथन करने वाले पात्र उसके सम्मुख हतप्रभ हो उठते हैं। राजा, सीदी मौला, विद्याधर, यहाँ तक कि बोधा भी उसके तर्क की चोट सम्भाल नहीं पाते। कारण यही है कि वह समस्याओं का अरूपीकरण नहीं करती; उन्हें सीधे मुँह पकड़ती है। वस्तुतः समस्त उपन्यास का सर्वाधिक जीवन्त और सम्भावना समृद्ध पात्र यही है और जितने अंशों में वह कथा में रहती है उसे अनुभव की 'प्रामाणिकता' भी दिए रहती है, साथ ही मानवीय साक्षात्कार की ऊष्मा भी। और यह आश्चर्य की ही बात है कि बात-बात पर उच्छ्वसित होकर वाक्स्फीति के विलास में निमग्न रहने वाले द्विवेदीजी इस पात्र के मानसिक द्वन्द्व के चित्रण में कहीं अधिक संयमशील दिखते हैं—लगता है कि पात्र अपने निर्माता से बड़ा हो गया है। जहाँ बोधा से महाराज सम्बन्धी अपने अनुराग

और नैतिक द्वन्द्व की चर्चा करती हुई वह बोधा से अनुरोध करती है कि वह नारी विग्रहरूपी फूल को आत्मदान के गंगाजल से रोक लें, वही उपन्यास का सबसे अधिक अनुभूत्यात्मक अंश है। मुझे लगता है कि यह एक ऐसा पात्र था जिसके माध्यम से लेखक की उद्दिष्ट 'थीम' राष्ट्र की नियति, अधिक शक्ति के साथ उजागर की जा सकती थी। यद्यपि लेखक उसकी समस्त संभावनाओं को भास्वर नहीं कर सका और एक प्रकार के रोमैन्टिक शरदचन्द्रीय प्रेम में उसकी परिणति हो जाती है; परन्तु इसके बावजूद उसमें जिन सम्भावनाओं का बीज प्रारम्भ से ही पड़ गया था वे मरते-मरते राष्ट्र की नियति से भी अप्रत्यक्ष रूप से जुड़ जाते हैं। अन्ततः उस युग की असफलता के चित्र में उसके दोनों कार्य--शाह को मारना और स्वयं मरना--अन्तिम कारण बनते हैं। पर जिस आत्मकथात्मक शिल्प को लेखक ने अपनाया था उसमें इससे अधिक की सम्भावनाएँ कम दिखती हैं।

आत्मकथात्मक शिल्प की सीमाओं की ओर कुछ इंगित मैं पहले भी कर चुका हूँ। यहाँ पर इस सन्दर्भ में *बाणभट्ट की आत्मकथा* का स्मरण स्वाभाविक भी होगा और संगत भी। वह इसलिए कि इसके द्वारा प्रस्तुत उपन्यास की असफलता को और अच्छी तरह समझा जा सकेगा। इसके अतिरिक्त जब मैं यह सवाल करता हूँ कि *चारु चन्द्रलेख* जैसे उपन्यास में, जो कि एपिक अभिप्रायों को लेकर चला है, आत्म-कथात्मक शिल्प क्यों अपनाया गया, तो तत्काल जो बात दिमाग़ में आती है, वह यह कि एक बार *बाणभट्ट की आत्मकथा* में उसने इस शिल्प को सिद्ध करने में अद्भुत सफलता प्राप्त की थी—अतः प्रस्तुत उपन्यास के लिखने के समय भी अपने परिचित औज़ार का सहारा लेना स्वाभाविक हो जाता है। यह बात इस तथ्य से भी समर्थित की जा सकती है कि *चारु चन्द्रलेख* का प्रारम्भ 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के तत्काल बाद, काफ़ी दिनों पहले, हो गया था। फिर शायद कथा अधूरी पड़ी रही और उसे पूरा 1960-61 में किया गया। उन दिनों इस शिल्प को अपनाने में और अधिक आसानी हुई होगी। आत्मकथात्मक शैली रोमैन्टिक चेतना के अधिक अनुकूल होती भी है-अपनी आत्मनिष्ठता के कारण। इस सम्बन्ध में दोनों कृतियों की कुछ तुलना को उपादेय होना ही चाहिए।

दोनों उपन्यासों की भूमिका में व्योमकेश शास्त्री ने यह विश्वास दिलाना चाहा है कि कथा नहीं लिखी जा रही है बल्कि कहीं से प्राप्त दस्तावेज़ों को प्रस्तुत किया जा रहा है। परन्तु *चारु चन्द्रलेख* में इस घोषित रूप की रक्षा नहीं की जा सकी और उपसंहार में समीक्षक-लेखक कथा की 'प्रामाणिकता' के विषय में उठी शंकाओं का किसी न किसी प्रकार समाधान प्रस्तुत करता है--यह कहकर कि बहुत-सी बातें अघोरनाथ (जो आधुनिक विचारों के, पुरानी परिपाटी में शिक्षित, सिद्ध है) के समाधिस्थ चित्त में प्रतिफलित हुई हैं। *बाणभट्ट की आत्मकथा* के उपसंहार में भी कुछ

शंकाएँ उठाई गई हैं : पर ध्यान देने की बात है कि वहाँ शिल्प पर शंका नहीं है—शंका है 'कादम्बरी' और 'आत्मकथा' के भावगत अन्तर को लेकर। *बाणभट्ट की आत्मकथा* का शिल्प जो अधिक कसा हुआ लगता है वह इसलिए कि अपनी विषयवस्तु के प्रति पूरी तरह उन्मुख और तत्पर है। यों वाक्स्फीति, प्रसंगान्तर, पाण्डित्य प्रदर्शन, दार्शनिक-मनोवैज्ञानिक व्याख्याओं और वक्तव्यों के ऐब्स्ट्रैक्शन, आदर्शीकृत पात्रयोजना, भावुकता आदि जितने भी दोष *चारु चन्द्रलेख* में हैं वे सभी 'आत्मकथा' में भी विद्यमान हैं। पर इसके बावजूद 'आत्मकथा' महत्त्वपूर्ण और सफल कलाकृति है तथा *चारु चन्द्रलेख* अपनी असफलता में महत्त्वपूर्ण। मुझे लगता है कि 'आत्मकथा' मुख्यार्थ के जिस स्तर पर घटित होती है उसकी परिधि सीमित वैयक्तिक-पारिवारिक इकाई की है। राजनीति इस पारिवारिक-वैयक्तिक अर्थ को पुष्ट मात्र करती है। राष्ट्र की नियति का प्रसंग वहाँ अमुख्यार्थ रहता है, जबकि *चारु चन्द्रलेख* में राष्ट्र या जन की नियति मुख्यार्थ है जिसे कि वैयक्तिक-सीमित दायरे की कथा के माध्यम से व्यंजित करने की चेष्टा की गई है। कथा में बल के इस बदलाव के होते हुए भी लेखक ने शिल्प वही रहने दिया है। यहाँ तक कि तमाम कथानक रूढ़ियों और घटनाओं के पैटर्न ज्यों के त्यों विद्यमान हैं। एक कवि की आत्मकथा में उन बहुत-सी बातों का औचित्य सिद्ध हो जाता है जिन्हें कि *चारु चन्द्रलेख* में औचित्यहीन माना गया है। आत्मनिष्ठ द्रष्टा की तमाम व्याख्याएँ, प्रकृति, मानवशरीर, देवमूर्ति आदि की स्फीत ऐंद्रिक-चाक्षुप प्रतिक्रियाएँ आदि 'आत्मकथा' में भी चित्रित हुई हैं जिनका औचित्य उस कवि नायक के सन्दर्भ में है जिसका राजनीति के सक्रिय घटनाचक्र में पड़ना एक आकस्मिक संयोग मात्र है। *चारु चन्द्रलेख* के नायक की नियति दूसरी है--पर खेद है कि उसकी प्रकृति दूसरी नहीं हो सकती है। 'आत्मकथात्मक' शिल्प में लेखक का हाथ कितना ही क्यों न मँज चुका हो पर यह लेखक की या तो साहसहीनता है या कलादृष्टि की कमज़ोरी (और इन दोनों में बहुत अन्तर भी नहीं है) कि वह अपनी विषयवस्तु के अनुरूप शिल्प का प्रयोग नहीं कर सका। यह भी हो सकता है कि जितना प्रामाणिक अनुभव है उतना व्यक्तिनिष्ठ, सीमित और प्रेम-सम्बन्धी है तथा राष्ट्र की नियति, प्रजातन्त्र, मानवतावाद आदि ऊपर से आरोपित है। पर इन दोनों को सँभालने की चेष्टा में दोनों ही पदच्युत हो गये। बहरहाल, अनुभवबोध और मूल शिल्पबोध की इस निर्बलता को उसने स्वप्नों, स्मृतियों, इतिहास कथाओं, रोचक प्रसंगों और विवरणों द्वारा भरने की चेष्टा की है। कथातत्त्व की क्षीणता को वाक्स्फीति के द्वारा छिपाने की चेष्ट की गई है। यह वाक्स्फीति प्रकृति या मनुष्य के शोभावर्णन में प्रयुक्त हुई है तथा इसके माध्यम से कथा तो नहीं पर कथा के अभिप्रेत सन्देश को मुखर रूप में कहने की भी चेष्टा हुई है। और उपन्यास का जो कुछ अर्थ अंत में पाठक तक सम्प्रेषित होता है उसका बहुत कुछ श्रेय इस

तत्त्व को ही है। वस्तुतः इस उपन्यास के इस तत्त्व पर अलग से विचार भी किया जा सकता है। इन्हीं कारणों से ऊपरी तौर पर उपन्यास बड़े सचेष्ट शिल्प का आभास भी देता है–पर उसकी मूल शिल्पयोजना की असफलता के बारे में ऊपर मैं काफ़ी कुछ कह चुका हूँ। यहाँ पर इतना ही कि इस कथ्य के लिए यदि जीवनचरितात्मक पद्धति अपनाई गई होती तो शायद कम समस्याएँ खड़ी होतीं।

वस्तुतः द्विवेदीजी के समस्त औपन्यासिक शिल्प का मूल स्वर वैयक्तिक निवन्ध का है। वैसी ही उच्छल आवेगमयता, वैसी ही उड़ान, वस्तुओं के छिपे अर्थों को ढूँढ़ने की वैसी ही अभिभूत चेष्टा, प्रसंगच्युत टिप्पणियाँ तथा सूचनाएँ; पाण्डित्य का रेटॅरिक, संस्कारों आदि के प्रति अत्यधिक उन्मुखता, प्रामाणिकता प्रकट करने वाली व्याख्याएँ, एक ऐसा मुखौटा जिसकी आड़ से लेखक अपने संघर्ष और समस्याओं को व्यक्त कर सके आदि बातें उनके वैयक्तिक निबन्धों में भी हैं और इन उपन्यासों में भी वही अंश आए हैं। वस्तुतः यदि उनके ललित निवन्धों और उपन्यासों के 'ग्राफ़' बनाए जा सकें तो 'कर्व' के बिन्दु आसपास ही रहेंगे। उनके समस्त चरित्रों का निर्माण भी निवन्धधर्मी ही है। *चारु चन्द्रलेख* में जनता के साथ एकमेक होने की बात बराबर कही गई है। लेकिन ये जनप्रिय गठबन्धन किस प्रकार के हैं ? राजा के सम्बन्ध जनता से किस प्रकार के दिखाई पड़ते हैं ? जनता के बारे में हम क्या देखते हैं ? मात्र एकाध प्रेमप्रसंग और मित्रताएँ भर न ? शेष सभी निवन्ध या दस्तावेज़ के रूप में संक्षिप्त करके उपस्थित किया जाता है। गोरखनाथ सिद्ध-साधनाओं की व्यर्थता पर एक भाषण देते हैं, अक्षोभ्यभैरव भारत की सामन्ती समाज व्यवस्था के खोखलेपन पर एक निबन्ध (जो समाजशास्त्रीय और विषयपरक है–एकेडमी शब्दावली में) बोल देते हैं और लेखक से तादात्म्य रखने वाले सीदी मौला सोने की समस्या से लेकर चीन की समस्या तक कुछ अपने मस्त-फक्कड़ाना वैयक्तिक निवन्धी ढंग से कहते हैं। और इस निवन्धछाप शिल्प ने इसी कारण लेखक की परिकल्पना को क्षत किया है। जो कुछ उभरता है वह है एक टूटा हुआ दर्पण, जिस पर पड़ने वाला प्रतिबिंब समग्र नहीं होता–आकृतियाँ भले ही हज़ार हो जाएँ।

---

देवीशंकर अवस्थी

# प्रेम कहानियाँ : परिचय के मध्य अपरिचय

प्रेम एक विडम्बना है—इसे 'यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता' के भर्तृहरि भले ही मान लें, पर लहनासिंह, चम्पा या मधूलिका कैसे स्वीकार कर सकते हैं। वे उसके लिए गोलियों से शरीर छिदवा लेंगे, आजीवन कुमारी रहकर आकाशदीप जलाती रहेंगी और कर्तव्य को पूरा करने के बाद प्रेम के लिए प्राणदण्ड माँग लेंगी। तनिक सूक्ष्मता से पड़ताल कीजिए : इस प्रेम के बाधक कौन हैं ? समाज—जो लहनासिंह से पूछे बग़ैर उसकी किशोरी प्रिया को किसी और का शाल ओढ़ा देता है; पिता (यानी परिवार)--जो मरकर भी (या मरकर ही) चम्पा के मार्ग को छेके हुए है; देश (नाना प्रकार के कर्तव्य)—जो मधूलिका के सहेट को धरती की अपेक्षा स्वर्गलोक की ओर खिसका देते हैं। प्रेम के लिए इस स्थिति की यह सहज परिणति है कि इन अवरोधों (या खलनायकों) के सन्दर्भ में आत्मबलिदान की मुद्रा स्वीकारी जाए। इसीलिए प्रेम के परिभाषाकारों ने बार-बार उसे बलिदान, त्याग, निःशेष समर्पण, सतत वेदना, सतत आत्मदान आदि महिमाशाली शब्दों से मन्डित किया है। यही शरतचन्द्र करते हैं और यही जयशंकर प्रसाद। पचास वर्ष होने को आए, ये लहनासिंह, देवदास और गुण्डा, सालवती, पारो और मधूलिका बार-बार रूप बदलकर हमारे कथा साहित्य में प्रकट होते आए हैं। यह बात दूसरी है कि जीवन में जो रहस्यवृत्ति कम हुई है—स्त्री-पुरुष का पारस्परिक परिचय कुछ अधिक बढ़ा, उसने कभी-कभी इन प्रेमियों के पार्श्वचित्र कुछ नये रूपों में भी दिखाए। जैनेन्द्र की 'जाह्नवी' में इतनी शक्ति अवश्य आ जाती है कि वह भावी वर को काफ़ी ठण्डे और संयत ढंग से लिख देती है :

"एक अनुगता आपको विवाह द्वारा मिलनी चाहिए। वह जीवन-संगिनी भी हो। वह मैं हूँ, या हो सकती हूँ, इसमें मुझे बहुत सन्देह है। विवाह में आप मुझे लेंगे और स्वीकार करेंगे तो मैं अपने को दे ही दूँगी, आपके चरणों की धूलि माथे से लगाऊँगी। आपकी कृपा मानूँगी, कृतज्ञ होऊँगी। पर निवेदन है कि यदि आप मुझ पर से अपनी माँग उठा लेंगे, मुझे छोड़ देंगे, तो भी मैं कृतज्ञ होऊँगी। निर्णय आपके हाथ है। जो चाहें करें।"

'जाह्नवी' का यह स्वर ठण्डा भले ही हो, पर धार और शक्ति में कम नहीं है और एक सीमा तक नया भी है। पर यह नयापन 'टोन' तक ही सीमित है। उसके बाद तो वही 'कागा चुन-चुन खाइयो। दो नैना, मत खाइयो, पीउ मिलन की आस।' और जाह्नवी ही नहीं, पति होते होते रह गया ब्रजकिशोर भी तो इसी टोन पर मुग्ध हुआ प्रण किए बैठा है कि 'मैं और विवाह करूँगा ही नहीं, करूँगा तो उसी से करूँगा।' इतना ही नहीं, उस पत्र को वह अलहदा भी नहीं करता। स्वभाव में इतना बड़ा परिवर्तन कि पहले वह विजेता बनना चाहता था, अब विनयावनत दिखता है। जाह्नवी और बिरजू के ये चित्र मूलतः (?) शरतचन्द्रीय हैं, रोमांटिक भाववाद से पीड़ित हैं। यह कहना क्या अनुचित होगा कि अपने आद्यरूपों (प्रोटो टाइप्स) से अधिक दूर भी नहीं हुए हैं। फिर 'जाह्नवी' ही नहीं 'दृष्टिदोष' के केदार और सुभद्रा, 'पूर्वव्रत' के शान्ति और प्रशान्त, सभी वेदना के गीतों, त्रास में मुक्ति, बलिदान में महानता का अनुभव करने वाले हैं। आँसुओं का प्रदर्शन यहाँ पर अवश्य कम हो गया है; स्वर में संयति भी है और अपने बारे में अपेक्षाकृत अधिक तटस्थ बोध भी दिखने लगता है, पर अभी भी ये नायक-नायिकाएँ अपने प्रेम में अपनी छाया से ही प्रेम करते हैं।

प्रकृति की हर धड़कन में अपने ही प्रेम तथा प्रकृति की हर छवि में अपनी ही प्रिया की छवि निहारने वाले किशोर प्रेम को 'अज्ञेय' ने 'पठार का धीरज' और विवेक देना चाहा है। रोमांटिक प्रेम ने वास्तविकता के विविध स्तरों की चेतना मिटा दी थी। प्रेम जैसे संकुल मनोभाव को एवं प्रेमव्यापार की संकुल प्रक्रिया को छायावादी चेतना ने एकदम सपाट झीना आवरण बनाकर सभी पर उसी का वितान तान दिया। 'अज्ञेय' ने जब काव्य के स्तर पर इस जाल को तोड़ा तो कथा के स्तर पर भी वास्तविकता की परतों का उद्घाटन उद्दिष्ट बना। 'पठार का धीरज' कहानी विश्लेपित कीजिए—यही मूल संवेदना है जो कहानी के विन्यास में ताने-बाने-सी गुँथी हुई है। किशोर को पहले पक्षी 'प्रमीला-प्र-मीला' पुकारता प्रतीत होता है और चाँदनी 'प्र' लिखती प्रमिला को मोर की आवाज़ में 'किशोर-किशोर' की अनुगूँज सुनाई पड़ सकती थी। पर तभी पठार—जो आँधी पानी, शीतातप, सबके प्रति समर्पित है, किसी के आसपास छायाएँ नहीं गढ़ता, सबकी वास्तविकताएँ देखता है—के धीरज की प्रतीक राजकुमारी आकर चेतना पर छाए धुएँ को हटाती है—अपनी कहानी कहकर, "प्यार में अधैर्य होता है, तो वह प्रिय के आसपास एक छायाकृति गढ़ लेता है, और वह छाया ही इतनी उज्ज्वल होती है कि वही प्रेम हो जाती है, और भीतर की वास्तविकता—न जाने कब उसमें घुल जाती है, तब प्यार भी घुल जाता है।' राजकुमारी इस स्थापना में आए 'वास्तविकता' शब्द की व्याख्या भी देती है : जो कुछ है, सभी वास्तव है। लेकिन वास्तविकता के स्तर हैं। धीरज हमें एक साथ ही अनेक स्तरों की चेतना देता है, अधैर्य एक प्रकार की चेतना का धुआँ है जिससे बोध

का एक एक स्तर मिटता जाता है और अन्त में हमारी आँखें कड़वा जाती हैं, हमें कुछ दीखता नहीं। पठार के धीरज से मिलने वाली इस दृष्टि के बाद "किशोर और प्रमीला की आँखें मिलीं, स्थिर होकर मिलीं और मिली रह गईं।" तथा उन्हें ज्ञात हो गया कि "यह बिल्कुल आवश्यक नहीं है कि तीतर किसी का भी नाम पुकारे" और "स्थिर धीरज भरे विश्वास से जान लिया कि छाया किसी के आसपास नहीं है, दोनों वास्तव में आमने-सामने हैं।"

मुझे अगर फ़तवा ही देना हो तो शायद 'पठार का धीरज' को मैं हिन्दी की पहली 'नयी प्रेमकहानी' कहूँगा। यह बात दूसरी है कि इस कहानी में भी दृष्टि का दाता पठार ही है और छायावादी ज़माने से ही हम जानते आए हैं कि प्रकृति दृष्टि देती है। फिर यदि बलिदान, त्याग, वेदना आदि के सम्मुख सार्थकता (जस्टिफ़िकेशन) के प्रश्नचिह्न लगाए जा सकते हैं, तो उसी प्रकार दृष्टिबोध की इस प्रक्रिया के सामने क्या नहीं लगाए जा सकते ? इसके अतिरिक्त वास्तविकता के इन विविध स्तरों की समानान्तरता एवं असम्पृक्ति छायावादी कुहासे को भले ही काटे, पर आधुनिक जीवन की संकुलता एवं अस्पष्टता को मात्र एक स्तर पर स्थापित करके, एक प्रकार की सतहपरकता को भी तो जन्म देती है। अपनी तार्किक परिणति में एक-दूसरे को न काटने वाला यह स्तरवाद वस्तुतः 'सतहीवाद' को जन्म दे सकता है। इस प्रकार की संवेदना मात्र 'सेंसेशन' के स्तर पर क्या नहीं पहुँचा सकती ? इन प्रश्नों के होते हुए भी कहानी में प्रेम की प्रकृति को पहचानने की चेष्टा है—किसी शाश्वत त्रिकोण से हटकर। किशोर और प्रमीला 'आमने-सामने' हैं। ये छायाओं से नहीं, वास्तविक से प्यार करते हैं—एक-दूसरे से।

सम्भवतः यही वह बिन्दु है, जहाँ से शारीरिकता का उदय होता है। लहनासिंह क्या सचमुच छाया से ही प्रेम नहीं करता रहा ? गुण्डा, मधूलिका या चम्पा के बारे में क्या यही नहीं कहा जा सकता कि उनमें शरीर गंध की चेतना नहीं ही है। पर तब फिर प्यार किससे : अपनी ही बनाई एक आदर्श प्रतिमा से (या छाया से) ? ऐसा सर्वजयी, व्यापी एवं बलिदानी रोमांस। पढ़कर ईर्ष्या होती है, श्रद्धा जागती है और कुछ वैसा ही कर गुज़रने की शायद स्पृहा भी। प्रेमिका के एक इंगित पर ये पहाड़ उलट देने का हौसला रखते हैं, प्रेमी के मन के अन्तराल में विद्यमान बात को बूझकर ये जीवन का दाँव बाज़ी में लगा सकती हैं। लहनासिंह सूबेदार और उनके पुत्र (जो ईर्ष्या के आलम्बन होने चाहिए) के प्राण बचाने के लिए प्राण देता है और डिकेंस के उपन्यास 'टेल आफ़ टू सिटीज़' में सिडनी काटन अपनी प्रेमिका के पति को बचाने के लिए स्वयं गिलोटीन पर चढ़ जाता है। हाय, ये सारे नायक-नायिकाएँ अब कहाँ चले गये ? वास्तविकता के समानान्तर स्तरों की यह कैसी पहचान है कि उन सब प्रतिमाओं को आज का कथाकार एक ज़िद्दी बालक

की तरह तोड़-फोड़ कर बिखरा लेता है। और प्रेमी-प्रेमिका को आमने-सामने खड़ा करने के साथ ही शरीर-पहचान की प्रक्रिया भी शुरू हो जाती है। कोई किसी से क्यों प्यार करे : यह सवाल लाजवाब है। प्रेम, घृणा आदि तर्क से परे रहनेवाली प्रवृत्तियाँ हैं और उनकी एक सीमा तक ही सामाजिक या युगीन व्याख्या सम्भव है। यों स्त्री-पुरुष के प्रेमप्रसंग में किसी लैंगिक आकांक्षा का लगाव सहज भी माना जा सकता है और सहजात भी। फिर मनोविज्ञान एवं मार्क्सवाद की स्थापनाओं के प्रभाव के तले यह बोध अगर विकसित हुआ हो तो आश्चर्य ही क्या ? यशपाल, 'अश्क', 'उग्र' (उर्दू के मण्टो, कृशनचन्दर, बेदी) आदि में यही पक्ष झलक उठता है। प्रेम यहाँ प्रदान ही नहीं, आदान भी है। इस स्थिति की परिणति जन्तुतर्क में है और सतत यात्री एवं दाता की मुद्रा में रहने वाले 'अज्ञेय' ने इस जन्तुत्व की भी कहानियाँ लिखी हैं। पर ये कहानियाँ प्रेम कहानियाँ नहीं हैं। प्रेम के नाम पर किए जाने वाले आखेट हैं, चाहे यशपाल द्वारा चित्रित हों या फिर प्रबोधकुमार द्वारा। मन में एक आशंका और उठती है—कहीं ऐसा तो नहीं है कि शरीर के वास्तव के ज्ञान के बाद के सारे बलिदानी नायक-नायिका अधिक कमज़ोर, चिड़चिड़े और नपुंसक हो गये हों। स्वयं 'अज्ञेय' के किशोर या प्रमीला कहीं पर भी तो असाधारण नहीं हैं। असाधारण तो वह राजकुमार था जो यह जानते ही कि राजकुमारी किसी और की वाग्दत्ता हो गई है, उस पर आक्रमण कर देता है, पर दृष्टि को देने वाला पठार का धीरज उसे अपनी छाया से प्रेम करने वाला बनाता है। पीछे कहा जा चुका है कि 'पठार का धीरज' पहली नयी प्रेमकहानी है। तो क्या यह माना जाये कि यह जो 'ऐंटी हीरोइक' हीरो है, वही नयी प्रेम कहानी का नायक है ?

राजेन्द्र यादव के 'छोटे-छोटे ताजमहल' के विजय और मीरा (या देव और राका) हों, रामकुमार की 'यात्रा' के 'वह' (नायक सज्ञाहीन भी हो गया) और देवा हों, मोहन राकेश की 'एक और ज़िन्दगी' या कमलेश्वर की 'राजा निरबंसिया' के नायक-नायिका हों अथवा श्रीकांत वर्मा की 'परिणय' अथवा 'दूसरे के पैर' के प्रेमी-प्रेमिका हों, सभी ऐंटी-हीरोइक हैं। सभी अपने में सिमटे, कुचले और नपुंसक। ज्यों-ज्यों वे एक दूसरे से परिचित होने की कोशिश करते हैं त्यों-त्यों कुछ अधिक अपरिचित होकर एक-दूसरे के समीप से गुज़रते हैं :

> हम एक दूसरे से परिचित
> होने की कोशिश में
> कुछ अधिक अपरिचित हो
> कर गुज़र रहे हैं एक
> दूसरे के समीप से लगातार।
> प्रत्येक सुबह तुम लगती हो
> कुछ और अधिक अजनबी मुझे।

श्रीकान्त वर्मा की यह काव्य उक्ति, तमाम नयी प्रेम कहानियों में भी है। मोहन राकेश इस काव्यप्रसंग को ले आने के लिए क्षमा करेंगे। मैं नयी कहानी को नयी कविता के समानान्तर उसी भावभूमि से उपजा मानता हूँ—आगे-पीछे नहीं। और नवलेखन में ही नहीं, छायावाद की कविता और कहानी में भी ऐसी ही सम्पृक्ति रही है। संवेदना के मूल रवे (क्रिस्टल्स) विधाओं की रूपगत अनिवार्यताओं में ढलते हैं—बदलते नहीं। पर यह प्रसंगान्तर है।

हम अपरिचय और अजनवीपन की बात कर रहे थे। पुराने छायावादी नायक या नायिका के लिए यह अजनवीपन एकदम अजनवी ही नहीं, उसकी तेज़ कल्पना के लिए भी अकल्पनीय था। वहाँ प्रेम का विकास परिचय की प्रगाढ़ता में था, अजनवीपन के नाश में था, अकेलेपन से मुक्ति में था। परिचय, घनिष्ठता एवं सम्मिलन की द्वैतता के बाधक तत्त्व बाहरी थे—परिवार, समाज, कर्तव्य, नैतिकता आदि। उन्हें हटाकर या उनके आरोपों का मिथ्यात्व प्रमाणित करके ही वहाँ कहानी बनती थी। पर बाधक तत्त्व अब समाज नहीं रहा, नीति और कर्तव्य के अंकुश नहीं रहे। अब तो बाधक अपने ही व्यक्तित्व का एक अंश है। वही अंश खलनायक है, उसी की महिमा के नीचे बेचारा प्रेमी अंश प्रतिभ हो दुबक जाता है।

राजेन्द्र यादव की कहानी 'छोटे-छोटे ताजमहल' को लीजिए—शारीरिकता की पहचान है :

"विजय ने एक बार फिर सशंक निगाहों से इधर-उधर देखा और बढ़कर उसकी दोनों कनपटियों को हथेलियों से दबाकर अपने पास खींच लिया। नहीं, मीरा ने विरोध नहीं किया, मानो वह प्रत्याशा कर रही थी कि यह क्षण आएगा अवश्य। लेकिन पहले उसके माथे पर तीखी रेखाओं की परछाइयाँ उभरीं और फिर मुग्ध मुस्कराहट की लहरों में बदल गई। विजय का मन हुआ, रेगिस्तान में भटकते प्यासे की तरह दोनों हाथों से सुराही को पकड़कर इस मुस्कराहट की शराब को पागल आवेग में पीता चला जाए—पीता चला जाए—गट-गट और आख़िर लड़खड़ाकर गिर पड़े। पतले-पतले होठों में एक नामालूम-सी फड़कन लरज रही थी। उस रूमानी बेहोशी में भी विजय को ख़याल आया कि पहले एक हाथ से मीरा का चश्मा उतार ले—टूट न जाए। तब उसने देखा, हरियाले फ़व्वारों—जैसे मोर-पंखियों के दो-तीन पेड़ों के पीछे पूरे-पूरे दो ताजमहल चश्मे के शीशों में उतर आए हैं—दूधिया हाथी-दाँत के बने दो सफ़ेद नन्हें-नन्हें खिलौने—"

और तभी विजय को याद हो जाता है (वैयक्तिक चेतना की यह आकस्मिक कौंध ध्यान देने योग्य है) कि वे महान और विराट अतीत की छाया में बैठे हैं। बस फिर क्या था। उसके व्यक्तित्व की चेतना के इस अंश के उदय होने के साथ ही, "खिंचाव वहीं थम गया। उसने बड़े बेमालूम ढंग से गहरी साँस ली और अपने हाथ हटा लिए। आहिस्ता से।" और तब उसके भीतर का कमज़ोर, नपुंसक (एवं एक सीमा तक

शरतचन्द्रीय) नायक पुकार उठता है : "नहीं ! यहाँ नहीं। कोई देख लेगा। यह उसे क्या हो गया" ?

हम जानते हैं कि वहीं नहीं तो कहीं नहीं, तब नहीं तो कभी नहीं। विजय को भी रह-रहकर झुँझलाहट होती :

"किस शाप ने हमारे ख़ून को जमा दिया है। यह हो क्या गया है हमें ? कोई गर्मी नहीं, कोई आवेश और कोई उद्वेग नहीं क्या बदल गया है इसमें ? हाँ, मीरा का रंग कुछ खुल गया शरीर निखर आया है । उसका 'बोझिल मौन' जिस 'कोमल चीज़' को पीसे दे रहा था, क्या वह प्रेम ही नहीं था ? ऐसे क्षणों में जब वे दोनों ताजमहल के परिसर से उठकर चलते हैं तो उन्हें लगा, जैसे कोई मुर्दा क्षण है, जिसका एक सिरा मीरा पकड़े है और दूसरा, वह और उसे चुपचाप दोनों रात के सन्नाटे में कहीं दफ़नाने के लिए जा रहे हों डरते हों, किसी की निगाहें न पड़ जाएँ कोई जान न ले कि वे हत्यारे हैं कहीं किसी झाड़ी के पीछे इस लाश को फेंक देंगे और खुशबूदार रूमालों से कसकर ख़ून पोंछते हुए चले जाएँगे भीड़ में खो जाएँगे । जैसे एक दूसरे की ओर देखने में डर लगता है कहीं आरोप करती आँखें हत्या स्वीकारने को मजबूर न कर दें ।"

यह मुर्दा क्षण, स्पष्ट है, किसी बाहरी शक्ति द्वारा नहीं मारा गया, वे दोनों ही हत्यारे हैं। मेरे मन में फिर प्रश्न उठता है कि बिखरा हुआ शरीर एवं मुर्दा क्षण क्या परस्पराश्रित हैं ? शरीर एवं अकेलापन, तन एवं अजनबी मन क्या यहां एक दूसरे को काट नहीं रहे हैं ? यों इस कहानी के भीतर एक और कहानी है और उसमें भी ऐसी ही हत्या है। एक सुखी जोड़ा विवाह के सात वर्ष पूरे होने पर (सात वर्षों में ही शायद शरीर की ग्रन्थियों में बदलाव होता है) अलग हो जाता है, क्योंकि दोनों तरफ़ से शायद सहने की हद हो गई है—"नसों का यह तनाव मुझे या उसे पागल बना दे—इससे अच्छा हो कि दोनों अलग ही रहें।" और इस तरह हनीमून की नहीं, तलाक की रात ताजमहल की छाया में शुरू होती है। ठीक भी है। असाधारण प्रेम वाले नायक-नायिका के स्मारक की यह ट्रैजेडी है। या यों पूछें कि प्रेम की क्या यही आधुनिक ट्रैजेडी है ? आधुनिक मानव का अकेलापन ही उसकी ट्रैजेडी और विडम्बना है तभी शायद प्रेम भी विडम्बना है।

और यह स्थिति ज़्यादा शरतचन्द्र, राजेन्द्र यादव में ही नहीं, औरों में भी है : निर्मल वर्मा की कहानी 'पिक्चर पोस्टकार्ड' :

"परेश ने 'कई बार सोचा है कि किसी दिन मैं उस कालर-बोन के उस गढ़े को अपनी ज़ुबान की नोंक से स्पर्श करूँगा। उस गढ़े में हल्का पसीना है। मैंने कई बार सोचा है कि किसी दिन मैं उस पसीने को अपने होंठों से चूस लूँगा।' पर इसके बाद ?—वही अपने से दुराव, अपने आप में परिचय के साथ बढ़ता अपरिचय, कुछ औपचारिक बातें और दस बजे रात को ज्यूक बॉक्स में चवन्नी डालकर अधिक

से अधिक ऊपर उठने वाला रिकार्ड (उसे भी शायद बग़ैर सुने, दोस्तों की भीड़ में फ़िल्म देखने चला गया होगा)।''

मोहन राकेश के मधुसूदन सुषमा से भाग खड़े होते हैं, श्रीकान्त वर्मा की 'परिणय' के नायक महोदय उसी पुंसत्व के क्षण में भागते हैं और उषा प्रियंवदा की अचला ('मोहबन्ध' की नायिका) भी ''असीम सुख के उस क्षण में भी अनुभव कर लेती है कि इस मोहबन्ध को तोड़कर उसे जाना ही है क्योंकि वे भीगी आँखें उसकी अपनी हैं,'' और राजेश्वर (उषा की 'जाले' कहानी) को समान बौद्धिक प्रिया कौमुदी से विवाह कर लेने के बाद भी ''लगता कि वह मकड़ी के जाले में घिरकर रह गई है, जिसके तार दूर से बहुत सुकुमार, बहुत आकर्षक लगते हैं, पर एक बार उसमें फँस जाने के बाद निष्कृति की कोई आशा नहीं रहती।'' श्रीकान्त वर्मा की ये काव्य पंक्तियाँ मन में उभरती हैं :

सच है, तुम्हारे बिना जीवन अपंग है।
फिर भी। क्यों लगता है मुझे। प्रेम
अकेले होने का ही एक और ढंग है।

प्रेम-चित्रण में उदासी, अकेलेपन, ऊब के ये रूप नये कहे जा सकते हैं। यह नपुंसकता, साहसहीनता भी शायद नयी ही है। पर मूल्यनिर्णय के समय सबसे बड़ा सवाल उठता है कि 'डिरोमैंटिसाइज़ेशन' की जो प्रक्रिया 'अज्ञेय' में शुरू हुई थी, वास्तवकिता के जिस स्तर की तटस्थ चेतना की दृष्टि को पाने का दावा किया गया था, क्या उसे पूरा और प्राप्त किया जा सका ? छायावादी असाधारण लगाव, प्राणों का त्याग आदि यदि पेण्डुलम का एक दिशा का बढ़ाव है, तो झटके से तोड़कर अलग हो जाना, महत्त्वपूर्ण क्षण में समस्या को 'आमने-सामने' स्वीकार न कर भाग खड़े होना क्या उसी पेण्डुलम की गति का दूसरा और स्विंग नहीं है ? मुझे लगता है कि शरतचन्द्र के नायक-नायिका ही वेश बदलकर आ रहे हैं। जिस शारीरिकता से असंपृक्त रहकर वे बड़े से बड़ा बलिदान कर देते हैं, उसी से परिचित होना चाहकर भी ये भाग खड़े होते हैं, और सब मिलाकर स्थिति ज्यों की त्यों रहती है। महिमामण्डित शब्दों का प्रयोग न करते हुए भी, वे ही वेदना के गीत एवं वही शहादत का स्वर। उस 'कथा' की अभी हमें क्या प्रतीक्षा नहीं है जो प्रेम के साथ ही एक लैंगिक (सेक्सुअल) थीम की खोज में भी प्रयुक्त हो ? कहना चाहता हूँ कि प्रेम एक क्षमता है :

कोई समझे तो एक बात कहूँ,
इश्क़ तौफ़ीक़ है, गुनाह नहीं।

और इस क्षमता को खोजने-पहचानने की आवश्यकता है।

---

केदारनाथ सिंह

# कालबद्ध और पदार्थमय

एक लम्बे अन्तराल के बाद मुक्तिबोध का दूसरा संग्रह प्रकाशित हुआ है—*भूरी भूरी ख़ाक धूल*। इस बीच मुक्तिबोध हिन्दी में कविता-सम्बन्धी बहसों के केन्द्र में रहे हैं और धीरे-धीरे उनका कृतित्व समकालीन भारतीय लेखन का महत्त्वपूर्ण हिस्सा बन गया है। पर यह विचित्र विडम्बना है कि उनकी कविता पर होनेवाली सारी बहस—फिर वह चाहे पक्ष में हो या विपक्ष में—एक तरह से अपूर्ण और अधूरी रही है। अब तक पाठक या आलोचक के सामने मुक्तिबोध की केवल वे ही कविताएँ थीं जो *चाँद का मुँह टेढ़ा है* में संकलित हैं। पर इन थोड़ी-सी चुनी हुई कविताओं को छोड़कर उनकी काव्य-सर्जना का एक बहुत बड़ा हिस्सा अब तक अप्रकाशित रहा। ज़ाहिर है, मुक्तिबोध की कविता पर अब तक जो भी निर्णय दिये गये हैं वे उनके काव्य के एक छोटे से हिस्से के आधार पर दिये गये हैं, उनके सम्पूर्ण कृतित्व के आधार पर नहीं। इस दृष्टि से *भूरी भूरी ख़ाक धूल* का प्रकाशन और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि वह मुक्तिबोध के काव्य-संसार को थोड़ा और फैलाता है उनकी बहुत-सी ऐसी कविताओं को पहली बार सामने लाता है, जिनके बारे में उनके उत्सुक पाठकों को कोई जानकारी नहीं थी। मुक्तिबोध के काव्य-संग्रहों के प्रकाशन के साथ एक विडम्बना यह भी रही है कि उनके नामकरण से संचयन तक का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य स्वयं कवि के द्वारा नहीं, बल्कि सम्पादकों या संकलनकर्ताओं के द्वारा सम्पन्न हुआ है। पर यह एक ऐसी अपरिहार्य स्थिति थी जिससे बचा नहीं जा सकता था।

*भूरी भूरी ख़ाक धूल* की कविताओं पर विचार करने से पहले यह ज़रूरी है कि कुछ छोटे-छोटे सम्बन्धित तथ्यों पर विचार कर लिया जाये। मुक्तिबोध का पहला स्वतन्त्र संग्रह सन् 1964 में छपा था, जिसमें कुल 28 कविताएँ थीं। दूसरा, पूरे 15 वर्ष बाद 1980 में छपा है, जिसमें कुछ 47 कविताएँ हैं। यदि दोनों संग्रहों की चयन-प्रक्रिया पर विचार किया जाये तो कुछ रोचक तथ्य सामने आ सकते हैं। *चाँद का मुँह टेढ़ा है* नेहरू युग की समाप्ति के आसपास छपा था और यह दूसरा संग्रह तब छपकर आया है, जब भारतीय समाज अनेक राजनीतिक परिवर्तनों, युवा आन्दोलनों, सूखा, अकाल, युद्ध और महँगाई के दौर से होता हुआ नेहरू युग की

स्मृतियों के सम्मोहन से बहुत आगे निकल आया है। यदि ध्यान से देखा जाये तो दोनों संग्रहों के चयन में, कविता के प्रति इन दोनों युगों के दृष्टिकोण के अन्तर को भी लक्षित किया जा सकता है। यह विचारणीय हो सकता है कि क्यों पहले संग्रह में अपेक्षाकृत लम्बी कविताएँ ही दी गयी थीं, जबकि दूसरे संग्रह में कई छोटी कविताएँ भी दी गयी हैं, जिनमें से कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं ? इस बात की पड़ताल बेहद दिलचस्प हो सकती है कि क्यों *चाँद का मुँह टेढ़ा है* में *'इस नगरी'* में शीर्षक लम्बी कविता नहीं दी गयी (*भूरी भूरी ख़ाक धूल* में यह है) जबकि उसकी पाण्डुलिपि के अन्त में दी हुई 'उपसंहार' उपशीर्षक वाली कविता (*चाँद का मुँह टेढ़ा है* में यह 'कल जो हमने चर्चा की थी' शीर्षक से छपी है) को देना अधिक प्रातिनिधिक जान पड़ा।

*भूरी भूरी ख़ाक धूल* चूँकि मुक्तिबोध का दूसरा संग्रह है, इसलिए इस प्रलोभन से बचना कठिन है कि उसे पहले संग्रह के बाद का संग्रह मानकर देखा जाये। पर वास्तविकता यह है कि दूसरे संग्रह का बाद में छपना केवल संयोग है और इसके आधार पर कविताओं के ऐतिहासिक क्रम या कवि के रचनात्मक विकास के बारे में कोई निर्णय नहीं लिया जा सकता। मुक्तिबोध की कविता के अध्येता का काम इसलिए और भी कठिन हो जाता है कि कविताओं के रचनाकाल का संकेत न तो पहले संग्रह में दिया गया था, न ही दूसरे में। यदि कोई पाठक कविताओं के कालगत-सन्दर्भ को समझना ही चाहे तो फिर उसके सामने उनका मुद्रित पाठ ही एक-मात्र आधार बच रहता है। यह काम आगे के अध्येताओं को करना होगा और मेरा ख़याल है कि इसमें अन्य प्रमाणों के अलावा कविताओं (जिनके रचनाकाल का थोड़ा-बहुत ज्ञान पहले से है) में आने वाले प्रतीकों, बिम्बों और अभिप्रायों की तुलना के आधार पर भी इस बात की पड़ताल की जा सकती है। जैसे *भूरी भूरी ख़ाक धूल* की 'भविष्यधारा' शीर्षक कविता में जो 'वैज्ञानिक' का बिम्ब आता है, वह ब्रह्मराक्षस के केन्द्रीय बिम्ब से बहुत मिलता-जुलता है। यहाँ तक कि दोनों की भाषा में भी ओवरलैपिंग ढूँढ़ी जा सकती है। इससे यह नतीजा निकाला जा सकता है कि दोनों की रचना लगभग एक ही समय या थोड़ा आगे-पीछे हुई होगी। इसी तरह 'अँधेरे में' का 'अरुण कमल', *भूरी भूरी ख़ाक धूल* की 'मालव-निर्झर की झरझर कंचन-रेखा' शीर्षक कविता में एक दूसरे ढंग से आता है :

> पार कर मुश्किलें सभी
> जादुई अरुण कमल
> उस दूर देश के रश्मि विकिरणशील
> सरोवर का
> तुम ला देना।

'साँझ और पुराना मैं' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ भी 'अँधेरे में' के कुछ

परिचित संदर्भों की याद दिला सकती हैं। 'अँधेरे में' का 'रात्रि के श्यामल ओस से क्षालित गुरु-गंभीर महान अस्तित्व' यहाँ उदात्त अस्तित्व बन जाता है :

उदात्त अस्तित्व
साँस लेता है उसके आसपास
हाँ आसपास। *(भूरी भूरी ख़ाक धूल)*

मैं इन समानान्तरताओं का उल्लेख इसलिए कर रहा हूँ कि मुक्तिबोध का परिचित पाठक इनसे टकराये बिना रह नहीं सकता। लगता है जैसे मुक्तिबोध की सारी कविताएँ एक ही विराट् काव्य के अलग-अलग खण्ड हैं जिनमें कुछ प्रतीक और चरित्र लौट आते हैं। यह उनके काव्य का एक ऐसा पहलू है जिसका स्वतन्त्र रूप से अध्ययन होना चाहिए। पर शायद इससे भी कविताओं के रचना-काल के निर्धारण की समस्या पूरी तरह हल हो जायेगी, ऐसा नहीं कहा जा सकता और कठिनाई यह है कि मुक्तिबोध एक ऐसे कवि हैं , जिनकी कविताओं को उनके काल-सन्दर्भ से अलग करके समझा ही नहीं जा सकता। वे गहरे अर्थ में एक कालबद्ध कवि हैं। यह कालबद्धता उनकी कोई सीमा नहीं, बल्कि एक ऐसी विलक्षण ऊर्जा है जो अपने समय के प्रति गहरी 'रागात्मक संसक्ति से पैदा होती है। ऐसी स्थिति में इन कविताओं को तिथियों से अलग करके पढ़ना वैसा ही है जैसे पिकासो के विविध काल के चित्रों को गड्डमड्ड करके एक जगह रख दिया जाये और दर्शक से अपेक्षा की जाय कि वह 'गुएर्निका' जैसे चित्र के सम्पूर्ण अर्थ को आत्मसात् कर लेगा। इस अर्थ में पिकासो और मुक्तिबोध की नियति एक जैसी है—दोनों की जड़ें अपने समकालीन इतिहास में गहराई तक धँसी हुयी हैं। वे श्रेष्ठ या कालजयी होने की क्षमता वहाँ से अर्जित करते हैं, जहाँ वे सबसे अधिक कालबद्ध होते हैं।

मुक्तिबोध की कविताएँ अपने समय के जीवित इतिहास को कविता में बदलने की कठिन चुनौती का सामना करने वाली कविताएँ हैं। कला की दृष्टि से यह एक मुश्किल काम है—क्योंकि इतिहास का, ख़ासतौर से सद्यः घटित इतिहास का कच्चा माल इस काम में कवि की बहुत दूर तक मदद नहीं करता। शायद कविता इसीलिए बहुत शुरू से स्मृति-गर्भी भाषा का प्रयोग करती आयी है। प्रचलित रूपक, परम्परागत प्रतीक, ऐतिहासिक चरित्र या आख्यान ऐसे ही स्मृतिगर्भी उपकरण हैं। पर मुक्तिबोध जैसा कवि जो अपने पूरे कलात्मक सन्तुलन के साथ वर्तमान की तनी हुई रस्सी पर चलने का प्रयास करता है, शुरू में ही उन उपकरणों से वंचित होने की स्थिति को स्वीकार कर लेता है। नतीजा यह होता है कि मुक्तिबोध अगर फ़न्तासी का भी निर्माण करते हैं तो उसकी जड़ें वर्तमान में ही होती हैं, *कामायनी* की फ़न्तासी की तरह किसी मोहक अतीत में नहीं। कल्पना की वर्तमान से सीधी मुठभेड़—मुक्तिबोध अपनी कविता में यही करते हैं और उनकी इस विशिष्ट कला की पहचान करानेवाली

अनेक कविताएँ *भूरी भूरी ख़ाक धूल* में हैं। ये कविताएँ स्थान से होकर समय में प्रवेश करने वाली कविताएँ हैं और इस तरह एक विलक्षण अर्थ में 'स्थानिक या स्थानपरक' कविताएँ। इसीलिए उनमें दृश्यों या पदार्थों की बहुलता है। मुक्तिबोध अपनी कविता में एक भाव या विचार को सम्प्रेषित करने के लिए एक पूरा दृश्यालेख प्रस्तुत करते हैं और इस प्रक्रिया के द्वारा भाव के स्तर पर एक अद्भुत पदार्थमयता का निर्माण करते हैं। कठिनाई वहाँ होती है जहाँ वे इस पदार्थमयता को एक अलस आवर्तन के साथ दूर तक खींचते हैं, जैसा कि 'शब्दों का अर्थ जव' या 'मालव निर्झर की झर झर कंचन रेखा' शीर्षक कविताओं में हम देखते हैं। सम्भवतः ये कविताएँ उनकी शुरू की कविताएँ हैं, जव वे इस विशिष्ट कला के अन्तर्गत अपनी संवेदना (या उन्हीं के शब्दों में कहें तो ज्ञानात्मक संवेदना) का निकटतम साँचा तलाश रहे थे। *भूरी भूरी ख़ाक धूल* की ज़्यादातर कविताएँ गहरे अर्थ में पदार्थमय हैं। यह पदार्थमयता *चाँद का मुँह टेढ़ा है* की कविताओं में भी एक अलग ढंग से थी। पर *भूरी भूरी ख़ाक धूल* में दृश्यालेखों का रंग ज़्यादा गाढ़ा है, उसकी अनेक कविताओं में एक ठेठ देसीपन है, जिसे 'इसी बैलगाड़ी में' या 'भविष्यधारा' जैसी कविताओं में देखा जा सकता है। 'इसी बैलगाड़ी में' इस संग्रह की एक उल्लेखनीय कविता है, जिसमें कवि एक ठेठ किसान की ढचरढच चलने वाली बैलगाड़ी को सारी अमानवीय शक्तियों के विरुद्ध खड़ा कर देता है। गाड़ीवान कहता है :

दूर उस पहाड़ी ढलान पर
भरा हुआ कई मन
ताज़ी कटी फ़सलों का
गेहूँ है उत्तम।

और फिर वह इस गेहूँ को मण्डी तक ले जाने की समस्या और उससे उत्पन्न होने वाली शंका और भय की ओर इशारा करता है :

क्योंकि यहाँ गिरोह डाकुओं के अकस्मात्
प्रगति रोकते हैं
और हमें गेहूँ ले जाना है मंडी में जल्दी से जल्दी।

इस 'जल्दी से जल्दी' में उसकी सारी पीड़ा छिपी हुई है, जो कविता के अन्त तक जाते-जाते इस पूरी लड़ाई में किसान की अपनी विडम्बनापूर्ण स्थिति के व्यंग्य में बदल जाती है।

सुना है कि तुम भी ख़ूब
शहरों के लुच्चों से करते हो दो-दो हाथ
डाकुओं से हम भी तो लड़ते हैं
ताज़ी कटी फ़सलों का नाज बचाने को।

गाड़ीवान के टिक्कड़ और ताज़ी कटी फ़सलों की ख़ुश्बू पूरी कविता में भरी हुयी है और यह दूसरा बिम्ब इतनी ख़ूबसूरती के साथ थोड़े-थोड़े अन्तराल पर दुहराया गया है कि अन्त तक जाते-जाते वह किसान के अपने जीवन मूल्य में बदल जाता है और फिर उसकी लड़ाई भी रास्ते के डाकुओं से लड़ी जाने वाली लड़ाई से ज़्यादा जटिल और अर्थपूर्ण हो जाती है। इस कविता का कच्चा माल ठेठ हिन्दुस्तानी गाँव की ज़िन्दगी से लाया गया है और ख़ास बात यह है कि ऐसा करते हुए मुक्तिबोध किसी नास्टेल्जिया या रोमानी प्रभाव का निर्माण क़तई नहीं करते। एक अन्य कविता में मानो वे आधुनिकतावाद पर व्यंग्य करते हुए कविता की अँधेरी जड़ों की ओर संकेत करते हैं :

> झरने पुराने पड़ गये
> उनकी उपमा अब कोई नहीं देता
> शायद धोबी दे
> जो वहाँ कपड़े फचीटते हैं
> या किसान
> जो उसमें फँसी हुई गाड़ी घसीटते हैं
> लेकिन वे सभ्य नहीं हैं
> इसलिए झरने की उपमा लभ्य नहीं है।

इन कविताओं का परिवेश बहुत कुछ प्रेमचंद की कहानियों जैसा है, जिसमें गाड़ी घसीटते किसान हैं, कपड़े फचीटते धोबी हैं, कड़ाह माँजते बच्चे हैं, राहों के अशान्त पीपल और बेर के झाड़ हैं, जरांइम पेशा क़बीले हैं और इन सबके केन्द्र में एक 'लँगोटधारी दुबला हिन्दुस्तान' है। आधुनिक कविता के सुपरिचित नागरिक परिवेश के साथ इस परिवेश की सीधी संगति नहीं बैठती और इन अनाधुनिक उपकरणों के द्वारा मुक्तिबोध यदि आधुनिक कविता की सृष्टि करना चाहते हैं तो कला के स्तर पर वे एक विलक्षण चुनौती का सामना कर रहे होते हैं। पर उनकी सफलता इस बात में है कि वे इन अनाधुनिक उपकरणों का आधुनिक परिवेश के साथ जो तनावपूर्ण सम्बन्ध है उसको बहुत शिद्दत के साथ महसूस करते हैं और इस प्रकार समकालीन कविता में सौन्दर्यबोध के एक नये धरातल का निर्माण करते हैं। इस दृष्टि से मुक्तिबोध की कविता पश्चिम की आधुनिक कविता के बीच कुछ अटपटी-सी लग सकती है। यह आकस्मिक नहीं है कि अंग्रेज़ी में उनके जो अनुवाद हुए हैं वे अपने मूल का दस प्रतिशत भी सम्प्रेषित नहीं कर पाते। मैंने इसी वैशिष्ट्य को मुक्तिबोध का ठेठ देसीपन कहा है। इस देसीपन के कई स्तर हैं और कई बार वह सतह के नीचे कहीं दबा रहता है। ख़ास बात यह है कि मुक्तिबोध उसे हमेशा पूरी समग्रता में पकड़ते हैं—पूरे समकालीन भारतीय-जीवन के सन्दर्भ में।

सुपरिचित आधुनिक कविता से मुक्तिबोध की कविता का एक और अन्तर है जो *भूरी-भूरी ख़ाक धूल* की कविताओं में ज़्यादा साफ़ होकर उभरा है। अपने समय के प्रति ज़्यादातर आधुनिक कविता का रुख़ नकारात्मक रहा है। इसी के चलते बहुत से कवियों ने—और इनमें मुक्तिबोध के अनेक समकालीन कवि भी शामिल हैं—उसमें कुण्ठा, सन्त्रास, घुटन, अकेलापन या बंजरपन देखा है। मुक्तिबोध अपनी प्रखर आलोचनात्मक दृष्टि के बावजूद और शायद उसी के चलते—अपने युग को कुण्ठाग्रस्त या बंजर कभी नहीं कहते। वे सिर्फ़ इतना कहते हैं।

ज़माना बुरा नहीं केवल विलक्षण है
मनुष्य-सौजन्य कारण ही
चाँद है सूर्य है लोग हैं व हम-तुम हैं।

(**गीत** पृ. 185)

मुक्तिबोध की कविता अपने समय की क्रूरता से टकराती भी है और कभी-कभी मानो इस लम्बे संघर्ष को अवकाश और उत्तेजना देने के लिए, एक छिपे हुए गहरे आत्मविश्वास के साथ, स्वयं पर और अपने आसपास पर हँसती भी है :

और कुछ ज़ोरदार
सनसनीखेज कुछ
गरम-गरम चाय के साथ
मिल गयी ऐसी बात
जिससे कि ढीली रगें तन जायें
भीतर तनाव हो
व विचारों का घाव हो
कि आये दिन ठण्डी इन रगों को
गर्मी की खोज है
वैसे यह ज़िन्दगी
भोजन है, मौज है :

अपने समय के प्रति कवि के दृष्टिकोण का यह खुलापन *भूरी भूरी ख़ाक धूल* की ज़्यादातर कविताओं में देखा जा सकता है। 'मीठा बेर' एक ऐसी कविता है जहाँ यह खुलापन प्रकृति की अभिजात सीमाओं को तोड़ता है और उसमें कवि अपने लिए और अपनी कविता के लिए एक सर्वथा नया बिम्ब खोज लेता है :

मैं तो सिर्फ़ फैलता हूँ बहता हूँ ख़ून में
क्योंकि मैं एक बेर का झाड़ हूँ
जंगली और कँटीला
किन्तु मीठा

'ख़ून' या 'रक्त', शब्द *भूरी भूरी ख़ाक धूल* की कविताओं में बार-बार आया है। कहीं वह ख़ूनी नक़्शा है, कहीं पैरों-जाँघों में भागता हुआ गरम सुनहला ख़ून और कहीं सिर्फ़ ताज़ा ख़ून। यहाँ तक कि कवि 'इस नगरी में', कविता में तुलसीदास का स्मरण करता है तो वहाँ भी ख़ून का अनुभव एक दूसरे ढंग से मौजूद है :

दुर्दान्त ऐतिहासिक स्पन्दन
के लाल रक्त से लिखते तुलसीदास आज
अपनी पीड़ा की रामायण।

यह 'लाल रक्त' जीवन की समूची ऊर्जा और उथल-पुथल का उपलक्षण है जो अलग-अलग सन्दर्भों में मुक्तिबोध की कविता में इतनी बार दुहराया गया है कि एक तरह से उसका केन्द्रीय बिम्ब बन जाता है। *भूरी भूरी ख़ाक धूल* की कुछ कविताओं में कवि ने स्वयं अपनी कविता और कविता की निर्माण-प्रक्रिया के तथाकथित रहस्यों से भी टकराने की कोशिश की है :

किन्तु द्वन्द्व
स्थिति में स्थापित यह
मेरा वज़नदार लोहा
उन भयंकर अग्निक्रियाओं में
ढकेला जाकर
पिघलते हुए दमकते हुए
तेज : पुंज गहन अनुभव का—
छोटा-सा दोहा बनता है।

(ओ अप्रस्तुत श्रोता)

वज़नदार लोहे का छोटे से दोहे में बदल जाना वस्तुतः यथार्थ का कला में बदल जाना है और जिस विलक्षण रासायनिक प्रक्रिया के द्वारा यह घटित होता है, मुक्तिबोध उसी को 'भयंकर अग्निक्रिया' कहते हैं। यह अग्निक्रिया कवि के अनुभव का ताप है, जिसमें उसकी सोच और दृष्टि की आँच भी शामिल है। इस 'अँधेरे-कारखाने की लाल भड़क बेताव धवन-भट्टी में' कवि रोज़ ख़ुद ही को झांकता है (वह ख़ुद ही लोहा है) और फिर उसके भीतर से :

वह पुनर्जन्म था
विकसित करता नया एकदम नया
पेट धड़ सींग पूँछ और पंख।

(ओ अप्रस्तुत श्रोता)

पर इस कठिन समय में स्वयं इस विकसन की क्रिया अर्थात् रचना की सम्भावना को जिलाये रखना कवि के लिए सबसे बड़ी चुनौती है—बहुत कुछ प्रमथ्यु की आग चुराने की घटना जैसा दुस्साहसपूर्ण और रोमांचकारी। ऊपर जिस कविता का उल्लेख किया गया है, उसी में आगे कवि चुपचाप मानो एक रहस्योद्‌घाटन करता है :

मैंने चोरी-चोरी भीतर का रेडियम सँभाल रखा है।

दरअसल मुक्तिबोध के निकट 'कविता भीतर का रेडियम' है, जिसे बाहर और भीतर की सारी चुनौतियों के विरुद्ध सँभाले रखने का कठिन दायित्व कवि के ऊपर है। कविता के लिए—विशेषतः आज की कविता के लिए 'भीतर का रेडियम' एक अत्यन्त सारगर्भित बिम्ब है और जो कवि कला को जीवन-संघर्ष के केन्द्र में रखकर देखने का साहस रखता हो, 'भीतर के रेडियम' की आँच वही महसूस कर सकता है।

*भूरी भूरी ख़ाक धूल* की कुछ कविताओं में गम्भीरता के बीच एक विचित्र ढंग के खेल का-सा भाव या हल्का-फुल्कापन दिखाई पड़ता है, जो प्रभाव को गहनतर बनाता है। यह हल्का-फुल्कापन गम्भीरता के अनपेक्षित दबाव को थोड़ा कम करता है और कविता की पूरी बनावट में एक नया कलात्मक संतुलन पैदा करता है। *चाँद का मुँह टेढ़ा है* में भी यह प्रवृत्ति जहाँ-तहाँ थी। पर नये संग्रह की अनेक कविताओं में इस रचनात्मक कौशल का अत्यन्त सधा हुआ इस्तेमाल दिखाई पड़ता है। *भूरी भूरी ख़ाक धूल* की पहली ही कविता का अन्त इस तरह होता है :

और इस पागल-सी खोज को
कहते हम सत्यानुसंधान
फ़िजूल बात है
जब तक न चाय मिले
हमारी न होती कभी
हाय सुप्रभात है।

'सत्यानुसन्धान' जैसे भारी-भरकम मूल्यपरक शब्द के बाद 'सुप्रभात' के साथ जुड़ी हुई चाय की शर्त 'सत्यानुसन्धान' की सारी महिमा को कितना निरर्थक बना देती है। दरअसल यह मध्यवर्गीय जीवन का 'सुप्रभात' है, जिसके साथ जुड़ा हुआ 'सु' केवल व्यंग्य को और गहरा बनाता है। कुछ कविताओं में इस रचनात्मक हल्के फुल्केपन का इस्तेमाल ज़्यादा बड़े फ़लक पर किया गया है— वहाँ वह पूरी कविता में व्याप्त है, सिर्फ़ एक या दो पंक्तियों में नहीं। 'हर चीज़ जब अपनी' एक ऐसी ही कविता है, जिसमें तुकों से लेकर भाव या विचारों तक गम्भीरता और खेल का यह द्वन्द्वन्याय एक विलक्षण ढंग से सक्रिय रहता है। यदि कविता के आरम्भिक अंश में यह उद्दाम आकांक्षा है कि :

सबको समेट लें पी लें
ब्रह्माण्ड की काल-सूचक घड़ियों के
मिनटों और घण्टों को
धड़कन में ले लें और जी लें।

तो उसी कविता में दूसरी ओर इस जानी-पहचानी दुनिया के बारे में यह पुरलुत्फ़

मगर तिलमिला देने वाली टिप्पणी भी है :

यही कारण है कि रेत के ढेर-सी दिखती है
तो किसी को यह दुनिया
पके हुए बेर-सी दिखती है
कि जिसको वह तोड़े और खा जाय
तो किसी को लहँगे के घेर-सी
जिसमें वह पैठे और समा जाय
तो किसी को वह रीछ-सी भालू-सी
किसी को कद्दू-सी आलू-सी।

अभिव्यक्ति की इस विलक्षणता के कारण ही नहीं, अपनी पूरी काव्यात्मक समृद्धि के कारण हर 'चीज़ जब अपनी' इस संग्रह की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कविता है—एक ऐसी कविता जो मुक्तिबोध के पूरे कृतित्व में अलग-से पहचानी जा सकती है। स्वाधीनता के बाद का भारतीय जीवन अपनी सारी विडम्बनाओं और अन्तर्विरोधों के साथ यहाँ मौजूद है—जहाँ हरेक अपना-अपना स्वर्ग, सेतु, बुलडोज़र, क्रेन उठाये चल रहा है। पर इस सारी गति के पीछे छिपी हुई गहरी सचाई—इस समूची स्थिति का अन्तर्विरोध—यह है कि :

सब लोग सब कहीं जा रहे हैं
लेकिन कोई कहीं नहीं जा रहा है।

यह पूरी कविता समकालीन भारतीय जीवन पर एक तेज़ और तल्ख़ टिप्पणी है। पर साथ ही यह एक गहरी मानवीय करुणा से भरी टिप्पणी भी है—उनके प्रति जो 'ईंट के सिरहाने अकेले लेटते हैं।' अन्त तक जाते-जाते कविता का सारा नकारात्मक आवेग जैसे एक मोड़ लेता है, गम्भीरता और खेल का द्वन्द्व एक गहनतर परिणति की ओर बढ़ने लगता है और कवि उन्हीं ईंट के सिरहाने लेटने वालों के प्रति अपने लगाव की घोषणा इस तरह करता है :

अब आप सरकार हो
या साहूकार हो
उनके साथ मेरी पटरी बैठती है
उनके साथ
हाँ, उन्हीं के साथ
मेरी यह बिजली भरी ठटरी लेटती है
और रात कटती है।

अन्य कविताओं की तरह इस कविता की रचना-तिथि भी अज्ञात है। पर इसकी भाषा में जो निखार और सफ़ाई है उससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह

मुक्तिबोध के काव्य-विकास में एक बिल्कुल नयी दिशा को सूचित करने वाली कविता है। पुरानी कविताओं की जटिलता यहाँ कम हो गयी है, मुक्तिबोध की चिरपरिचित फ़न्तासी यहाँ पीछे छूट गयी है, भाषा में ईंट-पत्थर जैसी चमक है और कवि का वस्तुगत लगाव ज़्यादा साफ़ होकर उभरा है। सबसे बड़ी बात यह है कि यहाँ मुक्तिबोध उस लगाव को एक सर्वथा नये सौन्दर्यात्मक धरातल तक उठाने में सफल हुए हैं।

इन कविताओं को पढ़ते समय एक ख़ास बात की ओर हमारा ध्यान बार-बार जाता है जिसे मैं किसी और उपयुक्त शब्द के अभाव में मुक्तिबोध की भाषा का अजनबीपन कहना पसंद करूँगा। मेरा ख़याल है, इसके कारणों की खोज, मुक्तिबोध की द्विभाषिकता के भीतर की जा सकती है, जिसकी ओर ध्यान बहुत कम दिया गया है। घर में मराठी और कविता में हिन्दी, यह एक ऐसा भाषिक द्वन्द्व था जो मुक्तिबोध के कवि-कर्म को उनके अन्य समकालीनों की तुलना में अधिक चुनौतीपूर्ण बना देता है। इस अन्तराल को पाटने के लिए कोई सीधा रचनात्मक उपाय मुक्तिबोध के पास नहीं था—शायद किसी भी रचनाकार के पास हो ही नहीं सकता। होता यह है कि मुक्तिबोध अपनी रचना-प्रक्रिया के दौरान अपनी द्विभाषिकता का निषेध नहीं करते, बल्कि उसे एक विलक्षण सृजनात्मक स्तर पर सक्रिय बनाये रखते हैं। परिणामतः उनकी घर की भाषा और कविता की भाषा का द्वन्द्व उनकी पूरी कविता की बनावट में एक अजीब-सा रचनात्मक अजनबीपन पैदा करता है। यह अजनबीपन उनकी कविता में हिन्दी के परिचित शब्द-समूह और पूरे वाक्य-विन्यास को अनेक झटके देता है। आरम्भ में मुक्तिबोध के पाठक को इन झटकों के प्रति अभ्यस्त होने के लिए थोड़ी प्रतीक्षा करनी पड़ती है। पर एक बार उनकी कविता की भाषिक प्रकृति को पहचान लेने के बाद वे झटके एक रचनात्मक उत्तेजना देते-से जान पड़ते हैं। *भूरी भूरी ख़ाक धूल* में चूँकि उनकी कई आरम्भिक कविताएँ भी हैं, इसलिए वहाँ इन झटकों का सामना पाठक को बार-बार करना पड़ता है। 'कायरता और साहस के बीच' कविता हिन्दी के परिचित वाक्य विन्यास को तोड़ती हुई इस तरह शुरू होती है :

> कायरता और साहस के
> ज़िन्दा हूँ, बीच में।

भाषा का यह अजनबीपन मुक्तिबोध की सम्पूर्ण कलात्मक क्षमता को कहाँ तक समृद्ध या क्षत-विक्षत करता है यह विचारणीय हो सकता है और उस पर अलग से विचार होना भी चाहिए। पर इतना निश्चित है कि यह एक ऐसी भाषा है जिस पर मुक्तिबोध के व्यक्तित्व का मज़बूत ठप्पा लगा हुआ है।

जैसा कि पहले कहा गया है, *भूरी भूरी ख़ाक धूल* में कई छोटी कविताएँ भी हैं और दूसरी बातों को छोड़ भी दें तो यह एक ऐसी बात है, जिसमें यह संग्रह *चाँद का मुँह टेढ़ा है* से अलग दिखाई पड़ता है। इनमें से कुछ सहज गीतात्मक बनावट वाली प्रेम-कविताएँ भी हैं, जिनमें मुक्तिबोध के पुराने पाठकों को एक नये मुक्तिबोध का साक्षात्कार होगा। इस अर्थ में यह संग्रह मुक्तिबोध के काव्य-संसार के कुछ सर्वथा नये अध्यायों को खोलता है। 'सहर्ष स्वीकारा है' और 'बिना तुम्हारे'—ये दोनों ही अलग-अलग स्तर पर प्रेम-कविताएँ हैं और पहले में यदि प्रेम के गहन अनुभव की प्रगाढ़ स्वीकृति है तो दूसरे में एक सम्भावित अभाव की कचोट या दबी हुई हल्की निराशा—'जहाँ दमकती हुई झील' भी 'पानी का कोरा झाँसा' दिखाई पड़ती है। ये और इस संग्रह की ऐसी ही अनेक छोटी-बड़ी या अपेक्षाकृत कम लम्बी कविताएँ कवि मुक्तिबोध के मानवीय पक्ष के अनेक ऐसे स्तरों को उद्घाटित करती हैं, जो *चाँद का मुँह टेढ़ा है* के वृहत् आकार वाली कविताओं के ढाँचे में समायोजित नहीं हो पाये थे। अनेक अच्छी रचनाओं के साथ *भूरी भूरी ख़ाक धूल* में कुछ कमज़ोर रचनाएँ भी दी गयी हैं, जो सिर्फ़ इसलिए पढ़ी जा सकती हैं फि वे मुक्तिबोध की रचनाएँ हैं। ऐसी कविताएँ सम्भवतः कवि की आरम्भिक कृतियाँ हैं और कालक्रम का विचार करते हुए यदि उनका एक अलग संग्रह प्रकाशित किया जाता तो यह ज़्यादा बेहतर होता। *भूरी भूरी ख़ाक धूल* जिस रूप में हमारे सामने है, उसमें मुक्तिबोध की सभी दौर की कविताएँ हैं और उनमें से कुछ यदि कवि की प्रखरतम प्रतिभा के श्रेप्ठ उदाहरण हैं तो अनेक ऐसी भी हैं जो सिर्फ़ इसलिए दिलचस्प हो सकती हैं कि वे किसी हद तक मुक्तिबोध के दीर्घ और जटिल काव्यविकास को समझने में सहायक हो सकती हैं।

---

**केदारनाथ सिंह**

# हिन्दी आधुनिकता का अर्थ
## (विशेषतः कविता के सन्दर्भ में)

आधुनिकता को लेकर हिन्दी में लम्बी बहसें हुई हैं और बहुत कुछ लिखा-पढ़ा गया है। अब यह चर्चा थम-सी गयी है। आधुनिकता, आधुनिकताबोध और आधुनिकतावाद-सम्बन्धी बहस आज हिन्दी के लेखक के लिए अतीत की वस्तु हो चुकी है। अगर कोई दिलचस्पी बची है तो वह सिर्फ़ अकादेमिक हलक़ों तक ही सीमित है। परन्तु यह एक तथ्य है कि इतिहास के एक महत्त्वपूर्ण दौर में आधुनिकता-सम्बन्धी बहसों ने हिन्दी मानस के एक हिस्से को थोड़ा झकझोरा था और इसलिए वह बार-बार पुनरावलोकन का आमन्त्रण भी देगा ही, ख़ास तौर से इतिहासकारों और साहित्य के गम्भीर अध्येताओं को। पर मुझे लगता है कि सिर्फ़ आधुनिकता-सम्बन्धी बहस ख़त्म हुई है—आधुनिकता की प्रक्रिया अपने ख़ास ढंग से पूरे भारतीय सन्दर्भ में आज भी जारी है। यह स्थिति पश्चिम से थोड़ी भिन्न है और इसीलिए ठेठ भारतीय भी। यह एक विकासशील देश की अपनी बनावट और उसकी ख़ास ज़रूरतों का महत्त्वपूर्ण हिस्सा है, जिसे सही संदर्भ में रखकर देखा जाना चाहिए।

हिन्दी में 'आधुनिकता' शब्द के विकास का एक लम्बा इतिहास है। यह याद रखना ज़रूरी है कि हिन्दी-मानस ने 'आधुनिकता' शब्द को ही स्वीकार किया, 'आधुनिकतावाद' को नहीं। पचास के दशक में आधुनिकता के साथ-साथ आधुनिकबोध का इस्तेमाल भी मिलता है। परन्तु जाने या अनजाने नई हिन्दी कविता की आलोचना के सन्दर्भ में 'आधुनिकतावाद' पद के प्रयोग से प्रायः बचने का प्रयास किया गया है। यह मुझे महत्त्वपूर्ण लगता है। व्यापक प्रयोग में किसी शब्द का ग्रहण या परित्याग कभी भी आकस्मिक नहीं होता। हिन्दी में 'आधुनिकता' शब्द का पहला प्रयोग कब और किसने किया, इसकी ठीक-ठीक जानकारी हमें नहीं है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से पहले इस शब्द का प्रयोग लगभग नहीं मिलता। आधुनिक साहित्य के प्रवर्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की कविता पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा—"पर उनकी कविता के विस्तृत संग्रह

में आधुनिकता कम ही मिलेगी।'' ऐसा लिखते समय 'आधुनिकता' शब्द से आचार्य शुक्ल की मंशा क्या थी, इसे उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। परन्तु वह चीज़ जिसे वे 'आधुनिकता' के नाम पर भारतेन्दु की कविता में देखना चाहते थे, वह वहाँ लगभग नहीं मिली और इस बात ने उन्हें थोड़ा परेशान किया। इससे यह बात खण्डित होती है कि हिन्दी में आधुनिकता-सम्बन्धी चर्चा स्वाधीनता के बाद के पहले दशक में शुरू हुई थी। आचार्य शुक्ल अंग्रेज़ी की आधुनिक कविता से परिचित थे और वहाँ 'आधुनिक' या 'आधुनिकता' का क्या अर्थ होता है, इसे बख़ूबी जानते थे। फिर भी हिन्दी काव्यालोचन में इसको ले जायें तो यह जानने का आधार है कि वे इस शब्द को अंग्रेज़ी से अलग ठेठ हिन्दी या कहें भारतीय सन्दर्भ में एक नया अर्थ देना चाहते थे। मैं समझता हूँ, इसे हिन्दी में आधुनिकता-सम्बन्धी चर्चा का प्रस्थान-बिन्दु माना जाना चाहिए—चाहे उसका अर्थ जितना भी आरम्भिक और स्थूल रहा हो। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हिन्दी में यह चर्चा नकारात्मक 'नोट' के साथ नहीं शुरू हुई थी।

वस्तुस्थिति यह है कि हिन्दी कविता में (और कमोबेश पूरी भारतीय कविता में भी) आधुनिकता कोई आकस्मिक घटना नहीं है, बल्कि वह एक लम्बी विकास-प्रक्रिया का परिणाम है। मुक्ति-आन्दोलन के समानान्तर और कई बार उसके आगे-पीछे यह प्रक्रिया पुराने मूल्यों से टकराती हुई और उन्हें छिन्न-भिन्न करती हुई अपने ढंग से चुपचाप चलती रही है। हिन्दी कवि को यह लड़ाई दो मोर्चों पर लड़नी पड़ी—पहले भाषा के मोर्चे पर और लगभग उसी के साथ-साथ संवेदना और विचार के मोर्चे पर भी। भाषा को आधुनिक बनाने का काम अधिक लम्बा और अधिक जटिल था। लोक-व्यवहार में वह अपने ढंग से घटित हो रहा था। काव्य भाषा को उस लोक-स्पन्दन तक पहुँचने में थोड़ा समय लगा। इसीलिए हम पाते हैं कि निराला जैसे श्रेष्ट आधुनिक कवि की कविताओं में भी कई बार संवेदना और भाषा के बीच एक अजब क़िस्म का द्वन्द्व या तनाव दिखाई पड़ता है। हमारी आलोचना में भाषा और आधुनिकता के सम्बन्ध पर विचार कम हुआ है। पर मुझे लगता है कि भारतीय सन्दर्भ में इन दोनों के सम्बन्ध की छानबीन अलग से की जानी चाहिए। यह बार-बार कहा गया है कि हमारी भाषाओं में आधुनिकता पश्चिम के प्रभाव से आई। पर मुझे लगता है कि उस प्रभाव को हमारी भाषाओं ने एक स्वतःस्फूर्त आन्तरिक सैंसर के द्वारा काफ़ी ठोंक बजाकर धीरे-धीरे स्वीकार किया और वहीं तक स्वीकार किया, जहाँ तक उनकी जातीय संरचना और मूल प्रकृति को कोई ख़तरा नहीं पहुँचता था। इस तरह देखें तो—आधुनिक भारतीय भाषाएँ बाह्य प्रभावों के प्रति चुपचाप ढंग से एक 'शॉक एब्ज़ार्वर' का काम करती रही हैं। काव्य भाषा में इसका प्रतिफलन किस रूप में हुआ, यह एक अलग विचार का विषय है, जो गहरी पड़ताल और

व्याख्या-विश्लेषण की अपेक्षा रखता है।

स्वाधीनता के बाद आधुनिकता को लेकर जो बहसें हुईं—और काफ़ी हुईं—उनमें स्पष्टतः दो खेमे बनते हुए दिखाई पड़े। एक वर्ग वह था, जो मानता था (और ऐसा माननेवाले थोड़े-बहुत अब भी मिल जायेंगे।) कि आधुनिकता एक तरह का संकट बोध है—लगभग उसी तरह जैसे वह पश्चिम के साहित्य में दिखाई पड़ता है। इस वर्ग ने माना कि आधुनिकता औद्योगीकरण की अतिशयता और 'महानगरीय एकरसता' की उपज है। दिलचस्प यह है कि ये बातें उस समय कही गयीं, जब बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण की शुरुआत अभी हो ही रही थी और जिन्हें हम आज 'महानगर' कहते हैं, वे अपनी नगरीय सीमा को तोड़ने के लिए छटपटा भर रहे थे। फिर उस संकट बोध का अर्थ क्या था और अपने आसन्न संदर्भ से उसकी संगति यदि बैठती थी तो किस तरह ? मुक्तिबोध पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने इस सवाल को पूरे बलाघात के साथ उठाया था—1956 के अपने एक लेख में। उन्होंने लिखा—"आज योरप-अमरीका में एक विशेष प्रकार की समाज-समीक्षा, सामाजिक आलोचना, सभ्यता-समीक्षा प्रचलित है। कई ऐसे कवि हैं, जो भारतीय अनुभव को ध्यान में न रखकर, विदेशों में प्रचलित जो सभ्यता-समीक्षा है, उसको अपनाकर काव्य में अपनी भावनाएँ प्रकट करते हैं।" आगे चलकर उसी निबन्ध में उन्होंने यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी उठाया कि "नयी हिन्दी कविता में जो आधुनिक भाव-बोध है, वह पश्चिमी जगत के व्यक्तिवादी-निराशावादी दर्शन से अनुप्राणित हो या भारत के अपने भविष्य-स्वप्न से ?"

असल में हमारे भविष्य-स्वप्न का जो परिकल्पित ढाँचा था, उसकी मूल प्रेरणाएँ भी लगभग वही थीं, जहाँ नयी कविता के एक अच्छे-ख़ासे हिस्से की। हमारे जैसे ही नवस्वाधीन अन्य एशियाई देशों तथा अफ्रीकी या लैटिन अमरीकी देशों के सांस्कृतिक मोर्चों पर क्या हो रहा था, यह जानने के उपाय तो थे, पर उसके लिए अपेक्षित उत्सुकता हमारे भीतर नहीं थी। हमारे सांस्कृतिक जीवन पर जो औपनिवेशिक दबाव अब भी बना हुआ था, उसके चलते हमें इस एहसास तक पहुँचने में लम्बा समय लगा कि उन भूभागों में जो घटित हो रहा है उससे हमारे सोच और संवेदना के तार कहीं न कहीं मिलते हैं। साथ ही पश्चिम के परम्परागत सांस्कृतिक केन्द्र अपनी अर्थवत्ता खोते जा रहे हैं, यह जानने और मानने में भी हमें थोड़ा समय लगा। फलतः इस अन्तराल में हिन्दी के नये कवियों के द्वारा आधुनिकता के मान-मूल्य वहीं देखे और तलाशे जाते रहे, जहाँ खुद वे अप्रासंगिक होते जा रहे थे। लेकिन इस बीच भी हिन्दी आधुनिकता की जो मुख्य धारा थी, वह चुपचाप सक्रिय थी और अपनी गतिमयता के स्रोत कहीं और नहीं, अपने परिवेश की उन्हीं जानी-पहचानी परिस्थितियों के भीतर खोज रही थी, जिनके बीच वह सक्रिय

थी। मुक्तिबोध, शमशेर, नागार्जुन और त्रिलोचन आदि इसी धारा के कवि थे और इनमें से पिछले तीन तो एक व्यापक सन्दर्भ में आज भी उस धारा का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। इन कवियों के निकट आधुनिकता वस्तुतः मुक्ति की आकांक्षा है जो कविता में एक नये कलात्मक तेवर के साथ व्यक्त होती है।

पश्चिमोन्मुख आधुनिकता और ठेठ भारतीय आधुनिकता के बीच का वह द्वन्द्व कविता मे एक सुखद रचनात्मक परिणति तक पहुँचकर अब थम-सा गया है। परन्तु अब भी कई अन्तराल ऐसे हैं जिनको भरे बिना कविता को उसके अभीष्ट लक्ष्यों तक पहुँचाना कठिन होगा। समकालीन कविता में यह अंतराल कई बार संवेदना और सोच के बीच की फाँक के रूप में प्रकट होता है, कई बार स्वयं शब्द और अर्थ के बीच की दरार के रूप में भी। स्वाधीनता के बाद हिन्दी का जो मानक रूप बना है और किसी हद तक आज भी बन रहा है उसके विकास की दिशा बहुत कुछ अभिजनोन्मुख रही है। इसका प्रभाव थोड़ा-बहुत कविता की भाषा पर भी पड़ा है। उसने काफ़ी हद तक एक आधुनिक मुहावरा अर्जित तो कर लिया है, पर ऐसा करते हुए वह अपने मूल भाषिक स्रोतों से कुछ विच्छिन्न भी होती गयी है। अतः बाद के कवियों के लिए भाषा के स्तर पर आधुनिकता की लड़ाई ज़्यादा जटिल होती गयी है। इस स्थिति ने लिखित शब्द और पाठक के बीच के अन्तराल को भी थोड़ा बढ़ाया है। इसका एक नतीजा यह है कि समाज का वह हिस्सा जो अपनी भाषा के बीच पहले से ही गूँगा था, थोड़ा और गूँगा हुआ है।

बहैसियत एक रचनाकार के मेरे लिए आधुनिकता सबसे पहले मेरा अनुभव है। यह अनुभव बहुत-सी मानसिक प्रतिक्रियाओं, दृश्यो, घटनाओं, उम्मीदों और मोहभंगों का एक मिला-जुला घोल है, जोकि असल में मेरी दुनिया है। मेरी आधुनिकता का एक बड़ा हिस्सा बेशक वैज्ञानिक और तकनीकी विकास के गर्भ से पैदा हुआ है। परन्तु मेरी विशिष्ट ऐतिहासिक स्थिति की विडम्बना यह है कि मेरी आधुनिकता के स्वरूप को निर्धारित करने में वे वास्तविकताएँ भी एक ख़ास तरह की भूमिका निभाती हैं, जो आधुनिकता के सुपरिचित दायरे से लगभग बाहर हैं। मेरी आधुनिकता की एक चिन्ता यह है कि उसमें लालमोहर कहाँ है ? मेरी बस्ती के आख़िरी छोर पर रहनेवाला लालमोहर वह जीती-जागती सचाई है, जिसकी नीरन्ध्र निरक्षरता और अज्ञान के आगे मुझे अपनी अर्जित आधुनिकता कई बार विडम्बनापूर्ण लगने लगती है। मेरे भावबोध का यह एक ऐसा पेंच है, जिसे सुलझाने का कोई आसान रास्ता नहीं है मेरी रचना के पास।

एक भारतीय नागरिक के रूप में मैं जानता हूँ कि मेरा समाज, सामन्तवाद के विरुद्ध एक लम्बे संघर्ष के बाद भी, अपने मूल्यों और अपने आचरण में सामन्ती अवशेषों से अभी पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाया है। उसी अवशेष का एक रूप

है जाति-व्यवस्था जो मेरे चारों ओर है। मैं चाहूँ या न चाहूँ, अपने समाज में अपने सारे मानववाद के बावजूद, मैं एक जाति-विशेष का सदस्य माना जाता हूँ। यह मेरी सामाजिक संरचना की एक ऐसी सीमा है, जिससे मेरे रचनाकार की संवेदना बार-बार टकराती है और क्षत-विक्षत होती है। मेरी आधुनिकता में यह खरोंच भी शामिल है। अपने शब्दों को अपने समय की आँच पर पकाते और फिर उन्हें काग़ज़ पर उतारते हुए मैं चाहूँ भी तो इस तथ्य को भूल नहीं सकता कि मुझे अकसर हिन्दू-मुस्लिम संघर्षों की शर्म और पीड़ा भी झेलनी पड़ती है। मैं और मेरी भाषा, दोनों उस द्वन्द्व को दूर तक झेलते हैं, जो इस टकराव से पैदा होता है। समकालीन हिन्दी कविता में ऐसी पंक्तियों का अभाव नहीं है जो इस दंश को व्यक्त करती हैं। कवि शमशेर की नीचे लिखी पंक्तियों में मुझे उसी दंश की एक गहरी और तिलमिला देने वाली अभिव्यक्ति मिलती है—

> ईश्वर, अगर मैंने अरबी में
> प्रार्थना की तो तू मुझसे
> नाराज़ हो जायेगा ?
> अल्लाह, यदि मैंने संस्कृत में
> सन्ध्या कर ली तो तू
> मुझे दोज़ख़ में डालेगा ?
> लोग तो यही कहते घूम रहे हैं
> तू बता ईश्वर
> तू ही बता मेरे अल्लाह ?

यहाँ थोड़ा रुककर एक और बात पर विचार कर लेना मुझे ज़रूरी लगता है। सचाई यह है कि सारे साम्प्रदायिक तनाव के बावजूद हिन्दी कविता में धार्मिक संवेदना का वैसा उभार नहीं दिखाई पड़ता, जैसा कि आधुनिकीकरण के प्रतिक्रियास्वरूप योरप की आधुनिक कविता में घटित हुआ था। कुछ कवियों के यहाँ एक नव-रहस्यवाद जैसी चीज़ ज़रूर दिखाई पड़ती है, पर उसका धर्म से कुछ ख़ास लेना-देना नहीं है। यह कहने की ज़रूरत नहीं कि हम जिस समाज में रहते हैं, धार्मिक आचार-विचार उसकी बनावट का एक मुख्य हिस्सा हैं। जिस हद तक हमारा संदर्भ हमारे भाव-बोध में रचा-बसा है, उस हद तक उस पर धार्मिक स्थिति का दबाव भी ज़रूर होगा। उस दबाव का एक बेहद तीखा बयान नागार्जुन की 'पछाड़ दिया मेरे आस्तिक ने' जैसी कविता में मिलता है। इस कविता में कवि उगते हुए सूर्य को देखता है और सहसा उसके प्रति एक परम्परागत स्तुतिभाव उसके भीतर जगता है। उसके होंठों से सूर्य-स्तुति के कुछ मंत्र फूट पड़ते हैं—लेकिन कविता के अन्त तक जाते-जाते वह अपने युवा मित्र से कहता है कि वह मंत्रपाठ वस्तुतः एक

'डिवियेशन' या भटकाव था। इस तरह पूरी कविता एक विलक्षण आलोचनात्मक विवेक के साथ एक गहरी मानवीय परिणति तक जाकर ख़त्म होती है। पश्चिम की आधुनिक कविता से हिन्दी की आज की कविता की मुख्य धारा, जिन अनेक स्तरों पर अलग होती है, उनमें से एक महत्त्वपूर्ण स्तर यह है—एक ऐसा स्तर जिसकी गहरी छानबीन की अपेक्षा अब भी बनी हुई है।

मेरे समय की एक बड़ी चिन्ता है—पर्यावरण को प्रदूषण से बचाये रखने की चिन्ता। इस चिन्ता का एक विश्वव्यापी आयाम है। इस समस्या की कई पर्तें हैं और सबका सम्बन्ध केवल उस पर्यावरण से नहीं है, जिसे हम अपना बाह्य परिवेश या आबोहवा कहते हैं। मैं जानता हूँ कि इन शब्दों को लिखते समय मेरे कान और मेरी भाषा के कान भी, उधर लगे हैं, जिधर से खाड़ी-युद्ध के धमाकों की आवाज़ आ रही है। मेरे बोध और मेरे पर्यावरण की रक्षा का उस धमाके से गहरा सम्बन्ध है। पर ख़तरा सिर्फ़ उधर से नहीं है। मेरा टेलीविज़न लगभग प्रलाप जैसी भाषा में जो लगातार बोलता रहता है, एक ख़ास तरह का प्रदूषण मेरी भाषा की दुनिया में--उसके ज़रिये भी फैलता है। परन्तु प्रदूषण चाहे बाहरी हो या भीतरी, उसकी जड़ें आधुनिक जीवन के ढाँचे में हैं, ऐसा सोचना समस्या को उलटकर देखना होगा। हिन्दी कविता में पर्यावरण की जो चेतना इधर उभरती हुई दिखाई पड़ती है उसमें आधुनिकता और पर्यावरण में कोई तनाव या विरोध नहीं है और यह हमारी आधुनिकता का एक नया आयाम है।

मेरी आधुनिकता में मेरे गाँव और शहर के बीच का सम्बन्ध किस तरह घटित होता है, इस प्रश्न की विकलता मेरे भाव-बोध का एक अनिवार्य हिस्सा है। ये दोनों मेरे भीतर हैं और दोनों में जो एक चुपचाप सहअस्तित्व है, उसका सन्तुलन हमेशा एक जैसा बना रहता हो, ऐसा नहीं है। इससे भारतीय कवि के भीतर एक नये ढंग का भाव-बोध विकसित होता है, जो पश्चिम से काफ़ी भिन्न है। साइबेरिया में जन्मे प्रसिद्ध रूसी लेखक वसीली शूक्शिन ने गाँव और शहर के इस रिश्ते को काफ़ी गहराई से महसूस किया था। वे लिखते हैं—"यह विचित्र बात है कि चालीस की उम्र में मैं न तो नियमित रूप से शहर में रहनेवाला बन पाया हूँ, न ही देहाती रह गया हूँ। इस बात से मैं बहुत असुविधा महसूस करता हूँ।⋯ लेकिन इस स्थिति के भी अपने कुछ फ़ायदे हैं।" शूक्शिन ने जिस 'असुविधा' की बात लिखी है, उसे अपने रचनात्मक जीवन के किसी न किसी मोड पर वे सारे कवि-लेखक महसूस करते हैं, जो रहते तो हैं किसी बड़े नगर में मगर जिनकी जड़ें किसी सुदूर क़स्बे या गाँव में हैं। शूक्शिन के अनुसार इस स्थिति के अपने कुछ फ़ायदे भी हैं। असल में दोनों के बीच का रचनात्मक तनाव कवि के अनुभव को एक नयी ऊष्मा और धार देता है—यह बात नागार्जुन, त्रिलोचन और केदारनाथ अग्रवाल जैसे कवियों की कृतियों

में ख़ास तौर से देखी जा सकती है। पश्चिम से प्रभावित आधुनिकता के लगभग सारे प्रचलित साँचों को अस्वीकार करते हुए भी ये कवि आधुनिक हैं और अपने ठेठ भारतीय अर्थ में आधुनिक हैं। इनकी आधुनिकता की जड़ें अपने समय और समाज के संघर्षों की उस लम्बी परम्परा में हैं, जो परिवर्तन की एक दीर्घ प्रक्रिया के अन्तर्गत धीरे-धीरे विकसित होती रही है। इसीलिए इनके शब्दों में एक देशज अर्थ की गूँज है जो चेतना में देर तक टिकी रहती है। इस धारा के कवियों में परम्परा की खोज की वह बौद्धिक बेचैनी नहीं दिखाई पड़ेगी, जो आधुनिकतावादी कवियों में दिखाई पड़ती है। असल में परम्परा इनकी संवेदना, सोच और भाषा में अन्तर्निहित है—क्योंकि जिन जनपदीय स्रोतों से उभरकर ये कवि आये हैं, वहाँ पर वह कोई अलग से खोजी या पायी जाने वाली चीज़ नहीं होती। वह वहाँ रोज़मर्रा के संघर्षों में आती छीजती और पुनर्निमित होती रहती है।

सचाई यह है कि मैंने और बहुत से समकालीन रचनाकारों ने अपने अध्ययन और अनुभव से जिस आधुनिकताबोध को अर्जित किया है, उसमें अपनी जड़ों से आई हुई स्मृतियाँ और अभिप्राय भी चुपचाप शामिल हो गये हैं। इससे अर्जित बोध को एक स्थानिक प्रामाणिकता मिलती है, जहाँ रचना अपना पाँव टिकाकर खड़ी होती है। आज की ज़्यादातर कविताएँ अपने स्थान से होकर अपने समय में प्रवेश करती हैं ओर थोड़ा प्रयास किया जाये तो उनमें इसका एक आवर्तनशील साँचा भी तलाश किया जा सकता है। अपनी स्मृतियों को कुरेदता हूँ तो वहाँ इसका एक साँचा पहले से ही मौजूद है। मैंने अपनी बस्ती की जिस पाठशाला में शिक्षा ग्रहण की थी, वहाँ कोई घड़ी नहीं थी। उन दिनों घड़ी के होने का सवाल ही नहीं था। इसलिये दोपहर के खाने की छुट्टी तब होती थी, जब दुपहरिया के फूल खिल जाते थे। ये छोटे-छोटे लाल-लाल फूल होते थे, जिन्हें इसी नाम से जाना जाता था। खाने की छुट्टी का समय और दुपहरिया के फूल के खिलने में जो रिश्ता था, वह हमारे लिए एक चमत्कार की तरह होता था। मैंने समय को इसी तरह जानना सीखा था और जिस भाषा में सीखा था, वह अजब ढंग से प्रकृति और मनुष्य की मिली-जुली भाषा थी। मेरे आधुनिक संवेदनों में जो बहुत-से तत्त्व अपनी मूल जड़ों से छनकर आ गये हैं, उनमें समय का यह बोध भी है—एक ऐसा बोध जिसमें स्थान और समय के बीच कोई फाँक नहीं होती। अपने समय को मेरी भाषा की आँख जिस तरह देखती है, उसका छोटा-सा उदाहरण देकर अपनी बात समाप्त करूँगा—

> क्या आप विश्वास करेंगे
> कि आज की धूप में
> अगली सदी के किसी शनिवार की गर्मी है।

कि इस समय
हमारे शहर के सारे पौधे
अपनी ख़ुराक ले रहे हैं
आठवीं सदी की मिट्टी में दबी
किसी हरी खाद से।

कि अभी-अभी मेरे नल से
जो टपक रहा था पानी
वह अड़तीसवीं सदी के
किसी कुएँ से आ रहा था ?

---

# मिथ में बदलता आदमी

आज़मगढ़ में टौंस नदी का किनारा। उस पार के खेतों में गेहूँ पक गया था। सफ़ेदीपन लिये हुए पीले डण्ठल और लगभग कत्थई पड़ चली बालियाँ झुकी पड़ रही थीं। हवा थी। नदी के दोनों किनारों में ख़ूब घनी वनघासें उगी थीं। और पानी के नीचे मोटी काई की हरी-नीली चादर के ऊपर छोटी-छोटी मछलियों की लहर इधर-से-उधर आ-जा रही थी। घाट की सीढ़ियों के पत्थर जगह-जगह से खिसक गये थे।

घाट से लगे हुए कबीरपन्थियों के बहुत पुराने मठ और उपासनाघर। निर्जन। मठ को चारों ओर से घेरे हुए ऊँचे सघन पेड़ थे जो उस पूरे इलाक़े को एक छोटे-मोटे वन की हैसियत प्रदान करते थे। चिड़ियों की आवाज़ें आ रही थीं। उन आवाज़ों के अन्तराल को हवा कभी सूखे पत्ते खड़काकर तो कभी नदी में मछलियों की एक दुबली-पतली छप् उठाकर भरती थी। आसमान में सूरज डूबने के पहले की रंगारंग हलचल

इन सबको छोड़कर आगे बढ़ो तो एक चटियल मैदान था अपनी रौंदी हुई धूल में चारों ख़ाने चित्त। उसके बाद से ही शहर का पिछड़ापन शुरू होता था, अपने मक्खी-मच्छर, धुएँ, शोर, स्कूल, कचहरी, हलवाई की दुकानों, अख़बार के स्टालों, रण्डी और शराब के अड्डों के साथ। इस पिछड़ेपन को शहर के तमाम सारे मुहल्लों में से एक नाम दे दिया गया था। प्रकृति इस पिछड़ेपन के पहले तक थी और जहाँ जाकर हम उस पिछड़ेपन में शामिल हो गये थे वहाँ वह हमसे छूट गयी थी। और जहाँ ज़्यादातर समय पिछड़ेपन के बीच ही रहना हो वहाँ प्रकृति उत्तेजित-प्रेरित नहीं करती।

धूल में लस्त-पस्त उस मैदान में खड़े-खड़े—जिसके पीछे थी प्रकृति और आगे था पिछड़ापन—मुझे रामचन्द्र शुक्ल की याद आयी। पिछले कई महीनों से मैं शुक्लजी की *रस-मीमांसा* पढ़ता रहा था। उससे उलझता, जूझता, उस पर मुग्ध होता, खीजता, झुँझलाता, चकित होता रहा था। इस समय जबकि मैं उस मैदान में खड़ा था मुझे याद आयीं *रस-मीमांसा* की वे पंक्तियाँ जिनमें आलोचक रामचन्द्र शुक्ल की कटी-छँटी घनी मूँछ, पतली कमानी का चश्मा, गोल टोपी और मोटी गर्दन से बननेवाली रोबदार

मुखाकृति के बावजूद एक सरस, निश्छल और भावुक हृदय के भाव-सत्य हैं। वे भाव-सत्य शुक्लजी ने प्रकृति के मार्मिक तथ्यों को बीनकर उन पर अपनी कल्पना का रंग चढ़ाकर रचे हैं। और इस रचने के कर्म से मानो उनकी कटी-छँटी सघन मूँछें मुस्करा उठी हों, पतली कमानी के चश्मे के नीचे सोच में डूबी आँखें अपने चारों ओर का सौन्दर्य-प्रसार देख एकाएक चमकने लगी हों, मोटी गर्दन प्रकृति के रूप-छन्द की ताल पर हौले-हौले हिलने लगी हो। मुझे याद आयीं वे पंक्तियाँ जिनमें समीक्षा के स्वेद-रक्त-धूल से सने मैदान का अर्थ प्रकृति के स्पर्श से पंखयुत हो उठा है, नये-नये अंकुर फेंकने लगा है। यह पंखयुत अर्थ किसी कविता की परिभाषा के लिए नहीं रचा गया, किसी गूढ़ साहित्य-तत्त्व के शास्त्रीय विवेचन के लिए नहीं अँकुराया गया। यह पंखयुत अर्थ दरअसल उस सामान्य मनुष्य के लिए है जो अपने समय के पिछड़ेपन में घिरा है। शुक्लजी बार-बार उस मनुष्य को गुहारते हैं कि सदा अपने भीतर ही न धँसे रहो, बाहर आओ और देखो, देखो और महसूस करो।

मैंने कहा—आचार्यप्रवर, मैं तो पहले ही बाहर हूँ। मैं आपका बतलाया हुआ वह भावयोग कैसे साधूँ कि मेरे सामने का यह पिछड़ापन अपने तमाम मक्खी-मच्छर, धुएँ, शोर, स्कूल-कचहरी, हलवाई की दुकानों, अख़बार के स्टालों, रण्डी और शराब के अड्डों के साथ सरासर तथ्य न रहकर सत्य में बदल जाये। पिछड़ेपन का यह टुकड़ा देश के पिछड़ेपन के और-और टुकड़ों में मिल जाये, इस पिछड़ेपन में घिरे हुए सब मनुष्य एक हो जायें; एक और अपने से बाहर—किससे रू-ब-रू ? किसके ख़िलाफ ? किसके प्रति समर्पित ?

मैं हिन्दी का एक छोटा-सा कवि सोचने लगा कि क्या मुझे इस प्रश्न के उत्तर की अपेक्षा शुक्लजी से करनी चाहिए ? शुक्लजी के शब्द याद आये : "सत्य सबकी सामान्य सम्पत्ति होता है; झूठ हर एक का अलग-अलग होता है।" पर वह सत्य कहाँ ? क्या उस प्रकृति में, जिसकी तरफ़ मेरी पीठ है और जिससे गुज़रकर मैं इस चटियल मैदान तक पहुँचा हूँ ? या उस पिछड़ेपन की धमनी में रुँधे, सड़ते, कुलबुलाते मानव-सम्भावनाओं के रूपहीन, नामहीन समूह में जो इस मैदान के आगे है और जहाँ जाकर मुझे—आसमान में घिरते जाते अँधेरे के साथ—मिल जाना है ?

शुक्लजी ने कई गर्मियाँ आज़मगढ़ में बितायी थीं। उनके बड़े लड़के आज़मगढ़ में वकील थे और शुक्लजी बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय की अपनी प्राध्यापकी के दौरान ग्रीष्मावकाश में वहाँ जाया करते थे। घुमक्कड़ स्वभाव के शुक्लजी ने टौंस का वह किनारा देखा होगा, वह कबीरपन्थी मठ, वह घाट, वे लहरें, बनघासें, वृक्षवितान, सब शहर का रूप तब शायद कुछ और रहा होगा, मुहल्लों के नाम भी शायद दूसरे रहे हों। पर यह पिछड़ापन ? बेशक इसमें वह तेज़ाबीपन तब न रहा होगा जो कि आज है। टौंस के पानी को बाँधनेवाली हरी-नीली काई की वे जंज़ीरें

भी तब न रही होंगी जो कि आज हैं। पर वे जोंकें तो होंगी ही जो समाज के रुँधे हुए जल में पनपती हैं। वह धुआँ तो होगा ही जो हर भूखे खपड़ैल से उठता है और जीवन के कुल आकाश-अर्थों को चर जाता है। और मनुष्य ? वह जो अपने अन्देशे से भी दुबला नहीं होता और वह जिसकी ठठरियों पर ज़रा मांस नहीं, वह जो अपनी पक्की हवेली में बैठकर हलवा-पूरी खाता है और वह जो झोंपड़ी में बैठा सूखे चने चबाता है, वह जिसके लड़के दुशाला ओढ़कर निकलें और वह जिसके बच्चे ठण्ड से काँपते रहें—यह वर्ग-भेद तब भी रहा होगा, शायद उतना नंगा और बेबाक और विस्फोटक नहीं जितना कि आज है। शुक्लजी ने वह वर्ग-भेद देखा होगा, देखा और महसूस किया होगा। वे उसकी जड़ तक नहीं गये, क्योंकि उनके समय में प्रकृति और मनुष्य के पिछड़ेपन के बीच वह मैदान न था, वह तपता, धूल-धूसरित, मूल्य-बंजर मैदान। उस मैदान में खड़े-खड़े मुझे याद आयीं वे पंक्तियाँ जिनमें अपने परिवेश की चिंगारियों से झुलसता हुआ भी रामचन्द्र शुक्ल का सामान्य मनुष्य कुछ आस्तिक मूल्यों को दृढ़ता से पकड़े हुए चलता चला जा रहा है।

शुक्लजी के कई रूप हैं। एक रूप वह जिसने हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा और गोया हमें वह झरोखा दिया जिसमें बैठकर न सिर्फ़ साहित्य के इतिवृत्त का बल्कि उसे सम्भव बनानेवाले हवा-पानी-मिट्टी का भी जायज़ा लिया जा सके। एक रूप वह जिसने छायावाद से लोहा लिया। एक वह जो 'हृदय का मधुभार' हल्का करने के लिए स्मृतिजीवी कवि बना। एक वह जिसने हिन्दी की विचार-शक्ति को देसी साँचे में ढालकर समालोचना के नये औज़ार गढ़े। एक ओर जिसने पूर्व और पश्चिम के द्वन्द्व में अपनी ज़मीन का विवेक नहीं खोया और उससे बड़ी बात यह कि अपनी भाव-संवेदना के कपाट सदा खुले रखे। पर एक रूप जिसमें शुक्लजी के सभी रूप समाहित हैं, याकि सभी रूप इस एक रूप से निकले हैं, वह है उनका विशिष्ट और विलक्षण के विरुद्ध सामान्य और सर्वानुभूत का पक्षधर रूप। शास्त्रीय खण्डन-मण्डन के तमाम घटाटोप के बावजूद शुक्लजी के व्यक्तित्व का यह मूल रूप छिप नहीं सका है। आश्चर्य है, उनके इस तेजस्वी रूप पर अब तक विश्वविद्यालयों के शोध-पत्रों की गर्द ही झड़ती रही, नये लेखकों ने अपनी जन-प्रतिबद्धता की साख क़ायम करने के नाम पर भी उसका स्मरण नहीं किया।

धरती शुक्लजी के सामान्य मनुष्य का संस्कार है, आकाश उसका कर्म है। अपने संस्कारों से वह धरती की ही तरह ठोस है, अपनी संवेदना में मूर्त और वस्तुन्मुखी। अपने कर्म से वह उड़ता है, आदर्श के पक्ष में हाथ उठाता है। उसके कर्म की उड़ान उसे धरती के गोचर रूपाकारों से परे नहीं ले जाती बल्कि उसकी सूक्ष्म रसवत्ता से बाँधे रहती है। उसकी धरती का संस्कार उसे जड़, अतीतोन्मुख, गतिहीन नहीं बनाता बल्कि भाव-क्षेत्र में चीज़ों को मज़बूती से पकड़ने और उन्हें उनके सही नामों से

पुकारने की ऊर्जा देता है। धरती के सन्दर्भ में जो कुछ इन्द्रियातीत और अमूर्त है उसे वह सन्दिग्ध मानता है। आकाश के सन्दर्भ में जो कुछ ज्ञानातीत और अलौकिक है उसे वह शक की निगाह से देखता है। प्रत्यक्ष यथार्थ से अलग अध्यात्म उसके लिए एक फ़रेब है, जैसे दूर कहीं धरती और आकाश का मिलन जो जब नज़र आता है तब धुँधलके में ही। यह धुँधलका ही यह छायावाद-रहस्यवाद है जिसके ख़िलाफ़ शुक्लजी ने अपनी लड़ाई लड़ी। शुक्लजी की इस लड़ाई का हीरो उनका वही सामान्य मनुष्य है। इस सामान्य मनुष्य को अपने साहित्य-दर्शन के केन्द्र में स्थापित करने के पहले शुक्लजी ने उसकी अच्छी तरह जाँच-पड़ताल कर ली है, उसे अन्दर-बाहर से ख़ूब ठोक-बजाकर देख और दिखला लिया है।

यह काम उन्होंने 1912 से 1918 के दौरान लिखे गये अपने मनोविकार सम्बन्धी लेखों में किया। इसके पहले का शुक्लजी का कृतित्व एक तरह से उनका एप्रेन्टिसशिप-काल है, उनकी असली साहित्य-यात्रा इन लेखों से ही शुरू होती है। इन लेखों को पता नहीं क्यों आलोचक और विद्वान मनोवैज्ञानिक लेख कहते आये हैं। जबकि इनमें कोई मनोवैज्ञानिक गुत्थी नहीं सुलझायी गयी। ये लेख दरअसल मानव-राग-विराग का वह ईंट-गारा-लोहा-लक्कड़ हैं जिनसे साहित्य की इमारत का निर्माण होता है। इनमें शुक्लजी ने मानव-अस्तित्व के आधारभूत साँचो को पकड़ा है और उनसे साहित्य-रचना के विविध उपकरण और औज़ार गढ़े हैं। इन लेखों में शुक्लजी मानो यह बतलाना चाहते हैं कि साहित्य के भीतर का मनुष्य और मनुष्य के भीतर का साहित्य दोनों का मूल एक है : भाव। यह भाव महज एक रागात्मक वृत्ति नहीं, सिर्फ़ सेन्टीमेण्ट नहीं, शुक्लजी का 'तथ्य' है, जिससे वे मनुष्य और साहित्य तथा इनके परस्पर सम्बन्धों का ब्योरेवार ग्राफ़ तैयार करते हैं। इसीलिए वे भाव को एकान्त अनुभव की थरथराती उँगलियों से नहीं, विचार की मांसल दृढ़ता से पकड़ते हैं। इस भाव को वे हमेशा लोकव्यवहार और नैतिक संवेदन की तुला पर तौलते रहते हैं। इससे एक तो भाव को आत्यन्तिक हो जाने की छूट नहीं मिल पाती, दूसरे उसमें अराजकता के प्रवेश का डर नहीं रहता।

आत्यन्तिकता और अराजकता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं और सामान्य मनुष्य के लिए सबसे बड़ा ख़तरा इन्हीं से है। इसलिए शुक्लजी जहाँ भावदशा की बात करते हैं वहाँ उसे ज्ञानदशा के साथ-साथ रखते हैं, बल्कि इससे भी एक क़दम आगे जाकर दोनों को मिलाकर एक नया सर्जनात्मक घोल तैयार करते हैं और उसे रसदशा का नाम देते हैं।

शुक्लजी के इस रसवाद पर दुर्भाग्य से शास्त्रीयता की इतनी मोटी पर्त चढ़ चुकी है कि उसके भीतर छिपे सामान्य मनुष्य के चेहरे को टटोलना एक दुस्साहसिक कार्य ही माना जायेगा। यह एक विचित्र संयोग है कि रसवाद के प्रबल समर्थक और

रसवाद के प्रबल विरोधी दोनों ने ही उस चेहरे की पहचान को धुँधला बनाया है। पर हक़ीक़त यह है कि शास्त्रीयता की इस मोटी पर्त को हटाकर शुक्लजी के रसवाद को ज़रा उलटिए-पलटिए तो उसमें व्यक्ति और समाज, अन्तर्जगत और बाह्यजगत, रूप और वस्तु, अनुभूति और विचार जैसी मानव-जीवन की हमारी परिचित द्वन्द्वात्मक इकाइयों को ही एक नये समीकरण में कसने की सर्जनात्मक उठान दिखायी देगी। शुक्लजी के इस समीकरण में एक ओर यदि भारतीय क्लासिक परम्परा से प्राप्त सामग्री है तो दूसरी ओर अपने समय का वह सामाजिक-सांस्कृतिक परिदृश्य भी है जिसमें परिवर्तन और उथल-पुथल की गूँजें सुनायी पड़ने लगी थीं। यह स्मृति और घटित का युग्म शुक्लजी के दृश्यपटल के आगे बरावर रहा है। यदि उनका संवेदन स्मृति से रस खींचता है तो उनका विवेक घटित से उस रस को पकानेवाला ताप। इस समीकरण में परम्परा की स्मृति और यथार्थ का घटित चाहे बराबर के जोड़ीदार न हों, एक-दूसरे को आमने-सामने खुलकर चुनौती न देते हों, पर वे एक-दूसरे को दरगुज़र भी नहीं करते, उनमें एक संवाद लगातार बना रहता है। यह संवाद जिसे सम्बोधित है, वह है वही सामान्य मनुष्य।

इस सामान्य आदमी की जड़ गाँव है, वृन्त शहर। यही नक़्शा स्वयं शुक्लजी का भी है। भावुकता, प्रकृति-प्रेम, लोकधर्म का मूल्यादर्श, भाषा में ठेठ हिन्दी का ठाठ--यह है गाँव। भाव-वस्तु-सम्बन्ध का सिर्फ़ अनुभावन नहीं विश्लेषण, खण्डन-मण्डन, तर्क, कटाक्ष और तेवर यह है शहर। गाँव में चीज़ें, प्रतीतियाँ और सत्य परस्पर भिने हुए हैं, अचल और शान्त और हृद्य। शहर में संवेदना की नाड़ी तेज़ चलती है, वहाँ तुर्शी और टकराव और विचलन है। शुक्लजी का शहर उनके गाँव पर रोपा हुआ नहीं है, उससे कल्ले की तरह फूटा हुआ है। जो राग गाँव में बहता है वही शहर में विचार बनकर फैलता और फूलता है। शुक्लजी में राग और विचार के मेल से आदमी की जो रंगत उभरती है वह सामान्य का आदर्श है। इसीलिए वह आदमी पास का होता हुआ भी दूर का लगता है, सगा होते हुए भी सौतेला, सच होते हुए भी मिथ। राम में शुक्लजी ने तुलसीदास के सच को नहीं, अपने सामान्य आदमी के उसी मिथ को साकार किया है। इस सामान्य आदमी का एक चित्र *चिन्तामणि भाग.1* में संकलित 'लोभ और प्रीति' नामक निबन्ध में यों है : "मेरे देखने में तो वही रामभक्त-सा लगता है जो अपने पुत्र-कलत्र, भाई-बहन, माता-पिता से स्नेह का व्यवहार करता है, रास्ते की चीटियाँ बचाता चलता है, किसी प्राणी का दुःख देख आँसू बहाता हुआ रुक जाता है, किसी दीन पर निष्ठुर अत्याचार होते देख क्रोध से तिलमिलाता हुआ अत्याचारी का हाथ थामने के लिए कूद पड़ता है, बालकों की क्रीड़ा देख विनोद से पूर्ण हो जाता है, लहलहाती हुई हरियाली देख लहलहा उठता है और खिले हुए फूलों को देख खिल जाता है।" एक ज़माने में ड्रॉइंग मास्टर रह चुके समालोचक शुक्लजी

राम के जिस लोकरक्षक और लोकरंजक अथवा सौन्दर्य, शक्ति और शील के समन्वित भव्य रूप का बखान करते नहीं थकते यह चित्र मानो उसी का रफ़ है। ज़रा ग़ौर से देखिये तो रामभक्त और राम एक ही धातु के बने नज़र आयेंगे। जो साधारण और सर्वानुभूत है वही विशिष्ट और समग्र। इसके बरक्स जो निरा विशिष्ट है वह खण्डित और अपूर्ण। राम दरअसल सामान्य आदमी का ही महाकाव्यरूप है, जीवन के समग्र पक्षों का प्रबन्धात्मक शरीर। इस महाप्रबन्ध में सब जनों के सब भाव हैं। इस महाधारा से जो अलग हैं वह खण्ड-भाव की एक गीति-लहर है, विशिष्ट और सीमित। शुक्लजी अपनी सहानुभूति में उस महाप्रबन्ध की सर्वलौकिकता के साथ हैं, इस लघु लोल लहर की ऐकान्तिक विशिष्ट छवि के साथ नहीं। यहाँ शुक्लजी मात्र एक समालोचक नहीं रह गये हैं, वे स्रष्टा हो गये हैं, क्योंकि वे सच को मिथ में बदल रहे हैं।

और सच क्या है ? शायद वह रामभक्त भी शुक्लजी का असली सामान्य आदमी नहीं है। शायद वह रामभक्त भी सामान्य आदमी का रफ़ मात्र है। तो इस रफ़ का मूल क्या है ? क्या वह शुक्लजी के वर्तमान में कहीं था ? अखण्ड और सम्पूर्ण, या खण्डित और छिन्न ? क्या शुक्लजी ने उसे देखा था ? देखा और महसूस किया था ? शायद हाँ। शायद नहीं। हाँ, इसलिए कि उन्होंने सामान्य आदमी का अखण्डित वर्तमान देखा था। नहीं, इसलिए कि उन्होंने सामान्य आदमी का खण्डित भविष्य नहीं देखा था–

–बनारस में अस्सी से गुज़रते हुए काशीनाथ सिंह ने सड़क की दूसरी तरफ़ हाथ से इशारा किया। मैंने देखा, बोसीदा कपड़ों में मुख्तसर-सा एक आदमी वैसाखियों पर खड़ा भीख माँग रहा था। वह–विक्षिप्त सा–आदमी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का नाती था। उस वक़्त मैंने उस आदमी के चेहरे पर क्या कुछ देखा था ? करुणा ? या व्यंग्य ? या आक्रोश ? क्या वही शुक्लजी के सामान्य आदमी का रफ़ था ? खण्डित और छिन्नमूल–

ऐसा क्यों होता है कि साहित्य तक आते-आते आदमी मिथ में बदल जाता है ? ऐसा क्यों होता कि मिथ में बन्द एक सचमुच के खण्डित आदमी की तस्वीर एक झूठमूठ के सम्पूर्ण आदमी की तस्वीर बन जाती है ? क्या इस अन्तर्विरोध की नोकें शुक्लजी को भी चुभती थीं ?

कोई-कोई रचना अन्तर्विरोधों को बढ़ाने में होती है। शुक्लजी का समय उस रचना का समय नहीं था। तब द्विवेदीकाल के निदाघ में तपे कविता के सूखे उपवन में मानो सशरीर कामदेव की तरह छायावाद अपनी लाक्षणिक बहारें दिखा रहा था, भाषा-विहग को नव-स्वर-नव-पर दे रहा था। जो कि खड़ा-खड़ा सिकुड़ रहा था एक जगह वह सहसा फैलने लगा था, उड़ने लगा था। इतनी शिद्दत थी उस उड़ने में कि

जो कुछ बाहर था वह भी उड़ान थी, जो कुछ भीतर था वह भी उड़ान थी। ठोस धरती-सा पुष्पों और पंखों के तले दबा हुआ वह जिसकी चमड़ी कड़ी धूप में दरक गयी थी—वह ढहते महाजनी अर्थतन्त्र में कसा-बसा किन्हीं स्थिर मूल्यों को हताश थामे हर परिवर्तन को अपनी आशंका में झेलता सामान्य मनुष्य—इस नये व्यक्तित्ववादी भाव-प्रसार में कहीं न था। था महज़ उसका बिम्ब—कमनीयता में ओझल, कर्म से असम्पृक्त, सूक्ष्म चित्र-सज्जा में जड़ित। छायावाद उस अन्तर्विरोध से निरपेक्ष था जिसका बीज—एक ओर ढहते महाजनी तन्त्र तो दूसरी ओर पूँजीवाद-व्यक्तिवाद से फूटती ऊर्जा से प्रभावित—मनुष्य में पड़ चुका था। छायावाद ने उस बीज को उगने, पनपने, बढ़ने देने के योग्य खाद-पानी-मिट्टी का वस्तुवादी आधार देने के बजाय उसे अपने भावोत्तेजित राग में घुला-मिला लिया। इससे जब मनुष्य के सीने से आह फूटती थी तो लामुहाला गान बनकर ही, आग बनकर नहीं। इस रागात्मक घुलावट में क्रमशः वस्तु-व्यापार का अवमूल्यन होता गया। अप्रस्तुत प्रस्तुत पर छाता गया। फिर वह समय भी आया जब कविगण अनुभूति के अगम अगोचर संचार में निर्बन्ध डूबने-उतराने लगे। ऐसे में जो चीज़ साफ़-साफ़ दिख रही हो, निकट की हो वह भी दूर-दूर, रहस्यमय और सांकेतिक नज़र आने लगे तो क्या आश्चर्य ! काव्य में जब अव्यक्त और अनिर्वचनीय की धूम हो तब अनुभूति की सही-सही पैमाइश और पड़ताल, उसके तथ्य और ब्योरों का चुनाव और संघटन, उसकी मार्मिकता का अनुसन्धान और नियोजन क्योंकर ज़रूरी हो ! इस पृष्ठभूमि में जबकि सच्चे काव्य और काव्यस्फीति के बीच फ़र्क़ करना मुश्किल था और सब-कुछ हृदयमय हो रहा था, शुक्लजी का काव्य में बुद्धि-तत्त्व पर ज़ोर देना लगभग एक क्रान्तिकारी बात थी।

बुद्धि का काम वस्तु को प्रत्यक्ष करना है। अनुभववाद की अतल गहराई में डूबी काव्यार्थ की धरती को महावराह की तरह मूर्त दृश्य-फ़लक पर सामने लाना है। बुद्धि-प्रसार से ही भाव-प्रसार सम्भव है, क्योंकि बुद्धि ही बाहर का गतिमय एक पूरा संसार प्रस्तुत करती है, भावोत्तेजन के लिए 'तथ्य' जुटाती है। जो लोग यह मानते हैं कि कविता कवि-मन के भीतरी परकोटे में ही निवास करती है उनके कानों में शुक्लजी जब-तब तुलसी का अपना यह प्रिय पद ठूँस देते हैं—

अन्तर्जामिहु तें बड़ बाहिरजामी हैं राम, जो नाम लियेतें।
पैज परे प्रह्लादहु को प्रगटे प्रभु पाहन तें, न हियेतें।

जो भीतर है, वहाँ केवल डुबाना है, भूलभुलैया है, अराजकता है। जो बाहर है असली पुरुषार्थ वहीं है, क्योंकि अपनी अनुभूति की सच्चाई को मूर्त और प्रत्यक्ष और वास्तविक वहीं किया जा सकता है। बाहर का हाड़-मांसमय वस्तु-संसार आगे, भीतर का तरल अनुभूति-रागमय संसार उसके पीछे। इस बात के मर्म पर उँगली रखते हुए

शुक्लजी कहते हैं : "यदि कवि ने ऐसी वस्तुओं और व्यापारों को अपने शब्द-चित्र द्वारा सामने उपस्थित कर दिया जिससे श्रोता या पाठक के भाव जाग्रत होते हैं, तो वह एक प्रकार से अपना काम कर चुका।" क्या यह बात बोलेगी, हम नहीं, वाली बात ही नहीं है ? पर सोचिए यह बात शुक्लजी ने तब कही थी जब अनुभूति की साखी स्वयं अनुभूति थी। भाव और शब्द भीतर से उमड़ते थे और बाहर दो-चार पल अपनी चमक और रंगीनी दिखाकर भीतर-ही-भीतर खो जाते थे। शुक्लजी ने भीतर की इस अतर्क्य तानाशाही को चुनौती दी, क्योंकि उन्होंने देखा कि यह भीतरवाद अन्ततः रहस्यवाद और कलावाद की ओर ही ले जाता है।

पर लगता है, उस भीतरवाद के विरोध की झोंक में शुक्लजी कुछ ज़्यादा ही दूर तक निकल गये। 1935 में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इन्दौर अधिवेशन में साहित्य-परिषद के सभापति-पद से उन्होंने एक भाषण दिया था। उसमें रहस्यवाद-छायावाद की तार-तार बखिया उधेड़ने के सिलसिले में उनके मुँह से न जाने कैसे एक विस्फोटक वाक्य निकल गया। उस वाक्य का सार यह है कि वाच्यार्थ ही काव्य है, व्यंग्यार्थ नहीं। वाच्यार्थ यानी अभिधा, व्यंग्यार्थ यानी व्यंजना। इस वाक्य को जब मैंने पढ़ा तो चकराया। चकराया इसलिए नहीं कि शुक्लजी जैसे भाववादी आलोचक के मुँह से यह वाक्य कैसे फूट पड़ा। चकराया इसलिए कि लगभग इसी आशय को व्यक्त करने वाली बात उसके तीन दहाई बाद 'ताज़ी कविता' के प्रथम नागरिक ने प्रयोगवाद—नयी कविता की तार-तार बखिया उधेड़ने के सिलसिले में कही। मुझे '*कखग*' (इलाहाबाद से प्रकाशित त्रैमासिक) में छपे लक्ष्मीकान्त वर्मा के 'ताज़ी कविता : कुछ जोड़ बाक़ी' शीर्षक निबन्ध की वे पंक्तियाँ याद आयीं जिसमें उन्होंने छायावाद की भावरंगी व्यंजना-पगी काव्यभाषा और प्रयोगवादी नयी कविता की 'चार्ज्ड भाषा' के मुक़ाबले मैथिलीशरण गुप्त की ठण्डी सड़क-छाप भाषा को आदर्श भाषा माना है—सड़क-छाप इसलिए कि उसमें कवि के भाव और शब्द सड़क के बीचोंबीच आगे-पीछे चलते हैं, सड़क की दो अलग-अलग पटरियों पर बीच में फ़ासला रखते हुए नहीं। मतलब कि वह भाषा भाव को उतने ही तोला-माशा-रत्ती अर्थ के साथ व्यक्त करती है जितना कि कवि चाहता है कि वह करे। मज़ा यह है कि शुक्लजी ने भी अभिधा में ही काव्य है यह दिखाने के लिए मैथिलीशरण गुप्त को ही याद किया। गुप्तजी की बस एक पंक्ति 'जी कर हाय पतंग मरे क्या' में उन्होंने क्या-क्या नहीं देख लिया ! शायद छायावाद की अन्तर्मुखी लाक्षणिक व्यंजनावाली लतपथ काव्य-भाषा से मुक्त एक सीधी-सादी भाषा के अपने आदर्श का जीता-जागता विकल्प। हमारे अपने समय में भी डॉ. नामवर सिंह की अगुवाई में युवा कविता के अलमबरदारों ने कभी सपाटबयानी के बारे में सह-चिन्तन किया था तो शायद इसीलिए कि ये लोग भी बिम्बों-प्रतीकों के घटाटोप जंगल में घिरी कविता के वास्ते अपने जाने-पहचाने यथार्थ अर्थ की एक

पगडण्डी तलाश कर रहे थे। तो क्या शुक्लजी का वाच्यार्थ, लक्ष्मीकान्त की ठण्डी, नंगी भाषा और नये कवियों-आलोचकों की सपाटबयानी कहीं किसी बिन्दु पर मिलते हैं ? या इनका नाता सिर्फ़ दूर की कौड़ियों का ही नाता है ?

इसकी तफ़सील में हम नहीं जायेंगे। एक बात लेकिन तय है कि शुक्लजी उस तरह सरासर अभिधावादी नहीं हैं जैसा समझकर उनके विरोधी आलोचक कुपित और उनके प्रिय शिष्य तथा *रस-मीमांसा* के सम्पादक पण्डित विश्वनाथप्रसाद मिश्र खिन्न हुए थे। अपने उसी इन्दौरवाले भाषण में एक जगह पर शुक्लजी कहते हैं : " काव्य में योग्य अर्थ होना अवश्य चाहिए—योग्यता चाहे खुली हो या छिपी हो; अत्यन्त अयोग्य और असम्बद्ध प्रलाप के भीतर भी कभी-कभी काव्य के प्रयोजन-भर की योग्यता छिपी रहती है ।" इस वाक्य में 'प्रलाप' शब्द पर ध्यान पहले अटकता है, फिर हम यह भी पाते हैं कि 'योग्य' के साथ 'अयोग्य' और 'खुली' के बग़ल में 'छिपी' भी है। यानी अर्थ-प्रस्फुटन की सम्भावना शुक्लजी न सिर्फ़ उसमें देखते हैं, जो सामने हो और पकड़ में हो, बल्कि उसमें भी जो ठीक-ठीक पकड़ में न आता हुआ भी कहीं हो। इसे देखते हुए यह कह सकना आसान नहीं लगता कि शुक्लजी कविता की नाक पकड़कर उसे खुल्लमखुल्ला अभिधा की सपाट ठण्डी सड़क पर चलाना चाहते थे। वे दरअसल कविता में अनुभूति, अप्रस्तुत, अमूर्त इत्यादि की बेरोक-टोक इकतरफ़ा कार्रवाई को समाप्त कर भाव और विचार, अन्तर्जगत और वस्तुजगत, व्यक्ति और परिवेश की परस्पर निर्भर और अपेक्षाकृत जटिल एक अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण नैतिक कार्रवाई की माँग कर रहे थे।

कविता से इस तरह की माँग उस वक़्त के मुलायमपन्थी रुख़ को देखते हुए एक सख़्त और अक्खड़ माँग थी। पर इस माँग में जो चुनौती थी उसे लगता है शुक्लजी भविष्य की—आज की—कविता के सामने फेंक रहे थे। कविता में वे मूलतः भाव को ही प्रधान मानते थे, पर उनका यह भाव छायावादियों का सिर्फ़ सेन्टीमेण्ट अथवा अनुभूति की सरल एकायामी अवस्था नहीं था। *रस-मीमांसा* में एक स्थान पर वे कहते हैं : "भाव का अभिप्राय साहित्य में तात्पर्य-बोध मात्र नहीं, बल्कि वह वेगयुक्त और जटिल अवस्था विशेष है जिसमें शरीर-वृत्ति और मनोवृत्ति दोनों का योग रहता है।" शुक्लजी के एक कथन ('वाच्यार्थ ही काव्य है, व्यंग्यार्थ नहीं') के आधार पर ही जो लोग यह निष्कर्ष निकाल बैठे कि शुक्लजी अभिधावादी हैं, उपर्युक्त उद्धरण को देखते हुए निश्चय ही वे उनके प्रति अन्याय कर रहे थे। हक़ीक़त यह है कि साहित्य के भावन को मात्र तात्पर्य-बोध तक ही सीमित न रखकर जहाँ शुक्लजी यह बतलाना चाहते थे कि रचना में 'बाहर' की सपाटबयानी ही सर्वोपरि नहीं है, वहाँ यह भी कहना चाहते थे कि भाव की बहुआयामी जटिलता अपने को संपूर्णतः 'भीतर' के अन्तःप्रवाह के हवाले करके नहीं हासिल की जा सकती। सच्चे काव्य की सिद्धि

वे शरीर-वृत्ति और मनोवृत्ति के योग में देखते थे, जो और कुछ नहीं वस्तु की भौतिक सत्ता 'बाहर' और वस्तु की भावसत्ता 'भीतर' के ही पर्याय हैं। छायावाद में ये दोनों सत्ताएँ एक-दूसरे को परस्पर ओढ़ती थीं, एक दूसरे को ओट प्रदान करती थीं और इस तरह एक-दूसरे को अपने लिए प्रयोजनीय बनाती थीं। इधर शुक्लजी कविता के जिस रूप के रसिक थे उसमें इन सत्ताओं का अपने-अपने तेज-बल के साथ परस्पर एक नये समवाय में मिल जाना अनिवार्य था। इन दो सत्ताओं के बीच टकराव और सतत् तनाव की कल्पना शुक्लजी उस समय न कर सकते थे। पर उस समवाय में जिस क़िस्म की कविता की छवि को उभरते वे देखना और दिखलाना चाहते थे उसमें सिर्फ़ घुलावट की समरसता न थी, बल्कि सम्भावना की बेचैन गतिशीलता थी। वे वस्तु और भाव के योग में एक नये रचना-क्रम की सुगबुगाहट देखते थे, दोनों का एक-दूसरे में तिरोभाव नहीं।

शुक्लजी ने अपने वस्तुबोध और भाव-संवेदना दोनों को ख़ूब कसा होगा, एक दृष्टिबिन्दु पर उन्हें एकाग्र साधा होगा और तभी वह रचनात्मक संक्रमण घटित हुआ होगा जिसमें विचार अपने को तर्क की गुम्फित प्रखरता में नहीं, अनुभूति की पारदर्शी तरलता में व्यक्त करता है। ऐसे क्षणों में सहसा उनके रचना-विवेक का पथ अपने समथ से आगे बहुत दूर तक झलक उठता है। किसी ऐसे ही पारदर्शी क्षण में शुक्लजी ने ये पंक्तियाँ लिखी होंगी : "बहुत-सी कविता अनुभूति-दशा में नहीं होती, स्मृति-दशा में होती है। जो यह कहे कि जो कुछ हमारे भीतर था सब हमारी कविता में आ गया है, उसमें काव्यानुभूति का अभाव समझना चाहिए और उसकी कविता को कवियों की वाणी का अनुकरण मात्र।" यह घनीभूत पीड़ा के मस्तक में स्मृति-सी छा जानेवाली बात नहीं है, क्योंकि यहाँ कविता के आँसू बनकर अभिव्यक्त हो जाने की सहूलियत नहीं। यहाँ तो कविता शब्द के ही नहीं अनुभूति के भी परे उस स्मृति में है जहाँ अनुभूति है और शब्द है और कवि नहीं है। कवि अभिव्यक्ति के क्षण में ही है, न उसके पहले न उसके बाद। अगर है तो एक प्रकार का मूक कवि—अनुभूतियों को जीता हुआ, शब्द से मोहताज। अनुभूति और शब्द के बीच कहीं कोई चीज़ हमेशा छूट जाती है। उस छूटी हुई चीज़ की तलाश के लिए कविता बार-बार अनुभूति और शब्द का नया सिलसिला जोड़ती है और पाने में कुछ छूट जाने की सम्भावना को पुनः पुनः जन्म देती रहती है। यह काव्यानुभूति को पूरा-का-पूरा भाषा में निचोड़ न सकना क्या यह साबित नहीं करता कि कविता भाषा के बाहर भी है ?

भाषा के भीतर जो अनुभूति है, भाषा के बाहर वही कर्म है। कविता इन दोनों की सन्धि पर है। कविता सच्ची बनती है भाषा के भीतर की अनुभूति से और बड़ी बनती है भाषा के बाहर के कर्म से। बौने जीवन से बड़ी कविता नहीं पैदा होती।

पर जीवन बौना कर्म की असिद्धि से नहीं, कर्म-क्षेत्र की विविधता का अनुसन्धान न करने से बनता है। कर्म-विस्तार का हर रेशा एक नयी सम्पृक्ति से जीवन के राग को वस्तु से बाँधता है, जो सिर्फ़ एक बिम्ब है उसे सत्य, जो महज़ एक चमकता अहसास है उसे प्रखर किरणों वाला सूर्य बनाता है। कविता सीधा-सीधा कर्म नहीं, पर हमने जीवन में कर्म की जो दिशाएँ खोजी हैं उनका वह फ़लक है। कविता की नब्ज़ को छूकर हम महसूस कर सकते हैं कि उसमें हमारा कितना रक्त कितने ताप, दबाव और प्रवाह के साथ दौड़ रहा है।

कर्म की दिशाएँ दिशाहीन कर्म नहीं अनुभूति में से ही वे दिशाएँ अपने साथ कर्म को लेकर फूटें, फूटें और अनुभूति की सीमाओं को खोल दें ताकि वह जो स्मृति में बन्द है पिघले, पिघले और बहकर यथार्थ की धरती को चूमे धरती के अनेक रंग कोमल और कठोर, भीषण और सरस, मृदु और प्रचण्ड, कटु और मधुर अनुभूति-जल में प्रतिबिम्बित हों, घुलें, प्रवाहित हों; जीवन के राग-खण्ड आपस में टकराएँ, छिलें, टूटें, बनें, ढलें। इस अनवरत सिलसिले में जो कविता बनेगी उसकी घड़न से टूटन के भी खुरदुरे निशान होंगे, उसकी कोमलता के पीछे एक उतना ही कठोर चेहरा सदा रहेगा, उसकी प्रचण्डता एक मृदुता की ओट लिए हुए होगी। इस कविता का सौन्दर्य कर्मभूमि का सौन्दर्य होगा। उसमें सिर्फ़ दीप्ति न होगी, दाह भी होगा, केवल शान्ति ही नहीं कोलाहल भी होगा, प्रबोध ही नहीं, ललकार भी, गूँज ही नहीं गर्जन भी। वह सौन्दर्य गन्तव्य पर पहुँची हुई कला का सौन्दर्य नहीं, रास्ते के पत्थरों के ख़िलाफ़ अपने पाँवों की आज़माइश का सौन्दर्य होगा; अपनी कमाई हुई पूँजी के उपभोग का नहीं, उसे नयी प्रेरणाओं में डालने के प्रयत्न का। यह कविता बड़ी होगी महज़ अनुभूति की चरितार्थता से नहीं, बल्कि अनुभूति की सम्भावना से। एक तरफ़ कविता की वह कर्मभूमि जिसमें आदमी मानो दो पहाड़ों को अपनी कुहनियों से ठेलता आगे बढ़ता चला जाता है और दूसरी तरफ़ कविता की भोग-भूमि जिसमें आदमी अपनी अन्तःरागिनी के वैभव में ठिठका, द्वन्द्व से स्थगित है। एक में वह स्मृति को घटित में बदलता है ; दूसरे में घटित को स्मृति में। एक में फैलाव है, उमगन और स्फुरण; दूसरे में संकोच और घिराव और केन्द्र का एकान्त सेवन।

मैं अपने आसपास निगाह दौड़ाता हूँ—क्या मैं वहाँ खड़ा हूँ जहाँ सौन्दर्य एक जिजीविषा है ? या वहाँ जहाँ सौन्दर्य कला का सिर्फ़ एक आयाम ? मैं अपने आसपास देखता हूँ और गोया अपने को समझाते हुए कहता हूँ, उपभोग की कविता का बीजभाव 'व्यक्ति' है और संघर्ष की कविता का 'जन'। पर मेरे आसपास फ़िलहाल एक शब्दों का शोर और गर्द है जो इन दोनों पर पर्दे की तरह टँगा हुआ है और जिसमें इनकी अलग-अलग पहचान धूमिल पड़ गयी है। कभी-कभी लगता है

जैसे जनसंघर्ष के तेवरवाली कविता की तनी हुई मुट्ठियाँ लूट में अपने हिस्से की माँग के लिए हैं और व्यक्तिराग के ऐश्वर्य में आकण्ठ डूबी हुई कविता जन-क्रान्ति के मंच से तीन सौ तीन बार नारे लगवा रही है। दोनों ही शब्दों का भोग लगा रहे हैं। अघाई हुई शब्द-चेतना कविता में बहुत वारीक, बहुत नफ़ीस कात रही है। समय की मार से लहूलुहान आत्मा पर शब्दों की पट्टियाँ लगी हैं  नहीं, सजी हैं।

शुक्लजी को कविता में सजावट से सख़्त चिढ़ थी। सजावट को वे भोग-सौन्दर्य की ही चित्रसृष्टि मानते थे जिसे कविता के बैठकख़ाने में टाँगकर कवि अपनी असामान्य रुचि का परिचय देता है। सजावट यानी विशिष्ट का भोग। चमक-दमक, शोभा, लालित्य। इनसे घर का वह पिछवाड़ा छिपा रहता है जहाँ ऊबड़-खाबड़पन है, असमानता है, अन्तर्विरोध है। ख़ून-पसीना बहाकर कुछ अर्जित करने की बजाय जैसे अनायास बिना हाथ-पाँव डुलाये कुछ हासिल हो गया हो और कविता में कलँगी सँवारकर और पंख फुलाकर बैठ गया हो। जो कुछ मिला उसके पीछे न कोई टूटन, न छीजन, न तड़प। बस एक निठल्ले ऐश्वर्य की बपौती। सजावट है तभी तो शब्द की जड़ें अर्थ के ख़ूब भीतर ख़ामोश उस हाहाकार तक नहीं पहुँच पातीं जो सामान्य जन में है। शब्द शब्द तक ही रह जाता है। शब्द शब्द को ही चुनता है, उसे ही बजाता है। यह शब्द-बाजा कब तक बजेगा ? क्या यह मैं पूछता हूँ—एक कवि ? या वह अर्थ जो जन-जन में है, सबका है, सामान्य है ?

मैं अपने आसपास देखता हूँ। अख़बार की एक कतरन पर मेरी निगाह थम जाती है। उसमें छपा है : "पहले के मुक़ाबले शायद अब ऐसे नागरिक अधिक हैं जिनके लिए उनका समय सिर्फ़ राजनैतिक गतिविधियों, राजनेताओं और आर्थिक उथल-पुथल का नहीं है बल्कि वह ऐसा है जिसमें कुमार गन्धर्व गाते हैं, उस्ताद अली अकबर सरोद बजाते हैं, यामिनी कृष्णमूर्ति 'अन्तरिक्ष को संक्षिप्त अनन्त में ढालते हुए' नाचती हैं, सत्यदेव दुबे या हबीब तनवीर नाट्य करते हैं, डी.जे. जोशी और रुद्र हाजी कलाकृतियाँ बनाते हैं और शमशेर, त्रिलोचन और श्रीकान्त वर्मा कविताएँ करते हैं..." तो क्या हम सचमुच ही राजनैतिक रगड़ा-रगड़ी और आर्थिक हाय-हाय के समय को पार कर (या उसे ओटकर ?) कलाओं के स्वर्णयुग में प्रवेश कर चुके हैं ? शहर-शहर में मुनादी की तरह फिरती हुई इस ख़बर में कलाओं का स्वाद लेने की जो शैली जिस भाषा में बयान की गयी है वह क्या मसनद से उठकर आँख मूँदकर कला से आनन्दित होने की, या अपने को आनन्दित होने देने की शैली नहीं है ? क्या फ़ुर्सत की कला से अपने जीने को समृद्ध करने के पहले हम जीवन-संघर्ष की आग में पूरा-पूरा दह चुककर, तप चुककर बचे हुए निकले हैं ? मैंने सोचा, क्या उस आग में दहने की कविता ही 'जन' की कविता नहीं है ? क्योंकि यह दहना ही तो आज के सामान्य आदमी की नियति और शक्ति है, यही खटना और छीजना और

इसमें अपनी आदमियत को बचा रख सकने वाली जिजीविषा के कण ढूँढ़ना और पाना। हाँ, हाँ, संघर्ष का भी रस होता है, तरलता और लय, चित्र और संगीत। संघर्ष सिर्फ़ उद्विग्न ही नहीं करता, तल्लीन भी करता है जो उस उद्विग्नता में महज़ धुआँ ही नहीं और उस तल्लीनता में भी सिर्फ़ विस्मरण नहीं। आज की रस-मीमांसा कविता की पंक्तियों में लिखी जा रही संघर्ष-मीमांसा है और इसमें सिर्फ़ कवि ही शामिल नहीं, वह 'जन' भी है जिसकी एकमात्र पूँजी उसके बेरोज़गार हाथों का जाँगर है। कवि ! यदि कुछ कर सकते हो तो कृपया इन बेरोज़गार हाथों को सिर्फ़ अपने शब्दों से न थामो।

---

# सरोज-स्मृति और निराला

'सरोज-स्मृति' दुख की कविता है, पर इसमें व्यक्त दुःख का चेहरा हमारे अब तक के परिचित छायावादी दुख के चेहरे से बहुत भिन्न है। इस दुख में अनुभूति के साथ वह ठोस भूमि भी अपने कच्चे-पक्के रंगों के साथ प्रकाशित है, जिसके भीतर से वह अनुभूति पैदा हुई। अक्सर तो छायावादी कवि अनुभूति के क्षण में ही अनुभूति से परे कहीं और पहुँच जाता है। अनुभूति के साथ सीधी मुठभेड़ नहीं, अनुभूति का अतिक्रमण उसका स्वभाव है। जीवन और जगत् और इनके आपसी सम्बन्धों के बारे में उसके पास एक जीवन-दर्शन या रहस्य-दर्शन के चलते ही छायावादी दुख उपभोग्य, स्पृहणीय और काम्य दुख है—'तुममें पीड़ा को ढूँढ़ा, तुममें ढूँढूँगी पीड़ा' एक रहस्यात्मक स्थिति से अधिक अनुभूति के प्रति छायावादी कवियों के दृष्टिकोण की ही व्यंजना करती है। छायावादी कवियों ने दुख को वहुत सरस वना दिया है, क्योंकि दुख उनके अस्तित्व को चुनौती नहीं देता था, उन्हें तोड़ता नहीं था, बस थोड़ा और मृदु, थोड़ा और कोमल, थोड़ा और भाव-प्रवण बना देता था। इसीलिए छायावादी कविता में दुख का संगीत तो ज़रूर मिलता है पर उस दुख को भोगने वाले हाड़-मांस के मनुष्य की असली तस्वीर नहीं दिखाई देती। प्रसाद की 'आँसू' और महादेवी वर्मा के गीतों में तो दुख अनुभूति से ऊपर उठकर एक सौन्दर्यात्मक मूल्य का दर्जा प्राप्त कर लेता है। पन्त की स्थिति इन दोनों कवियों से थोड़ी भिन्न है। उनकी कविता में दुख भोगने वाला हाड़-मांस का आदमी ही लगता है, उनका दुख भी ज़्यादा स्थानीकृत है, सर्वदेशीय और सर्वकालिक उतना नहीं जितना कि प्रसाद और महादेवी का। पर पन्त का दुख न तो प्रसाद के दुख की तरह बहुराग-वैभवपूर्ण है, न महादेवी के दुख की तरह तन्मय और सान्द्र। इसका कारण यह है कि पन्त का दुख एक वयस्क का दुख न होकर एक शिशु-मन अथवा किशोर-मन का अपरिपक्व दुख है। जहाँ से पन्त अपने मधुर-मधुर मन को पकाने का उदबोधन देना शुरू करते हैं वहाँ से वे भी प्रसाद और महादेवी के व्यापक सर्वदेशीय सौन्दर्यात्मक दुख के अमूर्त लोक में चले जाते हैं। पर यहाँ भी प्रसाद और महादेवी तथा पंत के दुख में फ़र्क़ है। प्रसाद और महादेवी के दुख की व्यापकता और सार्वभौमता उनके व्यस्क और परिपक्व व्यक्तित्व का आत्मप्रसार है, जबकि पन्त का वह दुख जिस पर उन्होंने

विश्वमानव की स्वर्णधूल और स्वर्णकिरण की परतें बिछाई हैं, मूलतः ओढ़ा हुआ, अतः महादेवी तथा प्रसाद की सम्पन्न दुखानुभूति के सामने विरस और मस्तिष्कीय लगता है।

'सरोज-स्मृति' में पहली वार दुख एक सौन्दर्यानुभूति के स्तर से अलग एक कठोर वास्तविकता के रूप में व्यक्त होता है और इस दुख के बखान में कवि का कंठ किसी अन्तःसंगीत से नहीं, बाह्य विषमताओं के बोध से फटा-फटा-सा हो गया है। यहाँ दुख का उसके निपट नंगेपन में साक्षात्कार है, उसे भुलावा देने या मधुर-मधुर बनाने की चेष्टा नहीं।

इस दुख का भोक्ता और उसे कविता में व्यक्त करने वाला भी मूलतः कवि ही है। एक छायावादी कवि। पर इस कविता में कवि का होना सिर्फ़ इसलिए है कि वह एक मनुष्य (एक पिता) के दुख को अधिक गहराई से, अधिक तीव्रता और उसके अस्तित्व की अनेक अर्थ-संगतियों के साथ महसूस कर सके। अभी तक की छायावादी कविता में हम यह देखते आये थे कि दुख की अपनी एक स्वनिर्भर दुनिया है। इस दुनिया में दुख है और कवि है, इनके बीच दूसरा कुछ भी नहीं है, अतः दुख और कवि एक-दूसरे को एक-दूसरे पर उड़ेल रहे हैं, उड़ा रहे और उड़ रहे हैं (आकाश छूने के लिए), या एक-दूसरे के गले लग रहे हैं (एक-दूसरे में खोने के लिए)। 'सरोज-स्मृति' दुख को लेकर उड़ने या उसमें खोने के लिए नहीं बल्कि दुख को याद करने, उससे भीतर ही भीतर मर्माहत होने और बीच-बीच में बाहर कभी व्यंग्य-विद्रूप में तो कभी आत्मधिक्कार में चीख़ पड़ने के लिए है। यह चीख़ छायावादी दुख की स्वनिर्भर दुनिया से बाहर आने की चीख़ है।

कविता के आरंभ में निराला एक छायावादी कवि की मुद्रा ही अपनाते हैं। देखें :

ऊनविंश पर जो प्रथम चरण
तेरा वह जीवन-सिन्धु तरण,
तनये, ली कर दृक् पात तरुण
जनक से जन्य की विदा अरुण,
गीते मेरी, तज रूप-नाम
वर लिया अमर शाश्वत विराम,
पूरे कर शुचितर सपर्याय
जीवन के अष्टादशाध्याय,
चढ़ मृत्यु तरणि पर तूर्ण चरण
कह—'पितः, पूर्ण-आलोक-वरण,
करती हूँ मैं, यह नहीं मरण
सरोज का ज्योतिः शरण-तरण।

एक आत्मीय दुख के प्रकृत और सहज बखान का आरम्भ यह नहीं है। अनुभूति को एक भव्य रूपक में बाँधकर महाकाव्य की-सी ऊँचाई पर ले जाने की कोशिश है। एक उत्तापरहित, शान्त, संयत, ओज जो दुख को अनुभूति नहीं, उससे एक सीढ़ी ऊपर सौन्दर्य भी नहीं, एकदम से जीवन-दर्शन की स्थिर सत्यता तक ले जाती है, जैसे कि यह महाकाव्य की प्रस्तावना हो। इस महाकाव्य के प्रथम दृश्य का रूप-विधान बिल्कुल सटीक है : सरोज के जीवन के अठारह वर्ष गीता के अठारह अध्याय हैं, जिन्हें पूरा करने के बाद साधारण मौत नहीं, 'अमर शाश्वत विराम' मिलता है। जीवन एक ऊर्ध्वमुख सागर है और मृत्यु एक नौका, जो उस जीवन के पार 'पूर्ण आलोक वरण' तक ले जाती है। इस बिम्ब रूपक से जुड़ा, बारीक रंग-रेखाओं से उकेरा गया, एक पार्थिव विदा का चित्र भी है। यह विदा एक क्षण में, एक निमिष में घटित होती है—जैसे डाल से पत्ते का बिन देखे-जाने टूटकर गिर जाना, एक दृष्टिपात की तरह तुरत और अनायास। और विदा भी कैसी ? एक तरुण की विदा, जो विदा के भाव को उस क्षणिकता के साथ मिलकर मार्मिक और ट्रैजिक बना देता है, जैसे संवेदना पर सुई-सी चोट पत्थर बनकर सर्वांग को हिला दे। इस ट्रैजिक विदा में जिसमें एक तरुण जन अपनी संभावनाओं को चरितार्थ किये बिना ही जीवन-सिन्धु तरण कर रहा है, एक महाकाव्य की उदात्त ऊँचाई है।

यहाँ निराला दुख की अनुभूति से मुठभेड़ नहीं उसका अतिक्रमण करते हैं। पर वे ऐसा दुख को सह्य बनाने के लिए करते हैं। इसे छायावादी कविता की विडम्बना ही कह लीजिए कि दुख को एक विराट् अर्थवत्ता प्रदान करके ही उसे सह्य बनाया जा सकता था। इस चेष्टा के पीछे हमारे जातीय संस्कारों का ज़बरदस्त चुम्बक है जो एक औसत हिन्दुस्तानी को अनुभूति के निपट नंगे साक्षात्कार में कहीं न कहीं दार्शनिक बनाकर छोड़ता है। और हमारे छायावादी कवि एक औसत हिन्दुस्तानी की यह दार्शनिकता छायावादी कवि के लिए एक 'आदर्श' का दर्जा रखती है जिस तक वह पहुँचना चाहता है⋯ इस वाक्य को थोड़ा सुधार कर कहें—दार्शनिकता नहीं, बल्कि इस दार्शनिकता की कविता वह आदर्श है जिस तक वह पहुँचना चाहता है।

इस आदर्श को पा लेने में जीवन की कठोर वास्तविकता अव्वल तो एक रुकावट है, लेकिन अगर वह रुकावट बनती भी है तो उसका काम उस 'आदर्श' को पा लेने के लिए कवि में उदात्त भावनाओं की एक अतिरिक्त उछाल पैदा करना है। निराला में अन्य छायावादी कवियों के मुक़ाबले ये रुकावटें ज़्यादा हैं, पर उन्होंने उनका इस्तेमाल हमेशा अपने में वह अतिरिक्त भावनात्मक उछाल पैदा करने के लिए नहीं किया। 'सरोज-स्मृति' में तो वे आदर्श और यथार्थ के अनुभव स्तरों को साथ-साथ एक घुमड़ते हुए तनाव की स्थिति में जीते हैं। बात यह है कि छायावादी कविता मानव-अनुभूति की तरफ़ बढ़ने में उससे खिंचते जाने की कविता है। छायावादी कवि

प्रायः आदर्श और यथार्थ के बीच एक निश्चित दूरी बनाये रखता है ताकि दोनों के बीच विकलता का भाव अक्षुण्ण बना रहे। विकलता की व्याख्या यह है कि 'जितना खींचता हूँ और खिंचता जाये है मुझसे'। इस खिंचाव को बनाये रखते हुए अनुभूति के यथार्थ के ज़्यादा-से-ज़्यादा निकट पहुँची हुई छायावादी कविता निराला की यह 'सरोज-स्मृति' ही है। इस चेष्टा से इसमें तनाव का वह नाज़ुक संतुलन न सिर्फ़ ज़्यादा कस गया है बल्कि कहीं-कहीं उसमें दरार भी पड़ गयी है। यह दरार इस कविता में हीं नहीं, निराला के रचनात्मक व्यक्तित्व में भी हमेशा के लिए पड़ गयी है।

फ़िलहाल यहाँ 'सरोज-स्मृति' का यह पहला बन्द निराला के उस 'आदर्श' को पा लेने की विकलता का क्षण है। पर निराला को इस शिखर से नीचे उतरना पड़ता है, क्योंकि एक महाकाव्य की-सी निर्वैयक्तिकता को लेकर एक संस्मरण के आत्मीय धरातल पर यात्रा नहीं की जा सकती। फिर भीतर का जो दबाव उन्हें शिखर तक ले गया था, वही चट्टान पर टूटती एक पछाड़ के समान उन्हें यथार्थबोध की इस ठण्डी क्रूर भूमि पर ला पटकता है :

> धन्ये, मैं पिता निरर्थक था,
> कुछ भी तेरे हित न कर सका।
> जाना तो अर्थागमोपाय,
> पर रहा सदा संकुचित काय
> लखकर अनर्थ आर्थिक पथ पर
> हारता रहा मैं स्वार्थ-समर।

यह है कवि का यथार्थ, जिस पर आदर्श के ऊपर से झड़ती हुई सुनहली परत तक नहीं। आप देखेंगे कि आगे के बन्दों में भी इस यथार्थ अन-उदात्त भूमि का ठंडापन पसरता चला गया है। सरोज के चपल-वाल-जीवन की क्रियाओं के वर्णन में भी एक गीतात्मक उदासी का स्वर छुपाये नहीं छुपता। केवल दो प्रसंग ऐसे हैं जहाँ कवि की ऊष्मा लौटती है, एक जहाँ वह सरोज के यौवनागम का चित्र खींचता है और दूसरा जहाँ वह विवाहोपरान्त सुहागिन पुत्री की छवि में अपनी दिवंगत प्रिया की उपस्थिति का अनुभव करता है। सौन्दर्य और रस के ये दो प्रसंग एक शोक-तप्त मर्म की ऊदी पृष्ठभूमि में सतरंगी आभा-सी बिखेरते हुए लगते हैं, हालाँकि इन रंगों के ऊपर उदासी की एक परछाईं धब्बे की तरह बैठी दिखाई देती है। पर इनके बारे में विशेष आगे। अभी तो है यह यथार्थ का वड़ा-सा पत्थर, कवि के हृदय पर। इस पत्थर से कभी कवि खुद लहूलुहान होता है तो कभी इसे वाहर फेंककर अपने परिवेश को घायल करता है। पर भीतरी चोट कुछ ज़्यादा ही है। 'स्वार्थ-समर' में पग-पग पर हारने का बोध आत्म-दया का भाव जगाता है, एक आहत अहं का, और इस भाव में घिरकर पुत्री की स्मृति कुछ और निकट खिंच आती है, इतने निकट कि एक

बिन्दु पर पुत्री 'जीवित-कविते' बन जाती है। 'सरोज-स्मृति' में एक समानान्तर कथा स्वयं कवि के अपने जीवन-संघर्षों को लेकर है। सिर्फ़ एक पिता के नहीं, एक कवि के अनुभव-प्रवाह में आई हुई जीवन-स्थितियाँ और मनोदशाएँ, जिन्हें इस कविता में दुबारा जिया गया है। इसीलिए सरोज सिर्फ पुत्री नहीं, कवि के रचना-सामर्थ्य को ललकारने वाला वह यथार्थ है जिससे कवि लड़ा है और हारा है। सरोज कवि का सबसे बड़ा दर्द और मन में गड़ी हुई फाँस है, क्योंकि वह उसकी 'गद्य में पद्य समाभ्यस्त' प्रतिभा की विवशता है।

यह द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध, जिसमें पुत्री पुत्री होने के अतिरिक्त भी कुछ और है और पिता पिता होने के साथ एक कृतिकार भी है, कविता में एक तनाव की तरह व्याप्त है। सरोज आदर्श भी है और यथार्थ भी। इनमें से कोई भी एक-दूसरे की सत्ता का प्रतिकार नहीं करते। इनमें आपस में टक्कर ज़रूर होती है, कुछ जीवन्त रेशे टूटते भी हैं, पर ये हमेशा एक-दूसरे की आँखों में घूरते आमने-सामने खड़े रहते हैं। यह तनावपूर्ण सन्तुलन 'सरोज-स्मृति' की संरचना की मूल स्थिति है। पर चूँकि इस कविता का रूपाकार एक संस्मरण का है—घटित अनुभव को दुबारा जीने का है—इसलिए निराला उस तनाव को टूटने न देते हुए भी उसके सन्तुलन को लचीला बना सके हैं। सरोज के बचपन का फ़्लैशबैक और उससे लिपटे चले आये स्वयं कवि के पुनर्विवाह का प्रसंग, 'निरानन्द सम्पादक-गण' की 'गुणग्राहकता' का वखान, जहाँ—

> पास की नोचता हुआ घास
> अज्ञात फेंकता इधर उधर
> भाव की चढ़ी पूजा उन पर।

का उदासी के रंग में रंगा व्यंग्य फूट पड़ता है, या फिर 'पद फटे बिवाई के उधार / खाये के मुख ज्यों ; पिये तेल / चमरौधे जूते से सकेल / निकले, जी लेते' कान्यकुब्ज-कुल-कुलांगारों का वर्णन-विशेप—ये सब उस तनाव की मूल शर्त अर्थात् आदर्श और यथार्थ की मुठभेड़ का खण्डन नहीं करते, बल्कि कभी क्षोभ और कभी मुस्कान की लहरियाँ उत्पन्न कर उस तनाव के संवेदना-वृत्त को और विस्तृत कर देते हैं। तनाव का संदर्भ वैयक्तिक दुखानुभूति के तीव्र बिन्दु तक ही सिमटा न रहकर परिवेश के विषम ताने-बाने की मूर्त सच्चाई तक फैल जाता है। कवि के लिए तभी यह सम्भव हो पाता है कि वह सिर्फ़ सरोज का ही स्मरण न करे अपना भी या अपना ज़्यादा सरोज का कम, स्मरण करे। इस स्मरण में एक गीति-रचना की कसावट है और एक आख्यान का प्रसार। कवि का स्वर कभी तेज़ होता है कभी मद्धम पड़ता है और कभी अस्पष्ट बुदबुदाहट में वदल जाता है। भावावेश की नोक पर चढ़ी कवि-कल्पना कभी उदात्त को छूती हुई तरल और सूक्ष्म होती है तो कभी ठेठ ज़मीन पर छोटे से छोटे ब्योरों तक के चित्रण में सटीक और ठोस, और कभी वस्तु और

भाव के बीच ऐन्द्रिक संवेदन के अंकन में थरथराती हुई, प्रहर्षित। एक स्मरण के भीतर कई स्मरण हैं, सरोज का और अपना तो है ही, स्वर्गीया प्रिया का स्मरण भी इनमें कहीं-कहीं झाँक जाता है।

स्मरण के ये सभी स्तर उस तनाव के बाहर हैं, पर उस तनाव के अंश हैं इसलिए उसके भीतर भी हैं। इस तरह 'सरोज-स्मृति' ऊपर से अपने रूपाकार में जो इतनी सरल दीखती है, वास्तव में एक अत्यन्त संश्लिष्ट रचना है। इसका प्रवाह एक सीधी रेखा में न होकर वर्तुलाकार उतार-चढ़ाव का है। इसके काव्य-अनुभव में शुद्ध सौन्दर्य और उस सौन्दर्य के बाहर घटित अनुभव की निर्मम वास्तविकता तह-दर-तह एक-दूसरे से रगड़ खाते, छिलते चले गये हैं—एक-दूसरे पर अवलम्बित, एक-दूसरे को पुष्ट करते हुए, एक-दूसरे से खिंचते, एक-दूसरे के पास आते हुए।

इस तरह 'सरोज-स्मृति' की छोटी-सी दुनिया में कवि के भीतर और बाहर की छोटी-बड़ी कई दुनियाएँ समाई हुई हैं। पर इन तमाम दुनियाओं से मिलकर बनी हुई 'सरोज-स्मृति' की दुनिया का केन्द्रीय चरित्र स्वयं इस कविता का कवि है—एक द्वन्द्वात्मक स्थिति के केन्द्र में स्थित। यह चरित्र पूरी कविता में उसके आरम्भ से अन्त तक छाया हुआ है। एक ऐन्द्रजालिक की तरह यह चरित्र इन सभी दुनियाओं को अपने भीतर से निकालता है, पर उसकी मुख्य रचना है सरोज। सरोज मानो इन सभी दुनियाओं के लिए प्रवेश-द्वार है। इन दुनियाओं से सब नाते सरोज के कारण हैं। ननसाल और सासजी की दुनिया सरोज की बाल-क्रीड़ा के लिए है। साहित्यिक विफलता की टीस भी इसलिए है कि कवि सरोज के लिए 'उपार्जन को अक्षम' रहा। पुनर्विवाह के प्रसंग में सारे आयोजन को अस्त-व्यस्त करनेवाली सरोज ही है—'संकेत किया मैंने अखिन्न / जिस ओर कुण्डली छिन्न-भिन्न / देखने लगीं वे विस्मय भर / तू बैठी संचित टुकड़ों पर'। अपने चारों ओर घिरते-कसते परिवेश के विरुद्ध कवि का जो आक्रोश अपने सजातीय कुलांगारों पर फटकार के रूप में बरसा है उसका मूल भी सरोज ही है। फिर इन प्रत्यक्ष दुनियाओं के बाहर एक अप्रत्यक्ष दुनिया कवि की दिवंगता पत्नी की है और उसे भी सरोज ही 'मेरे बसंत की प्रथम गीति' के रूप में उजागर करती है।

अपनी इस मुख्य रचना सरोज के साथ कवि का 'व्यवहार' इस कविता की संरचना को काफ़ी दूर तक निर्धारित करता है। स्थूल में यह 'व्यवहार' सरोज की वय से जुड़ा हुआ है—बालिका रूप, नवयुवती रूप और एक युवा सुहागन पुत्री का रूप। पर वय के साथ बदलते इस 'व्यवहार' के पीछे कवि के आदर्श और यथार्थ के तनावपूर्ण सम्बन्ध की घिरती-मिटती छायाओं की अन्तःसंगति भी है। सरोज का बचपन का रूप इस तनाव से मुक्त है, यह रूप सरल है जिस पर एक पिता की ममता बरसती है, इस रूप की आयोजना में एक भीतरी मुक्ति है—वर्तमान यथार्थ

परिवेश की संघर्षयुक्त चेतना से मुक्ति--अतः उस बचपन के अंकन में एक सहज मोद है--

तू सवा साल की जब कोमल
पहचान रही ज्ञान में चपल
माँ का मुख, हो चुम्बित क्षण-क्षण
भरती जीवन में नव जीवन।

यह काल की द्वन्द्वात्मक चेतना से परे हँसते हुए बचपन का शाश्वत चित्र है। कवि का बनाया हुआ चित्र। सरोज में अभी अपनी खुद की कोई 'हरकत' नहीं है, वह कोई 'दूसरा' नहीं है, वह कवि में से निकली है और कवि की है। पर शीघ्र ही बचपन के इस संक्षिप्त फ़्लैशबैक में एक-एक कर दूसरी दुनियाएँ प्रवेश करने लगती हैं और कवि तथा सरोज के सम्बन्ध भी वदलने लगते हैं।

इस बदलाव का पहला संकेत वहाँ है जहाँ एकाएक सरोज जवान होने लगती है--

नैश स्वप्न ज्यों तू मन्द-मन्द
फूटी ऊषा जागरण छन्द
काँपी भर निज आलोक भार
काँपा बन, काँपा दिक् प्रसार।
परिचय-परिचय पर खिला सकल--
नभ, पृथ्वी, द्रुम, कलि, किसलय दल।

यह जैसे कवि ने अपनी रचना में रंग भरा हो, उसे अलंकार पहराये हों। पर यहीं से उसे एक धीरे-धीरे आकार लेते व्यक्तित्व का अहसास भी होने लगा है :

तू खिंची दृष्टि में मेरी छवि
जागा उर में तेरा प्रिय कवि
उन्मनन-गुंज सज खिला कुंज
तरु पल्लव कलि-दल पुंज-पुंज
बह चली एक अज्ञात वात
चूमती केश-मृदु नवल गात,
देखती सकल निष्पलक नयन
तू, समझा मैं तेरा जीवन।

यह रूप-छवि ऐसी है जो पिता के पितृत्व को नहीं, कवि के कवित्व को उद्दीप्त करती है। कवि उन आँखों में अपनी ही छवि देखता है और उस छवि को अपने कल्पना-सामर्थ्य से भर देता है, जो अभी तक कली में बन्द एक कोमल भाव रहा, उसे मूर्त रूपाकार देने लगता है। यह सारी रूप-सृष्टि उसकी है, उसकी 'की हुई' है,

पर साथ ही यह भी स्पष्ट हो चला है कि वह अब उस सृष्टि का नियामक नहीं रहा—'समझा मैं तेरा जीवन' की स्वीकृति अपने से अलग हो रहे एक स्वतन्त्र जीवन की स्वीकृति है।

सरोज के साथ कवि के इस बदले हुए सम्बन्ध का यह सोचता-सा चित्र शीघ्र ही एक क्षुब्ध सागर के फेनिल शोर में डूब जाता है। यह सागर यथार्थ का है, उस वास्तविकता का जो कवि का परिवेश है। इस सागर की लहरों में (एक यथार्थ के भीतर यथार्थ की कई दुनियाएँ) पिता और पुत्री, कवि और उसकी रचना के सम्बन्ध डूबते-उतराते रहे हैं। डूबकर उतराने के बाद हर बार इनके बीच का सम्बन्ध थोड़ा बदल जाता है।

इस बदलाव की प्रक्रिया में जो यथार्थ-स्थितियाँ विक्षोभ पैदा करती हैं, उनका एक पक्ष यह है :

सोचा मन में हत बार-बार
'ये कान्यकुब्ज-कुल-कुलांगार'
खा कर पत्तल में करें छेद
इनके कर कन्या अर्थ खेद
इस विषय-बेलि में विष ही फल
यह दग्ध मरुस्थल—नहीं सुजल।

यह सिर्फ़ बाहर घटित होने वाली अनुभूति नहीं है, बल्कि यह एक लम्बे अरसे से कवि के भीतर घट रही थी, क्योंकि यह उस क्षुब्ध यथार्थ-सागर की एक लहर है जो शुरू से ही कवि के भीतर गरज रहा था। कविता के आरम्भ में ही जिस 'जीवन-सिन्धु' का उल्लेख हुआ है वह यही तो है—बार-बार कवि-मन के भीतर से फूटकर उछलकर बाहर आता हुआ और बाहर आने में भीतर का कुछ तोड़, कुछ मिटता हुआ और फिर कुछ पीछे छोड़कर धीरे-धीरे वापस लौटता हुआ। जहाँ लहरें ऊपर चढ़ती हैं वहाँ एक वेग है, भावनाओं का शोर, क्षोभ की गूँजती हुई लाली। ऐसे में भाषा अनेक अर्थ-आवर्तों में घिरकर मानो ठोस पत्थरों से टकराती हुई चलती है। जहाँ उतार है वहाँ एक समरस पठारी वर्णनात्मकता है, प्रायः बिम्ब प्रतीक रहित निरलंकृत भाषा-प्रवाह—घटना-क्रम को कहकर हल्का हो लेने का भाव।

एक जगह जहाँ लहरों का शोर कुछ पीछे छूट गया है, यह चित्र उभरता है—

देखती मुझे तू हँसी मन्द
होठों में बिजली फँसी स्पन्द
उर में भर झूली छवि सुन्दर
प्रिय की अशब्द शृंगार मुखर
तू खुली एक उच्छ्वास-संग,

विश्वास-स्तब्ध बंध अंग-अंग
नत नयनों से आलोक उतर
काँपा अधरों पर थर-थर-थर।

सरोज का यह विवाह के तुरन्त बाद का चित्र है। रचना कवि से अलग एक पूर्ण स्वतन्त्र अस्तित्व प्राप्त कर चुकी है और इन पंक्तियों में पहली बार कवि उस रचना को बराबरी के स्तर पर देखता है। या शायद रचना ही पहली बार उन्मुक्त दृष्टि से अपने स्रष्टा को देखती है। पहले कवि सरोज की आँखों में अपनी ही छवि देखता था, अब उन आँखों में उससे अलग एक नया संसार रच गया है। इस संसार के रचे जाने तक कवि उसके साथ-साथ रहा है पर अब वह वहाँ नहीं है। पहली बार उसकी रचना 'हरकत' कर रही है... होठों में फँसी बिजली लिए मन्द हँसी... सरोज का एक उच्छ्वास के साथ धीरे-धीरे खुलना... और इस खुलने में बँधे हुए अंगों का संभ्रम में ठिठक पड़ना.. झुकी आँखों से काँपते अधरों पर एक भीतरी आलोक का थरथराते हुए उतरना—ये सारे कोमल संकेत एक सौन्दर्य के क्रमशः पूर्ण प्रस्फुटित होने के हैं। यह सौन्दर्य पहले के सौन्दर्य की तरह स्थिर चित्रलिखित नहीं है, बल्कि इसमें एक गति है, एक आन्तरिक उमगन, एक खुलाव, एक वयस्क ऐन्द्रिक स्पर्श। कवि अपनी रचना को एक नयी सम्बन्ध-भूमि पर देखता है :

देखा मैंने वह मूर्ति धीति
मेरे वसन्त की प्रथम गीति
शृंगार रहा जो निराकार
रस कविता में उच्छ्वसित-धार
गाया स्वर्गीया-प्रिया संग—
भरता प्राणों में राग-रंग,
रति-रूप प्राप्त कर रहा वही,
आकाश बदलकर बना मही।

यथार्थ यह है कि सरोज एक मातृविहीन पुत्री है जिस पर पिता की ममता बरसती है, और आदर्श यह कि सरोज एक रचना है, स्वतन्त्र, रूप वैभवपूर्ण और सम्भावना के एक नये द्वार पर खड़ी हुई। इस स्थल पर यथार्थ और आदर्श दोनों की परिधियाँ एक-दूसरे के अत्यन्त निकट हैं, एक-दूसरे को लगभग छूती हुई-सी। कवि इस नयी सम्बन्ध-भूमि पर इन्हें एक साथ तीव्रता से महसूस करता है। इसीलिए उसका स्वर सधा हुआ है, उसमें एक बारीक शिल्प-संयम और सन्तुलन है, बहुत-कुछ को थोड़े में व्यक्त करने का शब्द-लाघव, और अब एक ऐसी निस्संगता, जिसमें यथार्थ और आदर्श दोनों ही रचनात्मकता के एक तीसरे स्तर पर संक्रमित हो जाते हैं। तभी पुत्री पुत्री होकर भी रचना ही रहती है। ('मेरे वसन्त की प्रथम गीति') और रचना रचना

होकर अन्ततः पुत्री ही रह जाती है ('आकाश बदलकर बना मही')।

सरोज की इस नयी मूर्ति में—जो एक ओर धैर्य की प्रतिमा है, और दूसरी ओर प्राणों में राग-रंग भरने वाला रति रूप—एक नई पहचान, एक नई आत्मीयता जुड़ती है 'स्वर्गीया प्रिया' के ध्यान से। ग़ौर कीजिए, कवि को सरोज के वयक्रम से तीनों ही रूपों—बालिका, नवयुवती, सद्यः परिणीता—के चित्रण में अपनी स्वर्गीया प्रिया का ध्यान बार-बार आता है। सरोज का स्मरण एक तरह से प्रिया का भी स्मरण है। सरोज जैसे नये सिरे से कवि और उसकी प्रिया को एक-दूसरे के निकट लाती है—उस 'अनुपस्थित' प्रिया को 'उपस्थित' बनाती है। जो 'है' वह जो 'नहीं है' की याद ताज़ा कर जाता है। यह प्रिया भी अपनी रची गयी 'उपस्थिति' द्वारा स्वयं सरोज को भी कवि के लिए अधिक 'उपस्थित', अधिक तात्कालिक, अधिक अनुभूत बनाती है। वह सरोज को कवि के साक्षात्कार के लिए सम्भव बनाती है।

पर यह सम्पूर्ण हुई रचना इस साक्षात्कार के क्षण में ही कवि से छिन जाती है। जो है वह भी जो नहीं है में मिल जाता है। सरोज को खोकर जैसे कवि अपनी प्रिया को दुबारा खो देता है, उस प्रिया को जो उसके साथ इस सरोज में थी—उस सौन्दर्य और रस में, जिसे दोनों ने मिलकर साथ-साथ रचा था एक सम्भावना में। एक के खोने में यह दो का खोना—एक पूरे रचना-संसार का खोना—कुछ इतना बड़ा है कि भावनाओं के ज्वार की नोक पर नहीं झेला जा सकता। इसके लिए चाहिए एक ठण्डा पठार। कोई ताज्जुब नहीं कि सरोज की मृत्यु की सूचना बड़े सादे, लगभग निरावेग ढंग से दे दी गई है। थोड़ी देर पहले सरोज के उस रचनात्मक रूपोत्कर्ष के क्षण में ही भीतर-भीतर जो एक चुपचाप उदासी रिस रही थी, वह क्या इसी भावावेग के उतार की पूर्व-सूचना थी ?

लेकिन भावना के ज्वार-बिन्दु पर एक बार कवि फिर लौटता है। यह ज्वार कैसा है ? यथार्थ और आदर्श के बीच किसी ढीले पड़ गये संतुलन को कसता हुआ नहीं, बल्कि उनके रहे-सहे ताने-बाने को भी तोड़ देता हुआ। जो तनाव अपने तमाम उतार-चढ़ावों के बावजूद शुरू से अब तक चला आ रहा था वह टूट जाता है। सरोज की मृत्यु के साथ वे तमाम दुनियाएँ जो सरोज की वजह से थीं, तिरोहित हो जाती हैं, उनके तमाम छोटे-बड़े ब्यौरे और उनके तमाम रंग-बिरंगे अच्छे-बुरे चेहरे खो जाते हैं और जीवन के यथार्थ का यह क्रूर; भयानक और बिना चेहरे वाला चेहरा उभर आता है :

> हो इसी कर्म पर वज्रपात
> यदि धर्म, रहे नत सदा माथ
> इस पथ पर मेरे कार्य सकल
> हो भ्रष्ट शील के-से शतदल।

इस अनुभूति को किसी भी रचनात्मक तर्क से नहीं समझा जा सकता। यह एक कवि

की नहीं, एक पिता के भीतर से फट पड़ती हुई चीख़ है। इस चीख़ का यथार्थ कवि के बावजूद है, सत्य की तरह नंगा और ठिठुरता, जैसी कि सरोज की अकाल और अकारण मृत्यु। अनुभूति के इस विस्फोट को देखकर ऐसा लगता है कि सरोज का अन्त महज़ एक रचना का अन्त नहीं था, सरोज कवि के लिए सिर्फ़ एक रचना नहीं थी, वह इससे कुछ बढ़कर थी। वह शायद कवि के लिए वह जीवन थी जिसमें रचना सम्भव होती है।

कवि-कर्म की ट्रैजेडी यह है कि इस जीवन के बाहर भी अन्त नहीं है, शून्य नहीं है, है जीवन के केन्द्र में वापस लौटने की दुर्दमनीय इच्छा। इसीलिए 'सरोज-स्मृति' का अन्त जीवन के बाहर एक शून्य, एक तर्पण—भावनाओं की कैथार्सिस—में नहीं होता। कविता की अन्तिम दो पंक्तियाँ फ़ालतू लगती हैं, क्योंकि हम जानते हैं कि अभी-अभी जो विस्फोट कवि की अनुभूति में हुआ है और उससे जो गहरी दरार उसके भावयन्त्र में पड़ गयी है; उसके रहते कोई कैथार्सिस नहीं हो सकता। जहाँ कविता ख़त्म होती है वहाँ यथार्थ का नंगा और क्रूर पर मानवीय चेहरा अब भी सामने खड़ा है। यह यथार्थ ही इस कविता के बाद—हर एक कविता के बाद—दूसरी कविता को सम्भव बनायेगा, कवि के कटे-फटे भावयन्त्र के बावजूद।

---

परमानन्द श्रीवास्तव

# अच्छी और महान कविता

---

कविताएँ
रात-रात भर करती हैं गुप्त मन्त्रणाएँ
ज़रा हवा चलती है
कहीं एक पत्ता पट् से गिरता है ज़मीन पर
और एक छपती हुई कविता
अपने टाइप और फ़र्मे से छिटक कर
आ जाती है बाहर
एक अच्छी कविता तरस खाने लगती है
अपने अच्छे होने पर
एक महान कविता ऊबने लगती है .
अपनी स्फटिक गरिमा के अन्दर

(*उमस* / केदारनाथ सिंह)

यहाँ इस कविता-अंश की व्याख्या नहीं करूँगा। पूरे सन्दर्भ से अलग व्याख्या का औचित्य है भी नहीं। इसे उद्धृत करते हुए इतना ही अनुभव किया जा सकता है कि अच्छी कविता और महान कविता में अवधारणा के रूप में भेद करना कठिन है। यद्यपि कवियों के अपने अनुभव और रचना प्रक्रिया में भी इन अवधारणात्मक रूपों का भेद शामिल है। अच्छी कविता और महान कविता में भेद करने के लिए सर्वथा सुनिश्चित, स्थिर या शाश्वत प्रतिमान शायद नहीं हैं। इस प्रकार का भेद-विवेक कराने में कुछ नियम या तर्क सहायक हो सकते हैं पर वे समय और रुचि के भेद से बदल भी सकते हैं। उदाहरण के लिए प्रबन्ध काव्य ही महान काव्य होगा या प्रबन्ध काव्य महान काव्य होगा ही, ऐसे तर्क स्पष्ट आलोचनात्मक नियम नहीं बन सके हैं—बन भी नहीं सकते हैं—यद्यपि बहुत दूर तक प्रबन्ध काव्य में महान काव्य की सम्भावना देखी जाती है। हिन्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इस दृष्टि के प्रबल प्रतिष्ठापक रहे हैं। उन्होंने काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था का महत्त्व बताने के

लिए काव्य के दो विभाग किए हैं : आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले—जिसके अन्तर्गत *रामचरितमानस* और *पद्मावत* जैसी कृतियाँ आती हैं, और आनंद की सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष को लेकर चलने वाले—जिसके अन्तर्गत *सूर-सागर* और *बिहारी सतसई*—जैसी रचनाएँ आती हैं। शुक्लजी के ही अनुसार डंटन ने जिसे शक्ति काव्य कहा है वह पहले प्रकार का काव्य है। इससे भिन्न प्रकार की रचनाएँ कलाकाव्य के दायरे में आती हैं। प्रसिद्ध उर्दू कवि रघुपति सहाय फ़िराक़ ने अनुमानतः 1928 के अपने निबन्ध 'महान कविता क्या है' के अन्तर्गत स्वीकार किया है कि शक्ति ही महान काव्य की पहचान बनाती है जिसका रहस्य तनाव और नमनीयता में है। उन्होंने यह भी कहा है कि महान काव्य गति की शक्ति का सर्वोत्तम उदाहरण है। यदि शुक्लजी के भेद निरूपण को महान कविता और अच्छी कविता जैसे विभावन (चिन्तन) पर आरोपित करें तो यह प्रश्न पूछना असंगत न होगा कि *सूरसागर* महान काव्य क्यों नहीं है। यदि वह महान कविता नहीं, अच्छी कविता ही है, तो क्या उसी अर्थ में *बिहारी सतसई* अच्छी कविता है। स्वाभाविक है कि इस प्रकार के अनेक सवाल इस विचार-क्रम में उठेंगे।

अच्छी कविता और महान कविता में भेद करने के उद्देश्य से एलियट ने कुछ महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ की हैं। एलियट की एक महत्त्वपूर्ण स्थापना यह है कि साहित्य की साहित्यिकता का मूल्यांकन करने के लिए उसे साहित्य की सीमाओं में ही देखना होगा पर साहित्य की महानता का निर्णय करने के लिए साहित्य के बाहर जाना ज़रूरी होगा (तात्पर्य यह है कि उस स्थिति में धर्म, दर्शन, संस्कृति आदि की मान्यताओं पर भी विचार करना प्रयोजनीय होगा)।

एलियट की यह भी मान्यता है कि कोई लेखक केवल वैयक्तिक अनुभवों की अभिव्यक्ति के बल पर महान नहीं हो सकता। इस दृष्टि से विचार करते हुए उसने 'प्रगीतात्मक' की जगह 'नाटकीय' अभिव्यक्ति को महत्त्व दिया है। ऐतिहासिक सांस्कृतिक बोध की निरन्तरता ही किसी कृति या कविता को महान बनाती है। हर महान कविता में कुछ-न-कुछ ऐसा ज़रूर होता है जिसकी रहस्यमयता बनी रहती है। एलियट के अध्ययन के ये कुछ प्रमुख निष्कर्ष भी हैं। डॉ. देवराज ने सम्भवतः एलियट के प्रभाव से ही कहा है कि श्रेष्ठ साहित्य किसी-न-किसी रूप में विकसित सांस्कृतिक बोध को अभिव्यक्ति देता है। जो रचना जीवनी की सम्भावनाओं का जितना सघन, बल्कि बारीक एवं यथार्थानुकारी चित्र उपस्थित करती है वह उतनी ही प्रौढ़ होती है। डॉ. देवराज ने महान साहित्य या महान कविता को संगठित करने वाले तत्त्वों का उल्लेख इस प्रकार किया है : उद्दाम जीवनीशक्ति, जीवन रूपों का विस्तृत बारीक चित्रण, मूल्यों का तारतम्य, सम्यक जीवन दृष्टि या जीवन विवेक। गजानन

माधव मुक्तिबोध ने भाव दृष्टि से अच्छी कविता की सम्भावना स्वीकार की है पर महान कविता के लिए विश्वदृष्टि को ज़रूरी तथा उपयोगी बताया है। इसी प्रकार के तर्क के सहारे कहा जाता है कि तात्कालिक महत्त्व की कविता अच्छी कविता हो सकती है, महान नहीं। महान कविता को तो समय में देर तक टिकना ही चाहिए।

क्लासिक और रोमांटिक में फ़र्क़ करने वाली बहस भी इस विचार क्रम में शामिल की जा सकती है। एलियट ने क्लासिक में ऐतिहासिक अनुभूति, विचारग्रस्त तथा कलागत प्रौढ़ता आदि गुणों की जो चर्चा की है उन्हें महान कविता के लक्षणों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। पर उलझन एलियट के मन में भी रही है जिसे यह कहना ज़रूरी लगा कि एक ही कृति में क्लासिक और रोमांटिक के तत्त्व मौजूद हो सकते हैं। मुख्य बात यह है कि क्लासिक बनने में किसी कृति या कविता को समय लगता है। महान कविता और अच्छी कविता का फ़र्क़ हम वहीं से करने लगते हैं जब कविता कवि की प्रयोगशाला से बाहर आती है। मुक्तिबोध ने काव्यसंघर्ष के जिस त्रिविध स्वरूप की चर्चा की है (1) तत्त्व के लिए संघर्ष, (2) अभिव्यक्ति को सक्षम बनाने का संघर्ष, (3) दृष्टि-विकास का संघर्ष। उससे अनुमान किया जा सकता है कि तीसरे स्तर तक आये बिना अच्छी कविता महान कविता नहीं हो सकती। दृष्टि विकास के संघर्ष का अर्थ मुक्तिबोध के लिए विश्वदृष्टि का विकास है। यहाँ भी कवि के काल्पनिक साहस, अन्तर्वस्तु के व्यापक आधार, अनुभव समृद्धि, संवेदनात्मक क्षमता के विकास की सम्यक जाँच-पड़ताल ज़रूरी होगी। कवि की शक्ति के साथ तनाव और नमनीयता की भी।

कोमलता का अपनी काव्यसंवेदना और काव्यभाषा में यथेष्ट विकास करने वाले कवि जयशंकर प्रसाद ने कभी निराला की कृति *गीतिका* का मूल्यांकन करते हुए कहा था कि केवल कोमलता से बड़ी कविता सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से मुक्तिबोध की यह टिप्पणी विचारणीय है—"वे सौन्दर्यवादी लोग यह भूल गये कि बंजर काले-स्याह पहाड़ में भी एक अजीब वीरान भव्यता होती है। गली के अँधेरे में उगे छोटे-से जंगली पौधे में भी एक विचित्र संकेत होता है। विशाल व्यापक मानव जीवन में पाये जाने वाले भयानक संघर्ष के रौद्र रूप तो उसकी सौन्दर्याभिरुचि के फ्रेम के बाहर थे।" प्रकारान्तर से मुक्तिबोध कहना चाहते हैं कि जो सुन्दर या ललित की आत्यन्तिक सीमा का अतिक्रमण करके भव्य उदात्त भयानक और कभी विरूप को भी अपनी अन्तर्वस्तु अपनी संवेदना और कल्पना में समेट सके उसी के निकट महान कविता सम्भव हो सकती है। इस तरह देखें तो फिर हम आचार्य रामचंद्र शुक्ल के काव्यादर्श के निकट जा पहुँचते हैं। शुक्लजी के शब्द हैं : "अनन्त रूपों में; प्रकृति हमारे सामने आती है—कहीं मधुर, सुसज्जित, सुन्दर रूप में, कहीं रूखे बेडौ या कर्कश रूप में;

कहीं भव्य, विशाल या विचित्र रूप में; कहीं उग्र कराल या भयंकर रूप में। सच्चे कवि का हृदय उसके इन सब रूपों में लीन होता है, क्योंकि उसके अनुराग का कारण अपना ख़ास सुख-भोग नहीं, बल्कि चिर साहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित वासना है।" प्रश्न केवल प्रकृति के भीतर के दो विरोधी रूपों की संश्लिष्ट व्यंजना का नहीं है संस्कृति के भीतर निहित द्वन्द्वपूर्ण वास्तविकता की ऐतिहासिक अनुभूति का भी है। आज की कविता-स्थिति के बारे में नामवर सिंह द्वारा किए गए एक विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि स्थानिक वर्णन, चित्र, या बिम्ब की सीमित विशिष्टता के आधार पर कोई कविता सामान्य की तुलना में अच्छी या महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है, उससे आगे बढ़कर संस्कृति की चुनौती झेलने और उस सन्दर्भ में मानवीय नियति को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य देने जैसी शर्त महान कविता के लिए ज़रूरी होगी। पर नामवर सिंह ने भव्य और उदात्त के आधार पर कविता की महानता का निर्णय करने वालों को भी सतर्क किया है और कहा है कि अतिसाधारण, छोटी घटना, छोटा व्यक्ति, छोटा-सा दृश्य भी बड़ी कविता को, महान कविता को जन्म दे सकता है।

जब आचार्य शुक्ल प्रबन्ध कविता के अपने आदर्श पर सूर की सीमाएँ बता रहे थे, वर्ण्य वस्तु की सीमा और अभिव्यक्ति पद्धति की विशिष्ट सीमा उनकी दृष्टि में थी। "यदि हम मनुष्य जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्र को लेते हैं सूरदास की दृष्टि परिमित दिखाई पड़ती है।" "इनकी रचना गीतकाव्य है जिसमें मधुर ध्वनि प्रवाह के बीच कुछ चुने हुए पदार्थों और व्यापारों की झलक भर काफ़ी होती है।" "तुलसी के समान लोकव्यापी प्रभाव वाले कर्म और लोकव्यापिनी दशाएँ सूर ने वर्णन के लिए नहीं ली हैं।"—इस प्रकार की स्थापनाएँ क्या *सूरसागर* को महान काव्य की श्रेणी में आने से रोक सकेंगी ! क्या वस्तु-सीमा में जीवन की अनेकरूपता का समावेश ही महान काव्य होने के लिए पर्याप्त होगा ! विचारणीय यह है कि शुक्ल जी की उपर्युक्त स्थापनाओं में निर्दिष्ट तथ्यों के अतिरिक्त वह कौन चीज़ है जो *सूरसागर* को महान काव्य की श्रेणी में ला बिठाती है। केशवदास की *रामचन्द्रिका* प्रबन्ध ही सही, महान कविता नहीं है—बहुलांश में अच्छी कविता भी नहीं है। मुक्तिबोध भी महान कविता में स्पंदनशील वैविध्यपूर्ण मानव जीवन की खोज करते हैं और अनुभव करते हैं कि महान कविता को व्यक्तिगत प्रतिक्रिया से आगे वैविध्यपूर्ण विस्तृत मनोरम और महान जीवन की अनुभूति से सम्पन्न होना चाहिए। यदि *सूरसागर* में वैविध्यपूर्ण मानव जीवन का अनुवाद प्रत्यक्ष नहीं है तो उसकी पूर्ति का क्या कोई अन्य अन्तर्मार्ग, अन्य आन्तरिक्त युक्ति या काव्यात्मक तर्क कवि ने खोज निकाला है ! यह तर्क भी शुक्लजी के ज़ेहन में है। वे अनुभव करते हैं कि सूर में तुलसी जैसा वस्तुगाम्भीर्य न हो पर कल्पना की पूर्णता कुछ ऐसी है जिसे लेकर सूर सर्वथा अद्वितीय ठहरते हैं।

वैसी कल्पनापूर्णता तुलसीदास के यहाँ भी नहीं है। क्या इस कल्पनापूर्णता को हम महान कविता का एक ज़रूरी लक्षण मान सकते हैं ?

फ़िराक़ साहब ने अपने निबन्ध 'महान कविता क्या है' में कुछ और महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ की हैं। वे लिखते हैं : "स्पेन्सर के *फ़ेयरी क्वीन,* बायरन के *चाइल्ड हेरल्ड* के वर्णनात्मक प्रसंग जो अपने समृद्ध बिम्बों तथा उदाहरणों से युक्त हैं, वुल्फ़ का *बरियल ऑफ़ सर जान मूर*—ये कुछ उल्लेखनीय प्रसंग हैं जो विशुद्ध काव्य के उत्कृष्ट दृष्टान्त हैं, सुन्दरतम शिल्प के उदाहरण हैं और अनुभूति की ऊष्मा से जीवन्त तथा उस रक्त और उत्ताप से प्रकट हैं जिसकी स्टीवेन्सन सब प्रकार की कला से अपेक्षा करता था। तो भी ये महान काव्य नहीं हैं।" आगे महान काव्य की सकारात्मक सम्भावना को लक्ष्य कर वे लिखते हैं, "किसी कविता में ध्वनि और अर्थ उसके स्पन्दन केन्द्र के अत्यन्त निकट पहुँच जायें और शाश्वत मन की धमनी बन जायें, जब इसका आन्तरिक जीवन उसमें खंडित हो उठे, यह जीवन से ही सक्रिय न होकर जीवन में सक्रिय हो उठे, जिसमें इसके अनन्त अर्थ की निष्पत्ति होती है उस अनन्त लय में जब कविता के सम्पूर्ण विचार का विलयन हो जाये, ज्ञान की बजाय वह समस्त ज्ञान की सूक्ष्म साँस और आत्मा हो जाये—जब तक यह निष्पन्न नहीं होता वह कविता महत्ता नहीं प्राप्त कर सकेगी।" फ़िराक़ साहब की दृष्टि में महान कविता जीवन्त सामंजस्य, आवेगशील उत्तेजना और प्रशान्त स्थिरता, सरलता और अनन्त व्यंजनात्मकता, तनाव, सौम्यता, लालित्य, लोकमंगल आदि से अर्थ बिशिष्टता प्राप्त करती है। इनमें कुछ लक्षण ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध कवि या कविता के अन्तः संघर्ष से है और कुछ ऐसे जिनका सम्बन्ध बाह्य संघर्ष से है। इन स्थापनाओं से उभर कर भी यही बात सामने आती है कि जहाँ आत्म संघर्ष और बाह्य संघर्ष अभिन्न हो उठते हैं वहीं महान कविता सम्भव होती है। अच्छी कविता का सम्बन्ध अधिक-से-अधिक शिल्पपूर्णता या दक्षता से है। ऐसी शिल्पपूर्णता जो प्रायः अनुभवों के इकहरेपन या एकदेशीयता की सीमा में सम्भव होती है—बिना अनुभव और अभिव्यक्ति के स्तर पर कोई ख़तरा उठाये। महान कविता की शर्त बहुत कुछ 'विरुद्धों का सामंजस्य' है जो प्रायः शिल्पपूर्णता और दक्षता तक सीमित काव्य संस्कार को मुश्किल में डालने वाला सिद्ध होता है। अज्ञेय की तमाम कविताएँ उनके आभिजात्य प्रधान संस्कार के कारण परिष्कृत संवेदना के अनुसार शिल्पपूर्णता में ढली-ढलायी जान पड़ती हैं। उनमें अच्छी कविता के उदाहरण आसानी से मिल जायेंगे पर महान कविता की श्रेणी में 'असाध्य वीणा' की स्वीकृति भी निर्विवाद न होगी जबकि मुक्तिबोध की कविता 'अँधेरे में' प्रायः निर्विवाद रूप से महान कविता की कोटि में स्वीकृति पा सकेगी।

अच्छी कविता और महान कविता के इस समस्त भेद निरूपण के बावजूद एक

विचारणीय प्रश्न यह भी है कि क्या कविता के मूल्यांकन के दुहरे प्रतिमान (अच्छी कविता के लिए अलग और महान कविता के लिए अलग) आलोचनात्मक न्याय की दृष्टि से एक विडम्बनापूर्ण स्थिति के उदाहरण नहीं हैं ! इनमें से क्या किन्हीं लक्षणों के आधार पर अच्छी कविता या महान कविता जैसे सर्वथा स्पष्ट दो टूक निर्णय किये जा सकते हैं। *कामायनी* के अनेक स्थल क्या केवल अच्छी कविता के उदाहरण हैं ! क्या वे अन्य स्थलों से मिलकर संश्लिष्ट संरचना में *कामायनी* को महान कविता का रूप दे पाते हैं ! पहले तो प्रश्न यही उठना चाहिए कि कविता के नाम पर प्रकाशित कोई कृति कविता है या कविता नहीं है। फिर उसकी गुणवत्ता या सार्थकता के सीमांकन या इस आधार पर श्रेणी-विवेक का सवाल पैदा होता है। कविता में आत्मपरकता का उपयोग भी अलग-अलग रूपों में सम्भव है। प्रगीत के ढाँचे में भी आत्मपरकता, वस्तुपरकता का द्वन्द्व औसत तार्किक संगति को अतिक्रमित कर सकता है। लम्बी कविताएँ भी अन्तर्वस्तु और अभिव्यक्ति की प्रकृति के अनुसार प्रगीत की सीमा में आ सकती हैं। इस प्रकार किसी भी एक सुनिश्चित मानदण्ड के अनुसार अच्छी या महान कविता के बीच फ़र्क़ करना मुश्किल होगा। एलियट ने (मेजर पोएट्री) और (माइनर पोएट्री) के बीच भेद करने की कठिनाई के बारे में भी विचार किया है। एलियट ने कहा कि कुछ कवि लम्बी कविताएँ लिखते हैं या आकार में छोटी कविताएँ लिखते हैं—महज़ इस आधार पर उन कवियों को महत्त्वपूर्ण या साधारण ठहराना कठिन होगा। यह ज़रूर है कि जो महान कवि माने जाते हैं (ज़ाहिर है कि वे संख्या में अधिक न होंगे) अधिकतर अपने को लम्बी कविता के ढाँचे में ही व्यक्त कर पाते हैं। एलियट की व्याख्या के तर्क से लम्बी कविता में प्रबन्ध कविता का अर्थ अभिप्राय भी सम्मिलित है। अन्ततः एलियट ने ऐसे किसी भी निर्णय को पाठक-विशेष की प्रकृति और परिस्थिति के अधीन बताया है। एक महान कवि का अर्थ किन्हीं दो पाठकों के लिए एक ही जैसा नहीं होगा। चाहे दोनों उसके महत्त्व के बारे में सहमत ही क्यों न हों। एलियट ने पाठक को जल्द ही किसी नतीजे पर पहुँच जाने से रोकना चाहा है और अपने समय के बारे में तो विशेष रूप से अधिक गम्भीर परीक्षण उपयोगी बताया है। हम अपने युग को महान काव्य-युग देखना ही चाहते हैं इसलिए किसी भी साधारण अच्छे कवि में महान कवि की छाया देखने लग जाते हैं—एलियट का यह पूर्वानुमान पूर्वग्रह से अधिक महत्त्व नहीं रखता। हमारे यहाँ प्रायः इसका विलोम ही वास्तविक स्थिति है। काव्याभिरुचि सम्बन्धी पूर्वग्रह इतने बद्धमूल होते हैं कि हमारे अपने समकालीनों में महान काव्यत्व होते हुए भी अक्सर वे हमें उपेक्षणीय जान पड़ते हैं। जहाँ तक पाठक-विशेष पर बल देने की बात है, वह उचित है और समझ में आने वाली है अच्छी और महान कविता, महत्त्वपूर्ण या

साधारण कविता के बारे में निर्णय चाहे जिस युग के सन्दर्भ में करना हो, एलियट ने पाठक से यह अपेक्षा ज़रूर की है कि वह समकालीन कविता से, अपने समय की कविता से परिचित हो। जिसने समकालीन कविता, अपने समय की कविता पढ़ी ही न हो उसे किसी भी युग के आधार पर ऐसा निर्णय करने की छूट नहीं दी जा सकेगी—और जिसने केवल समकालीन कविता पढ़ी है, निर्णय का अधिकारी वह भी नहीं माना जायेगा।

संवेदनशील और काव्य विवेक सम्पन्न पाठक किसी कविता की अनोखी प्राणवत्ता या प्राणशक्ति के आधार पर उसकी विशिष्टता या महानता से आश्वस्त हो सकता है पर क्या है वह प्राणवत्ता या प्राणशक्ति, यह बता पाना या इसे अन्तिम परिभाषा में बाँध सकना कठिन होगा। अज्ञेय ने संकेत किया है कि 'नये वातावरण से घबराये हुए पुराने कवि' की अपेक्षा 'पुराने वातावरण से उद्विग्न नये कवि' से अधिक अच्छी कविता की आशा की जा सकती है। पर यहीं यह भी पूछा है कि ऐसा उद्वेग क्या अनिवार्य रूप से अच्छा काव्य उत्पन्न करेगा ! उन्हीं का उत्तर है—"नहीं।" यदि वह उद्वेग कवि में युयुत्सा जगाता है, उसे वातावरण को छिन्न-भिन्न करके नया और स्वच्छतर वातावरण लाने की प्रेरणा देता है, तभी वह सुकाव्य का कारण बनेगा; यदि उससे अनिश्चेय, घबराहट, अथवा पलायन की भावनाएँ जागती हैं, तब उससे उत्पन्न काव्य कितना भी मधुर होकर हेय ही है !" (*त्रिशंकु* : संस्करण 1973, पृष्ठ 110) 'युयुत्सा' के साथ 'स्वच्छतर' की माँग अज्ञेय की अपनी दुविधा का ही उदाहरण है। अच्छी कविता की अन्तिम परिणति उनके लिए क्या—स्वच्छतर होने में ही है। यहीं यह कहना ज़रूरी हो जाता है कि कई बार जिन्हें अच्छी कविता के रूप में स्वीकार करना किन्हीं कारणों (जड़भूत सौन्दर्याभिरुचि या काव्यरुचि की संकीर्णता आदि) से कठिन होगा वे उपयुक्त परिदृश्य पाकर महान कविता की श्रेणी में सम्मिलित की जा सकती हैं। युवा कवि राजेश जोशी ने केदारनाथ सिंह के संग्रह *अकाल में सारस* की समीक्षा करते हुए कहा है—"हर वक़्त एक 'अच्छी कविता' बने रहना कविता के गुण की बजाय उसका दुर्गुण है और सीमा भी।" यहाँ उसी 'अच्छी कविता' का अस्वीकार है जिसकी सीमा अभिजात्य और परिष्कृति है।

अन्त में विचारणीय प्रश्न जैसा पहले संकेत किया गया यह है कि क्या अच्छी कविता के प्रतिमान हर हालत में अलग हैं और महान कविता के अलग ! या कविता को कविता के रूप में स्वीकार करने के जो आधार या प्रतिमान हैं वही अच्छी और महान कविता के निर्णय के भी आधार या प्रतिमान हैं ! अन्ततः अच्छी कविता की अच्छी कविता के रूप में स्वीकृति भी पाठक-विशेष की काव्याभिरुचि और काव्य संस्कार पर निर्भर करती है। महान कविता के निर्णय के लिए केवल काव्याभिरुचि

को प्रमाण नहीं माना जा सकता। पर यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि क्लासिक के जो प्रतिमान सुदूर अतीत में सुनिश्चित कर दिए गए थे। वे हर स्थिति में महान कविता के प्रतिमान भी मान लिए जायेंगे। युग सापेक्ष और युग निरपेक्ष, समकालीन और सर्वकालीन के द्वन्द्वशील सम्बन्ध के विवेक के आधार पर ही किसी समय की महान कविता की पहचान सम्भव है। इस आधे-अधूरे आलेख में कुछ आरम्भिक प्रश्न ही उठाये गए हैं। सम्भव है कुछ के उत्तर भी उन्हीं प्रश्नों में मौजूद हों।

---

परमानन्द श्रीवास्तव

# कविता के लिए कठिन समय

: एक :

कठिन समय समकालीन कविता के सन्दर्भ में बहुत अमूर्त या अपारिभाषित नहीं रह गया है। अकारण नहीं, समकालीन कविता की कठिनाइयों और चुनौतियों के बारे में सोचते हुए मुझे सबसे पहले प्रसिद्ध जर्मन कवि बेर्टोल्ट ब्रेष्ट याद आये—जिन्होंने बुरे दिनों के बारे में कविता भी लिखी और अक्सर अपने समय के चुनौती भरे रचनाकर्म को इस तरह परिभाषित भी किया कि कविता और समय के बीच का तनाव पूरी तरह व्यक्त हो उठे। संयोग है कि अभी-अभी प्रकाशित हिन्दी कवि लीलाधर जगूड़ी के संग्रह का एक समूचा खण्ड है—'बुरे वक़्त की कविता !' ब्रेष्ट का काव्यादर्श ही जैसे कठिन दौर की कविता पर सम्पूर्ण टिप्पणी है :

> और मैं सोचता था कि बहुत सरल शब्द
> पर्याप्त होंगे। जब मैं कहूँ चीज़ें कैसी हैं :
> सबके दिल चिथड़े-चिथड़े हो उठे हों।
>
> जो बुरे हैं तुम्हारे पंजों से डरते हैं
> जो भले हैं तुम्हारी सुघड़ता से
> खुश होते हैं
>
> यही यही मैं सुनना चाहता हूँ
> अपनी कविता के बारे में।

ज़रूरी नहीं, कि कोई आन्दोलन ही कविता के इस दौर को परिभाषित करे जिसे हम कविता के लिए कठिन समय कह रहे हैं। आन्दोलन के होने, न होने के बावजूद हमारे समय की कविता का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा ऐसा ज़रूर है जहाँ कविता एक युग या समय को संभालने की कोशिश या बैचेनी का परिणाम है। इधर के काव्य परिदृश्य में शायद एक तरह का सन्नाटा है, रिक्तता भी और सबसे अधिक समय को न समझ पाने का सम्भ्रम या ठहराव भी। पर यहीं वह दूसरे तरह की कविता

भी मौजूद है जो गहरे मानवीय लगाव के साथ अपने समय की कठिनतम चुनौतियों का सामना करने में सक्षम तथा संवेदनशील है—भले ही वह परिणाम में बहुत अल्प और सीमित क्यों न हो ! इतिहास अपने को कई तरह से दुहराता है। एक ओर कविता में अपने समय के तीखे अहसास से उत्पन्न भय और त्रास के सन्दर्भ हैं : हादसों भरे दिन, रक्तरंजित समय, बाज की दाढ़ में लगा आदमी का ख़ून, मातृत्व का निर्जन शिकार, जली हुई ज़मीन, ख़ून के धब्बे और हत्याओं के बाद के दृश्य, यातनाओं के बदलते रूप, अपने-अपने हथियारों में तेल डाल रही दुनिया, मार दिये जाने का डर; दूसरी ओर हरियाली ही हरियाली है—प्रेम ही प्रेम—जहाँ बुरे दिनों की कोई ख़बर नहीं पहुँचती। अपने समय के संघर्ष और हादसे बयान करने वाले कवियों के यहाँ भी प्रेम है—जीने की ज़िद की तरह। पर दोनों के रूप भिन्न हैं। इस भिन्नता को समझने के लिए पिछले बीस-पच्चीस वर्षों की कविता के इतिहास को इस बदले हुए समय के अहसास के साथ जाँचने-परखने की ज़रूरत होगी।

## : दो :

आज के उपभोक्ताप्रधान सामाजिक ढाँचे के भीतर, जिसमें अपसंस्कृति का निरन्तर फैलाव है, सामन्तवाद के नये विकृत रूपों के साथ पूँजीवाद के चतुर-चुस्त उपकरण नवधनाढ्य वर्ग की पतनशील रुचियों का बढ़ाव है, दकियानूस तथा बर्बर पुनरुत्थानवाद के अपने तौर-तरीक़े हैं, संचार साधनों या अभिव्यक्ति माध्यमों की भूमिका को प्रभावित और नियन्त्रित करने वाला अन्धलोकवाद है। कविता की स्थिति या हैसियत को लेकर वहुत भ्रम मुझे नहीं है पर यह मैं देख पा रहा हूँ कि कहाँ कवियों की पकड़ समय की नब्ज़ पर है और कहाँ वह महज़ अभ्यास है—अपने को एक ही अर्थ में दुहराता काव्याभास। आज के कठिन संघर्ष के बीच कविता का रूप या आकार ग्रहण करना एक जगह दिखाई देता है। दूसरी जगह वह पूरी तरह बनी-बनायी चीज़ है—एक मुकम्मल निर्मिति—एक तैयार (फ़िनिश्ड) माल, वस्तु, जिससे सत्ता या बाज़ार किसी को असुविधा नहीं। ऐसी कविता में आने वाला विद्रोह भी एक बिकाऊ चीज़ हो जाता है। इसका यह अर्थ नहीं कि पहली तरह की कविता एकदम सत्ता के लिए चुनौती होती है। आसानी तो यह कि अक्सर सत्ता को उसके वजूद का पता ही नहीं चलता—वह छोटी पत्रिकाओं में जगह पाती है, अपने संगठनों, संस्कृतिकर्मियों के बीच पढ़ी जाती है और इससे पहले कि वह व्यापक सन्दर्भ प्राप्त करे, वृहत्तर पाठक समुदाय अर्जित करे, प्रायः भुला दी जाती है। आख़िर आलोकधन्वा की कविता 'ब्रूनो की बेटियाँ' कितने पाठकों तक पहुँची होगी ! पर सहज ही सत्ता या प्रतिष्ठानों के गलियारों में मौजूद और संचार माध्यम अथवा मंच पर उपस्थित कवि अपनी सतही लोकप्रियता से संतुष्ट या ख़ुश न हों—कविता का

वास्तविक इतिहास जब भी लिखा जायेगा, इन्हीं कम पाठकों तक पहुँचने वाली, निरे काव्यानन्द की जगह तनाव पैदा करने वाली, अपने कठिन समय की भयानक ख़बर बनने वाली कविताओं के ज़रिए ही लिखा जायेगा।

यह देख पाना कठिन है कि कहाँ कविता में कवि का आत्मसंघर्ष या एक समय का संघर्ष अभिव्यक्ति पा सका है और कहाँ वह महज़ अभ्यास है : सभी प्रचलित काव्यरूढ़ियों का एक साथ निर्वाह—आख़िर बाज़ार में सब चीज़ों को एक साथ ग्राहक की रुचि के अनुसार उपलब्ध होना ही चाहिए ! यह सच है कि कभी-कभी ही वह कविता दिखाई देती है जो तमाम हादसों के बाद उम्मीद-सरीखे आश्चर्य को पूरी पकड़ के साथ बचाये हुए हो। बहुतों के लिए हताशा या निराशा भी महज़ काव्य मुहावरा है जैसे कि उम्मीद भी प्रचलित काव्य मुहावरों की नक़ल है। संवेदना और अनुभव-प्रत्यक्ष के स्रोत को, चीज़ों और स्थितियों के विश्लेषण के लिए ज़रूरी स्वतन्त्र तर्क, विवेक और जिज्ञासा को कुण्ठित करने वाली रूढ़ियाँ इस दौर में भी एक नये कवि के लिए संकट बनती हैं। कवि-कल्पना पर दूर तक फैले विज्ञापन-तन्त्र का मनोविज्ञान हावी हो जाता है। सत्ता ही विपक्ष का प्रतिनिधित्व करने लगती है। सब ज़ोर-ज़ोर से एक ही झूठ दुहराने लगते हैं। भाषा का अवमूल्यन इस हद तक हो चुका होता है कि समय पर टिप्पणी करने के लिए शेष रह जाये—केवल एक विदूषक। *हँसो-हँसो जल्दी हँसो* की कविताएँ इस कठिन दौर के लिए सबसे सार्थक टिप्पणी हैं और सब जानते हैं कि वह अपातस्थिति की देन है। पर यह समस्या रूप तक सीमित नहीं है। अजब है कि इस सिलसिले में भी ब्रेष्ट ही याद आ रहे हैं जिनका मानना था : "साहित्य रूपों के बारे में विचार करते हुए यथार्थ के बारे में ही सवाल करना चाहिए, सौन्दर्यशास्त्र के बारे में नहीं, यहाँ तक कि यथार्थवाद के सौन्दर्यशास्त्र के बारे में भी नहीं।"

## : तीन :

इस कठिन समय में ज़रूरत कविता को बचाने की ही नहीं है, उसमें ज़रूरी तोड़-फोड़ करके वह नयी ताक़त, जीवट या ऊर्जा भरने की है जो कठिनतर दिनों में कविता के काम आती है। अच्छी साफ़-सुथरी कविता कई बार इस कठिन समय के आगे लाचार नज़र आयेगी। आज की सार्थक महत्त्वपूर्ण कविता की भी अपनी कठिनाइयों या समस्याओं की पहचान के लिए धूमिल के बाद के काव्यपरिदृश्य को बहुत सावधानी से देखना होगा। हिन्दी कविता में धूमिल का प्रवेश एकदम आकस्मिक न था। धूमिल की कविता 'पटकथा' 1968 में प्रकाशित हुई। 1966 में ही केदारनाथ सिंह की कविता 'चुनाव की पूर्वसन्ध्या' के साथ धूमिल की कविता 'बीस साल बाद', 'आलोचना' में प्रकाशित हुई। 'क्या आज़ादी तीन थके हुए रंगों का नाम है / जिन्हें

एक पहिया ढोता है / या इसका कोई ख़ास मतलब होता है।' यह मोहभंग का स्वर था। 1967 में ही *आत्महत्या के विरुद्ध* संग्रह ने कविता और राजनीति के सम्बन्धों पर ठीक-ठाक समझ बनाने के लिए नई चुनौतियाँ उपस्थित कीं। *आत्महत्या के विरुद्ध* में कविता की दुनिया अधिक ठोस, अधिक भयानक और अधिक राजनीतिक दिखाई दे रही थी। नयी कविता के प्रचलित मुहावरे को एक धक्के के साथ *चाँद का मुँह टेढ़ा है* (मुक्तिबोध) के प्रकाशन ने पहले ही छिन्न-भिन्न कर दिया था। विश्लेषण के रूप में भी मुक्तिबोध ने नई कविता की 'निस्सहाय नकारात्मकता' और 'जड़ीभूत सौन्दर्यभिरुचि' पर तीखा आक्रमण किया था। आधुनिकतावाद के ख़ास रूपों के प्रति राजकमल चौधरी और श्रीकान्त वर्मा जैसे कवियों का रवैया एक तरह का था, केदारनाथ सिंह और धूमिल का कुछ और तरह का। पर उनके प्रभाव से अछूता कोई न था। अलग और अछूते थे प्रगतिशील कवियों में—वही नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन ! जो फ़िलहाल महत्त्वपूर्ण नहीं रह गये थे। नामवर सिंह ने भी—धूमिल को राजकमल के साथ ही अकविता आन्दोलन की उपलब्धि बताया था। प्रतिबद्ध कविता की पहचान के लिए छिटपुट कोशिशें जारी थीं पर तब तक नागार्जुन त्रिलोचन की कविता से उसका ठीक-ठाक सम्बन्ध नहीं बन पाया था। यह तथ्य है कि अरुणकमल, राजेश जोशी और उदयप्रकाश जैसे आगे के युवा कवियों की ठेठ देसी ज़मीन की पहचान निर्धारित करने वाले आठवें दशक में ही नागार्जुन-त्रिलोचन को न सिर्फ़ केन्द्रीयता मिली, बल्कि उनके नये महत्त्व के सन्दर्भ में नये काव्यचिन्तन की ज़रूरत भी महसूस की गयी। नया काव्यचिन्तन ! यानी नया काव्यशास्त्र।

यहाँ पिछले बीस-पच्चीस वर्षों की कविता के इतिहास पर व्यवस्थित पुनर्विचार का कोई संकल्प नहीं है पर कुछ तथ्यों और सन्दर्भों की ओर इस छवि से ध्यान देना आवश्यक जान पड़ता है कि इस महत्त्वपूर्ण दौर में कविता और समाज का क्या रिश्ता बना, अपने समय के यथार्थ से कविता की मुठभेड़ किन रूपों में हुई, उससे कविता के मुहावरे में क्या ख़ास घटित हुआ ! यह भी जाँचने की ज़रूरत बनी रहेगी कि समय के दबाव से कविता ने महज समसामयिक आग्रह बनाये या अधिक स्थायी जीवनीशक्ति प्राप्त की। यह एक सच्चाई है कि राजनीतिक अन्तर्विरोध और विचारपूर्ण तथा अराजक कथनों के अन्तर्विरोध के बावजूद धूमिल ने ठेठ देशज अनुभवों के कच्चे माल को अपनी हिकमत से एक चतुर-चुस्त काव्यविन्यास में ढाल लिया था। अकविता की रूढ़ियों का राजकमल चौधरी की सिनिकल नकारात्मक जीवनदृष्टि के असर के बावजूद धूमिल अपने समय और समाज की त्रासद विडम्बना को जहाँ-तहाँ देख पा रहे थे। अधिक सुगठित कसे हुए शिल्प के भीतर 'मोचीराम' जैसी कविता इस तरह की विडम्बना का मार्मिक दृश्यालेख है। नक्सलबाड़ी आन्दोलन के प्रभाव क्षेत्र में धूमिल भी कविता का इस्तेमाल कर रहे थे पर जहाँ ऐसे अन्य कवि

अकविता'वादियों की तरह महज़ शब्दाडम्बर या काव्यस्फीति पर निर्भर थे, वहाँ धूमिल ने सपाटबयानी को काव्यबिम्बों के साथ संयोजित करके एक नई सार्थकता उपलब्ध की। उसी रंग में राजनीतिक कविताएँ लिखने वाले आज भी मौजूद हैं—बग़ैर यह समझे हुए कि एक मुहावरा घिसते-घिसते दम तोड़ चुका है। अपने को समझाने के लिए उनका ख़याल बुरा नहीं है कि राजनीतिक अर्थप्रधान कविताएँ लिखने वाले जिन कवियों को धूमिल के बाद स्वीकृति मिली वे प्रकृत्या या रणनीति के तौर पर कलावादी थे और काट-छाँट या तराश वाली कविता को ही अपनी ज़रूरत समझ बैठे थे। उनकी मान्यता है कि काव्य आभिजात्य के पोषकों ने ही उनकी स्वीकृति में रुकावट पैदा की। पाठकों पर इतना अविश्वास शायद ही किसी विधा के लेखकों को हो, जितना इन कवियों का। वे इस औसत रूढ़ि को भी नहीं समझ पा रहे थे, जिसके चलते तरह-तरह की कविता लिखने वाले उनकी पंक्ति में या उनके साथ आ खड़े होते हैं और फिर अधिक प्रखर, मौलिक और विश्वसनीय स्वर को अलग कर पाना कठिन होता जाता है। कहने की ज़रूरत नहीं कि किन्हीं ऊँचे काव्यादर्शों के बल पर ख़राब कविता को महिमामण्डित नहीं किया जा सकता। जब मुक्तिबोध आभिजात्य रुचि वाली नई कविता के विरुद्ध यह तर्क दे रहे थे कि वह अनावश्यक काट-छाँट वाली कविता है जिससे जीवन ही ग़ायब हो जाता है तो उनके दिमाग़ में अपने ही खुरदुरे भव्य बेडौल स्थापत्यवाली कविता की चुनौतियाँ थीं। वे कविता की अपनी ताक़त को बिम्ब, कल्पना, फ़तान्सी जैसे गूढ़तर प्रश्नों से काटकर नहीं पहचान रहे थे। एक अपेक्षाकृत कठिन दौर में दहशत जैसा अनुभव जो राजकमल चौधरी के यहाँ भी है : 'दफ़्तरों-दुकानों में बिकते हुए सारे चेहरे ख़ाली ताबूत हैं / सारे दरवाज़े किसी-न-किसी क़ब्रगाह के दरवाज़े'। और तो और 'कवि-कर्म' का अनुभव-बिम्ब भी कुछ ऐसा :

> वेश्याओं के ऊँचे पलंग हैं, या जली हुई
> लकड़ियाँ। कहीं जगह ख़ाली नहीं है गज
> भर, जहाँ बैठकर लिखी जा सके गीता या
> गीतांजलि। ऊँचे पलंग हैं, या रसोईघर
> की जली हुई लकड़ियाँ हैं।

(*कंकावती* से)

पर मुक्तिबोध के यहाँ दहशत का अनुभव एक व्यापक युग-विक्षोभ की तरह है। कहने के लिए आत्मसंघर्ष ! पर सब जानते हैं कि उसके पीछे कितना व्यापक सामाजिक संघर्ष है। रूप से अन्तर्वस्तु तक जाने वाले (यद्यपि दूसरा विकल्प ही क्या है !) और दोनों में मनस्तत्व की ग्रन्थियाँ खोजनेवाले अक्सर मुक्तिबोध की कविता के भीतर से प्रकट भय या दहशत के सामाजिक स्रोत तक जाने में, सामाजिक अभिप्रायों की व्याख्या करने में काहिली दिखाते हैं। फ़ैन्टेसी मुक्तिबोध के लिए महज़ काव्ययुक्ति

होती तो निरन्तर पाठ में उसका जादू उतर चुका होता। निरन्तर परिचय या पाठ या विश्लेषण में वह और बड़ी चुनौती बनती जाती है। त्रिलोचन ने अभी हाल में मुक्तिबोध के साहित्य अकादेमी से प्रकाशित *चयन* की प्रस्तावना में कहा है : "मुक्तिबोध की कविता में एक सार्वभौम भाव का भी ग्रहण है जिसके कारण मुक्तिबोध को सराहनेवाले उत्तरोत्तर बढ़ेंगे।"

इस पूरे कठिन दौर में भारतीय लोकतंत्र के सामने क्या चुनौतियाँ उपस्थित हुईं। एक यथास्थितिवादी ढाँचे में कितनी और कैसी तोड़-फोड़ हुई। परिवर्तन हुआ तो कितना और कैसा ! पूँजी और अपराधतंत्र का राजनीति में प्रवेश इस ढाँचे को कितना क्रूर और अमानवीय बना गया ! ये चिन्ताएँ रघुवीर सहाय के यहाँ सबसे अधिक दिखाई देती हैं। उन्हें भी यह स्पष्टीकरण देना पड़ा कि कविता में व्यक्त उनकी टिप्पणियाँ राजनीतिक की नहीं, कवि की ही हैं जो संघर्ष के हर दौर में मानवीय रिश्तों को खोज करने ही जाता है—उन्हें जाँचने-सुधारने, बनाने और फैलाने भी। उन्होंने 'करुणा' को नई प्रतिष्ठा देकर अपने समाज के बनते-बदलते-टूटते रूपों को समझने की कोशिश की। कविता को कलात्मक उपकरण तक सीमित करने वालों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने साफ़-साफ़ कहा : "जहाँ बहुत कला होगी, परिवर्तन नहीं होगा।" कलात्मक परिष्कार और सुघड़ता के लिए प्रसिद्ध कवि केदारनाथ सिंह को 'अकाल में सारस' लिखने के लिए पिछले वर्षों में कठिन संघर्ष करना पड़ा—एक बार अपने मूल काव्यसंस्कार के विरुद्ध संघर्ष। हालाँकि पाठक देख सकेंगे कि कविता को बहुत सादे नये रूपों में ढालते हुए भी वे कैसे मूल काव्यसंस्कार को बनाये हुए हैं। उसे चाहे सोची-समझती अस्पष्टता कह लें—वही थोड़ा-सा आश्चर्य उनके यहाँ कविता की ताक़त बनता है। कवि और कविता के पाठक उस थोड़े से आश्चर्य का महत्त्व कम करके न देखें—वह रघुवीर सहाय की प्रकट रूप से सामाजिक चिन्ता प्रधान कविताओं के मूल में भी है—सपाटबयानी के ऊपरी रंग के बावजूद ! वह असद ज़ैदी और मंगलेश डबराल के यहाँ भी हैं, ज्ञानेन्द्रपति और उदयप्रकाश के यहाँ भी। दूसरी ओर जिन्होंने महज़ विचारधारा की ज़िद से उसे स्थगित रखा है, उनकी कविता भी अधिक स्थगित, ठहरी हुई-सी चीज़ हो गयी है। पर यह भी हमारे समय के काव्यानुभव के भीतर से प्रकट है कि वह थोड़ा-सा आश्चर्य कविता के लिए मूल्यवान बनता है गहरे जीवन बोध से, समय की ठीक-ठीक समझ से—वह भी गहरे संवेदन और अहसास के रूप में—सिर्फ़ जानकारी का हिस्सा बनकर नहीं। जानकारी के हर दिन प्रकट नये रूप और माध्यम समय की मूल संवेदना तक ले जायेंगे—इस ग़लतफ़हमी में नया से नया कवि भी नहीं है—कवि जैसा दिखता हुआ, प्रतिष्ठानों में फ़ुर्सत से टहलता, कोई चतुर कामकाजी व्यक्ति या बुद्धिजीवी हो तो हो। इस ग़लतफ़हमी में न देवीप्रसाद मिश्र होंगे, न एकान्त श्रीवास्तव, न बोधिसत्व। विचारधारा

को कवि दृष्टि में आत्मसात् कर लेने का काम बहुत दूर तक अरुणकमल ने किया है। पर चिन्ता अरुणकमल की भी है कि आनेवाले कठिनतर दिनों में कविता की शक्ल क्या होगी। और ज़ाहिर है—विचारधारा के सामने जो नई चुनौतियाँ एक अधिक बड़ी दुनिया में दिखाई दे रही हैं वे साहित्य में और साहित्य के बाहर विचारधारा और अभिव्यक्ति के रूपों को पूरी तरह अछूता नहीं छोड़ जायेंगी।

## : चार :

भद्र वर्ग की काव्याभिरुचि अगर एक ख़ास समय की नई कविता में थी तो इधर लिखी जा रही कविता में भी उसकी शक्ल अनपहचानी न रह जायेगी। आज जिस तरह की प्रेम कविता पर अतिरिक्त बल दिया जा रहा है कि इस राह चलकर कविता का व्योम अधिक विस्तृत हो जायेगा—उसके पीछे सक्रिय विचारधारा या काव्यरीति की अपनी राजनीति किसी से छिपी नहीं है। वह जनकविता की रूढ़ि के विरुद्ध एक नई काव्यरीति है और काव्यरीति को रीतिकाव्य होते कितनी देर लगती है। राजनीतिक बड़बोली कविता से जो बंजरता पैदा हुई है उसके बरअक्स इतनी विपुल हरीतिमा देखकर एक तरह के पाठकों या समीक्षकों का चकित रह जाना स्वाभाविक है। पर विचारणीय यह है कि कई बार दोनों तरह की कविताएँ जीवनशून्य क्यों हैं ! प्रेम की सीधी-सादी कविताएँ इधर के युवतर कवि भी लिख रहे हैं पर क्योंकि वे सीधे जीवन संघर्ष से पैदा हुई हैं अतः उनमें अपने ढंग की आत्मीयता और अपने ढंग की गरमाई है। बद्रीनारायण की कविता 'प्रेमपत्र' प्रेमपत्र बचाने की विकलता के बहाने जीवन को बचाने की विकलता का संकेत है।

> कोई रोम बचायेगा
> कोई मदीना
> कोई चाँदी बचायेगा,
> कोई सोना
> मैं निपट अकेला कैसे बचाऊँगा
> तुम्हारा प्रेमपत्र

ऐसी कविताओं में प्रेम बहुत प्रकट नहीं है—छलका नहीं पड़ रहा है—अनुभव-रूप भी ऐसा जिसे सीधे प्रेम कहना कठिन हो पर वह है अधिक सहज ! और प्रगाढ़ रूप में। और उससे जीने की आँच आती है।

यहीं एक कठिनाई और भी है। जो लोग खेतिहर ग्रामीण किसानों के संघर्ष को शहरी किरानी या मध्यवर्ग के संघर्ष से अलग देख रहे हैं। उनके मत में जनता के साहित्य की वही धारणा काम कर रही है जिसमें कल्पना और कल्पना जैसे दूसरे काव्योपकरणों का सतर्क सचेत सुनियोजित निषेध हो। आश्चर्य नहीं कि उन्हें

उदयप्रकाश और राजेश जोशी की कविता पार्टटाइमरों की कविता जान पड़े। कहा जा रहा है कि इस तरह की कविता का अंतः संसार नकली है क्योंकि क्रान्ति या तब्दीली की अवधारणा ही कृत्रिम या नकली है। कुछ ही समय पहले संस्कृतिकर्मियों की बातचीत में कविता की मुख्यधारा और दूसरी धारा और व्यापक अर्थ में कविता की चुनौतियों के बारे में कुछ सार्थक सवाल उभरे। एक संस्कृतिकर्मी मित्र ने ब्रेष्ट की इन्हीं पंक्तियों : 'जब मैं कहूँ चीज़ें कैसी हैं (अर्थात् हाल-चाल क्या है !) सबके दिल चिथड़े-चिथड़े हो उठे हों !' की ओर ध्यान आकृष्ट किया और कहना चाहा कि ब्रेष्ट का संघर्ष क्योंकि वास्तविक है—जनता से उनका गहरा रिश्ता या तादात्म्य है अतः उनकी कविताएँ ज़बान पर आ जाती हैं तुरंत सम्प्रेषित होती हैं। जबकि हमारे इन तथाकथित मुख्यधारा के कवियों की कविताएँ जनता के संघर्ष से कटी हुई (काव्यात्मक ही सही) बेजान नज़र आती हैं तो असहमति के बावजूद आश्चर्य नहीं हुआ। ब्रेष्ट, नेरूदा और लोर्का जैसे कवियों की अद्वितीयता, क्षमता और काव्यऊर्जा से इनकार कौन करेगा। आश्चर्य तब हुआ जब उन्होंने एक ओर गोरख पाण्डे को इस कठिन दौर का अकेला प्रामाणिक और प्रतिनिधि जनकवि बताते हुए वामपंथी दलों की नकारात्मक राजनीतिक भूमिका पर टिप्पणी की, दूसरी ओर लोककवियों के गहरे जीवन संपर्क और जनसंपर्क को मूल्यवान बताते हुए बोली की जनकविता को ही श्रेष्ठतर साहित्यिक विकल्प भी सिद्ध किया। इस पर और कोई टिप्पणी व्यर्थ होगी। इधर नये आक्रामक पुनरुत्थानवाद की लहर में जो अन्धलोकवाद उभरा है उससे संघर्ष करते हुए इस जनकविता ने कितनी सफलता अर्जित की है, इसकी समीक्षा की जानी चाहिए। ऋतुराज ने इस अन्धलोकवाद से संघर्ष के लिए किसी दूसरे प्रजातंत्र का इन्तज़ार नहीं किया है—आज ही लिखा है : 'ईश्वर के हाथों ख़ून सनी छड़ें थीं / चाकू और तेज़ाब की बोतलें थीं।'

समकालीन कविता की मुख्यधारा का निर्णय समय ही करेगा। *कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ* संग्रह के आरम्भ में रघुवीर सहाय के शब्द हैं : "जिस तरह रचनात्मकता और आज़ादी एक ही मानवीय आकांक्षा के पर्याय हैं, उसी तरह समता की लड़ाई किसी एक ही मोर्चे पर नहीं लड़ी जा सकती और कविता भी भावबोध या इन्द्रियबोध या विचारधारा के इकहरे रास्तों से चलकर अपने लिए पूरी आज़ादी न पा सकेगी। जब निराला ने कविता की मुक्ति को मनुष्य की मुक्ति का पर्याय कहा था तो उनके मन में कविता के पूर्णतर संघर्ष, संगठन और वृहत्तर मुक्ति की कुछ ऐसी ही धारणा रही होगी। समकालीन कविता की ज़िद है—अपने ख़ास समय में सार्थक हस्तक्षेप ! 'शाश्वत सिम्फ़नी' का तिरस्कार नहीं ! पर जो आसपास घट रहा है उसके प्रति उत्सुक और सजग ! इसलिए जैसी स्थितियाँ हैं—उत्तेजित और उद्विग्न भी। यह न होता तो एकदम नये कवि भी ठण्डे राग-विराग के, निष्क्रिय राग-विराग के कवि होते। वे सक्रिय

जीवन-राग के कवि हैं। इसलिए गहरे अर्थ में स्थानीय भी और अपने सहज स्वभाव में लोकोन्मुख भी। उन्हें कविता दिखती है तो अक्सर वहाँ, जहाँ अत्यन्त परिचित अत्यन्त साधारण, अनगढ़, बेडौल, अकाव्यात्मक प्रसंग कविता होने के लिए तत्पर या बेचैन है। वीरेन डंगवाल जैसे कवि की दुनिया में 'समोसे', 'पपीता', 'ऊँट', 'हाथी', 'वरुण' और 'धौंस' विविधता के प्रलोभन से लाये गए विषय भर नहीं हैं, जीवन को देखने के अनायास सार्थक ढंग हैं और जीवन यहाँ तनावहीन नहीं है। बोधिसत्व की कविता को तद्भवता के रंग में उभरा हुआ नास्टेल्जिया न समझा जाय, वह तद्भवता में सजीव और प्रखर, नास्टेल्जिया का सजग प्रत्याख्यान है।

कठिन समय के हादसों के अनुभव-प्रत्यक्ष से ही इस समय की महत्त्वपूर्ण कविता लिखी जा सकती है, यह किसी का महज़ कठोर क्रूर पूर्वाग्रह या दुराग्रह ही हो सकता है। पर जीवन के प्रति पूरी तरह खुली हुई, मुक्त, सजग कविता में (वह दृश्य पर न हो तो भी कवियों के प्रयत्नों में हर क्षण होने-होने को तत्पर दिखाई देती है) अपने समय के हादसे अनदेखे न रह जायेंगे। प्रेम और दूसरी संवेदनाएँ भी अपने आप में सिकुड़ कर ख़त्म नहीं हो जातीं। कविता के लिए वे सार्थक अनुभव बनती हैं शेष जीवन से जुड़कर। मुक्तिबोध के सामने जो कठिन दौर था वह भारतीय समाज और कविता से चला नहीं गया है। आज भी उन्हें पढ़ते हुए हमें अपने समय और समाज का कठिन द्वन्द्व समझ में आता है। अभी अभिव्यक्ति के लिए जो ख़तरे बहुत सीमित दिखाई दे रहे हैं वे आने वाले समय में किन रूपों में आयेंगे, कहना कठिन है।

छुपे हुए छापाख़ानों को खोजो
जहाँ कि चुपचाप ख़यालों के पर्चे
छपते रहते हैं (बाँटे जाते)
इस संस्था के मंत्री को खोजो
शायद उसका ही नाम हो आस्था
कहाँ है सरगना इस टुकड़ी का
कहाँ है आत्मा

क्या आज 'आत्मा के गुप्तचर' इस संकट को देख नहीं रहे हैं ! अधिक स्वाधीन पूर्णतर जीवन की माँग जीवन के सन्दर्भ में भी महत्त्वपूर्ण है, कविता के सन्दर्भ में भी। इसलिए सरलता और जटिलता के बीच स्पष्ट विभाजक रेखा खींच कर चलने वाली कविता का कोई भविष्य नहीं है। पर इस तर्क से कविता में निष्क्रिय कलावाद या चमत्कारवाद के लिए कोई छूट भी नहीं है। कठिन समय के अनुभव की अपनी जटिलता को कम करके देखना काव्यगत सम्प्रेषण का कोई सरल हल नहीं है। सरल भाषा भी अमूर्त्त रच सकती है अगर उसके पीछे जीवन दृष्टि नहीं है—अपने समय की स्थितियों या विसंगतियों की ठीक-ठाक समझ नहीं है। यह ज़रूरी है कि एक

असमर्थ कवि की सरलता को त्रिलोचन की सरलता से मिलाकर न देखा जाये। इस भ्रम में स्वभाव और शिल्प में अधिक क्रांतिकारी दिखने वाले कवि भी न रहें कि वे कविता के रूप को सिर्फ़ आसान बनाकर जनता तक पहुँच जायेंगे और जनता तुरत-फुरत क्रान्ति के लिए तैयार दिखाई देगी। अन्धलोकवाद के हर दौर के नये उभार के प्रति नागार्जुन जैसे कवि सजग रहे हैं इसलिए उन्होंने विवेक करके संघर्ष की दिशा पहचानने वाली जनता और 'अविवेकी भीड़ की भेड़िया धसान' में फ़र्क़ किया है। इस सन्दर्भ को यहाँ उपस्थित करने की गरज़ सिर्फ़ इसलिए है कि मुक्तिबोध की जटिलता को छोड़कर नागार्जुन की सरलता को आदर्श मानने के बड़े ख़तरे हैं। नागार्जुन सरलता की जटिलता पहचानने वाले एक विलक्षण कवि हैं। हमारे समय के वे युवतर कवि अब भी उनसे सीख सकते हैं, जिनके प्रयोगों में सरलता कई बार सामान्य इकहरेपन में बदल जाती है। तात्कालिक और कालजयी जैसे सवाल जानबूझ कर यहाँ नहीं उठाये गए हैं। इतना ही कहना काफ़ी हो सकता है कि जो गहरे अर्थ में तात्कालिक और गहरे अर्थ में स्थानीय है, उसी के कालजयी होने की सम्भावना भी हो सकती है। अभी तो 'ज़रूरत नहीं बचाकर रखने की / ये नश्वर महानताएँ !

---

विजयमोहन सिंह

# आधुनिक हिन्दी कहानी का प्रस्थान-बिन्दु

गुलेरीजी ने कुल तीन कहानियाँ लिखीं : 'सुखमय जीवन', 'बुद्धू का काँटा।' और 'उसने कहा था'। इनमें से पहली कहानी *भारत मित्र,* दूसरी 1911 दूसरी 1911 और 15 के बीच लिखी गयी थी तथा तीसरी *सरस्वती* अक्टूबर 1915 में छपी थी। यानी ये कहानियाँ उस ज़माने की हैं जब हिन्दी में कहानी लगभग नहीं के बराबर थी। इसी समय के आसपास हिन्दी के सबसे महत्त्वपूर्ण कहानीकार प्रेमन्द ने भी हिन्दी में (उर्दू से हटकर) कहानियाँ लिखना शुरू किया था। इन तीनों कहानियों में शुरू की दो कहानियों का महत्त्व ऐतिहासिक ही अधिक है और इसी दृष्टि से इनका स्मरण भी किया जाता है। किन्तु तीसरी कहानी 'उसने कहा था' को न केवल हिन्दी की प्रथम आधुनिक कहानी माना जाता है, बल्कि अपने शिल्प की चमत्कारपूर्ण विशिष्टताओं के कारण कालजयी कहानी भी माना जाता है और प्रकाशन-काल से लेकर आज तक हिन्दी का शायद ही कोई कहानी-संकलन हो जिसमं इस कहानी को सम्मिलित न किया गया हो। इस दृष्टि से प्रेमचन्द की भी किसी अकेली कहानी को सम्भवतः इतना महत्त्व नहीं प्राप्त हुआ ! इस कहानी की विशिष्टताओं पर हम आगे तनिक विस्तार से विचार करेंगे, लेकिन पहले उन दो कहानियों को समझने की आवश्यकता है जिन्हें 'उसने कहा था' की तुलना में घनघोर उपेक्षा मिली और जिन्हें हिन्दी के इने-गिने पाठक ही याद रख पाये हों। यह आश्चर्यजनक नहीं है, प्रेमचन्द और प्रसाद की अनेकों कहानियों को भी अधिकांश पाठक नहीं जानते। किन्तु यह आश्चर्यजनक अवश्य है कि केवल तीन-चार वर्षों के दरम्यान लिखी गयी इन तीन कहानियों की रचनात्मकता तथा प्रभावशीलता में क्या इतना बड़ा विरोधाभास है कि 'उसने कहा था' की तुलना में इन दो कहानियों को गुलेरीजी की कहानी मानने से भी इंकार किया जाये ? या इनमें कोई क्रमबद्धता या एकसूत्रता है जो गुलेरीजी के रचनात्मक व्यक्तित्व से इन्हें भी उसी तरह जोड़ती है जैसे 'उसने कहा था' को ? इस बात का उत्तर जानने के लिए इन दो कहानियों पर थोड़ा विचार कर लेना ज़रूरी है।

इस प्रसंग में सबसे पहले जिस तथ्य की ओर ध्यान जाता है, वह यह है कि ये तीनों कहानियाँ प्रेम-कहानियाँ हैं। अतः यहाँ सोचने के लिए यह भी सोचा जा

सकता है कि गुलेरीजी के गरिष्ठ पाण्डित्यपूर्ण व्यक्तित्व से यह रस-स्रोत कहाँ से फूट पड़ा ? किन्तु जानने वाले जानते हैं कि संस्कृत की—और भारत की— पाण्डित्य परम्परा में ऐसी रसज्ञता अपवाद नहीं रही है और हिन्दी में तो इस परम्परा की शुरूआत जहाँ गुलेरीजी से होती है तो दूसरी ओर इसका चरमरूप आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे रसज्ञ चिन्तकों में परिलक्षित होता है।

'सुखमय जीवन' तथा 'बुद्धू का काँटा' अपेक्षाकृत सरल प्रेम तथा परिणति की कहानियाँ हैं, उनकी बुनियाद भी 'उसने कहा था' की तुलना में सादी तथा सीधी है। वे आसानी से उस समय लिखी जा रही अन्य हिन्दी कहानियों में शामिल की जा सकती हैं और ये उस प्रकार का कोई सुखद आश्चर्य का आघात नहीं पहुँचातीं जैसा आघात 'उसने कहा था' एक पूरे ऐतिहासिक क्रम में व्यतिक्रम उपस्थित करके पहुँचाती है। लेकिन ग़ौर करें तो ये तीनों कहानियाँ प्रेम के दिवास्वप्नों की कहानियाँ हैं जो संयोगों तथा आकस्मिकता पर आधारित हैं। 'सुखमय जीवन' के नायक की बाइसिकिल चलते-चलते अचानक पंक्चर हो जाती है और इसी एक छोटी-सी घटना से उसका हाथ कमला जैसी रूपवती लड़की के हाथ में आ जाता है (पाणिग्रहण) और उसका जीवन 'सुखमय' हो जाता है। इसी तरह 'बुद्धू का काँटा' का रघुनाथप्रसाद त्रिवेदी छुट्टियों में घर जाते हुए—पनिहारिन के रूप में जिस शोख़ लड़की की छेड़छाड़ का शिकार होकर उससे बिंध जाता है, संयोग से उसी से उसका ब्याह हो जाता है। 'उसने कहा था' में भी सब कुछ आकस्मिक ही है—अमृतसर में दही की दुकान पर बारह वर्ष का एक लड़का तथा आठ वर्ष की एक लड़की मिलते हैं, अलग हो जाते हैं, पच्चीस वर्ष बाद दूसरी परिस्थितियों में मिलते हैं और फिर अलग हो जाते हैं, तब तक लहना सिंह पहले महायुद्ध में जमादार हो चुका है और 'लड़की' उसकी सूबेदारनी ! लहना सिंह उसके लड़के और पति के प्राण बचाने में अपने प्राण त्याग देता है। यहाँ फ़र्क़ स्पष्ट है, इस कहानी का अन्त-सुखमय जीवन में नहीं होता बल्कि तथाकथित प्रेमिका के लिए प्राणोत्सर्ग की त्रासदी में होता है। यह कहानी उन दो कहानियों की अपेक्षा शुद्ध रोमांटिक रेशों से बुनी गयी है—जिसमें 'मिलन' की अपेक्षा 'वियोग' तथा प्राणोत्सर्ग का विशेष महत्त्व है। उस ज़माने की दृष्टि से देखें तो यह रोमांटिकता 'सुखमय जीवन' के 'मिलन' से आगे की चीज़ ज़रूर थी।

पर इनमें से दो कहानियों की भाषा में वह गहरी आंचलिकता (पंजाबी तथा पहाड़ी का मिला-जुला रूप जो मुख्य रूप से काँगड़ा से सम्बद्ध है और जिसकी ज़िन्दगी तथा संस्कृति पर पंजाब तथा पहाड़ों का मिश्रित प्रभाव है, जहाँ के गुलेरीजी थे) मिलेगी जो उस समय उतनी गहराई के साथ प्रेमचन्द की भाषा में नहीं मिलेगी और जो आंचलिकता लगभग चार दशक बाद हिन्दी कथा-साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण आन्दोलन बनकर विकसित हुई। उदाहरण के लिए, 'बुद्धू का काँटा' तथा 'उसने कहा

था' से उस भाषा के एक-एक उदाहरण लिये जा सकते हैं–

"वा'छा, मेरे हाल में आपका क्या जी लगेगा" रव रोटी देता है, दिन भर मेहनत करता हूँ। रात पड़ रहता हूँ। वा'छा, तुम जैसे साईं लोग की बरकत में हज कर आया, खाजा का उर्स देख आया। तीन बेले नमाज पढ़ लेता हूं और मुझे क्या चाहिए · अब तो इस मोती की कमाई खाता हूँ, कभी सवारी से जाता हूँ कभी लादा; ढ़ाई मण कणक पा लेता हूँ तो दो पौली बच जाती है।"[1]

"दिल्ली शहर ते पिशौर नूँ जाँदिए<br>
कर लेणा लौगाँ दा व्यापार मण्डिए<br>
कर लेणा नाड़ेदा सौदा अड़िए<br>
(ओय) लाणा चटाका कदुए नूँ।<br>
कद्दू बण्याए मज़ेदार गोरिए<br>
हुण लागा चटाखा कदुए नूँ।"[2]

दोनों उद्धरणों में काँगड़ी आंचलिकता प्रमख है। सामान्यतः 'उसने कहा था' में ऐसे उद्धरणों के अतिरिक्त प्रेम की ऐन्द्रिकता अपेक्षाकृत कम है, वह अधिक प्लेटोनिक प्रेम की कहानी है, जबकि 'सुखमय जीवन' तथा 'बुद्धू का काँटा' में गुलेरीजी ने प्रेम की मांसलता को भी चित्रित किया है। अतः कहा जा सकता है कि 'उसने कहा था' कहानी पहले की दो कहानियों से मूलतः प्राविधिक स्तर पर ही वहुत आगे हैं। उसकी असली उपलब्धि शिल्पगत है। शिल्प की दृष्टि से निश्चित रूप से यह कहानी हिन्दी कहानी के उस युग में एक आविष्कार है। यह आविष्कार क्या है और कैसे सम्भव हुआ, इस पर हम अभी विचार करेंगे; पर भापा के स्तर पर ही सही, अब यह समझ में आ जाता है कि इन तीनों कहानियों में कोई-न-कोई एकसूत्रता है, विकास का क्रम है और जिसकी चरम परिणति 'उसने कहा था' में होती है।

'सुखमय जीवन' की भापा, वर्णन-प्रणाली अजीब तौर पर प्रेमचन्द के समान्तर दीखती है, प्रेमचन्द की अधिकांश कहानियों के। यहाँ उसकी शुरुआत का एक हिस्सा इस दृष्टि से उद्धृत किया जा सकता है–

"परीक्षा देने के पीछे और उसके फल निकलने के पहले दिन किस बुरी तरह बीतते हैं, यह उन्हीं को मालूम है जिन्हें उन्हें गिनने का अनुभव हुआ है कभी-कभी आठ हफ़्तों पर कितने दिन चढ़ गये, यह भी गिनना पड़ता है। खाने बैठे हैं, डाकिये के पैरों की आहट आयी—कलेजा मुँह को आया। मुहल्ले में तार का चपरासी आया कि हाथ-पाँव काँपने लगे।"[3]

---

1. 'सुखमय जीवन'

2. 'उसने कहा था' मे सैनिकों द्वारा गाया गया गीत।

3. 'सुखमय जीवन'

ऐसा लगता है कि एक समय की भाषा, कोई व्यक्ति नहीं, वह समय लिखता है, वह समाज जिसमें उसके सही तथा वास्तविक लेखक उत्पन्न होते हैं। यहाँ प्रेमचन्द की तथा गुलेरीजी की भाषा की यह तुलना बहुत प्रासंगिक नहीं है--एक तो गुलेरीजी मुख्यतः कहानीकार नहीं हैं; दूसरे, उनकी पूरी संवेदना तथा प्रेमचन्द की संवेदना में बहुत अन्तर है, पर हिन्दी की प्रारम्भिक कहानियों के स्वरूप को दिखलाने के लिए तथा गुलेरीजी की संक्षिप्त 'कथा-यात्रा' को समझने के लिए कहीं यह तुलना आवश्यक भी है।

'उसने कहा था' कहानी आज पढ़ने पर ऐतिहासिक-सी प्रतीत होती है, किन्तु 1915 में प्रकाशित इस कहानी का एक बहुत बड़ा हिस्सा युद्ध की पृष्ठभूमि पर आधारित है जो निश्चित रूप से 1914 में शुरू हुए प्रथम महायुद्ध को ध्यान में रखकर लिखा गया है और इस प्रकार कहानी का यह हिस्सा एक तात्कालिकता या समकालीनता लिये हुए है। कहानी की बुनावट में युद्ध और प्रेम का अद्‌भुत सम्मिश्रण है। युद्ध और प्रेम में एक विचित्र और रहस्यपूर्ण सम्बन्ध होता है जो वैसे तो पुराकाल से चला आ रहा है, लेकिन रोमांटिक भाव-बोध के अन्तर्गत विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण होकर केन्द्रीयता प्राप्त कर लेता है। यहाँ युद्ध भी एक 'प्रेम' है (भले ही देश-प्रेम !) और प्रेम भी एक युद्ध (अन्तर्द्वन्द्व के रूप में चलने वाला युद्ध !)। यहाँ 'शौर्य' और 'स्नेह' अथवा 'शृंगार' का अपूर्व मिलन होता है। थोड़ा आगे चलकर जयशंकर प्रसाद के नाटक इस 'समन्वय' के प्रतिनिधि उदाहरण बन जाते हैं। यहाँ ध्यान देने योग्य तथ्य यह भी है कि हिन्दी में 'छायावाद' का प्रारम्भ इसके वाद हुआ और वह भी मुख्य रूप से पहले कविता के माध्यम से व्यक्त हुआ। अतः एक सहज जिज्ञासा की जा सकती है कि 1915 में प्रकाशिन 'उसने कहा था' से क्या यह माना जा सकता है कि हिन्दी में कहानी के माध्यम से 'छायावाद' (रोमांटिक भावबोध) पहले आया और कविता में तनिक देर से ? यह महज़ एक साहित्य-इतिहास से सम्बन्धित प्रश्न है और इसकी कोई विशेष सार्थकता नहीं भी हो सकती है।

किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'उसने कहा था' कहानी रोमांटिक भावबोध का अनुपम उदाहरण है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि पहले कहा गया, इस कहानी का महत्त्व प्राविधिक दृष्टि से तो लगभग चमत्कारपूर्ण है। इसमें पहली बार 'फ़्लैश बैक' टेकनीक अथवा 'पूर्वदीप्ति शिल्प' का अत्यन्त रचनात्मक उपयोग किया गया है। कहानी के प्रारम्भ में एक बहुत छोटे-से हिस्से में मानो प्रसंगवश अमृतसर शहर में एक लड़के और एक लड़की के दही की दुकान पर दो-चार बार मिलन का ज़िक्र किया गया है, फिर दोनों अपने-अपने शहरों में वापस चले जाते हैं और लगता है, बात आयी-गयी हो गयी—एक लम्बा अरसा बीत जाता है, पच्चीस वर्ष ! और

अचानक महायुद्ध के खन्दक में घायल लहना सिंह के सहारे कहानी घूमकर फिर उसी छोर को पकड़ लेती है : "पच्चीस वर्ष बीत गये। अब लहना सिंह नं. 77 राइफल्स का जमादार हो गया है। उस आठ वर्ष की कन्या का ध्यान ही नहीं रहा। न मालूम वह कभी मिली थी या नहीं।" लेकिन जब यही 'कन्या' उसकी सूबेदारनी बनकर रोती हुई उस 'स्मृति' की याद दिलाती है और उससे अपने पति तथा पुत्र के प्राणों की रक्षा की भीख माँगती है तो पूरे युद्ध के दरम्यान मँडराती हुई यह पंक्ति उसके शीर्षक से स्वतः जाकर जुड़ जाती है—'उसने कहा था'। संगीत की टेक की भाँति जैसे इस 'पूर्वदीप्ति' के क्रम में घायल लहना सिंह के मुँह से बीच-बीच में (जहाँ-जहाँ मूर्छना की उस स्थिति में स्मृति का क्रम टूटता है) यह वाक्य चलता रहता है : 'वजीरा सिंह पानी पिला दे।' वैसे ही मानो युद्ध के उस पूरे क्रम में लहना सिंह के दिमाग़ में यह वाक्य भी घूमता है, 'उसने कहा था !' यहाँ कहानी प्राविधिक स्तर पर एक 'म्युज़िकल पैटर्न' अपनाती हुई एक अपूर्व मिसाल बन जाती है जो कहानी-कला के उस 'भ्रूण युग' में अकल्पनीय ही प्रतीत होता है। पूर्वदीप्ति की यह स्मृति 'प्रलाप' के रूप में चलती है, पर इस 'प्रलाप' की अपनी अर्थवत्ता है। मूर्छा की स्थिति में मस्तिष्क के अतीत में जाने का औचित्य भी स्पष्ट करता हुआ कहानीकार कहता है—

"मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ़ हो जाती है। जन्म भर की घटनाएँ एक-एक करके सामने आती हैं। सारे दृश्यों के रंग साफ़ होते हैं; समय की धुंध बिल्कुल उन पर से हट जाती है।" समय पारदर्शी हो जाता है और अतीत स्पष्ट। कहानी में सचमुच अतीत जिस तरह खुलता है उसमें समय भूत, वर्तमान तथा भविष्य में विभाजित न होकर मानो एक प्रवाह बन जाता है। लहना सिंह की मृत्यु एक नया अर्थ ले लेती है जिसमें 'देशप्रेम' और 'प्रेम' एकाकार हो जाते हैं।

हिन्दी में काफ़ी आगे चलकर सफलतम प्रयोगशील उपन्यास *शेखर : एक जीवनी* में पूर्वदीप्ति शिल्प का जिस प्रकार उपयोग करते हुए 'मृत्यु के साक्षात्कार' के क्षणों में समय के पारदर्शी होने की जो बात कही गयी उसके बीज भी कहीं-न-कहीं 'उसने कहा था' कहानी में पाये जा सकते हैं।

अतः हम देखते हैं कि 'उसने कहा था' कहानी में हिन्दी में दशकों बाद आने वाली अनेक प्राविधिक प्रवृत्तियों के स्रोत ढूँढ़े जा सकते हैं। उसकी यह महत्ता उसे केवल ऐतिहासिक थाती के रूप में ही सीमित नहीं रहने देती, बल्कि हिन्दी कहानी के लिए एक बड़ी चुनौती बना देती है। कहानी में एक साथ आंचलिकता, रोमांटिक भावबोध, यथार्थपरक वर्णन, पूर्वदीप्ति शिल्प, महायुद्ध का परिवेश, अद्‌भुत गतिशील शैली तथा क्रियाशील संवादों की शुरुआत करने वाली यह कहानी आज भी अनुलंघनीय बनी हुई है।

'उसने कहा था' के प्रेम में अतीत का प्रेम है जो रोमांटिक भावबोध की केन्द्रीय

विशेषता है—फिर चाहे वह देश के अतीत के प्रति हो या व्यक्ति के अतीत के प्रति, व्यक्ति यहाँ जैसे 'व्यक्ति विशेष' से नहीं बँधता 'अतीत' से बँधता है। शैशव कालीन स्नेह इसीलिए यहाँ इतना महत्त्वपूर्ण बन जाता है। किन्तु यहाँ शैशवकालीन प्रेम का एक पहलू और भी है—इस कहानी के आधुनिक पाठकों को प्रायः यह आपत्ति होती है कि इसमें आठ साल की लड़की तथा बारह वर्ष के लड़के के प्रेम को लेकर कहानी का जो ताना-बाना बुना गया है वह बहुत स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता ! किन्तु यहीं हम इस कहानी के ऐतिहासिक तथा सामाजिक सन्दर्भ को भूल जाते हैं। गुलेरीजी के पारिवारिक परिवेश तथा प्रकारान्तर से युग-परिवेश में बाल-विवाह तथा बहुविवाह प्रचलित सामाजिक स्वीकृतियाँ थीं। अतः आठ साल की लड़की से बारह वर्ष के लड़के का पूछना कि 'तेरी कुड़माई हो गयी ?' जितना स्वाभाविक है उतनी ही करुण वास्तविकता उसी उम्र में उसकी कुड़माई हो जाना भी है। यह एक व्यक्तिगत आघात (लहनासिंह के लिए) ही नहीं, एक सामाजिक आघात भी है जो एक व्यक्तिगत ट्रेजेडी से कहानी की प्रतिध्वनि को कहीं अधिक व्यापक बनाता है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि कहानी का कोई सामाजिक सन्दर्भ नहीं है। आख़िर रोमांटिक भावबोध का भी तो कोई सामाजिक सन्दर्भ होता ही है।

इसके अतिरिक्त यह भी नहीं भूलना चाहिए कि युद्ध में मनुष्य अतिरंजित तथा चरम मनःस्थितियों में जीता है, अतः किसी एक भावात्मक स्मृति का, चाहे वह कितनी ही मामूली क्यों न हो, पूरे व्यक्तित्व पर छा जाना और सम्पूर्ण 'संज्ञा' का उससे परिचालित होना न केवल स्वाभाविक है बल्कि अत्यन्त मनोवैज्ञानिक भी। 'उसने कहा था' के सम्बन्ध में तभी हिन्दी के सबसे बड़े समीक्षक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बहुत पहले लिखा था—

" इसमें पक्के यथार्थवाद के बीच सुरुचि की चरम मर्यादा के भीतर भावुकता का चरम उत्कर्ष अत्यन्त निपुणता के साथ संपुटित है। घटना इसकी ऐसी है जैसी बराबर हुआ करती है; पर उसके भीतर से प्रेम का एक स्वर्गीय स्वरूप झाँक रहा है—केवल झाँक रहा है, निर्लज्जता के साथ पुकार या कराह नहीं रहा है। कहानी भर में कहीं प्रेम की निर्लज्ज प्रगल्भता, वेदना की वीभत्स विवृति नहीं है। सुरुचि के सुकुमार स्वरूप पर कहीं आघात नहीं पहुँचता। इसकी घटनाएँ ही बोल रही हैं। पात्रों के बोलने की अपेक्षा नहीं।"

आचार्य शुक्ल ने इस कहानी में 'यथार्थ' तथा 'भावुकता' का जो समन्वय देखा है, वह सही है और इस रूप में मूलतः प्राचीन कविता के समीक्षक तथा साहित्य के इतिहासकार ने मानो कहानी के मर्म को समझ लिया है।

गुलेरीजी की तीनों कहानियों में जिस क्रमबद्धता की चर्चा हमने की थी और यह बताने की कोशिश की थी कि ऐसा नहीं है कि 'उसने कहा था' पहले की दो कहानियों

से बिलकुल विच्छिन्न है या तीनों कहानियाँ गुलेरीजी के सम्पूर्ण साहित्यक व्यक्तित्व के सन्दर्भ में विरोधाभास-सा प्रतीत होती हैं। इसे यदि व्यावहारिक रूप में देखना हो तो इसकी जाँच भी भाषाई स्तर पर की जा सकती है—संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित, भाषाशास्त्री और ललित निबन्धकार का सम्मिलित स्वरूप इन कहानियों की भाषा में भी बीच-बीच में 'झाँक' जाता है। 'उसने कहा था' कहानी में युद्ध के परिवेश में प्रकृति-चित्र अंकित करते हुए कहानीकार लिखता है—

"लड़ाई के समय चाँद निकल आया था। ऐसा चाँद, जिसके प्रकाश से संस्कृत-कवियों का दिया हुआ 'क्षयी' नाम सार्थक होता है। और हवा चल रही थी जैसी कि वाणभट्ट की भाषा में 'दन्तवीणोपदेशाचार्य' कहलाती है।"

यहाँ चाँद का 'क्षयी' नाम केवल संस्कृत भाषा या साहित्य के सन्दर्भ में ही नहीं, युद्ध के मरघटी-परिवेश के सन्दर्भ में भी अत्यन्त सार्थक है। इसी प्रकार 'बुद्धू का काँटा' में—"राजा हरिश्चन्द्र के यश में वलि के खूँटे पर बँधे हुए **शुनःशेप** की तरह बाबू आलमारियों की ओर देखने लगे" और "बड़े से बड़ा महाराज थैलियों के मुँह खुलवाकर भी शास्त्र-जड़ लोगों से नहीं कहला सकता कि **अष्टवर्षाभवेदी गौरी** पर हरताल लगा दो। उलटा अष्ट का अर्थ **गर्भाष्टय** करके सात वर्ष तीन महीने की आयु निकाल बैठेंगे।"

यहाँ कहानी के बीच भी गुलेरीजी का पडिण्त तथा भाषाशास्त्री मुखर हो उठता है और साथ ही मौके का फ़ायदा उठाकर वे संस्कृत के 'शास्त्र-जड़' पण्डितों पर चुटकियाँ कसने से भी नहीं चूकते। अतः स्वयं महत्त्वपूर्ण भाषाशास्त्री, शास्त्र होते हुए भी उन्हें शास्त्र कैसे 'जड़' हो जाता है और उसके ख़तरों का पूर्ण परिज्ञान था। शास्त्र को जड़ता की सीमा से बाहर निकालने और इसी क्रम में उसका सार्थक प्रयोग करने की चेतना ही उनके शोधपरक निबन्धों में तथा संस्कृति-विषयक चिन्तन में भी हरी रचनात्मकता उत्पन्न करती है और यहीं किसी 'सन्धि' से अवसर पाकर उनकी कथा-रचना का रस-स्रोत भी फूट पड़ता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इसी स्तर पर आकर उनके बहुआयामी व्यक्तित्व में अन्तर्निहित एकसूत्रता स्थापित हो जाती है तथा ऊपर से विरोधाभासपूर्ण प्रतीत होने वाली सारी सलवटें मिट जाती हैं ! अतः सम्भवतः उनकी कहानियाँ—जो कुल तीन हैं—उनके समग्र साहित्य को समझने की कुंजी का काम करती हैं !

---

**विजयमोहन सिंह**

# साँवली गहराइयों की कहानियाँ

---

मुक्तिबोध की कहानियों के सम्बन्ध में सोचने के लिए समकालीन कहानियों के मुहावरों तथा अवधारणाओं से अलग जाने की ज़रूरत है, क्योंकि इस अर्थ में मुक्तिबोध समकालीन कथाकार नहीं हैं। मुक्तिबोध की समकालीनता दूसरे स्तरों पर है।

प्रायः वे प्रश्न जो समकालीनता द्वारा अनुत्तरित या उत्तरित भी समझकर छोड़ दिये जाते हैं और जिन्हें फिर से उठाने का जोख़िम कोई नहीं उठाता—मुक्तिबोध 'अभिव्यक्ति' के सारे ख़तरे उठाकर उन्हीं प्रश्नों के निकट हमें फिर से ले जाते हैं। ऐसे प्रश्नों को उनकी 'आत्महत्या', 'ज़िन्दगी की कतरनें और 'आखेट' जैसी कहानियों में उठाया गया है। इन प्रश्नों का एक छोर जहाँ व्यक्तित्व की आन्तरिक गहराइयों में स्थिर है वहीं दूसरे छोर पर उनका सीधा सम्बन्ध समाज और व्यवस्था से है। 'आखेट' का मुहब्बत सिंह भिखारिन से बलात् शरीर-सम्पर्क स्थापित करने के बाद अचानक पाता है कि "अपने आन्तरिक जगत से निकलकर वह समाज और राजनीति के जगत में खड़ा हो गया है।" इस तरह कोई कार्य हमें अकेला नहीं रहने देता—वह हमें समाज और व्यवस्था की पूरी शृंखला से जोड़ देता है।

नैतिक प्रश्नों से मुक्तिबोध जिस तरह टकराते हैं वह उन्हें सौन्दर्यवादी नहीं बनाता। हर कहानी में स्थिति की घटनात्मकता से अधिक उससे जुड़े हुए मूल्य की चिन्ता उन्हें ज़्यादा रहती है, जिससे कभी-कभी लग सकता है कि किसी सामान्य घटना के प्रति वे अतिरिक्त तरल रूप में प्रतिक्रिया कर रहे हैं। 'ज़िन्दगी की कतरनें' में निर्मला की आत्महत्या उन्हें सीधे 'आत्महत्या' के मौलिक मनोविज्ञान की ओर ले जाती है—"आत्महत्या करने वालों के निजी सवाल उतने उलझे हुए नहीं होते जितने उनके अन्दर के विरोधी तत्त्व, जिनके अधीन प्रवृत्तियों का झगड़ा इतना तेज़ हो जाता है कि नई ऊँचाई छू लेता है। जहाँ से एक रास्ता जाता है ज़िन्दगी और नई ज़िन्दगी की ओर, तो दूसरा जाता है—मौत की तरफ़ जिसका एक रूप है आत्महत्या।"

('ज़िन्दगी की कतरनें')

लेकिन 'आत्महत्या' उनके लिए केवल मनोवैज्ञानिक समस्या या सवाल नहीं है, न 'मानव नियति' से जुड़ा हुआ कोई दार्शनिक प्रश्न। मुक्तिबोध ज़िन्दगी का अमूर्तन भी नहीं करते, उसे ठेठ वर्ग-सन्दर्भ में रखकर परखते तथा विश्लेषित करते हैं। इसीलिए मध्यम वर्ग का दामन वह शायद ही कभी छोड़ते हों क्योंकि वही उनकी चीर-फाड़ का क्षेत्र है, जिसके माध्यम से वे अपने को और अपने समाज की स्थिति को समझना चाहते हैं। 'ज़िन्दगी की कतरनें' कहानी में ही वे कहते हैं—"मध्यवर्गीय समाज की साँवली गहराइयों की रुँधी हवा की गन्ध से मैं उसी तरह वाक़िफ़ हूँ जैसे मल्लाह समुन्दर की नमकीन हवा से।" (*रचनावली* 3/ पृ. 74)

मध्यवर्ग को वे किस हद तक जानते हैं और मध्यवर्ग उनके लिए क्या है, इसे हम उनकी अन्य कहानियों के प्रसंग में समझने की कोशिश करेंगे। किन्तु यदि रचना-प्रक्रिया की बुनावट की दृष्टि से देखें तो उनकी कहानियाँ पढ़ते हुए यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मुक्तिबोध को कहानियों से जुड़े हुए प्रश्न जिस स्तर पर उत्तेजित करते हैं, उनका घटनात्मक आधार प्रायः उस स्तर का नहीं होता, यानी उस घटना से जुड़ी हुई प्रतिक्रिया अतिरिक्त भार वहन करती हुई प्रतीत होती है। शायद इसका एक कारण यह है कि उनकी लगभग हर कहानी अपने-आप में एक तरह की फ़ैन्टेंसी' है जो केवल अपनी घटनात्मकता के कारण सच नहीं है—वे उसके माध्यम से चीज़ों के आर-पार देखते हैं और इस रूप में कहानी की घटनात्मक तुच्छता अचानक अन्तर्दृष्टि बन जाती है।

ये कहानियाँ मानवीय स्थिति और सामाजिक व्यवस्था में बहुत तीखा तथा उलझाव-भरा सम्बन्ध दिखाती हैं। 'साँवली गहराइयों' के ये पात्र प्रायः पीली, बीमार तथा अभिशप्त छायाओं की तरह हैं। उनका यह रूप किसी रोमांटिक सौन्दर्यबोध का अंग नहीं है और इनके पूरे परिवेश में व्याप्त 'भुतैली गन्ध' समाजविशेष की आर्थिक स्थिति से जुड़ी हुई है। इस स्थिति ने ही इन पात्रों को जटिल, ग्रन्थित और शंकालु बना दिया है।

रचना-प्रक्रिया की ही प्रचलित प्रभावान्विति की दृष्टि से देखें तो मुक्तिबोध की सारी कहानियाँ अधूरी लगती हैं—उन्हें कहीं भी पहुँचाकर छोड़ दिया जाता है अचानक और कभी-कभी अटपटे ढंग से, लेकिन मुक्तिबोध इसे सिर्फ़ जानते ही नहीं, ऐसा जान-बूझकर करते हैं। 'भूत का उपचार' कहानी में वे कहते हैं—"कहानी बढ़ सकती है, बशर्ते मैं मूर्खता को कला समझ लूँ।" इस रूप में ये कहानियाँ कहानियाँ न होकर 'आत्मालाप' हैं—व्यक्ति, समाज और मानवीय सम्बन्धों के बारे में सुचिन्तित आत्मालाप, लेखक के मन पर पड़े भारी बोझ की तरह जिन्हें वह जहाँ-तहाँ फेंकता गया है। इन्हें पढ़कर हमेशा 'करुणा' नहीं पैदा होती, बल्कि अकसर एक अवस्थाविशेष

के प्रति भयानक नफ़रत पैदा होती है—हालाँकि मुक्तिबोध नफ़रत पैदा करना चाहते नहीं, किन्तु इन कहानियों में हम नफ़रत से बच नहीं पाते। 'सतह से उठता आदमी' का कन्हैया अन्त में गटर में थूकता है क्योंकि वह 'रामायण' और 'कृष्ण स्वरूप'—दोनों की स्थितियों से अवगत हो चुका है; 'समझौते' के सारे चेहरे वह देख चुका है, यह स्थिति उसे बेहतर नहीं बनाती, पर वह उस पर थूक सकता है। यही चेहरा 'समझौता' तथा 'एक दाख़िल दफ़्तर साँझ' में भी दिखाया गया है जो इस वर्गीय मनुष्य की विडम्बनापूर्ण स्थिति का तीखा और 'विद्रूप'-भरे रूप का बोध कराती है। 'समझौता' कहानी जो मुक्तिबोध की सर्वोत्तम कहानियों में से है, अत्यन्त प्रतीकात्मक ढंग से व्यवस्था-विशेष में अमानवीकरण की प्रक्रिया को व्यक्त करती है। कहानी का रूपक इतना स्पष्ट है कि पाठक को पशु बनाने वाले सारे तन्त्र का 'अक्षर-बोध' हो जाता है। मुझे नहीं मालूम कि हिन्दी में 'मैनेजमेंट' की भूमिका को लेकर इतने गहरे राजनैतिक अर्थ ध्वनित करने वाली कोई कहानी कभी लिखी गयी है। कहानी के अन्त में शेर बनने को मजबूर सरकस का आदमी भालू बने आदमी से कहता है—"यह तो सोचो कि वह कौन 'मैनेजर' है जो हमें-तुम्हें सबको रीछ-शेर-भालू-चीता-हाथी बनाये हुए है।" (रचनावली.3/ पृ. 155)

सामान्यतः लगता है—और कई लोगों को लगा भी है—कि मुक्तिबोध की सारी कहानियों के पात्र एक ही हैं, कई रूपों में। लेकिन उनकी सभी कहानियों को एक साथ पढ़ने पर इस धारणा से बड़ा भ्रम और कुछ नहीं लगता। यह सही है कि वहाँ मध्यवर्ग तथा निम्न मध्यवर्ग के पात्रों का एक बड़ा समूह है जिसमें वर्गीय एकसूत्रता है, लेकिन मुक्तिबोध उन्हें इतनी सम्भावित तथा वृहत्तर 'छायाओं' के द्वारा निर्मित करते हैं कि उनकी पहुँच पर विस्मय होता है—कहीं वे घोर मनोवैज्ञानिक हैं, अन्तर्मन की अँधेरी तलों में उतरते हुए, कहीं नितान्त बौद्धिक विवादी के रूप में (जहाँ प्रायः कहानी, कहानी नहीं रह जाती, एक लम्बा और अधूरा एकालाप बनकर रह जाती है), कहीं व्यापक राजनैतिक परिदृश्य अंकित करने वाले और कहीं शुद्ध आर्थिक सम्बन्धों की व्याख्या करने वाले। ऐसी कहानियों में मुक्तिबोध की शब्दावली भी सब-कुछ भूलकर मार्क्सवादी अर्थशास्त्र का सूत्र बन जाती है। जैसे 'मैत्री की माँग' कहानी का क्लर्क पात्र जब सोता है तो मुक्तिबोध लिखते हैं—"दिन भर अनुत्पादनशील बेकार मेहनत की थकान से रामराव बिस्तर पर लेटा कि आँख लग गयी।" (रचनावली.3/ पृ. 46) निश्चित रूप से मार्क्सवादी सन्दर्भों में श्रम के निर्वासन को समझाने वाली ही नहीं, 'अनुत्पादनशील मेहनत' शब्द को रचना में प्रयोग करने वाली शायद हिन्दी की यह पहली कहानी है। ऐसे उदाहरण उनकी कहानियों में बहुतेरे हैं जो उनकी कहानियों की भाषा को भी सामान्य कहानियों की भाषा से बहुत भिन्न संरचना प्रदान

करते हैं। इनसे यह पता चलता है कि कहानियों में भी मुक्तिबोध की चिन्ताएँ कितनी स्पष्ट हैं और उनकी सम्पूर्ण रचना-प्रणाली से जुड़ी हैं। 'मैत्री की माँग' कहानी मुक्तिबोध की प्रारम्भिक कहानियों में से एक है (1942) और मूलतः प्रेम-कहानी है, किन्तु उसका प्रेम भी निम्न मध्यवर्गीय आर्थिक स्थितियों की तरह कुण्ठित और अवरुद्ध है। कहानी की कथावस्तु उस ज़माने को देखते हुए बेहद साहसपूर्ण है, क्योंकि इस 'मैत्री की माँग' करती है एक विवाहित स्त्री, वह भी पर-पुरुष से। यह नहीं कि वह अपने पति को प्यार नहीं करती, पर वहाँ 'मैत्री' के लिए अवकाश नहीं है। कहानी में मुक्तिबोध पहले ही लिख देते हैं—"रामराव को सुशीला के सामने कुबूल करना पड़ा कि वह भी नित्य आर्थिक चिन्ताओं में ही रहता है, इसलिए उसे सुशीला से मन की दो बातें करने की सुविधा नहीं मिल पाती।" (रचनावली.3 पृ. 46) अतः मुक्तिबोध ने इसे प्रेम नहीं, 'मैत्री की माँग' कहा है—यह एक सहज कुतूहल है, व्यक्ति के माध्यम से बाहर की दुनिया में झाँकने की ललक ! लेकिन वह भी निम्न मध्यवर्गीय वर्जनाओं में डूब जाता है। निकास कहीं नहीं है, न उसके लिए आर्थिक झरोखे खुले हैं न मानसिक। इस नीच ट्रैजेडी का अहसास मुक्तिबोध को पहले ही अपनी कहानियों में होने लगता है।

मध्यवर्ग का ही एक हिस्सा बाबू समुदाय कितना कायर, काइयाँ तथा डरपोक होता है—इसका उद्घाटन मुक्तिबोध ने अपनी अनेक कहानियों में किया है। इस 'ट्रैजेडी' का एक बहुत बड़ा पक्ष उसकी विडम्बनापूर्ण स्थिति से जुड़ा हुआ है—'दाख़िल दफ़्तर साँझ' का 'मातहत' पहले अपने बॉस के स्वभावजन्य डरपोकपन तथा व्यक्तिगत संघर्ष से बचने के तरीक़ों से 'कुढ़ता' है, फिर पूछता है "पर आप तो प्रगतिवादी हैं ?" (पृ. 65) बताने की ज़रूरत नहीं कि यह कितना बड़ा प्रश्न है और किसी एक व्यक्ति से नहीं पूछा जा रहा है। जहाँ इसमें बीहड़ आत्मालोचन शामिल है वहीं एक पूर्वाभासपूर्ण प्रश्नचिह्न भी। प्रश्न का उत्तर कहानी में वही है जिसमें ऊपर से ईमानदार आत्मस्वीकृति लगने वाले इज़हार में आत्मऔचित्य सिद्ध करने की प्रवृत्ति भी शामिल है—"प्रगतिवादी शब्द से मैं डरता नहीं किन्तु दुर्भाग्य से मैं अब सरकारी नौकर हूँ। सरकारी नौकर की विचारधारा नहीं होती, होती भी है तो उसके अनुसार काम करना मना है मात्र वेश्यावृत्ति पर हम लोग जीवित हैं, किसी वेश्या को सुहागन कहने से उसका अपमान होता है। वैसा अपमान तुम कर रहे हो मेरा।" (पृ. 66) कोई और होता तो शायद कहानी को इस भावाकुल नाटकीय मोड़ पर ख़त्म कर देता। किन्तु मुक्तिबोध चूँकि इस आत्मऔचित्य के 'छल' को जानते हैं, इसलिए कहानी इस अधिकारी पर उसके मातहत के मुँह से कोड़े बरसाती है। इस तरह विलाप करके फिर वहीं लौट जाने में कोई 'नजात' नहीं है—न अपराध-मुक्ति। बल्कि यह

दूसरों को और अन्याय करने की छूट देना है, जिससे एक 'न्यस्त स्वार्थ' की प्रवृत्ति बनती है। 'रचनावली' में इस कहानी के दो तरह के अन्त हैं जो यदि सही हैं तो ये स्वयं मुक्तिबोध के भीतर के किसी गहरे अन्तर्द्वन्द्व को सूचित करते हैं कि किसी ऐसे आदमी को सहानुभूति दी जाये या नहीं ? क्या फिर वह 'लौट' सकता है ? कोई भी ऐसा आदमी ?

हिन्दी के अधिकांश लेखक मध्यवर्ग के हैं, मध्यवर्गीयता के हैं—लेकिन जिस अर्थ में—अपने सम्पूर्ण अर्थ में मुक्तिबोध मध्यवर्ग के लेखक हैं—मध्यवर्गीय मानसिकता ही नहीं मध्यवर्गीय मनोग्रन्थियों, दीनता, दासता तथा अवसादपूर्ण विडम्बनाओं के, उस तरह हिन्दी का (कम-से-कम) कोई कथाकार नहीं है। मध्यवर्ग उनके लिए 'गिनीपिग' नहीं है, लेकिन 'नासूर' ज़रूर है जहाँ समाज का सारा मवाद जमा है, इसलिए उसके प्रति केवल गहरी विरक्ति नहीं होती बल्कि ज़िन्दगी तथा उन मनुष्यों के प्रति एक नैसर्गिक सहानुभूति तथा आत्मीयता भी उत्पन्न होती है ! उनकी 'ऊर्जा' इसी भावना की देन है, उस आदमी की जो ज़िन्दगी को पूरी शिद्दत के साथ प्यार करना, जीना और समझना चाहता है और इस प्रक्रिया में वह हर क्षण अपनी समस्त इन्द्रियों तथा संवेदनाओं के साथ चौकन्ना है। ज़िन्दगी के प्रति इस व्यापक प्यार से उत्पन्न ऐसा चौकन्नापन प्रेमचन्द के बाद किसी अन्य हिन्दी लेखक में पाया न गया। इसी 'प्यार' के तहत वे जीवन को दूषित करने वाले तत्त्वों को उतनी ही तीव्रता से पहचान भी सके थे। कभी-कभी लगता है, कविताओं से अधिक उनकी कहानियाँ इस पहचान को मूर्तिमान कर सकी हैं—अपनी कलाहीन स्वच्छता में।

मुक्तिबोध की बाद की कहानियों में एक बेचैन करने वाली अन्तर्राष्ट्रीयता आ रही थी, जिससे पता चलता है कि मुक्तिबोध को एक बड़े स्तर पर अहसास हो रहा था कि हम एक देश में ही नहीं, एक विश्व में रह रहे हैं जिसके प्रत्येक दबाव तथा परिवर्तन से नितान्त निजी स्तर पर भी बच पाना सम्भव नहीं है। बहुत सूझ-बूझकर इस बात को व्यक्त करने के लिए उन्होंने 'क्लाड ईथरली' जैसा चरित्र चुना है जो आज के बिके हुए बुद्धिजीवी की अन्तरात्मा का प्रतीक है, अपने अपराध-बोध से ग्रस्त, विक्षिप्त बना हुआ। 'क्लाड ईथरली' में भी राजनैतिक अर्थध्वनियाँ बहुत स्पष्ट हैं—"भारत के हर बड़े नगर में एक-एक अमेरिका है।" 'शीतयुद्ध' पर मुक्तिबोध ने बहुत-कुछ लिखा है, उसकी छाया में पनपते हुए साहित्य और संस्कृति पर भी। इस कहानी का 'क्लाड ईथरली' शीतयुद्ध का 'क्लाड ईथरली' है—अपनी आत्मा में घायल, लहूलुहान। शीतयुद्ध में नर-संहार की भूमिका और पद्धति कुछ और होती है—संस्कृतियों की आत्माओं को नष्ट करती हुई, हर जगह अपना सांस्कृतिक उपनिवेश क़ायम करती हुई। यहाँ हम समकालीन कहानियों में 'अन्तर्राष्ट्रीयता' से

भिन्न एक वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीयबोध का विकास देखते हैं।

यही 'बुद्धिजीवी' की अन्तरात्मा का द्वन्द्व 'ब्रह्मराक्षस का शिष्य' कहानी में भी व्यक्त हुआ है—'ब्रह्मराक्षस' का मिथकीय प्रतीक उन्होंने अपनी अत्यन्त चर्चित कविता में भी अभिशप्त बुद्धिजीवी के लिए ही इस्तेमाल किया है। समाज में बुद्धिजीवी की भूमिका का प्रश्न उन्हें बराबर मथता रहा है। 'ज्ञान और क्रिया' के बीच फँसा हुआ बुद्धिजीवी मानो एक प्रेत योनि में रह रहा हो ! निश्चित रूप से बीसवीं शताब्दी के प्रत्येक ईमानदार बुद्धिजीवी के सामने यह प्रश्न विकराल रूप धारण कर उसके लेखन को जटिलतर बनाता रहा है, जिस तरह सार्त्र को कभी यह लगा था कि करोड़ों भूखों तथा व्यापक नरसंहारों के लिए या उनके रहते आख़िर लेखन कर क्या सकता है, उसकी भूमिका या सार्थकता क्या है ? मुक्तिबोध को इस सदी के हिन्दी साहित्यकारों में सबसे पहले यह बोध प्रसाद में दीखा था जो 'ज्ञान' और 'क्रिया' के अन्तराल को 'कामायनी' में उसकी आत्यतिकता के साथ महसूस करते हैं। बुद्धिजीवी सब-कुछ सोच-समझ सकता है, लेकिन इस भ्रष्ट संसार में सक्रिय प्रतिरोध कर परिवर्तन कैसे उत्पन्न कर सकता है ? यही उसका अभिशाप है। 'ब्रह्मराक्षस' कहानी में इस 'अभिशाप' से मुक्ति निष्ठापूर्ण सम्पूर्ण 'ज्ञानदान' में दिखायी गयी है। लोक-कथाओं के शिल्प पर आधारित इस कहानी में 'फ़ेंटेसी' का उपयोग इसी अर्थ-उद्घाटन के लिए किया गया है।

इसी प्रकार 'जलना' कहानी नेहरू-युग से 'स्वप्न-भंग' की कहानी है—जो सन्'60 के आसपास तीखा होता गया था। 'ग़रीबी के दर्शन' के बीच देखे गये स्वप्न उसी 'रोमांटिक विज़न' की देन हैं (कहानी का रचनाकाल भी 1960 ही है)। कहानी के नायक के बारे में मुक्तिबोध लिखते हैं—"उसके अपने स्वभाव के अनुसार सुबह की रोशनी की ताज़गी में उसकी आँखों के सामने स्वप्न तैरने लगे। उसके बच्चे बड़े हो गये हैं। वे ख़ूब मेहनती निकले हैं। वे बहुत होशियार हैं। हाँ, सही है कि उनके कपड़े फटे हुए हैं लेकिन वे काण्ट और मार्क्स, सार्त्र और नेहरू के वचन अपने भाषणों में सहज रूप से गूँथ जाते हैं। वे किसी सुनहले लक्ष्य के लिए लड़ रहे हैं।" (रचनावली.3/ पृ. 182) फटे कपड़ों में कान्ट, मार्क्स, सार्त्र, नेहरू के वचनों में भाषण करने में—गहरा दर्दनाक व्यंग्य है। उसी 'नीच ट्रैजेडी' का एहसास जो मुक्तिबोध व्यवस्था और बुद्धिजीवी दोनों के अर्धसत्य में देखते हैं।

"मेरी आत्मा आधी क्लासिकी है, आधी रोमांटिक।" यह उद्धरण 'भूत का उपचार' कहानी का है। यह पूरे युग की संवेदना का सूत्रात्मक विश्लेषण है—जिसमें कहीं मुक्तिबोध भी शामिल हैं। इसलिए चीज़ें मुक्तिबोध को 'हांट' करती हैं, वे 'ऑब्सेस्ड' रहते हैं—बार-बार 'स्वप्न' और दुःस्वप्न का दुरंगा परिवेश उनकी रचनाओं

में मँडराता रहता है जो एक ठंडे 'यथार्थवादी' या अभिजातवादी में नहीं हो सकता। या यों भी सोच सकते हैं कि 'रोमांटिसिज़्म' तथा 'अभिजातवाद' का एक रासायनिक मिश्रण वास्तविक यथार्थचेतना को जन्म देता है—ऐसे रचनाकारों में चाहें तो टाल्सटाय को शामिल कर सकते हैं जिसमें यह विरल संयोग प्राप्त होता है। मुक्तिबोध दोस्तोवस्की या गोर्की की तरह ग़लाज़त के लेखक नहीं है (जैसा कि कुछ लोग मानते हैं), उनके यहाँ 'ग़रीबी' है—पर *गाड़ीवालों का कटरा* (कुप्रिन) या *तलछट* (गोर्की) की ग़लाज़त नहीं है। इसी अर्थ में वे उस प्रकार के 'रीयलिस्ट' नहीं हैं। वे तो यहाँ तक मानते हैं कि 'कहानी उपचेतन की तर्क धारा' के द्वारा निकलती है—जिसे कोई ठण्डा रीयलिस्ट कभी स्वीकार नहीं करेगा। वे रचना के लिए आवश्यक मानते हैं "कोई महान लक्ष्य जो अपने आकर्षण से जीवन को मन्त्रमुग्ध कर डाले।" कोई चाहे तो इस 'मन्त्रमुग्ध' में 'रोमांटिकता' ढूँढ़ सकता है। लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि किन्हीं भी स्थितियों में मुक्तिबोध रचना को सम्भव बनाने वाली आवश्यक शर्तों और स्रोतों को नज़रअंदाज़ नहीं करते।

उनकी अनेक कहानियों में रात का वातावरण है जिसे प्रतीकात्मक भी मान सकते हैं, लेकिन यह 'रात' ही है जो 'उपचेतन की तर्क धारा' के अवरुद्ध द्वारों को खोलती है और 'जलते हुए फ़ास्फ़ोरसी रंग' के भयानक चित्रों से साक्षात्कार कराती है। जिन्हें छोटे शहरों या क़स्बों के धुँधवाते धुँधले और सुस्त-रफ़्तार परिवेश में रहने का अभ्यास या अन्दाज़ है वे अचानक सुलग उठने वाली इन मनःस्थितियों का अनुमान भी कर सकते हैं। कोई भी कलाकार अपनी मानसिकता में इस परिवेश को उतरने से नहीं रोक सकता; बल्कि अपनी रचनाओं में उसकी पुनर्निर्मिति में ही उसकी रचनात्मक सफलता तथा सार्थकता दोनों हैं।.

मुक्तिवोध की कहानियों में क़स्बाई जीवन तथा मध्यवर्गीय परिवेश एकाकार हो गये हैं। इस रूप में उनकी कहानियाँ सव देखे हुए को—हजारों बार देखे हुए को 'पहली आँख' से देखी हुई कहानियाँ हैं, जिनकी विशेषता ही यही है कि मानों उस जीवन को मुक्तिबोध से पहले किसी ने न देखा हो। यह अपनी एकरूपता में इतनी विविधता तथा सम्पूर्णता लिये हुए है कि जिन लोगों को ज्वायस डबलिन के खौलते हुए जीवन का 'पोर्ट्रेट' प्रस्तुत करने वाला रचनाकार लगता है उन्हें मुक्तिवोध की कहानियों के माध्यम से अपने जीवन का 'पोर्ट्रेट' तो ज़रूर दिखायी पड़ना चाहिए।

प्रेमचन्द और रेणु में हम भारतीय गाँवों का 'माइक्रोस्कोपिक' तथा 'मैक्रोस्कोपिक'—दोनों प्रकार के चित्र देखते हैं। लेकिन मुक्तिबोध की कहानियों के क़स्बे और छोटे शहर ? वे कौन-सा भारत दिखाते हैं ? वह भारत जो सबसे दयनीय और सबसे 'जानकार' है। वह उन 'बीच के लोगों' का भारत है जो गाँव और शहर

दोनों के हैं और दोनों के नहीं हैं। मध्यवर्गीय दरिद्रता का यह खाँसता, थूकता, घिसटता भारत—जिसे मुक्तिबोध एक साथ शिद्दत के साथ प्यार और घृणा करते हैं। "इन क़स्बों का चेहरा अगर इतना न सूख गया होता तो इनके तुनुक मिज़ाज चेहरे पर किसी को भी प्यार आता।"

लेकिन ये क़स्बे कटे हुए लोगों के नहीं हैं, इसी कारण किसी क़स्बे में एक शिक्षक की आत्महत्या भी मुक्तिबोध के लिए एक 'विश्वव्यापी अंगार' थी।

मुक्तिबोध की कहानियों पर लिखने के लिए किसी भी शिक्षित मानसिकता से बड़ी मानसिकता चाहिए—जो एक साथ शिक्षा, सौन्दर्य और दारिद्र्य को पहचानने वाली हो। अगर ऐसा सम्भव होता तो वे प्रेमचन्द के बाद हिन्दी के सबसे बड़े कहानीकार माने जाते।

*सतह से उठता आदमी*—रचनावली के मुताबिक़ मुक्तिबोध की आख़िरी कहानियों में से है (1963.64) और इस कहानी के द्वारा हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि मुक्तिबोध तब कहानी में वैचारिकता के किन स्तरों से गुज़र रहे थे। हम पहले से ही देखते आ रहे हैं कि कहानी के शिल्प को लेकर मुक्तिबोध में कोई विशेष आग्रह नहीं है—कभी-कभी वे रूपकों और प्रतीकों का आश्रय ज़रूर लेते हैं, लेकिन कहानी उनके लिए ज़ोर से की गयी बहस है या सामाजिक, बौद्धिक तथा संवेदनात्मक समस्याओं को सुलझाने का एक लिखित माध्यम है। कविताओं में गरिष्ठ विचार-खंडों के बावजूद वे शिल्प के प्रति पर्याप्त सजग हैं, उनकी 'ज्ञानात्मक संवेदना' तथा 'संवेदनात्मक ज्ञान' की अवधारणा कविता में ही ढलती दिखायी पड़ती है। कहानी में वे मस्तिष्क के उसी हिस्से से काम लेते हैं, जो रचनात्मकता की प्रतीक्षा या परवाह नहीं करता, केवल अपनी 'सोच' के प्रति सजग रहता है।

*सतह से उठता आदमी* में मुक्तिबोध ने दो समानान्तर चरित्रों के माध्यम से एक विशेष सामाजिक प्रक्रिया के अन्तर्गत वर्गीय मनुष्य का विश्लेषण कर डाला है। इस विश्लेषण को समझना इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि इसके द्वारा मुक्तिबोध की दृष्टि में आज़ादी के बाद भारतीय मनुष्य की स्थिति और विकास का एक विशेष पहलू उभरकर सामने आता है। कहानी के ये दो समानान्तर चरित्र हैं—कृष्णस्वरूप तथा रामनारायण, जिनके विकास का एक तीसरे पात्र कन्हैया (जिसे स्वयं लेखक मान लेने में कोई हर्ज़ नहीं है) के साक्ष्य में अध्ययन किया गया है। कृष्णस्वरूप अधिकांश पढ़े-लिखे निम्न मध्यवर्गीय व्यक्तियों की तरह दरिद्रता में लिथड़ा हुआ चरित्र है, बल्कि इसी वर्ग के एक बौद्धिक समुदाय की तरह मानता है कि ग़रीबी एक गौरवपूर्ण पवित्र स्थिति है जिसकी हर क़ीमत पर रक्षा की जानी चाहिए। कन्हैया (जो कृष्णस्वरूप की

ही पूर्ववर्ती स्थिति का व्यक्ति है) इस ग़रीबी के 'धर्म' और 'दर्शन' के बारे में कहता है—''गाँधीवादी दर्शन ग़रीबों के लिए बड़े काम का है। वैराग्य भाव, अनासक्ति और कर्मयोग सचमुच एक लौह-कवच है, जिसको धारण करके मनुष्य आधा भूखापन और आधा नंगापन सह सकता है। सिर्फ़ सहने की ही बात नहीं, वह उसके आधार पर आत्मगौरव, आत्मनियंत्रण और आत्मदृढ़ता का वरदान पा सकता है।'' (रचनावली 3/ पृ. 206)

ध्यान देने की बात है कि ग़रीबी के इस दर्शन का उदाहरण मुक्तिबोध को गाँधीवाद में मिला, उस दूसरे 'दर्शन' में नहीं जिसे कभी 'दरिद्रता का दर्शन' कहा गया था, लेकिन जो मूलतः दरिद्रता के विरुद्ध संघर्ष का दर्शन है, दरिद्रता का नहीं। इसीलिए इन पंक्तियों में छिपे हुए व्यंग्य को समझना मुश्किल नहीं है। लेकिन गाँधीवाद को ख़ारिज कर देने से कोई बात नहीं बनती क्योंकि जब तक यह स्पष्ट न हो कि इस 'संघर्ष' का स्वरूप क्या हो, तब तक यह 'संघर्ष' आकारहीन अमूर्तता में ही लिपटा रह जायेगा। इसके अलावा न केवल इस संघर्ष का स्वरूप प्रायः अमूर्त रह जाता है बल्कि उसके 'ऑफ़शूट्स' भी अनेक हैं जिनमें दो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं, संघर्ष की अमूर्तता में घिरा व्यक्ति जिनका प्राय शिकार होता है—'समझौते' और 'सनकीपन'; कृष्णस्वरूप का एक पूर्ववर्ती रूप है जिसमें ''वह निःसंज्ञ है· दबना, कतराना और दूर खड़े होकर तमाशा देखना व बात सुनना, जहाँ महत्त्व की बात है वहाँ सतर्क होकर बात गाँठ से बाँध लेना, उसका मानसिक जीवन है।'' (पृ.207) और उसका आर्थिक जीवन है ''सवा सौ रुपये में खाना-दाना भी नहीं चलता।'' ''इसी आर्थिक और दार्शनिक स्थिति में कृष्णस्वरूप घूमता है।''(पृ. 207)

कहने की ज़रूरत नहीं कि ये आर्थिक, दार्शनिक तथा मानसिक स्थितियाँ एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। इन सबकी निर्मिति या परिणाम है कृष्णस्वरूप। संघर्ष यहाँ कहीं नहीं है। इस 'दर्शन' की मानसिकता में एक छिपी हुई प्रतीक्षा की ललक है, जिसकी पूर्ति होती है रामनारायण के सम्पर्क से। 'रामनारायण' एक भहराते हुए सामन्ती परिवार का व्यक्ति है, विगत वैभव की मलिन माया अभी वहाँ है—वह ऊँचे सम्बन्धों वाला है। मुक्तिबोध ने अपनी प्रवृत्ति के अनुरूप पारिवारिक पृष्ठभूमि में उसकी मनोवैज्ञानिक चीर-फाड़ भी की है जिसकी परिणति के रूप में वह एक बौद्धिक 'सिनिक' है—बुद्धिजीवी बोहिमियन ! लेकिन जिसके सम्पर्क में आते ही कृष्णस्वरूप के सामने एक नई दुनिया का द्वार खुल जाता है।

''वह उसे रात को मेट्रो सिनेमा ले जाता। अँगरेज़ी फ़िल्में देखने जाते। दोनों रात को देर से लौटते। और विनोबा भावे के सर्वोदयवाद और एम.एन. राय के 'रेडिकल ह्यूमनिज़्म' से लेकर सार्त्र के एक्ज़िस्टैंशियलिज़्म तक की बातें होतीं। नई कविता और

एब्सट्रैक्ट पेंटिंग की भी चर्चा होती। उस अजनबी ने जिसका नाम रामनारायण था, कृष्णस्वरूप के सामने नई दुनिया खोल दी।" (रचनावली.3/ पृ. 208)

और इस 'नयी दुनिया' खोलने वाले पिता-ईश्वर का हाल यह है कि "निषेध, निषेध, निषेध ! कृष्णस्वरूप को यह पहचानने में देर न लगी कि निषेध का उसका स्रोत बौद्धिक नहीं है, वह कहीं भीतर है।.. वह सारे भद्र समाज से चिढ़ता उसके आसपास जो 'स्वतन्त्रचेता' व्यक्ति इकट्ठे हो गये थे उन्हें वह ख़ूव प्रेरणा देता। ये सब 'स्वतन्त्रचेता' लोग अपने-अपने समाज, वर्ग और परिवार से कटे हुए लोग थे। उनमें से सभी जोशीले और पढ़ने-लिखने वाले और (साथ ही) कुचक्री थे।" (पृ. 209-10)

रामनारायण और उससे जुड़ा हुआ यह जो दूसरा 'विद्रोही' वर्ग है जिसे मुक्तिवोध स्पष्ट शब्दों में 'समाज से कटा हुआ' और 'कुचक्री' कहते हैं, आज़ादी के बाद विकसित होने वाला 'बुद्धिजीवियों' का एक बहुत बड़ा समुदाय है जो सामन्ती परम्परा की राख से पैदा हुआ है। ज़ाहिर है कि यह वर्ग विद्रोह या क्रान्ति नहीं कर सकता, वह शुद्ध नकारवादी है तथा समाज में किसी भी प्रकार का परिवर्तन लाने में असमर्थ है। पर प्रश्न है कि 'दरिद्रता का दर्शन' बघारने वाले कृष्णस्वरूपों पर उसकी प्रतिक्रिया क्या होती है ? मुक्तिवोध को इसका उत्तर पाने में देर नहीं लगती—ये दोनों समानान्तर चरित्र एक-दूसरे को काटते हुए विपरीत दिशाओं में विकसित होते हैं। कृष्णस्वरूप जल्दी ही नवधनाढ्य वर्ग की सद्यःप्राप्त मानसिक तथा आर्थिक समृद्धि में शामिल हो जाता है जो क्रमशः अपने को 'सही' ही नहीं, संस्कृति का कर्णधार भी समझने लगता है। मुक्तिवोध ने कृष्णस्वरूप के भीतर एक प्रकार का अपराध-वोध ज़रूर भर दिया है जो उनकी परीक्षण की प्रक्रिया का अंग है। यद्यपि कहानी में यह परिशिष्ट ही प्रतीत होता है, पर कहानी के अन्त में कृष्णस्वरूप यही 'अपराध-बोध' जिसमें आत्म-औचित्य भी शामिल है लेकर कन्हैया के पास आता है—

"अब मुझे बताओ, पूँजीवाद के विरुद्ध, धन-सत्ता के विरुद्ध, अपनी माता के विरुद्ध, रामनारायण की यह प्रतिक्रिया क्या सचमुच सिद्धान्त और आदर्श के अनुसार है ? और कन्हैया, अब तुम यह भी बताओ कि मैं जो पहले अनासक्ति, निष्काम कर्म और आत्मवश रहने की बात करता था, अद्वैतवाद की वात करता था तो क्या मेरी इस भौतिक, आर्थिक उन्नति में मेरा व्यक्तिशः अधःपतन नहीं हुआ है ? इसका निर्णय तुम करो।" (पृ. 215)

और इसके 'निर्णय' में एक ही प्रतिक्रिया कन्हैया के पास है जो इस चरित्रविश्लेषण (और उसके माध्यम से ऐतिहासिक विकास-विश्लेषण) को परिणति तक पहुँचा देती है—"... मेरे ख़याल से तुम दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हो . आज

रामनारायण ने तुम्हें चिढ़ाने के लिए सूट पहना है, कल वह तुम्हें नीचा दिखाने के लिए अपनी जायदाद खुद सँभालेगा। और तब चक्र पूरा हो जायेगा। कृष्णस्वरूप को विदा करने जब कन्हैया नीचे पहुँचा तब न मालूम क्यों उसने गटर में थूक दिया। पता नहीं, क्यों ?" (पृ. 216)

और इस तरह कहानी का यह विश्लेषण-चक्र भी पूरा हो जाता है—दो ध्रुवान्तों पर टँगी हुई इस बौद्धिक, सांस्कृतिक और मूलतः सामाजिक जड़ता का विश्लेषण-चक्र ! विश्लेषण अगर और आगे बढ़ता तो यह उस 'तीसरे' आदमी के माध्यम से—जो कन्हैया है, तब शायद विकल्प की वह राह सामने आती जो मुक्तिबोध के मस्तिष्क में थी। किन्तु यह कहानी से अतिरिक्त अपेक्षा है—जो 'अण्डरग्राउण्ड' के इसी 'नोट्स' के साथ रुक जाती है ! हालाँकि मुक्तिबोध चाहते तो उसे और आगे ले जा सकते थे—उनके मस्तिष्क में यह क्षमता थी। पर वे आगे नहीं जाते ! "पता नहीं, क्यों ?"

---

रमेशचन्द्र शाह

# आलोचना, परम्परा और इतिहास

"वी आर आर्केटाइपल इनवर्ड्ली एण्ड फ़िनोमिनल आउटवर्ड्ली। मैन इज़ नॉट कॉल्ड अपॉन टु डिनाइ ऐनी पार्ट ऑव हिज़ नेचर, बट टु ब्रिंग हायर एण्ड लोअर, एसेंस एण्ड नेचर इन्टु हार्मनी।[1]

—आनन्द कुमारस्वामी

किसी देश के लोगों का जिस तरह अपना एक विशिष्ट सर्जनात्मक संस्कार होता है, उसी तरह अपना एक विशिष्ट आलोचनात्मक स्वभाव भी। इस बात को हम अपने साहित्यिक और सामाजिक जीवन के ऊँचे से ऊँचे और नीचे-से-नीचे स्तरों पर भी देख सकते हैं। हमारी परम्परा में शैक्सपीयर का होना उतना ही असम्भाव्य था, जितना यूरोपीय परम्परा में सूरदास का प्रकट होना। इसी तरह लोकचित से ही उपजी लोकोक्तियाँ, गालियाँ आदि भी विभिन्न लोगों में विभिन्न रूप धारण करती हैं। अकारण नहीं कि लोग और लोक परस्पर जुड़े हैं। लोग बदलते हैं, भाषा बदलती है तो हम वास्तव में जैसे एक-दूसरे लोक में पहुँच जाते हैं। सच बात तो यह है कि सबसे विकट विरोधों के बीच सबसे टिकाऊ सामंजस्य खोजने की चुनौती भी वही स्वीकार कर पाता है जिसमें मानव जीवों के इस सांस्कृतिक वैभिन्न्य का भी खरा विवेक और स्वीकार होता है। जैसा कि पं. विद्यानिवास मिश्र ने भी कहीं लिखा है, और यहाँ मैं उनसे सहमत हूँ, "यूरोपीय संस्कृति का सबसे ज़्यादा प्रतिरोध हिन्दुस्तान ने किया पर विश्व में सबसे ज़्यादा यूरोपीय संस्कृति को सहानुभूतिपूर्वक समझनेवाले भी हिन्दुस्तानी ही हैं।"

विचारों के स्तर पर परम्परा या इतिहास के बारे में जिस तरह की चिन्ता या लगाव पश्चिम की सभ्यताओं में रहा है, ठीक उसी तरह की चिन्ता और लगाव का अभ्यास हम लोगों को नहीं है। इसका कारण शायद यह हो कि दार्शनिक खुलेपन

1. हमारी बनावट ही कुछ ऐसी है कि हम अपनी अन्तर्मुखता में आद्यरूपात्मक हैं और अपनी वहिर्मुखता में नाम-रूपात्मक। इसीलिए मनुष्य को अपनी प्रकृति के किसी पक्ष को नकारना नहीं है, बल्कि उच्चतर और निम्नतर, पारमार्थिक और लौकिक के बीच सामंजस्य स्थापित करना है।

और तार्किक सूक्ष्मता के अनवरत अभ्यास के बावजूद, या कहना चाहिए, उसके फलस्वरूप ही हमारी परम्परा में विचारों की बजाय आचारों के अनुशासन पर अधिक बल दिया गया है। शायद इसीलिए बुद्धिजीवी की अवधारणा, और समाज में उसकी भूमिका को लेकर जिस तरह का आत्मविश्वास और स्पष्टता पश्चिम में दिखाई देती है, वैसी यहाँ अनुभव नहीं की जाती। जनमानस भी श्रद्धा-बुद्धि से ही प्रभावित होता है; निरी तार्किक तेजस्विता की बजाय "जीवन में कर्म-सौन्दर्य संघटित करनेवालों पर उसकी अधिक आस्था रहती आई है। दो सदियों के औपनिवेशिक दबाव और यूरोपीय बुद्धि-चर्या के प्रति काफ़ी कुछ खुले रह चुकने के बाद भी भारत का बुद्धिजीवी अपने बुद्धिजीवन की भूमिका के बारे में स्पष्ट नहीं हो पाया है। शायद उसकी मूल समस्या आनुभविक और मौलिक शोध के स्तर पर उस श्रद्धाबुद्धि के तार्किक और तात्विक आधार को स्वायत्त करने की है जो उसके बुद्धिजीवन को प्रामाणिक तथा प्रासंगिक बनाये और उसकी आलोचना को विश्वसनीय। इसीलिए वह एक ओर रचनाकर्मियों पर ध्यान एकाग्र करता है तो दूसरी ओर भारतीय जीवन, कला और धर्म-साधना के स्वाधीन खोजियों पर।

हिन्दी आलोचना में भी इसीलिए एक ओर परम्परा के ग़लत अर्थों का प्रत्याख्यान करने की सजगता शुरू से ही प्रकट होती रही है और दूसरी ओर इतिहास-बोध की कमी के दुष्परिणामों की यथासम्भव क्षतिपूर्ति करते हुए स्वयं इतिहास-मोह का निराकरण करने की भी। कुछ दृष्टान्त देखे जा सकते हैं। आधुनिक आलोचना में परम्परा और वैयक्तिक प्रतिभा के रचनात्मक सम्बन्ध का सबसे प्रभावशाली चिंतन टी. एस. एलियट ने किया था। भारतीय लेखकों को भी उसमें अपने काम की बातें दिखाई दीं; किन्तु अपने मानसिक संस्कार के मुताबिक़ उसमें निहित दृष्टि-संकोच को भी वे लक्ष्य किए बिना न रह सके। एलियट को भी एक गहरी जड़ों वाली परंपरा की खोज थी—अपनी सभ्यता के संकट को स्वयं उसी की मूलभूत रूपावली में समझने के लिए। अमरीकी जीवन और बौद्धिक परिवेश उसे सतही-बेमेल लगता था। यह दिलचस्प है कि अमरीकी और रूसी बुद्धिजीवियों के भीतर एक लम्बी कशमकश चलती रही—एक स्वाधीन रचनात्मक संस्कृति का निर्माण करने तथा यूरोप पर सांस्कृतिक ऊर्जा-स्रोत के रूप में निर्भर रहे आने के बीच। इमर्सन ने 'द अमेरिकन स्कॉलर' और 'सेल्फ़ रिलायंस' का नारा दिया तो उधर रूस में पुश्किन की प्रतिभा यूरोपीय प्रभावों को स्वायत्त और रूपांतरित करते हुए अपने-आप में एक ऐसा प्रेरणा-स्रोत बन गई कि रूसी लेखकों के लिए रूसोफ़िल और यूरोफिल के द्वन्द्व के बीचोबीच ही आत्माभिव्यक्ति का रास्ता खुल गया। औपनिवेशिक भारत की आत्माभिव्यक्ति की समस्या इन दोनों से अधिक विकट थी, क्योंकि अमरीकी या रूसी जीवन और संस्कृति यूरोप से अलग होकर भी इतने अलग नहीं थे; जबकि एक सर्वथा भिन्न जीवन-दर्शन और धार्मिक

संस्कृति के व्यापक जीवन-धारा में उपस्थित रहे आने के बावजूद अपनी शिक्षा-दीक्षा के स्तर पर उससे कट जाने के फलस्वरूप भारत का बुद्धिजीवी एक ऐसी ऐतिहासिक टूट और आत्मविस्मृति का शिकार हो चला था कि वह न तो अपने परिवेश से रचनात्मक तादात्म्य स्थापित कर पाता था, न उन नये विचारों से ही—जो उसे बौद्धिक स्फूर्ति प्रदान करते हुए भी उसके अंतर्जीवन का अंग नहीं बन पाते थे। मानो परम्परा विचारों के स्तर पर नई चुनौतियों का सामना करने के लिए सुलभ नहीं थी और जीवन-परिवेश अपनी रूढ़िग्रस्त बदहाली के कारण उसके शिक्षित संवेदन को बिदकाता था। ऐसे में सर्जनात्मक कल्पना को खुराक मिले भी तो कहाँ से ? आत्म-नवीकरण के लिए, मूल्यों के जिस पुनर्मूल्यांकन की, जिस वैचारिक क्रांति की ज़रूरत थी, वह, उसे नहीं लगता था कि मध्यकाल की तरह के किसी धार्मिक पुनर्जागरण के भीतर से आ सकती है। वह भाषा ही उसे एक तरह से छोड़ देनी पड़ी थी, जिसका मनोवैज्ञानिक मोल भी उसे चुकाना ही पड़ा होगा। आज भी क्या उसकी समस्या हल हो चुकी है।

यह अकारण नहीं था कि हिन्दी के कई अग्रगामी लेखक वैज्ञानिक चिन्तन की ओर आकर्षित हुए। परम्परा इसमें रोड़ा नहीं बन सकती थी, क्योंकि वह ईसाई धर्म-दृष्टि की तरह विज्ञान से बेमेल नहीं थी। बेमेल जो हो सकता था, वह था इस वैज्ञानिक संस्कृति का प्रकृति के साथ जिजिविषावाला सम्बन्ध और पश्चिमी सभ्यता की काल-दृष्टि। आचार्य शुक्ल ने जहाँ एक ओर 'रिड्ल आव द यूनिवर्स' को अपनी भाषा में लाने की ज़रूरत समझी, वहीं उसी प्रयत्न के भीतर शामी और पैग़म्बरी धर्मों की भेद-दृष्टि की आलोचना करने की भी। काव्य-तत्त्व का सैद्धान्तिक विवेचन करते हुए और यूरोपीय आलोचना का वाजिव प्रभाव ग्रहण करते हुए भी उन्होंने ठेठ हिन्दुस्तानी दार्शनिक शब्दावली का आश्रय लेते हुए 'सभ्यता के आवरण और कविता' का विचार सामने रखा। 'प्रकृत रूप के प्रत्यक्षीकरण' की बात की। कहा कि "इस प्रच्छन्नता का उद्घाटन कवि का पहला काम हो गया। ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ेगी, यह काम भी बढ़ता जायेगा। मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति से सीधा सम्बन्ध रखने वाले रूपों को सामने लाने के लिए उसे बहुत से आवरणों को हटाना पड़ेगा।" ग़ौर करने की बात यह है कि यह कोई प्रकृति की ओर लौटने जैसी महज़ रोमानी या इच्छित चिन्तनवाली प्रतिक्रिया नहीं; बल्कि सभ्यता के संकट के यथातथ्य बोध से उपजी हुई अग्रगामी अन्तर्दृष्टि है : कुछ वैसी ही अन्तर्दृष्टि, जैसी हमें मैथ्यू आर्नाल्ड, एफ़.आर. लीविस और लॉयनेल ट्रिलिंग की विवेचनाओं में उभरती दिखाई देती है। जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे। ट्रिलिंग के लिए फ्रायड की वैज्ञानिक खोज का साहित्य के पक्ष में धनात्मक मूल्य बनता ही इस मुद्दे पर है कि वह खोज मानव-आत्मा को सभ्यता और संस्कृति के बन्धन से भी कहीं मुक्त करती है और इस बन्धन में निहित चरम

निराशावाद को उजागर करके उस आत्मबोध (सेल्फ़) की अवधारणा के लिए अपने निषेधात्मक तर्क से ही गुंजाइश निकाल देती है, जिससे साहित्यकार का सीधा और निरन्तर सरोकार पड़ता है।

"ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती जायेगी", शुक्लजी उसी निबन्ध में लिखते हैं, "त्यों-त्यों एक ओर तो काव्य की आवश्यकता बढ़ती जायेगी, दूसरी ओर कवि-कर्म कठिन होता जायेगा।" स्पष्ट है कि यहाँ शुक्लजी रोमानी प्रकृति-काव्य की पैरवी में नहीं, आधुनिक युग के उस कवि-कर्म के बारे में ही बात कर रहे हैं जो टी.एस. एलियट और उससे भी पहले मैथ्यू आर्नाल्ड की आशंकाओं और आशाओं का विषय रहा है। एलियट ने भी तो यही न कहा था कि "हमारी आज की सभ्यता चूँकि अत्यन्त जटिल और वैविध्यपूर्ण हो गई है, अतः आज की सबसे संवेदनशील कविता का दुरूह हो जाना अनिवार्य है।" आर्नाल्ड ने कहा था कि "आने वाले युगों में कविता को धर्म के रिक्त स्थान की पूर्ति करनी होगी।" क्यों करनी होगी, इसका सन्तोषजनक उत्तर आर्नाल्ड भले न दे पाया हो, लीविस देता है जब वह कहता है कि "...हममें से बहुत से लोग, जो आर्नाल्ड के धर्मविषयक विचारों से सहमत नहीं हो पाते, उसकी इस बात से तो सहमत होने को बाध्य हैं ही कि ज्यों-ज्यों दूसरी परम्पराएँ ढीली पड़ती जा रही हैं और समाज की संरचनाएँ विघटित हो रही हैं, त्यों-त्यों अपनी साहित्यिक परम्परा को इस विघटन से बचाना हमारे लिए अधिकाधिक अनिवार्य कर्तव्य बनता जा रहा है।" यह भी कि "मानव की संस्कृति को एक तथाकथित स्थूलीकृत वैज्ञानिक दृष्टिकोण के प्रसार से ख़तरा पैदा हो गया है।" शुक्लजी भी अपनी सांस्कृतिक परम्परा और शब्दावली के भीतर से जगत्गति को परखते हुए साहित्य की इसी ज़रूरत और प्रयोजन को रेखांकित करते हैं। उन्हें मानव-संस्कृति कहने की ज़रूरत नहीं : इतना कहना पर्याप्त है कि "कविता से मनुष्य-भाव की रक्षा होती है।" उन्हें लीविस को परेशान करनेवाले 'क्रूडिफ़ाइड साइंटिफ़िक आउटलुक' की भी उतनी चिन्ता नहीं, क्योंकि स्वभावतः अभी विज्ञान का धनात्मक पक्ष ही उनके सामने उजागर है; किन्तु जब वे कहते हैं कि "कविता वह साधन है, जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है," तो वे प्रकारान्तर से न केवल स्थूल वैज्ञानिक दृष्टिकोण की, बल्कि उसकी जड़ में जो यूरोप की प्रकृति-विरोधी 'मैटाफ़िज़िकल' तर्क-परम्परा रही, उसका भी अनजाने ही सचोट प्रत्याख्यान कर जाते हैं।

इसी सिलसिले में जयशंकर प्रसाद के आलोचकत्व का उल्लेख भी प्रासंगिक हो आता है। अज्ञेय ने त्रिशंकु में उनके इतिहास-बोध को उचित ही महत्त्व दिया है। भारतीय भाव-बोध के इतिहास की उनकी द्वंद्वात्मक व्याख्या परम्परा और इतिहास की उनकी मौलिक सूझ-बूझ का प्रमाण है, जो इसलिए और भी विचारोत्तेजक हो जाती

है कि वह उनकी रचनात्मकता की अन्तर्लय से भी पुष्ट होती है। हिन्दी आलोचना के इतिहास में *काव्य और कला* का महत्त्व इसलिए भी है कि उसके निबन्धों में आधुनिक मानववाद के उस स्वाधीन भारतीय स्वरूप की भी रेखाएँ कुछ और स्पष्ट होती हैं, जिसका पहला ख़ाका आचार्य शुक्ल ने बनाया था और जिसमें बाद में अज्ञेय ने भी रंग भरे। प्रसाद का संस्कृति-चिन्तन एलियट के संस्कृति-चिन्तन की अपेक्षा कहीं अधिक खुला हुआ, कहीं अधिक भविष्योन्मुखी और प्रगतिशील है। ब्राह्मणत्व की 'शाश्वत-सार्वभौम बुद्धि-वैभव' के रूप में व्याख्या करने वाला हिन्दी का यह कवि चिन्तक नये युग की चुनौतियों का प्रत्युत्तर दे सकने वाले भारतीय बुद्धिजीवन की सही और ठोस बुनियाद रखने के लिए प्रयत्नशील है और उसी सिलसिले में कहता है कि "हमें नई चेतना और आधुनिक समय को स्वायत्त करना होगा" । यह भी कि "पाश्चात्य प्रभाव ग्रहण करना हमारी केवल निरुपायता ही नहीं, अनिवार्यता भी है।" किन्तु वह साथ में यह जोड़ना भी नहीं भूलता कि " इस सचेतनता के फलस्वरूप हम अपनी सुरुचि की ओर प्रत्यावर्तन क्यों न करें। हमारे मौलिक ज्ञान-प्रतीक दुर्बल तो नहीं हैं।"

साहित्य में आधुनिकता के आन्दोलन का एक वड़ा योगदान निश्चय ही अतीत के प्रति एक नया दृष्टिकोण था जिसे एलियट ने सूत्रबद्ध किया। तुलना में अतीत के साथ जयशंकर प्रसाद का सम्वन्ध देखें तो कई रोचक समानताएँ प्रतीत होती हैं। यह समानता इसलिए और भी सार्थक हो जाती है कि यहाँ प्रभाव-ग्रहण का क़तई कोई सवाल ही नहीं है। एलियट का कथन है कि "परम्परा यूँ ही विरासत में नहीं मिल जाती। यदि आपको उसे पाना है तो उसके लिए गहरा अध्यवसाय आवश्यक होगा।" यह अध्यवसाय हमें प्रसादजी के कृतित्व में साफ़ महसूस होता है। इस मामले में उनकी रचना और चिन्तन बहुत घनिष्ठ रूप से साथ चलते हुए उस इतिहास बोध की साखी देते हैं जिसमें एलियट के उस प्रसिद्ध सूत्र के अनुसार, "न केवल अतीत के अतीतपन का विवेक निहित है, बल्कि उसकी वर्तमानता का अनुभव भी।" निश्चय ही इतिहास और परम्परा एक नहीं है और जैसा कि अज्ञेय ने भी एक जगह लिखा है, "इतिहास से मुक्ति हमारी परम्परा की सबसे बड़ी देन है।" किन्तु अज्ञेय ने ही यह भी देखा है कि "अवस्थिति का अद्वितीय बोध भारतीय चरित्र की बहुत बड़ी विशेषता है और यह बहुत हद तक उस कमी को पूरा कर देता है जिसका आरोप हम पर लगाया जाता रहा है—इतिहास-बोध की कमी का।" वे आगे यह भी लक्ष्य करते हैं कि "हमें निरन्तर इतिहास-बोध की दीक्षा दी जा रही है और अवस्थिति-बोध का संस्कार मिटाया जा रहा है।" यह एक ग़ौरतलब नुक़्ता है और मुझे ऐसा लगता है कि कवि-आलोचक टी.एस. एलियट के उस निबन्ध ने यदि युवा अज्ञेय को इतना आकर्षित किया कि उन्हें 'रूढ़ि और मौलिकता' नाम से उसका

छायानुवाद हिन्दी में करने की प्रेरणा हुई तो इसका कारण था। अज्ञेय के सामने भी एक तुलनीय समस्या थी : रूढ़ि का बासीपन झाड़ने की, उसे रचनात्मक अनुभूति के स्तर पर एक जीवन्त परम्परा के रूप में स्वायत्त करने की। आउट साइडर बनकर—अपने से बाहर आकर—इतिहास और विज्ञान की नई आँखों से परम्परा को टटोलते हुए, आत्मविश्वासपूर्वक आगे बढ़ने की समस्या। इतिहास से त्रस्त और ग्रस्त एलियट को परम्परा-बोध का एक ऐसा समावेशी तर्क चाहिए था जो उसे बिना अनैतिहासिक बनाये, इतिहास से मुक्ति का अनुभव दे। अज्ञेय को भी रचना-द्रोही रूढ़ि की जकड़न से अपने आत्म-बोध को मुक्त करते हुए संक्रान्ति-काल की टकराहटों के बीचोबीच अपनी जातीय अस्मिता को और रचनात्मक उपक्रम की दिशा को परिभाषित करना था। एलियट ने भारतीय अनुभव के परम्परा-बोध की दिशा में कुछ दूरी तय की; अज्ञेय ने यूरोपीय अनुभव के इतिहास-बोध की दिशा में उतनी ही दूरी तय की। दोनों के लिए मूल चालक प्रेरणा अपने काल में अपनी स्थिति के बोध की ही थी। यह अकारण नहीं है कि साहित्य में परम्परा की एलियटीय समझ ने आधुनिक भारतीय लेखक के चित्त को छुआ। वह समझ एलियट की स्वयं भारतीय साहित्य के प्रति, अल्पकाल के लिए ही, संवेदनात्मक खुलेपन के कारण ही बनी थी और एलियट की अपनी स्वीकारोक्ति के ही मुताबिक़, बनते-बनते ही जम भी गई—आत्मरक्षा की ही प्रवृत्ति के चलते। जो भी हो, कहने का आशय यही है कि हिंदी का लेखक जब एलियट का प्रभाव ग्रहण कर रहा था तो वह प्रकारान्तर से, परोक्ष ढंग से अपनी ही उस रचना-सम्भव परम्परा का नया संवेदन प्राप्त करने की कोशिश कर रहा था जो उसे प्रत्यक्षतः उतनी आसानी से विचारों के स्तर पर उस तरह सुलभ नहीं थी।

किन्तु एलियट में एक दृष्टि-संकोच है जो भारतीय लेखक में उस तरह नहीं उभरता। यह दृष्टि-संकोच प्रकृति के पक्ष से भी है और संस्कृति के पक्ष से भी। आधुनिक अंग्रेज़ी साहित्य के एक प्रमुख आलोचक एफ़.आर. लीविस, जिन्हें एलियट के कृतित्व को सही वक़्त पर आलोचनात्मक प्रतिष्ठा दिलाने का श्रेय प्राप्त हुआ, बाद में उत्तर-एलियट के कृतित्व से असन्तुष्ट होकर डी.एच. लॉरेंस की ओर मुड़ गये थे। यहाँ हमारा ध्यान स्वतः इस तथ्य की ओर चला जाता है कि आलोचनात्मक जागरूकता के स्तर पर प्रारंभिक अज्ञेय में ही एक दुहरा विवेक सक्रिय दिखाई देने लगता है जो एलियट के साथ ही साथ लॉरेंस के कृतित्व के प्रति भी उनकी सजग उन्मुखता में झलकता है। हमने ऊपर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के सहज भारतीय विवेक की चर्चा की थी जो काव्य की सांस्कृतिक मूल्यवत्ता को देखने-दिखाने के साथ-साथ 'सभ्यता के आवरणों को हटा सकने' की उसकी क्षमता पर भी ख़ासतौर से बल देते हैं और 'प्रकृत भाव के प्रत्यक्षीकरण' की बात करते हैं। एलियट के

विपरीत अज्ञेय का सम्बन्ध प्रकृति के साथ अधिक सहज और जैविक है और यह पक्ष उनकी रचनाओं में ही नहीं, चिन्तन के स्तर पर भी बराबर स्पष्टता से अभिव्यक्ति होता रहा है। यह एक स्वस्थतर जीवन-दृष्टि का—और अपनी परम्परा के साथ भी अधिक सन्तोषजनक सम्बन्ध का—प्रमाण है। एलियट बात ज़रूर होमर के भी अपनी हड्डी में होने की करता है; किन्तु शिष्य वह वर्जिल का ही है। प्राक् ईसाई पैगन प्रकृति-संवेदन उसके भीतर से नहीं बोलता। यह सीमा भारतीय परम्परा से अज्ञेय के सम्बन्धों के बारे में नहीं बाँधी जा सकती, बल्कि उलटे ऐसा प्रतीत होगा कि भारतीय सभ्यता के नागर पक्ष की अपेक्षा उसके वन्य संवेदन के साथ अज्ञेय का भाव-बोध अधिक घनिष्ठ है। कुल मिलाकर यह फ़र्क़ सीधे-सीधे दो भिन्न सभ्यताओं के प्रकृति-सम्बन्धी दृष्टिकोणों में जो बुनियादी अन्तर है, उसी को उदाहृत और पुष्ट करता है।

अलावा इसके, यह भी कि विज्ञान के प्रति एलियट का दृष्टिकोण नकारात्मक ही है, जबकि अज्ञेय का शुरू से लेकर आज तक सकारात्मक। उसमें एलियट की जैसी प्रतिक्रिया की गन्ध भी नहीं है। एलियट ने मानववादी दृष्टि की कठोर आलोचना की थी और धार्मिक दृष्टि (माने ईसाई दृष्टि) को उसकी अपेक्षा अधिक संगत और यथार्थपरक माना था। अज्ञेय की निष्ठा शुरू से ही मानववादी रही है और इस दृष्टि में उत्तरोत्तर एक तरह से गुणात्मक उत्कर्ष ही हुआ है। यह गुणात्मक उत्कर्ष *स्रोत और सेतु* में उठाई गई उनकी इस जिज्ञासा में झलकता है कि "क्या कोई मानव-केन्द्रित आध्यात्मिकता सम्भव है ?" यह प्रश्न जिस सन्दर्भ में उनके मन में उठा है, उसे भी प्रस्तुत विषय के प्रसंग में इसलिए उद्धृत करना ज़रूरी जान पड़ता है कि वह परम्परा और इतिहास के बरक्स आलोचना का ही एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा उठाता है। 'जीवन के गुणाधार' शीर्षक उस लेख में अज्ञेय पूछते हैं—"प्रश्न क्या हमारे मूल्यों के वरीयता-क्रम में परिवर्तन का ही है ? या किसी समूची मूल्य व्यवस्था को उखाड़कर दूसरी व्यवस्था प्रतिष्ठित करने का ?" इससे जुड़ा हुआ दूसरा सवाल यह कि "क्या यह काम अतीत अनुभव के साथ अपने सम्बन्ध तोड़े बिना सम्भव है ? तोड़ देने से क्या अस्मिता और आत्म-बोध भी नष्ट नहीं हो सकता ?" अज्ञेय अनुभव करते हैं कि "अस्मिता के संकटापन्न होने से चित्त में अराजकता और आक्रामकता का संचय होता है और इससे जीवन की गुणात्मकता विकृत होती है।" तभी तो आगे उनके मन में वह प्रश्न उठता है कि "क्या मानव-केन्द्रित आध्यात्मिकता सम्भव है ?"

मेरा ख़याल है, इस तरह पूछा जाकर यह प्रश्न आज की आलोचना का भी ज्वलन्त प्रश्न बन जाता है और पूरी दुनिया के ही सन्दर्भ में ज्वलन्त बनता है, अकेले भारत के सन्दर्भ में ही नहीं। इस सिलसिले में मुझे अज्ञेय के बाद की पीढ़ी के दो

अन्य कवि-आलोचकों का भी स्मरण प्रसंगवशात् ही हो आता है : कुँवर नारायण और साही का। कुँवर नारायण भाषा के कोण से इस समस्या का संवेदन जगाते हैं और साहीजी सांस्कृतिक और राजनीतिक कोणों से। कुँवर नारायण समकालीन चिन्तन में धार्मिक शब्दावली की उपस्थिति या वापसी पर ध्यान जमाते हैं और जानना चाहते हैं कि यह प्रवृत्ति प्रत्यासन्न संकट से एक तरह का पलायन सूचित करती है या कि अमानवीयता के ख़िलाफ़ एक नैतिक मोर्चे का संकेत उभारती है ? अपनी परम्परा के पक्ष से वे अनुभव करते हैं कि हिन्दी भाषा में भी एक मनोपचारिक व्यवस्था बद्धमूल है और उसके ऐतिहासिक कारण हैं। उनके कथनानुसार, "भारतीय ऐतिहासिक अनुभव युद्ध की विभीषिकाओं से भरा पड़ा है; और उसकी सांस्कृतिक चेतना में उपस्थित धार्मिकता किसी हद तक उन अनुभवों का परिणाम भी हो सकती है।" मेरा ख़याल है, यह एक नया दृष्टिकोण परम्परा और इतिहास के सम्बन्ध के भीतर दूर तक झाँकने के लिए कुँवर नारायण ने प्रस्तुत किया है, जो विचारोत्तेजक है। दूसरी तरफ़ साहीजी धर्मनिरपेक्षता की खोज में इतिहास का विश्लेषण करते हुए या मध्यकालीन इतिहास के संदर्भ में जायसी के महाकाव्य में डुबकी लगाकर जिस त्रासदीय बोध तक पहुँचते हैं, वह भी इसी सिलसिले में विचारयोग्य है। साहीजी कहा करते थे कि "एक तीसरी सभ्यता के निर्माण की सम्भावना है या नहीं, मैं नहीं जानता; किन्तु एक दृढ़ विश्वास ज़रूर है और यह सपना केवल हमारे 'आइसोलेशन' का सपना नहीं है। यह मेरे साथ मनुष्य-मात्र की नियति है; उसी की खोज में मैं अपने को ज़्यादा महत्त्व देता हूँ।" अपने को, यानी भारत को। प्रसंग आधुनिक संवेदन का ही था और उसी की लपेट में उन्होंने कहा था कि "भारत के सन्दर्भ में यही सपना आधुनिक है। मगर मैं तो उसको भारतवर्ष का तब तक नहीं कहूँगा जब तक वह सारी दुनिया के सन्दर्भ में आधुनिक न हो। दुनिया के संदर्भ में ही जो आधुनिक है, वही आधुनिक है।"

हम एलियट के परम्परा-सम्बन्धी दृष्टिकोण के सिलसिले में भारतीय लेखक की समस्या की चर्चा कर रहे थे। उपरोक्त सन्दर्भ में ही साही ने एलियट की सांस्कृतिक दृष्टि की आलोचना का भी नुक़्ता उठाया था। उन्हीं के शब्दों में, "टेनिसन और आर्नाल्ड से तो बहस की जा सकती है किन्तु एलियट से नहीं, क्योंकि वह कहता है—हम यूरोप को ही आत्मसात् करके बोल रहे हैं, क्योंकि वही हमारी हड्डी में है और उतनी ही हड्डी हमारी संस्कृति है। लेकिन मुझे सिर्फ़ भारतवर्ष को आत्मसात् करके बोलने में सन्तोष नहीं होता। मेरा स्वाभाविक सन्दर्भ विचारों का वही सन्दर्भ है, जो साम्राज्यवाद के ज़माने में सम्पूर्ण विश्व को एक साथ मानकर खड़ा किया गया था। उन्होंने साम्राज्यवादी नतीजे निकाले, वह अलग बात है, लेकिन जो सांस्कृतिक 'आइसोलेशनिज़्म' एलियट में दिखाई पड़ता है, वह मेरी मनःस्थिति का सम्पूर्ण सन्दर्भ नहीं हो सकता।"

हो सकता है 'ट्रेडीशन एण्ड इंडिविजुअल टेलेंट' में व्यक्त युवा एलियट की सांस्कृतिक दृष्टि पर यह टिप्पणी एक तरह की पश्चदृष्टि से प्रेरित जान पड़े किन्तु एलियट के विचारों की प्रौढ़ परिणति को देखते हुए यह सांस्कृतिक 'आइसोलेशनिज़्म' का आरोप युक्तियुक्त ही लगता है। हम देख चुके हैं कि यह आइसोलेशनिज़्म न साहीजी में है, न अज्ञेय में। वस्तुतः वह हिन्दी आलोचना के ही मिज़ाज में नहीं है—उस हिन्दी आलोचना के, जो लाज़िमी तौर पर परम्परा और इतिहास के प्रश्नों से उलझती रही है। हमने प्रसादजी का उल्लेख किया था। प्रसादजी से ज़्यादा अतीत का मन्थन शायद ही हिन्दी के किसी लेखक ने किया हो; किन्तु प्रसादजी का संस्कृतिविषयक दृष्टिकोण न केवल आचार्य शुक्ल के प्रकृति-विवेक के साथ संगत है, बल्कि साहीजी की विश्व-चेतस् आधुनिकता के साथ भी। वे जहाँ एक ओर यह कहते हैं कि "ज्ञान और सौन्दर्यबोध विश्वव्यापी होते हुए भी इनके केन्द्र देश-काल और परिस्थितिवश तथा प्रधानतः संस्कृति के कारण भिन्न-भिन्न अस्तित्व रखते हैं," वहीं यह भी कहना ज़रूरी समझते हैं कि "संस्कृति विश्ववाद की विरोधिनी नहीं, क्योंकि इसका उपयोग तो मानव-समाज में आरम्भिक प्राणित्व-धर्म में सीमित मनोभावों को प्रशस्त और विकासोन्मुख बनाने के लिए होता है। उसका सामूहिक चेतना से, मानसिक शील और शिष्टाचारों से, मनोभावों से मौलिक सम्वन्ध है।" *(काव्य और कला)* कहना न होगा कि प्रसादजी की यह आलोचनात्मक दृष्टि संस्कृति की अवधारणा को जिस व्यापक मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित करना चाहती है वह आचार्य शुक्ल की साहित्य-चिन्ता के ही मेल में है। शुक्लजी का प्रयोजन भी उसी संस्कृति और साहित्यिक संस्कृति से था जिसका 'मनोभावों से मौलिक सम्बन्ध' हो, जो "आरम्भिक प्राणित्व धर्म में सीमित मनोभावों को प्रशस्त और विकासोन्मुख" तो बनाये ही; किन्तु जिसमें यह गुंजाइश ओर यह क्षमता भी कहीं भीतर गहरे में मौजूद रहे जिसके बल पर वह सभ्यता के आवरणों को भी—जब भी वे आवरण मानवात्मा के लिए घुटन पैदा करें—चीरकर उसके प्रकृत रूप का साक्षात्कार कर सके और करा सके।

सभ्यता की जटिलताओं से कवि-कर्म के कठिन होते जाने का जो चित्र शुक्ल जी ने खींचा था वह बीसवीं सदी के यूरोप की वास्तविकता थी और उसको लेकर पश्चिम के आलोचक की चिन्ता का भी एक रूप हमने देखा। एफ़.आर. लीविस के एलियट से मोहभंग और डी.एच. लॉरेंस के कृतित्व की ओर उन्मुख होने की चर्चा भी हमने की। डी.एच. लॉरेंस का कृतित्व इसीलिए लीविस की सांस्कृतिक चिन्ता को सार्थक प्रतीत हुआ कि उसमें सभ्यता के आवरणों को चीरकर प्रसादीय शब्दावली में "मनोभावों से मौलिक सम्वन्ध स्थापित करने" की सम्भावना लीविस को दिखी थी। लेकिन जॉर्ज स्टाइनर और लॉयनेल ट्रिलिंग जैसे नई पीढ़ी के आलोचकों को लॉरेंस

का जीवन-दर्शन उस तरह सन्तुष्ट नहीं कर सकता था। लॉरेंस का अबुद्धिवाद नई वैचारिक और सांवेदनिक परिस्थिति में और भी बेमेल और ख़तरनाक लगने लगा जो कि स्वाभाविक था। इस बीच साहित्यिक आलोचना के दर्शन पर दो युगीन विचार-धाराओं का घनीभूत दबाव पड़ा, जिन्हें पहले उतना रूपान्तरकारी महत्त्व प्राप्त नहीं हो सका था। यह दबाव था एक ओर फ्रायड की मनोविश्लेषणशास्त्र की खोजों का और दूसरी ओर मार्क्सवाद का। जॉर्ज स्टाइनर ने एलियट और विलियम एम्पसन और 'न्यू क्रिटिसिज़्म' से प्रभावित आलोचना-धारा को चुनौती देते हुए एक ऐसी आलोचना-दृष्टि को सामने रखा जो स्वयं परम्परा को भी प्रत्यक्ष समकालीन इतिहास, ज्ञान-विज्ञान एवं राजनीति के अनुभव में ही ढाल कर देखती है और साहित्य को मानव नियति के सबसे विश्वसनीय और उत्तेजक साक्षी के रूप में, जीवन-मरण का सवाल बनाती हुई आलोचना से एक ऐसे उत्तरदायित्व की माँग करती है जो अभूतपूर्व है। स्टाइनर अपनी यहूदियत को—नाज़ी नरमेध से संयोगवश बची रह गई अपनी यहूदियत के तथ्य को अपनी संवेदना और साहित्यिक रीझ-बूझ के केन्द्र में रखते हैं और मार्क्सवादी न होते हुए भी मार्क्सवादी दृष्टि में निहित इतिहास तत्त्व को एलियटी 'परम्परा' से अधिक तात्कालिक महत्त्व देते हैं। स्टाइनर का उल्लेख मुझे इसलिए आवश्यक लग रहा है कि समकालीन हिन्दी आलोचना पर उसका प्रभाव दिखाई देता है। स्टाइनर मार्क्सवादी आलोचना को—उसमें निहित 'ऑब्स्क्योरेंटिज़्म' और 'इनह्यूमैनिटी' (दोनों उन्हीं के शब्द हैं) को रेखांकित करते हुए भी इसलिए अनुपेक्षणीय मानते हैं कि मार्क्सवाद स्वयं साहित्य को और विचारों के जीवन को अत्यधिक महत्त्व देता है। उन्हीं के शब्दों में, "अगर कोई आदमी आपकी सिर्फ़ इसलिए हत्या कर दे सकता है कि आप हैगेल के बारे में उसकी राय से सहमत नहीं हैं तो वह निश्चय ही विचारों को अत्यधिक गंभीरता से ले रहा है।" स्टाइनर में विचारों के प्रति एक अद्‌भुत खुलापन और संवेदनशीलता है। वे हाइडेग्गर को उसकी चुप्पी के लिए कटघरे में खड़ा करते हैं, पर उसे इस शताब्दी के महानतम् काव्य-मर्मज्ञों में गिनते हैं। वे लूकाच को बड़ा आलोचक मानते हैं; किन्तु इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस बड़े आलोचक ने अपने सत्याग्रह को कुण्ठित होने दिया और शैतान के साथ समझौता किया।

स्टाइनर, जैसा कि मैंने कहा, एक तरह से देखें तो 'इतिहास' को परंपरा से अधिक महत्त्व देने वाले आलोचक हैं। वे स्वयं साहित्य के भविष्य के बारे में चिन्तित हैं और मानते हैं कि आज के आलोचक की चिन्ता सर्वप्रथम यही हो सकती है और इसी चिन्ता की गहराई और गुणवत्ता पर उसकी बाक़ी दूसरी चिन्ताओं का मतलब भी निर्भर होगा।

स्टाइनर मार्क्सवादी न होते हुए भी मार्क्सवादी विचारधारा को आलोचना-कर्म के

लिए एक आवश्यक और दुर्निवार्य चुनौती मानते हैं। लॉयनेल ट्रिलिंग फ्रायडवादी न होते हुए भी फ्रायड की खोजों को आलोचना की संस्कृति और स्वयं संस्कृति की आलोचना के सबसे महत्त्वपूर्ण उपकरण के रूप में स्वीकार करते हैं। मार्क्स का स्वप्न सभ्यता द्वारा सभ्यता के आवरणों के भीतर ही देखा गया स्वप्न है; फ्रायड के लिए सभ्यता स्वयं मानव का जीता-जागता और जन्म से मरणपर्यंत क़ायम रहने वाला दुःस्वप्न है। लॉयनेल ट्रिलिंग हमारे साहीजी की तरह मैथ्यू आर्नाल्ड की आलोचना दृष्टि को एलियट से ज़्यादा प्रासंगिक मानते हैं। किन्तु अनुभव करते हैं कि आज की अराजकता उस अराजकता से कई गुना ज़्यादा भयंकर है जिससे आर्नाल्ड का साबका पड़ा था। अपने समय की अराजकता से जूझते हुए जहाँ आर्नाल्ड ने *कल्चर एंड अंनार्की* नामक पुस्तक लिखी थी, वहाँ ट्रिलिंग अपनी पुस्तक का नामकरण करते हैं—*बियॉण्ड कल्चर*। आर्नाल्ड को संस्कृति के अपने नुस्खे पर जिस तरह का भरोसा था, वैसा भरोसा उसके बाद के किसी भी महत्त्वपूर्ण साहित्यकार को नहीं रहा। और साहित्यकार के दुःस्वप्नों को बल मिला, फ्रायड की खोज से, जिसने संस्कृति यानी सभ्यता को (दोनों ट्रिलिंग के लिए पर्यायवाची हैं) एक सर्वथा नकारात्मक और त्रासद अर्थ में घटा दिया है। ट्रिलिंग यहाँ पर साहित्यिक मनीषा और वैज्ञानिक मनीषा के वीच एक वुनियादी फ़र्क़ यह देखते हैं कि साहित्यिक मस्तिष्क (और साहित्य) हमेशा 'आत्म' (सेल्फ़) की अवधारणा के प्रति समर्पित हुआ करता है, जवकि वैज्ञानिक मस्तिष्क व्यवहार में वैसी किसी चीज़ का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता। ट्रिलिंग का कहना है कि प्रत्येक विकसित समाज का साहित्य यह अवधारणा करने के लिए स्वभावतः सक्षम होता है—'आत्म' की अवधारणा। न केवल अपनी 'आत्मा' की, बल्कि दूसरों की 'आत्मा' की भी। साथ ही, साहित्य यह काम सामान्य संस्कृति के दूसरे क्षेत्रों की अपेक्षा कहीं अधिक अन्तःप्रमाण और उत्कटता से करता है। सामान्य संस्कृति को अपने विकास के लिए इस अवधारणा की उतनी आवश्यकता नहीं होती, किन्तु साहित्यकार का तो अस्तित्व ही इस अवधारणा पर अवलम्वित है। फ्रायड ने दिखा दिया कि मनुष्य सम्पूर्णतः अपनी सभ्यता और संस्कृति का क्रीतदास होता है। मानो वही उसकी नियति हो, जिससे मुक्त होना उसके लिए असम्भव हो। हाँ, मृत्यु का विचार, मृत्यु का खब्त, फ्रायड को एक तरह की राहत देता है। 'डेथ-इंस्टिंक्ट' जैसे आदमी की एक बुनियादी ज़रूरत हो—संस्कृति के इस आत्मरोधी बंधन से छूट निकलने की एक संभावना। ट्रिलिंग ई.एम. फ़ॉर्स्टर का एक वाक्य उद्धृत करते हैं : "मृत्यु मनुष्य को नष्ट कर देती है; किन्तु मृत्यु का विचार ही उसका उद्धार भी करता है।" उद्धार किससे ? ट्रिलिंग पूछते हैं, और उत्तर में कहते हैं—"संस्कृतिबद्ध जीवन में अपनी आत्मा को पूरी तरह अर्पित कर देने की नियति से।" मनोविश्लेषणात्मक चिन्तन की ऐसी निष्पत्ति चाहे जितनी निराशावादी हो, जब हम देखते हैं कि

बहला-फुसला के या धौंस-धपट्टे से हमको नियंत्रित करने की इस 'कल्चर' की शक्ति दिनों-दिन बढ़ती जा रही है तो हमें दुख मनाने की बजाय खुश ही होना चाहिए कि चलो संस्कृति ही सौ फ़ीसदी हमारी भाग्यविधाता नहीं है; हमारे भाग्य का कुछ तो हिस्सा एक ऐसे बिन्दु से भी निर्धारित हो सकता है जो संस्कृति की पहुँच से बाहर हो।" ट्रिलिंग आशा करते हैं कि मानव-नियति के संस्कृति-बाह्य पक्ष पर यह आग्रह, हो सकता है, हमारे आत्मविषयक चिन्तन को कोई नया मोड़ दे दे—उसका बासीपन झाड़ते हुए। अपने निबन्ध का उपसंहार करते हुए ट्रिलिंग का कहना है कि फ्रायड था तो वैज्ञानिक ही; किन्तु उसके जीवन-कार्य की निष्पत्ति जहाँ होती है, वहाँ वह साहित्य के ही पक्ष को मज़बूत करता प्रतीत होता है; विज्ञान के जरिए साहित्य की ही परम्परागत अंतर्दृष्टि का समर्थन करता जान पड़ता है। अपने सारतत्त्व में साहित्य का सरोकार 'सेल्फ़' ही है और विशेष रूप से पिछली दो सदियों के साहित्य का सरोकार उस 'सेल्फ़' से ही ख़ासतौर पर रहा है, जो 'कल्चर' से झगड़ती आई है। ऐसा एक भी बड़ा लेखक आधुनिक काल का नहीं मिलेगा जिसने अपनी सभ्यता के प्रति गहरा और कड़वा असंतोष व्यक्त न किया हो। देखा जाए, तो हर बड़े साहित्यकार की दृष्टि यही रही है कि कोई भी संस्कृति उन सब माँगों को पूरा नहीं कर सकती जो मनुष्य की आत्मा उसके सामने निरन्तर खड़ी करती रहती है। ट्रिलिंग यहाँ यह भी कहते हैं कि संस्कृति स्वयं इस तथ्य को अच्छी तरह जानती है और इसके लिए साहित्य की ऋणी भी होती है। वह पहचानता है कि उसकी श्रेष्ठतम और उदारतम उपलब्धि और अन्तर्दृष्टि यही है कि आत्मा का अस्तित्व 'कल्चर' के बाहर भी है और यह कल्चर-बाह्य आत्मा अनुभूतिगम्य हो सकती है। ट्रिलिंग के दृष्टिकोण से यह एक मुक्तिदायी विचार है, जिसके बिना समाज के बारे में हमारा सारा वर्तमान विकासमान चिन्तन स्वयं को कुंठित कर लेने को अभिशप्त होगा।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि पश्चिम के साहित्य की मुख्यधारा को—विशेषकर उसके आधुनिक प्रस्थान को देखते हुए, और साथ में पश्चिमी सभ्यता की मूलभूत वस्तून्मुखी प्रवृत्ति को देखते हुए आलोचक ट्रिलिंग के ये निष्कर्ष सर्वथा युक्तियुक्त लगते हैं। किन्तु जहाँ संस्कृति स्वयं आत्मसंस्कृति ही हो, वहाँ इस बारे में क्या स्थिति बनेगी ? भारतीय परम्परा के आधुनिक लेखक, जो कि ऐतिहासिक कारणों से पश्चिमी सभ्यता और साहित्य के भी गहन संपर्क में रहे हैं, वे इस बारे में क्या सोचते हैं ? आत्म और संस्कृति के असामंजस्य का जो भयावह चित्र फ्रायड प्रस्तुत करता है, या कि आत्मबोध की अराजकता और वरण-स्वातन्त्र्य के जैसे चित्र आधुनिक साहित्य में—मसलन *नोट्स फ्राम द अण्डर ग्राउण्ड* अथवा *मोबी डिक* अथवा *यूलिसीज़* में उपस्थित हुए हैं, वे हमारी अपनी आत्म-स्थिति से कितना मेल खाते हैं ? उनके प्रति हमारा आलोचनात्मक दृष्टिकोण क्या है ? एक ऐसी परम्परा में जो विद्वानों के

मतानुसार आत्म-संस्कृति से ही प्रेरित सनातन विद्या की ऐतिहासिक परम्परा (डॉ. गोविन्द चन्द्र पाण्डे) या कि जीवन में सनातन की खोज (पं. विद्यानिवास मिश्र) हो, क्या आत्म और संस्कृति के बीच, सर्जक-व्यक्तित्व और संस्कृति को धारण करनेवाले जीवन रूपों के बीच ठीक उस तरह के अशाम्य विग्रह की उपस्थिति अनिवार्य है ? इसी तरह का प्रश्न मार्क्सवादी आलोचना को लेकर भी उठेगा। फ्रायड हमें अन्ततः यही न बताता है कि सभ्यता-संस्कृति की सारी सत्ता मानव-मन में ही प्रतिष्ठित है और प्रत्येक मानव-इकाई का मन मानव-सभ्यता के पूरे विकास की प्रक्रिया को ही दुहराने को अभिशप्त है ? मार्क्स मानव-नियति की इस तस्वीर को उलट देता है। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि फ्रायडीय 'सुपरस्ट्रक्चर' के ईगो की तानाशाही यदि दमित अवचेतन वृत्तियों के विस्फोट से नहीं कटती तो क्या वह ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नियति-चक्र की निमित्तमात्रता के वरण से कट जाती है ? यहीं पर मुझे इस लेख के आरम्भ में ही टाँका गया आनन्द कुमारस्वामी द्वारा प्रस्तुत मानव-प्रकृति का वह चित्र सबसे ज़्यादा सही और संगत लगता है कि "हम मानव देहधारियों की बनावट ही कुछ ऐसी है कि हम अपनी अन्तर्मुखता में 'आर्केटाइपल' हैं और अपनी बहिर्मुखता में नामरूपात्मक। मनुष्य को अपनी प्रकृति के किसी पक्ष को नकारना नहीं है, बल्कि उच्चतर और निम्नतर, पारमार्थिक और लौकिक के बीच सामंजस्य स्थापित करना है।"

अन्ततः परम्परा और इतिहास को लेकर आलोचना के प्रश्न समसामयिक जीवन और साहित्य के प्रश्नों से जुड़ ही जाते हैं और ये प्रश्न फिर साहित्य के ही नहीं रह जाते। जिस सीमा तक ये साहित्य के प्रश्न हैं, वहाँ भी साहित्य के आलोचक को आज जितना इतिहास, दर्शन आदि क्षेत्रों के विद्वानों की अन्तर्दृष्टियों से लाभान्वित होने की ज़रूरत है, उतनी शायद पहले कभी नहीं थी। इस दुखद तथ्य को रेखांकित करना अत्यावश्यक हो गया है कि आज की हिन्दी आलोचना एक ख़तरनाक 'इन-ब्रीडिंग' का शिकार हो रही है। एक तो वैसे ही दार्शनिक, वैज्ञानिक और साहित्यिक बुद्धिजीवियों के बीच संवाद का अभाव है; दूसरे हमारे बीच जो दो-एक ऐसी साहित्यिक प्रतिभाएँ हैं भी, जिन्होंने व्यापक दृष्टि से वर्तमान भारतीय समाज में व्याप्त मूल्यमूढ़ता और वैचारिक धुन्ध को अपनी उत्तरदायी और प्रखर विचार-शक्ति से विश्लेषित-प्रकाशित करने का उद्यम किया भी है, उसकी भी कोई प्रतिध्वनि नहीं सुनाई देती। ऐसे भी उदाहरण हैं जहाँ दूसरे क्षेत्रों के विद्वानों ने साहित्यालोचक के काम के सवाल उठाए हैं, भारत के निकट इतिहास के ऐसे शोधपूर्ण सवाल जिन पर किसी का ध्यान नहीं जाता या भारतीय परम्परा की ही नई और विचारोत्तेजक व्याख्याएँ या स्वयं भारतीय साहित्य के विभिन्न चरणों को लेकर ऐसी स्थापनाएँ, जो आचार्य शुक्ल और

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की खोजों और उपलब्धियों में कुछ नया जोड़तीं या उन्हें एक तरह चुनौती देती प्रतीत होती हैं, यह सब जैसे हमारे युवा लेखकों के लिए अस्तित्व ही नहीं रखता। ऐसा क्यों है, इसका विचार आवश्यक है। साथ ही, यह भी देखना है कि हमारे प्रमुख आलोचकों के भी असली सरोकारों से हम क्यों सम्बन्ध नहीं रखना चाहते या ऐसा सम्बन्ध रखना चाहते हैं जो उनके मूलभूत प्रश्नों की धार ही कुन्द कर दे या उनके मनमाने इस्तेमाल की सुविधा जुटा दे ? अपनी 'सहज साधना' नामक पुस्तक का उपसंहार करते हुए आचार्य द्विवेदी ने कहा था कि "आज मशीन केवल स्थूल रूप में ही हमारी सभ्यता को यंत्रचालित नहीं बना रही है, हमारे सामाजिक संघटन और बौद्धिक विवेचन भी यांत्रिकता का रूप ग्रहण करते जा रहे हैं।" यह बात आज के हमारे बौद्धिक परिवेश और आचरण में कितना सटीक बोलती है, कहने की ज़रूरत नहीं। मगर इस स्थिति का कारण क्या है ? आचार्य द्विवेदी के मतानुसार, "इसका कारण केवल जड़ तत्त्व को प्रधानता देने वाली वृत्ति है।" क्या हम उनके इस निष्कर्ष से सहमत हैं ? यदि नहीं, तो हमारे कारण क्या हैं ?

आचार्य द्विवेदी ने सिर्फ़ मानवतावाद को 'एक अस्पष्ट और लक्ष्यहीन तत्त्ववाद' बताया था और कहा था कि "चिन्मुखी मानवता का सिद्धान्त स्पष्ट और सोद्देश्य विचारवाद है।" यह भी कि "समस्त मानवीय प्रयत्नों को यह विचारधारा एक स्पष्ट, सुनिश्चित तत्त्ववाद देने में समर्थ है।" यदि ऐसा है, तो वह तत्त्ववाद कहाँ है ? क्या वह भारत के किसी आधुनिक दर्शनशास्त्री के दिमाग़ में पक रहा है ? दूसरी ओर पं. विद्यानिवास मिश्र का विचार है कि "भारत की सामाजिक संस्कृति के नाम पर जो भारत की मुख्य धारा है, उसी को उपेक्षणीय मान लिया गया है और यही हमारे आधुनिक जीवन की ट्रेजेडी है।" हम इस बारे में क्या सोचते हैं ? हिन्दी आलोचना में प्रतिबिंबित इस द्वन्द्व की दूसरी भारतीय भाषाओं में लिखी जा रही आलोचना में क्या स्थिति है ? कोई स्थिति है भी या नहीं ? अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी के भारतीय समाज के बारे में—उसकी परम्परागत संस्थाओं के बारे में—इधर जो नया शोधकार्य हुआ है वह क्या इस बारे में हमारी धारणाओं में संशोधन की चुनौती प्रस्तुत करता है ? याकि हम इसे केवल राजनीति-विशारदों, और पत्रकारों के ही सरोकार की वस्तु समझते हैं ? हिन्दी की आलोचनात्मक प्रतिभा का प्रथम उन्मेष पत्रकार-प्रतिभा और अध्यापक के मिले-जुले प्रयत्नों में हुआ था। क्या अब समय नहीं आ गया कि उस बुनियाद पर खड़ी आलोचना की इमारत को अब भारतीय बुद्धिजीवी की उच्चतम भूमिका का स्पर्श भी मिले ? अरसा पहले दर्शनशास्त्री कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने भी अपने 'स्वराज इन आइडियाज़' नामक प्रसिद्ध व्याख्यान में कुछ इसी तरह की आशा व्यक्त की थी। पर यहाँ हम बात को केवल उस दृष्टि से नहीं उठा रहे हैं। हमारा सरोकार आलोचना से है; किन्तु आलोचना स्वयं एक उत्कट और उच्चकोटि का बौद्धिक व्यापार

है और दार्शनिक चिन्तन की अनुपस्थिति या निष्क्रियता बुद्धिजीवी के लिए श्रेयस्कर नहीं होती। येल विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर तथा अंग्रेज़ी के प्रकाण्ड साहित्यालोचक हैराल्ड ब्लूम की एक बात याद आती है कि "बिकॉज़ द एकेडेमिक फ़िलॉस्फर हैज़ विड्रॉन फ्राम द कल्चरल सीन आव इंस्ट्रक्शन, द लिटरेरी क्रिटिक स्टैप्स इन, एण्ड टेक्स ऑपान हिमसेल्फ़ द पैडागॉगिक कल्चरल फ़ंक्शन फ़ॉर्मरली एक्सरसाइज़्ड बाई द फ़िलॉस्फ़र" (चूँकि सांस्कृतिक दृश्य से दर्शनशास्त्री अन्तर्धान हो गया है, इसलिए साहित्यालोचक विवश है कि उस ख़ाली जगह को भरे और समाज को शिक्षित करने का वह सांस्कृतिक धर्म अपने हाथ में ले जिसे कभी दार्शनिक लोग निबाहा करते थे) मन में सवाल उठता है अनायास ही, कि क्या हिन्दी प्रदेश, वल्कि समूचे देश का 'सांस्कृतिक दृश्य' यूरोप और अमरीका के उस 'कल्चरल सीन' से वहुत अलग है जिसकी वात हैराल्ड ब्लूम कर रहे हैं, इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि हमारे यहाँ सांस्कृतिक शिक्षण की यह ज़िम्मेदारी कवियों-कथावाचकों के हाथ में रही है ? न केवल यह कि दर्शनशास्त्रियों का हमारे समाज के शिक्षण या संस्कार में फ़िलहाल कोई योगदान नहीं दीख रहा है, हमारे पढ़े-लिखे समाज को भी, वे क्या कर रहे हैं, या क्या सोच रहे हैं, इसकी कोई ख़ास परवाह नहीं जान पड़ती। तो, आलोचक का काम तो, वह चाहे-न-चाहे, वढ़ ही गया है। किन्तु यह भी सच है कि बिना दार्शनिक मनीषी का सहयोग लिए वह यह ज़िम्मेदारी नहीं निभा सकता, क्योंकि उससे उसका सम्बन्ध ही जैसे टूट चुका है। दर्शन की ख़स्ताहाली के जमाने में भी कोई टी.एस. एलियट ब्रेडले के दर्शन पर थीसिस लिखने की ज़रूरत महसूस कर सकता है; कोई जॉर्ज स्टाइनर हाइडेग्गर और विटगेंस्टाइन सरीखी एकदम भिन्न दार्शनिक प्रतिभाओं से टकरा सकता है तो इसका मतलव मेरी समझ से यही है कि दार्शनिक चिन्तन आलोचना के लिए अस्पृश्य वस्तु नहीं है और मार्क्सवाद के बावजूद उसकी थोड़ी-बहुत उपयोगिता अभी शेष है। मगर यह सेतु तो तभी बन सकता है, जब दार्शनिक चिन्तन भी भारत की अपनी भाषा में सम्भव हो और बुद्धिजीवियों के बीच विचार-विनिमय के लिए भी अंग्रेज़ी का सहारा न लेना पड़े। सभ्यता का संकट विश्वव्यापी है, किन्तु यह संकट जिन्होंने उत्पन्न किया है, वे अपनी परम्परा और अपने इतिहास के बारे में हमारी अपेक्षा निश्चय ही अधिक आलोचनात्मक जागरूकता के धनी हैं। अतः वे अपने वर्तमान और भविष्य की भी चिन्ता हमसे ज़्यादा अच्छी तरह कर सकने में सक्षम हो सकते हैं। इस मामले में हमारी क्या स्थिति है, इसका बोध ही कम-से-कम हमारी आलोचना जगा सके तो उसके इलाज का भी उपक्रम हो सकेगा। अन्त में, मैं हिन्दी के ही एक आधुनिक कवि और आलोचक की इसी सिलसिले में की गई एक टिप्पणी से इस लेख का समापन करना चाहूँगा।

"पश्चिम को अपने प्रबल अहं के बावजूद ऐसा विश्वास नहीं है कि उनका

चिन्तन, उनका दर्शन वग़ैरह सब पूर्व की अपेक्षा अच्छा है। उनमें जिज्ञासा है, आगे के रास्ते की चिन्ता है, क्लेश है। उनका साहित्य इस दृष्टि से खरा है। हमारे साहित्य में न तो हमें अपनी अनास्था दीखती है, न अपनी आस्था दीखती है, न अपनी चिन्ता दीखती है। हमारी क्या चिन्ता होनी चाहिए, इसकी भी चिन्ता नहीं है।''

ज़ाहिर है कि यह टिप्पणी ठेठ आज के हमारे सांस्कृतिक दृश्य से ही ताल्लुक रखती है।

---

रमेशचन्द्र शाह

# दो नये उपन्यास

*नौकर की कमीज़* दुबारा पढ़ा। *कुरु-कुरु-स्वाहा* भी। कितनी अजीब बात है कि दुबारा पढ़ने पर कई बातें घट-बढ़ जाती हैं : ऋण-पक्ष में भी, धन-पक्ष में भी। *कुरु-कुरु-स्वाहा* के साथ अलबत्ता ऐसा नहीं हुआ। नया कुछ नहीं जुड़ा, पुराना कुछ नहीं घटा। ऐसा क्या इसलिए कि इस उपन्यास में आत्म-दान कम, आत्म-प्रक्षेपण, आत्म-पीड़ा अधिक है ? बेशक, अपने व्यक्तित्व को इस तरह विभाजित करके अलग-अलग दूरियों पर रखकर देखना और अपनी अनुभव-सामग्री का उसके साथ इस तरह छेड़-छाड़ करने के लिए इस्तेमाल करना भी एक कला है और हिन्दी उपन्यास के लिए इस तरह का खिलवाड़, इस तरह का प्रयोग-वैचित्र्य एक नई बात है, नया 'रस' है। मगर एक सवाल मन में उठता है : आवाज़ों का, स्वर और मुद्राओं का, भाषाई लहजों और लटकों का ऐसा कुशल और सजीव अनुकरण अपने-आप में एक सिद्धि है, जो बहुतों के लिए स्पृहणीय हो सकती है; पर है तो वह अनुकरण यानी 'मिमिक्री' ही। मनोहरश्याम जोशी मे 'मिमिक्री' की अद्भुत और विलक्षण प्रतिभा है; किन्तु अनेक ऐसी औपन्यासिक कृतियों का स्मरण हो रहा है जिनकी बनावट और अन्तर्वस्तु कुछ इस तरह उनके 'ह्यूमर' और 'आयरनी' से ओतप्रोत है कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता और फिर भी उन गुणों पर अलग से ध्यान नहीं जाता। *कुरु-कुरु-स्वाहा* के साथ ऐसा क्यों नहीं होता ?

कुछ दूर तक ऐसा ज़रूर लगा था कि लेखक ने अपने जीवनानुभव से वह रचनात्मक दूरी कमा ली है जो उसे इस समाज में अपनी जगह, अपने योग का आश्वासन ही नहीं, बल्कि, एक समूची बौद्धिक बिरादरी का जो रिश्ता इस परिवेश के साथ है उस रिश्ते की असलियत को—उसकी बहुमुखी विडम्बनाओं और असंगतियों को भी प्रत्यक्ष करने के लिए आवश्यक वस्तुनिष्ट या आत्मनिष्ठ आधार जुटा देगी। किन्तु क्या ऐसा हो सका है ? जहाँ एक ओर इस सदी में आधुनिक रचना ने 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव' का सूत्र गढ़ा है, वहीं उसने ब्रूनो शुल्ज़ की तरह नितान्त आत्मीय स्मृति-रूपाकारों का एकाग्र ध्यान-आवाहन भी सम्भव बनाया है और मानव-अस्तित्व के पौराणिक आयामों तक उन्हें ले जाते हुए उनका मर्म खोजा

है। कुछ ऐसी एकाग्रता के साथ कि वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ का प्रतीयमान द्वैत ही जैसे उस एकाग्रता में विलीन हो गया है।

कहीं इस उपन्यास में भी 'मिथिकल एडवेंचर' का तेवर ज़रूर है : प्रारम्भ में ही उसका एक सूत्र टाँक दिया गया—ऋत्विक घटक की इस सूक्ति के भेष में—कि 'आधुनिक सभ्यता चण्डिका का रूप है' इत्यादि। इस पर इसलिए भी ध्यान जाता है कि ऋत्विक घटक का चरित्र इस उपन्यास में ख़ासी जगह घेरता है और उसका चित्रण बहुत रोचक तथा जीवन्त भी बन पड़ा है। यह भी लगता है कि बंगाल की शाक्त भावुकता की ख़ासी छाप लेखक के मन पर पड़ी है और यह छाप उसके अपने कर्मकाण्डी अतीत की छाप के साथ जुड़कर काफ़ी चटख हो गई जान पड़ती है। नुस्खा यह कि बम्बई की पतुरिया को एक रहस्य की तरह पिछुवाया जाये—तमाम प्रसंगों और समसामयिक दृश्यों के बीच—इस रहस्य की शोध पाठक के औत्सुक्य को क़ायम रखते हुए चलती रहे और फिर उसे उपयुक्त सनसनी के साथ फ़ोकस में ले आकर अपनी सारी बौद्धिकता और भावुकता उस पर निछावर कर दी जाये—जैसे उसकी खोज अपनी ही, अपने ही केन्द्र की खोज थी। इसी नुस्खे में से यह भी निकलता है कि लेखक को अन्त में अपनी पूरी पीढ़ी को, एक समूची बौद्धिक बिरादरी को गरियाने और शाप-मूर्च्छित करने का निमित्त भी आसानी से सुलभ हो जाता है। पर क्या यह युक्ति, यह सांगरूपक असली साँसत का सामना करने में सक्षम है ? भर्त्सना और आत्मधिक्कार की भाषा भी तो यहाँ अन्ततः उसी धरातल पर है जिस पर लेखक की बौद्धिक सूक्तिधर्मिता। फिर कैसे पढ़नेवाले के मन में भरोसा जगे कि ख़ुद लेखक इस साँसत में है और अपने को ही नहीं दूसरों को भी उससे उबारना चाहता है। यह जो अखीर का अभिशाप है वह बड़े गम्भीर मामले की तरह प्रस्तुत किया गया है—जैसे, इस पूरे आयोजन के पीछे वही सबसे बड़ा प्रेरक तर्क हो। तभी न अलग से उसे पुस्तक के आवरण-पृष्ठ पर भी टाँकना ज़रूरी समझा गया है। मगर वह वैसा प्रभाव मन पर छोड़ता नहीं।

जिन्हें इस शाप से मूर्च्छित किया गया है वे हैं क्रान्ति, विज्ञान और संस्कृतिकर्मी बुद्धिजीवी। लेखक तिमंज़िला यूँ भी है : कॉमरेड रह चुका है, विज्ञान का स्नातक रह चुका है, संस्कारी ब्राह्मणत्व का जन्मसिद्ध अधिकार भी उसको है ही। फिर क्या चाहिए ? तिमंज़िले की यह छत, जहाँ खड़े होकर उसने वह मॉडर्न 'गप्प' लिखने का अनुष्ठान सम्पन्न किया है, जो उसी के कथनानुसार आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भी लिखना चाहते थे। इसमें सन्देह नहीं कि कल्पना-शक्ति हर आदमी के लिए ख़ुराक की तरह ज़रूरी है और लोगों की यह कल्पना-शक्ति गप्प के ज़रिए ही प्रकट होती है। परन्तु इस उपन्यास में यह गप्प किस तरह चरितार्थ हुई है ? यदि आत्मचरितमूलक उपन्यासों के ढर्रे से असन्तोष अनुभव करते हुए उसे तोड़-छोड़कर

उसी के भीतर से एक नया रास्ता निकालना लेखक को अभीष्ट था, तो कहना होगा कि रास्ता निकाला ज़रूर गया है, पर वह और भी ज़्यादा भटकाने वाला और उस भटकाव में ही हमें रमा लेने वाला, ख़ुद भी उसमें रम जानेवाला रास्ता है—जो गन्तव्य तक पहुँचाकर भी हमें ठगे जाने की-सी प्रतीति कराता है।

*नौकर की कमीज़* का लेखक भी गप्पी है और ख़ूब है। उसकी गप्प में गप्पीपन का लाघव भी है और उसी की ज़मीन पर, उसी के साथ चलती हुई वस्तुओं, व्यक्तियों, मन-स्थितियों पर टीका-टिप्पणी भी। इण्टेलक्चुअल मुद्राओं से मुक्त, भावद्वेलनकारी स्थितियों से भी निरन्तर उबर आती हुई वह गप्प हमारी निम्नमध्यवर्गीय क़स्बाई ज़िन्दगी की बेहद सपाट, बेहद मन्थर और एकरस लय के सहारे-सहारे—उसी में से निकलती और उसी को उद्घाटित करती हुई गप्प है। ऐसा भी नहीं कि स्वयं लेखक की 'विट' भी जगह-जगह मौजूद नहीं। वह बराबर मौजूद है और कहीं-कहीं वह उस जीवन की अन्तर्धारा को उजागर करने की बजाय उसे ढक भी लेती प्रतीत होती है। ऐसी जगहों पर वह खटकती भी है। पर ज़्यादातर, यह लेखकीय विट जीवन-स्थितियों और जीवन-चरित्रों के भीतर से आकार पाती है : उनकी सतह पर नहीं फिसलती। बल्कि ऐसा लगने लगता है कि ये जीवन-स्थितियाँ, ये जीवन-चरित्र उसी 'विट' के चलते अपनी असली ज़ुबान पा रहे हैं : लेखक अपनी 'विट' से उनमें 'ख़मीर' पैदा कर रहा है—उनकी अपनी ज़िन्दगी के भीतर से बोल रहा है। यानी वह स्वयं नहीं बोल रहा है, उन स्थितियों से बुलवा रहा है—उन पात्रों की पात्रता को उन्हीं की जीवन-लय से अन्तःप्रमाणित कर रहा है। अर्थात् उसकी वाणी कोई 'हिप्नॉटिक एक्सरसाइज़' नहीं है—वह अपने पाठक को, या ख़ुद अपने-आपको मुग्ध करने के लिए नियोजित नहीं है; बल्कि एक बड़े मामूली और फिर भी मार्मिक अर्थ में संजीवनी का-सा काम कर रही है।

बिचौलियों के मारे हुए इस देश में जहाँ हद दर्जे की कुण्ठा, हद दर्जे की ग़ैरज़िम्मेदारी और संवेदनात्मक भोंथरापन रेशे-रेशे में भिदा हुआ है, वहाँ ऐसे परिवेश में पनपती-बढ़ती अपनी चेतना को एक सर्वाश्लेषी मसख़रेपन से कोई कैसे उबार सकता है ! माना, इससे एक राहत मिल सकती है और वह राहत नाजायज़ भी न होगी। किन्तु रचना सिर्फ़ राहत-कार्य करके कैसे कृतकार्य हो जा सकती है ? रूपतान्त्रिक चमत्कृति उस समाज से बहुत मेल भी नहीं खाती जो अपनी आत्मा में घुसे खंजर को नहीं पहचानना चाहता—उसे निकाल बाहर करना तो दूर—उसे नाम भी नहीं देना चाहता, जो अपनी सुन्न पड़ी हुई स्नायुओं पर मालिश करवाकर या चिकोटी दिलवा के ही ख़ुश हो जाता है। याद आता है, अज्ञेय ने कहीं बड़ी पीड़ा के साथ यह बात उठाई है कि हम महान लेखक माँगते हैं, किन्तु यह सवाल हमारे मन में क्यों नहीं कभी उठता कि क्या 'हम' एक महान समाज हैं ? निश्चय

ही यह प्रश्न अपनी जगह है और इससे इनकार नहीं किया जा सकता। किन्तु क्या ऐसा भी नहीं है कि महान लेखकों का भी महान समाज बनाने में योगदान होता है ? अगर लेखक अपने समाज की अन्तरात्मा है तो लेखक की पीड़ा को महान पीड़ा बनना ही होगा, लेखक के व्यंग्य और विषाद को भी महान व्यंग्य-विषाद बनना ही होगा—फिर चाहे उसका मतलब 'अधूरा, टूटा, मिलावटी' (रघुवीर सहाय के शब्दों में) जैसा भी हो। अन्यथा लेखक को समाज की अन्तरात्मा कहने का क्या मतलब है ?

सारी ऊर्जा और स्फूर्ति के बावजूद एक स्वचालितता ओर पूर्वानुमेयता-सी आ जाती है इस शैली में, जो रिझाते-रिझाते खीझ पैदा करने लगती है। वह जो घिसीपिटी-सी एक सूक्ति है कि 'आर्ट लाइज़ इन कंसीलिंग आर्ट' वह क्या यूँ ही है ? उसमें कोई दम नहीं है ? जोशीजी भी हमें ऐसे तान्त्रिक लगने लगे हैं, जिन्हें खुद अपनी सिद्धियों पर नियन्त्रण नहीं रहता। वे अपनी ही सूझों का संवरण नहीं कर पाते। यह अनेकाग्रता है; और एकाग्रता जहाँ है, वह भी फिसल-पट्टी की एकाग्रता है। उस्तरे की धार पर चलने जैसी एकाग्रता नहीं।

एक आदरणीय लेखक की टिप्पणी याद आ रही है। मेरे यह कहने पर कि "उपन्यास टेक्निकली वहुत इण्टरेस्टिंग है; मगर मैं तो 'टेक्निकल ब्रेक-थ्रू' भी उसी रचना को मानता हूँ जो और मायनों में भी 'ब्रेक-थ्रू' हो।" वे बोले—"हाँ हाँ, है तो यह 'इर्रेस्पौंसिबल राइटिंग' ही; मगर 'टेक्निकल एचीवमेंट' तो मानना ही पड़ेगा।" मुझे उनकी इस टिप्पणी ने वड़े चक्कर में डाल दिया। सचमुच यह कैसा अजव विरोधाभास है ! 'इर्रेस्पौंसिबल राइटिंग' और 'टेक्निकल एचीवमेंट' ! टेक्निकल राइटिंग और इर्रेस्पौंसिवल एचीवमेंट ! क्या इस विरोधभास से कहीं कोई छुटकारा है ? लगता है जैसे इन पद-युग्मों की मार सिर्फ़ यहीं तक सीमित नहीं। समूचे राष्ट्रीय जीवन से मानो इनकी संगति बैठ जा रही हो।

अब यूँ तो पुस्तक की हर सम्भव आलोचना के ख़िलाफ़ लेखक ने पहले ही अध्याय में टीका लगवा लिया है आत्म-व्यंग का—मानो अपने सम्भाव्य आलोचक को बता रहे हों कि "तुम क्या छिद्रान्वेषण करोगे ? मैं जिस तरह अपने को आर-पार देख सकता हूँ, तुम सात जनम में भी नहीं देख सकते।" नमूने के तौर पर—

"जोशीजी इण्डियन अलाँ-फलाँ बन जाने के चक्कर में सतत् अनुवादक हैं। वहुत प्रेमपूर्वक घोटा लगाते हैं पश्चिमी साहित्य का अंग्रेज़ी में और फिर हिन्दी में लिखते हैं--अपने आराध्य ओरिजिनल अलाँ या फलां के इस्टाइल में। दिक्कत यह है कि पढ़-पढ़कर इनके लिए साहित्य क्या, ससुरा जीवन तक मौलिक नहीं रह गया। गोया किताबें इनके लिए ज़िन्दगी हो गई हैं और ज़िन्दगी इनकी ससुरी किताबी हो चली है।"

निश्चय ही इस आत्म-ज्ञान को लेखक पर सीधे-सीधे घटा देने की गुंजाइश उस तरह है नहीं। दृश्य और श्रव्य की अपने पैनी और यथावत पकड़ के ज़रिए चरित्रों का या स्थितियों का सजीव चित्रण कर जाना इस लेखक के बस का नहीं है, यह तो इसका दुश्मन भी नहीं मानेगा। मजाल कि एक बार हाथ में लेकर आप पूरी पढ़े बिना किताब को रख दें ! रीझते हुए और खीझते हुए आप लेखक के साथ ठिलते चले जाते हैं कि क्या पता, कब क्या हाथ लग जाए। आपकी प्रत्याशा को वह बराबर सान पर चढ़ाता चलता है। अनुकारी क्षमता भी किताबीपन की नहीं बल्कि व्यक्तिवैचित्र्य की ज़बर्दस्त पकड़, निरीक्षण-वृत्ति और ज़िन्दादिली का ही पता देती है। मगर इस क्षमता का नियोजन भी उतने ही गहरे प्रयोजन से प्रेरित है, यह दावा करना भी तो मुश्किल है। क्यों ऐसा लगता है कि यह सारा तमाशा लेखक की मुट्ठी में बन्द है और उसी के इशारे पर चल रहा है। जीवन का औपन्यासिक रूपान्तरण इसे कैसे कहा जाये, जब वह जीवनी का औपन्यासिक स्वाद-भर चखाता रह जाता है : बिना उस जीवनी को जीवन में झोंके ? विडम्बना यह कि प्रतिज्ञा इसके ठीक विपरीत लग रही थी। लिहाज़ा आत्मव्यंग्य के उस आरम्भ से जब हम आत्म-व्यंग्य के ही समापन तक पहुँचते हैं, तो उस सारी दृश्य-श्रव्य बाजीगरी का ऐसा सुनियोजित करुण अवसान हमें न केवल आश्वस्त नहीं करता, बल्कि अपनी आकस्मिक गंभीरता और भावुकता से बिदकाता भी है। जैसे ही तारा झावेरी विदा होती है, लेखक की बहुरूपी, स्वाँगमयी भाषा और तेवर उसका साथ छोड़ जाते हैं और वह अपने तथाकथित आत्म-मन्थन के ठीक सामने पड़ जाता है और यहाँ उसकी भाषा भी एकदम इकहरी हो आती है। तब आता है वह शाप; और शाप के बाद यह मूल्यांकन पूरी कथा का कि "एक मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी के निहायत ही लचर-से जीवन को अतिनाटकीय क़िस्म के आत्म-मंथन से जोड़ा गया था। ज़माने-भर की बातें आधुनिकता के नाम पर इस फ़िल्म में ठूँसी गई थीं और फिर भी दर्शक के हाथ वही लगता था, समझे ना ?"

चूँकि खेल ख़त्म हो चुका है, अतः अब यह आत्म-व्यंग्य भी निरी सपाट अभिधा की तरह पाठक के सिर पर चढ़कर बोलने लगता है। इसलिए कि वह उस आत्म-मन्थन को अपने आत्म-मन्थन की तरह बिल्कुल महसूस नहीं कर सका। इसलिए कि जिस अगम्भीरता को भी ज़रूरी और अर्थगर्भ मानकर वह उसके भेष में छुपी गम्भीरता के यथासमय प्रकट होने की इतनी देर से, इतने धीरज के साथ प्रतीक्षा करता रहा था, वह अंततः अगंभीरता ही निकली, गंभीरता नहीं।

· *नौकर की कमीज़* में लगातार खिलवाड़ है। पर यह खिलवाड़ स्वतः स्फूर्त होते हुए भी स्वचालित नहीं लगता। वह एक अति-सामान्य ज़िन्दगी के परिवेश के साथ इस क़दर घनिष्ठ है कि लगता है उसी की उपज है, एक विशिष्ट लेखक की असामान्य

कल्पनाशील बुद्धि की नहीं। ऐसा प्रभाव आख़िर क्यों पड़ता है, क्यों पड़ना चाहिए, जबकि शैली-तत्त्व की, लेखकीय 'विट' की भी यहाँ उतनी ही उपस्थिति है और निरन्तर उपस्थिति है। निरन्तर उपस्थित होते हुए भी लेखक अपने परिवेश और पात्रों के पीछे काफ़ी-कुछ ओझल कैसे हो सकता है ? कैसे अपनी चतुराई पर से हमारा ध्यान हट जाने देता है ?

इतना एकरस, सपाट और उबाऊ जीवन कम ही उपन्यासों में मिलेगा। विनोदकुमार शुक्ल को यहाँ एक मामूली क्लर्क की अतिसामान्य, स्वचालित-सी लगती घरेलू और दफ़्तरी ज़िन्दगी की घटनाविहीन घटनाओं पर लगातार आँख गड़ाए रहना है और वह आँख भी कैमरे की नहीं, ख़ुद अपनी। उन्हें उसके और उसके ही जैसे नीरस और दूसरे पात्रों के भीतर चल रहे मोनोलॉग और डायलॉग को पकड़ना है और इस तरह पकड़ना है कि वह यथातथ्य भी रहे और उस यथातथ्यता के मरुस्थल में ही कहीं भीतर दबे हुए वास्तविक संवेदन, आत्म-चेतना और वास्तविक आत्म-सम्मान के स्रोतों की भी आहट बराबर मिलती रहे। यानी, लेखक को अपने इन पात्रों से एक ऐसा तादात्म्य स्थापित करना है जिसमें न तो अपनी भावुकता से और न अपनी किसी बौद्धिक प्रतिबद्धता से ही क़िस्तों पर ऋण लिया जा सके। उसे इन मानवीय स्थितियों की मानवीयता को उसके मामूली से मामूली ब्योरों में भी अक्षुण्ण रखना है और साथ ही उसमें रचनात्मक सम्भावनाएँ भी खोजनी-पानी हैं, ऐसी सम्भावनाएँ जो मनमानी और दूरारूढ़ न लगें—संदिग्ध न लगने लगें अपनी जेब से निकालकर दी गई संवेदना की तरह। कितना छोटा-सा दायरा है इस ज़िन्दगी का—इसमें कहाँ गुंजाइश है—'रस' या संघर्ष की बड़ी बड़ी बातों के लिए ! बस सन्तू बाबू और उनकी पत्नी है, टपकता हुआ एक किराए का मकान है, मकान-मालिक डॉक्टर और उसकी बीबी है; दफ़्तर की घुटन-भरी दुनिया है जिसमें अपने ही जैसे लाचार और हास्यास्पद साथी हैं; और है एक क़स्बे का परिवेश गन्दगी, बदहाली, फूहड़, सम्पन्नता-प्रदर्शन, रोंगटे खड़े कर देने वाले दारिद्रय और दैन्य की जीती-जागती मूरतें।

विनोद के ये पात्र बड़ी मज़ेदार बातचीत करते हैं। यह बातचीत रियलिस्टिक भी नहीं कही जा सकती और सुर्रियलिस्टिक भी नहीं कही जा सकती। लेखक की आवाज़ भी उसमें ज़रूर शामिल है : मगर दख़लन्दाज़ी की तरह नहीं। उन पात्रों की सम्भाव्यता भी बोलती है : महज़ लेखक की विट नहीं। या यूँ कहें कि लेखक की विट उसका माध्यम बन जाती है—उस संभाव्यता का। अभी एक दिन निर्मल जी के साथ चर्चा हो रही थी इसी बात को लेकर। 'पूर्वग्रह' के उपन्यास अंश में उन्होंने डी.एच. लॉरेंस के 'औपन्यासिक' विचार उद्धृत किए हैं ना, उसी पर से—कि यह जो भाव-ऊर्जाओं के उतार-चढ़ाव की बात है, चरित्रों की प्राणवत्ता और स्पंदनशीलता

की बात है—वह तो उस तरह नौकर की कमीज़ में भी कहाँ हैं। यहाँ तो बड़ा ठहरा-ठहरा-सा कुल मामला है। भावों की तीव्रता और ड्रामाई गतिशीलता भी नहीं दीखतीं। तो फिर यह कैसा उपन्यास ! यही आलोचना *कुरु-कुरु-स्वाहा* पर भी लागू होती है, क्योंकि उसमें भी तो सारे पात्र लेखक के हाथों की कठपुतलियाँ—भले ही बड़ी आकर्षक और सजीव-सी पुतलियाँ—लगने लगते हैं। उनका अन्तर्जीवन—उस अन्तर्जीवन का विश्वास उपजाने वाली लय उसमें कहाँ है ? मगर *नौकर की कमीज़* में यह इसलिए नहीं अखरता कि उसमें सबसे बड़ा चरित्र—और सब चरित्रों का चरित्र—तो स्वयं क़स्बाई निम्न मध्यवर्गीय जीवन का वह परिवेश ही है जो एक जगह ठहरा हुआ है और जिसका ठहराव ही उसका यथार्थ है, जिस पर उपन्यासकार पूरी तरह एकाग्र है। उसकी कल्पनाशीलता उसी से मर्यादित है। इस एकाग्रता का ही आश्चर्य जनक परिणाम है कि ऐसे परिवेश से भी उसकी कल्पना को भरपूर ख़ुराक मिल जाती है। वह किन्हीं मनमाने आवेगों या विचारों के ज़रिए अपने को उत्तेजित करने के प्रलोभनों को संवरण कर ले जाती है। चूँकि लेखक जो है, उसी पर एकाग्र है, इसीलिए जो 'होना चाहिए' उसकी ओर उसकी कल्पना-शक्ति उस परिवेश की अपनी अन्तर्निहित सम्भावनाओं के तर्क से ही आगे बढ़ती है—बिना किसी आरोपित परंपरागत आदर्श अथवा आधुनिकतागत आग्रहों के। निर्मलजी मेरे विचार से सहमत थे और उनका भी यही ख़याल था कि यह ठीक है, कि ये पात्र ही हैं, चरित्र नहीं, किन्तु इस प्रकार के रचनात्मक आचरण के ज़रिए ही उनके चरित्र बनने की संभावना उत्पन्न होती है और यही इस उपन्यास की सार्थकता है।

यह बिल्कुल सही है और यथार्थ के साथ इस प्रकार रचनात्मक आचरण करना भावना की बजाय सम्भावना का क्षेत्र बढ़ाना है। सम्भावना के तर्क से ही कल्पनाशक्ति का कर्तव्य और चरित्र अपने आप निर्धारित होता है। सपाट एकरस ज़िन्दगी में अपनी जेब से निकालकर रंग क्यों भरे जाएँ ? क्यों न उसी पर अपने आँख-कान गड़ाए जाएँ और उन जीवन-स्थितियों में डूबा जाये, जिनमें यूँ ऊपर से देखने पर कोई ऊर्जा, कोई हलचल नहीं दिखाई देती। लेखक ने ऐसा किया और ऐसा करके उसने पाया कि यह यथार्थ वैसा नहीं है जैसा दीखता है। वह और भी बहुत कुछ है जिसे हमारी संवेदना ने खोजा नहीं, हमारी कल्पना ने छुआ नहीं। यही हमारे लोग हैं, यही उनका जीवन है, पर उन्हें अपने जिन गुणों और सम्भावनाओं की स्वयं ही उस तरह चेतना नहीं है, वह चेतना उस जीवन और उसके पात्रों के बीच डूबे हुए लेखक के भीतर जागने लगती है। इस डुबान और एकाग्रता के फलस्वरूप ही इन दैनिक एकरस ब्योरों के भीतर से ही सम्भावनाओं का वह गणित पैदा होता है जो उस एकरसता और मुर्दनी में भी हरकत पैदा करता है। नहीं, यह विनोदकुमार शुक्ल की अपनी लेखकीय 'विट' का प्रदर्शन-भर नहीं है। यह विट उसी

समाज की जीवन-प्रक्रिया से उपजती है—उन्हीं की चीज़ है जिसे लेखक ने सिर्फ़ उनके साथ पाए गए तादात्म्य में से प्रकट-भर कर दिया है, सचमुच देख और सुन-भर लिया है। यह न तो केवल उसकी अकेली व्यक्ति-चेतना का मोनोलॉग है, न केवल उसकी कविसुलभ सूक्तिप्रियता। है भी, तो उसके इस कवि-धर्म और उस समाज-जीवन के बीच लगातार एक आमना-सामना है, आदान-प्रदान है। यह उन्हीं के जीवन के गद्य का अनुभव है जो लेखक के कवित्व को उकसा रहा है—उसे उसका आधार और वाक्य-विन्यास दे रहा है। यह विन्यास उन्हीं की ज़िन्दगी की अन्तर्लय से बनता है और उसी को पकड़ता है।

निश्चय ही इसमें जो सम्बन्ध बनता है लोगों के साथ लेखक की संवेदना का, वह ज़रा दूसरी तरह का बनता है। इस सम्बन्ध की गुणवत्ता 'रागात्मक उत्कटता' की नहीं है, गहरी करुणा या विडम्बना की भी नहीं है। तभी तो पहली बार इस उपन्यास को पढ़ने के बाद मन में शंका उठी थी कि क्या इस प्रकार के लेखन में भी एक आसानी-सी नहीं हो जाती ? यह आसानी *कुरु-कुरु स्वाहा* वाली आसानी से भिन्न ज़रूर लगती है; किन्तु यह आत्मदान है कि तादात्म्य-चेष्टा ? रचने के लिए एक दूरी तो चाहिए। तादात्म्य चेष्टा का तो मतलब ही उस दूरी को सिफ़र कर देना है। आख़िर आप सन्तू बाबू तो नहीं ही हैं। हॉं, आपके लेखक की मॉंग है कि सन्तू बाबू हुआ जाए और उनके घर से निकलने और लौट के आने की जो रोज़मर्रा की यन्त्रचर्या है—उसे इतने भीतर पैठकर सोचा-महसूसा जाए कि वह नई लगने लगे। सचमुच नज़दीक से और इतने भीतर से देखने पर वह रोज़मर्रापन भी अजीब लगने लगेगा—ख़ूब बड़ा-बड़ा और मायावी-सा। रूपक भी सूझ जाएगा—नौकर की कमीज़ का। कोई यहाँ पर कह सकता है कि अरे, इस ज़िन्दगी का, इन लोगों का ऐसा ही दर्द आपको अगर है, ऐसा ही तादात्म्य अगर आप उनके साथ महसूस करते हैं तो आप अपनी समस्त भाव-ऊर्जा से—करुणा या आक्रोश की पूरी ताक़त से—इस जीवन की पुनर्रचना करिए ना ! काहे को यह तूमार बाँध रहे हैं ? क्यों, आख़िर क्यों आपको अपना रूपक भी अलग से समझाना पड़ रहा है आगे जाकर कि "नौकर की कमीज़ वह साँचा था जिसमें आदर्श नौकरी की पहचान होती।" जबकि उपन्यास के आरम्भ में यही इमेज एक ज़्यादा सहज ढंग से और रचनात्मक स्वाभाविकता के साथ आ चुकी है। वहाँ हम आश्वस्त हो चुके थे, सन्तू बाबू की विडम्बना की इस आत्मज्ञान सरीखी अभिव्यक्ति से कि "मेरा वेतन एक कटघरा था जिसे तोड़ना मेरे बस की बात नहीं थी। वह कटघरा मुझमें कमीज़ की तरह फिट था। इस कटघरे में सुराख़ करके मैं सिनेमा देखता था या स्वप्न।" सन्तू बाबू की इस मौलिक सूझ में और लेखक की उस व्याख्यात्मक पुनरुक्ति में फ़र्क़ है : उस कटघरे में सुराख़ करने की गुंजाइश है; पर इस कमीज़ को तो सिर्फ़ फाड़ा और जलाया जा सकता है।

जो भी हो, कुल मिलाकर मुझे यह तरीक़ा उपन्यास लिखने का दिलचस्प ही नहीं, जायज़ और कारगर भी लगता है। उपन्यास प्रथम पुरुष में प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने अपनी सर्वज्ञता और स्वैर-कल्पना पर एक ज़ोरदार अंकुश लगा लिया है। वह अंकुश है, औसत आदमी का। लगता नहीं कि यह एक आधुनिक उपन्यास है जिसे एक लेखक अपने एकांत में बैठकर रच रहा है। भले हक़ीक़त वही हो। मैं पाठक के रूप में मजबूर हूँ कि सन्तू बाबू बनकर सन्तू बाबू की तरह घर में धसूँ और घर से बाहर निकलूँ। इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि मैं महाविद्यालय का शिक्षक हूँ और सन्तू बाबू की तरह नौ से पाँच तक नहीं खटता। यों उपन्यास के प्रमुख चरित्र 'क़स्बे' का ही अंगीभूत यह महाविद्यालय भी यहाँ मौजूद है और अपने समूचे भोंड़ेपन के साथ मौजूद है। एक हिन्दुस्तानी निम्न-मध्यमवर्गीय घर की जो भी स्थितियाँ होती हैं, हो सकती हैं, विनोदकुमार शुक्ल ने उनका लघुतम समापवर्त्य इस उपन्यास में रच दिया है और वह हमारे अपने अनुभव से सिर्फ़ मेल ही नहीं खाता—उसे रूपान्तरित भी कर देता है—हमारे आँख-कान लगा देता है।

इस औसत और हर तरह के दबे-पिसे आदमी को भी आप अपनी ही तरह सोचने-महसूस करने और कल्पना-विहार करने से नहीं रोक सकते। गप्प लगाना हर आदमी की कल्पनाशक्ति की आज़माइश है, उसकी रचना-प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में औसत आदमी अक्सर यथातथ्य नहीं होता—'फैंटास्टिक' भी होता है। यह कहना झूठ है कि हिन्दुस्तानी आदमी 'एब्सर्ड' नहीं समझता। वह एब्सर्ड को ख़ूब अच्छी तरह समझता और जीता है। उसे अभिनीत भी करता है रोज़। पर उस 'एब्सर्ड' को, जो उसके सामाजिक अस्तित्व का 'एब्सर्ड' है: उसको नहीं, जो योरोपीय व्यक्ति-समाज का अपना 'एब्सर्ड' है। यों, आस्था की ऊलजलूलियत भी अपना अलग ही रंग लिए हिन्दुस्तानी परिवेश में मौजूद रहती ही है। इस उपन्यास में भी वह मौजूद है—दफ़्तर के भीतर हनुमानजी के भेष में। उसका जायज़ा लीजिए और उसके बाद फिर उसी की बग़ल में जमी विज्ञान की 'एब्सर्डिटी' भी देख लीजिए—

"...परन्तु विज्ञान से ग़रीबों को ख़ास लाभ नहीं मिला था। मालकिन बचा हुआ खाना 'रेफ्रिज़रेटर' में रख देगी। नौकर को कभी न कभी कुछ ज़रूर मिलेगा, क्योंकि रेफ्रिज़रेटर में रखे-रखे बहुत दिनों का सामान भी ख़राब हो जाता है। आदमी के विचार तेज़ी से बदल रहे थे। लेकिन उतनी ही तेज़ी से रद्दीपन इकट्ठा हो रहा था।"

विचारों के बदलने की तेज़ी और रद्दीपन बढ़ते जाने की तेज़ी के बीच जहाँ ऐन सीधा समानुपात हो, वहाँ सही रचनात्मक कार्यक्रम और आचरण क्या होगा ? क्या यह हक़ीक़त नहीं कि हमारी पारम्परिक संवेदना को और हमारे नवजाग्रत सामाजिक विवेक को भी वह पुंजीभूत रद्दीपन खा-पीकर बराबर किए जा रहा है ? तब ऐसे जीवन

और ऐसे परिवेश का कल्पनाशील जतन किस प्रकार की रचना को उकसा सकता है ? पहले मुझे लगता था कि कहीं विनोदकुमार शुक्ल का उपन्यास विनोदकुमार शुक्ल की कविता का ग़रीब बिरादर तो नहीं है ? अब उपन्यास को दुबारा पढ़ने पर मुझे लगता है—नहीं जी, यह ज़रूरी औपन्यासिकता ही है। उस दिन एक मित्र के साथ बातचीत हो रही थी। उसका सन्दर्भ यह था कि जिस तरह रूस की संस्कृति को 'पीज़ेंट कल्चर' की तरह परिभाषित किया जाता है और इंगलैण्ड की संस्कृति को मध्यवर्गीय वणिक संस्कृति की तरह बखाना जाता है, उसी तरह हिन्दुस्तानी कल्चर को वर्गीकृत किया जा सकता है क्या ? हमारी सभ्यता का प्रथम चक्र तो शायद अभिजात (अरिस्ट्रोक्रैटिक) चक्र ही कहा जायेगा; दूसरे चक्र में इस सांस्कृतिक नेतृत्व की धुरी बदल-सी जाती है और लगता है, राष्ट्रीय अस्मिता के पुनर्जागरण का वह दृश्य एक तरह से 'पीज़ेंट कल्चर' की आत्माभिव्यक्ति और उत्थान का दृश्य है; फिर इंगलैण्ड की बनिया-संस्कृति के आक्रमण ने उस सन्तुलन को भी चौपट कर दिया। तो अब क्या हालत है ? क्या अब भी अपनी सामाजिक संस्कृति का स्वरूप किसानी संस्कृति से प्रभावित-परिभाषित है या हो सकता है ? उन मित्र का कहना था कि नहीं; इस तीसरे चक्र में नागरिक मध्यवर्ग ही परंपरागत और नये मूल्य-बोध का समन्वय स्थापित करते हुए राष्ट्रीय संस्कृति की पहचान बना रहा है। उस बातचीत की याद मुझे इस वक़्त इसलिए आ रही है कि मुझे लगता है ये दोनों उपन्यास इसी मध्यवर्ग के वर्णपट को झलकाते हैं। *कुरु-कुरु-स्वाहा* उसके एक छोर पर कार्यरत है तो *नौकर की कमीज़* उसके दूसरे छोर पर।

भले ही यहाँ विचारों का वह 'ड्रामा' नहीं है, भावावेगों का वह झंझावात भी नहीं मिलता जिसकी अपेक्षा बीसवीं सदी के इस छोर पर हिन्दुस्तानी चेतना के भीतर अनिवार्य रूप से मचे हुए अन्तर्द्वन्द्व को देखते हुए और समसामयिक घटना-चक्र को देखते हुए भी उपन्यासकारों से स्वभावतः होनी चाहिए; तो भी इस गप्प के आईने में हम अपने समाज की कुछ अन्तरंग छवियाँ देख सकते हैं और यह भी ग़नीमत है। कहना न होगा कि इस गप्प के आईने में हमारे लोगों की भीतरी-बाहरी ज़िन्दगी तो दिखाई देती ही है : कुछ ऐसा भी दिखाई पड़ा जाता है जो उस आईने को महज़ परावर्तक आईना नहीं, बल्कि खुर्दबीन के लैंस जैसा भी मानने को बाध्य करता है। सन्तू बाबू भले इतने निरीक्षणशील न हों : हो सकता है वे जितना बारीक और साफ़ देखते हैं, उतना बारीक और साफ़ शायद अमूमन बाबू लोग नहीं देख पाते। परन्तु लेखक सन्तू बाबू होता (है भी किसी हद तक ज़रूर), तो वह यह सब देखता और सुनता। घर की ऊब से निजात पाने के लिए घर से बाहर तो सभी निकलते हैं : हम सभी में इस 'बाहर' के प्रति कुतूहल होता है। बाहर का कौतुक हमारे जीवन की एकरसता को तोड़ता है। पहचाने दृश्यों-लोगों-रास्तों-चरित्रों पर एक तरह की 'रनिंग

कमेंट्री' भी हमारे भीतर-भीतर चालू रहती ही है। सन्तू बाबू भले खुद लेखक न हों, किन्तु सन्तू बाबू के घट में बैठकर सन्तू बाबू की दुनिया को, उनके कौतुक, ऊब, जिज्ञासा और संकट को—उनके असली चेतना-प्रवाह को पढ़ा और दर्ज किया जा सकता है। लेखक को ऐसा करने की सच्ची प्रेरणा होती है। और इस प्रक्रिया में वह जिस चीज़ की 'खोज' करता है, वह सिर्फ़ फ़ालतू गप-शप, ठहरा हुआ दृश्य; भीतर बजता ऊलजलूल एकालाप ही नहीं है, उसमें मानो आपसे आप एक संगति, एक तारतम्य और अर्थ भी पैदा होने लगता है। यह महज़ शैलीकारी नहीं है। यह सन्तू बाबू की बेतरतीब और बदहाल जीवन-शैली में से ही उगती हुई 'शैली' है और इसीलिए वह तथाकथित यथार्थवादी भी कैसे होगी। भाषा मात्र जीवन की पुनर्रचना है, तो भाषा-विन्यस्त होकर यह क़स्बाई जीवन भी कैसे यथावत् रहेगा ? फिर विनोदकुमार सन्तू बाबू के घट में पैठेंगे तो अपने आँख-कान और दिलो-दिमाग़ कहाँ फेंक आयेंगें ? होना तो यही चाहिए और होगा भी यही कि उनके भीतर पैठ जाने की बदौलत सन्तू बाबू के आँख-कान भी और अधिक चैतन्य हो जाएँ। उनके कारण सन्तू बाबू का दिलो-दिमाग़ भी ज़्यादा चालू हो जाए। तभी न पाँच-छहः लाख एकड़ ज़मीन में सिंचाई करने वाले बाँध की—'न्यूज़रील' और 'खपरों में चूहों के भागने की आवाज़' सन्तू बाबू एक साथ सुन लेते हैं। 'अर्थ शास्त्र का शिक्षक अपनी पत्नी की आत्महत्या के बाद क्यों झटपट दूसरी शादी कर लेता है—यह जनापवाद के स्तर पर तो हर सन्तू बाबू जानेगा। किन्तु संवेदना-बुद्धि के स्तर पर इस पुनर्विवाह के पीछे का गणित और उस आत्महत्या के पीछे की अमानुपिकता का अनुभव हमारी सामाजिक अन्तरात्मा को भी तभी होगा, जब लेखक सन्तू बाबू के घट में खुद पैठकर सन्तू बाबू की भाषा में सोचेगा और बतायेगा। यदि इस तरह का प्रकरण *नौकर की कमीज़* की मुख्य कथा से सीधे नहीं जुड़ा—इससे क्या ! वह ज़रूरी प्रकरण है, क्योंकि क़स्बे की ज़िन्दगी का प्रकरण है, जिसके सारे तार परस्पर मिले रहते हैं और जिसका कोई भी प्रकरण किसी भी दूसरे प्रकरण से सर्वथा अलग नहीं हो सकता। सर्वव्यापी भोथरापन इन सारे प्रकरणों का स्थायी सन्दर्भ है। ससुरा जीवन यहाँ किताबी नहीं हो सकता। किताब लिखी ज़रूर जा रही है; पर वह ससुरा जीवन ही उसके सिर पर चढ़कर बोल रहा है तो किताब बेचारी क्या करेगी ? इस क़स्बे में नौकर-बाज़ार है, अफ़सर है, डॉक्टर है; यहाँ सिविल लाइंस भी है, झोंपड़-पट्टियाँ भी हैं, मूँगफलीवाला महावीर भी है। क़स्बा बेहद बातूनी भी है और कभी-कभी ऐसा भी लगने लगता है कि कस्बा क्यों, यह लेखक ही बातूनी है। लेखक के बातूनीपन और क़स्बे के बातूनीपन के बीच जो सन्तुलन क़ायम रहना चाहिए, वही गड़बड़ा रहा है। अब जैसे यह महावीर मूँगफली वाले का प्रकरण ही, मसलन, क्यों इतना खिंचा जा रहा है ?

"...मेरे लिए नदी का इतना ही मतलब है कि उसके किनारे रेत है।... 'तुम नदी की रेत ख़त्म नहीं कर पाये' ? मैं कहूँगा तो इसका जवाब होगा—'इतने सारे मकान इस रेत से बन गए, तब भी नदी की रेत ख़त्म नहीं हुई, शहर के सब मकानों में नदी की रेत जुड़ाई में लगी है। ...नदी ने बहुत कम लोगों को वैसा सिखाया है। ज़्यादातर लोग तालाब से सीखे हैं। "

इस तरह का संवाद शायद आपका किसी मूँगफलीवाले से न हुआ होगा। फिर भी कुछ असहज-अस्वाभाविक नहीं लगता। बल्कि जैसा संवाद होता है, उससे यह संवाद ज़्यादा स्वाभाविक लगने लगता है। बातचीत पते की है, मज़ेदार और मानीखेज भी है। यह ठीक है कि कई सूझें इतना खिंच जाती हैं कि लेखक की उपस्थिति की तरह अखरने लगती हैं। लगता है, वह कुछ ज़्यादा ही उचक रहा है। पर तभी आपके कान फिर से चौकन्ने हो जायेंगे : एक दुःस्वप्न और जीता-जागता-सा दुःस्वप्न आपकी कल्पना को पकड़ लेगा : और आप छिटक नहीं पायेंगे। ज़रा मुलाहिज़ा फ़रमाएँ—

"एक पहाड़ी पर चढ़ा हूँ। नीचे तालाब है। वहाँ से देख रहा हूँ एक लड़का तालाब में डूब रहा है। दौड़कर आते-आते लड़का डूब जाता है।" "महावीर, तुम मुझको बचा लेना" "कोशिश करूँगा। तुम तैरना क्यों नहीं सीख लेते ?"... "मुझमें इतनी अक्ल कभी नहीं आई मैं कैसा असहाय हूँ, बताऊँ" मैं कहूँगा—"मीलों लम्बा-चौड़ा गड्ढा है। गड्ढे के अन्दर मैदान। गड्ढे में होने पर भी मुझे नहीं लगता में गड्ढे में हूँ।" ..."यह भी ख़ूब रही। मैं पहाड़ी के ऊपर असहाय और तुम गड्ढे में असहाय...।"

पात्रों की विशेष परिस्थिति या प्रसंग से निकलने वाले संवाद या एकालाप के साथ-साथ जो 'रनिंग कमेंट्री' चलती है, वह लेखक की ओर से होकर भी किस तरह निरी साहित्यिकता से बरी हो जाती है, इसका यह एक नमूना है। देखा जा सकता है किस तरह, जहाँ लेखक की आवाज़ अलग से साफ़ सुनाई दे जाती है, वहाँ भी यह टिप्पणी ज़रूरी तौर पर अलग-थलग नहीं पड़ जाती, विक्षेपकारी नहीं लगती। यह ज़रूर है कि कथा-रस में पगे पाठक को वह उलझाएगी. उबायेगी। पर यूँ कथा-रस भी उस तरह इस उपन्यास में कहाँ इतना महत्त्व रखता है ! कथा तो ख़ैर है ही और कथा-रस भी क्यों नहीं है, है। पर लेखक ने इस 'कथा-रस' नाम की चीज़ को ही अपने ख़ास खरल में घोटकर बदल दिया है। कथा तो आख़िर वह भी कह ही रहा है; पर इस तरह कह रहा है जैसे वही ख़ुद उसका श्रोता हो। जैसे कोई बनी-बनाई कथा नहीं है सुनाने को उसके पास। वह तो जैसे ख़ुद ही सुन रहा है एक घर, एक मुहल्ले, एक दफ़्तर, एक क़स्बे की बात। जैसे यह उसका 'सुनना' ही उसका 'लिखना' है। सुनते-सुनते ही उसमें सुनाने की भी इच्छा जाग गई है।

यों देखा जाये तो कितना सीमित फलक है इस उपन्यास का ! यहाँ भावावेगों की टकराहट के लिए, गहरे दार्शनिक आत्म-मन्थन के लिए, मनोवैज्ञानिक खुदाई के लिए कोई गुंजाइश है ? आख़िर क्या बातें हो सकती हैं महँगाई की मार से पीड़ित पति और पत्नी के बीच ? इस परिवेश में आपसी संवाद का—जीवन की समस्याओं का और क्या रूप हो सकता है ? रिश्ते भी कैसे ?—किरायेदार और मकान-मालिक के, अफ़सर और मातहत के, बड़े बाबू और छोटे बाबू के। लेखक जिस वर्ग का आदमी है, उस वर्ग की चेतना और खुद उसकी शिक्षित संवेदना के बीच कैसा क्या सम्बन्ध है ? जो दूरी उसके और लोगों के बीच अनिवार्यतया है, वह अलंघ्य नहीं है। उसका व्यक्तित्व अभी भी अपने इस अस्तित्व की लय से विच्छिन्न नहीं हो पाया है। अपने व्यक्तित्व की आधारभूमि के भी सही-सही पहचानने की ग़रज़ से भी तो वह इस जीवन की धड़कनों को कान लगाकर सुनने को प्रेरित हुआ होगा। हाँ, वह अपने व्यक्तित्व को यहाँ इस परिवेश के केन्द्र में खींच लाता है—कुछ उसी तरह, जिस तरह कि एक कुम्हार अपनी मिट्टी को चाक की नाचती हुई गति में ही संकेंद्रित करता है। इस तरह यह यथातथ्यता की एकरस और एकजान मिट्टी आकार पाने लगती है, बल्कि कहना चाहिए कि लेखक की दृश्य-श्रव्य संवेदनाएँ खुद आकार पाने लग जाती हैं। वह इस घुटन और बेबसी और शोषण को दूर से दर्ज करके उसके प्रति भावुक-बौद्धिक आवेग से छलकने की बजाय उसे अपना लेता है, उसके धूसर रंग में अपनी कल्पना को रंग जाने देता है और तभी उसकी कल्पना भी उसी के ज़ोर से सक्रिय होने लगती है। कितनी स्वाभाविक और कितनी अद्भुत बात है कि यह जीवन अब अपनी सारी ध्वनियों-दृश्यों—विडम्बनाओं के साथ उसके भीतर से बोलने लगता है। उस तरह से तो ख़ैर नहीं, जिस तरह वह 'रेणु' के उपन्यासों में बोला था—वैसी आत्मीयता का राग यहाँ नहीं सुना जा सकता। शायद अब कहीं नहीं सुना जा सकता—क्योंकि समय ने हमें जिस तेज़ी से बदला है, उस तेज़ी से समय को हमने नहीं बदला—और इसलिए आत्मीयता के राग की प्रणाली भी बदल गई है, बदलना लाज़िमी है—और उन्हीं रचना-सम्भव प्रणालियों में से एक यह भी है—यह नौकर की कमीज़। क्या ऐसा नहीं है ?

तो लेखक को खुद चीख़ने-चिल्लाने की ज़रूरत नहीं। अपनी परदुख कातरता का ढिंढोरा पीटने या अपने लोगों की ज़रूरतों-परेशानियों का अमूर्त बौद्धिकीकरण करने की भी ज़रूरत नहीं। मज़े की बात यह है कि इस नम्रता और खुलेपन के बावजूद वह इस क़स्बाई अस्तित्व के नाटक का एक निरीह अनुवादक और टेपरिकार्डर भी नहीं बना जा रहा है। यह जो एक तरह का समझगत तादात्म्य-सा पा लिया है उसने अपने व्यक्तित्व के तल में जाकर—अस्तित्वगत परिवेश के गड्ढे सरीखे मैदान में उतरकर, उससे उसके भावावेगी और बौद्धिक व्यक्तित्व को पुष्टि ही मिलती है। यह एक नई

और ज़रूरी दीक्षा है उसकी तर्कबुद्धि की और उसकी कल्पना की भी। सन्तू बाबू के घट में पैठकर अब वह अपनी बात भी कह सकेगा—सन्तू बाबू की अनुभव-प्रक्रिया और एकालाप को महसूस करते हुए वह सन्तू बाबू के संभाव्य सोच और संवेदन को भी बाहर निकाल लाएगा और इस तरह सन्तू बाबू को पात्र से चरित्र तक उठा लायेगा—बिना सन्तू बाबू को अपना 'माउथपीस' बनाए। इस कथा से अलग उसका क्या कथ्य हो सकता है, जिसके लिए उसे भोंपू बनने या वनाने की ज़रूरत पड़े ! ऐसी मज़ेदार सूझों, ऐसा कल्पनाशील चित्रण ! और वह भी सन्तू बाबू के मुख से ‥ और फिर भी आप नहीं कह सकते कि देखो, इस लेखक ने इन पात्रों का इस्तेमाल अपना रंग बाँधने के लिए, अपने बुद्धि-विलास के लिए किया है। यह ज़रूर है कि कभी-कभी लेखक अलग छिटक जाता है, अपनी ही उद्‌भावना से लाचार-सा; और तब यह तार भी टूट जाता है। पर ऐसा कम हुआ है।

उदाहरण के लिए, जब लेखक सन्तू बाबू के साथ यह सोचता है कि "हालत सुधारने के लिए अधिक से अधिक मेहनत के उपाय पर मुझे विश्वास नहीं था "‥आदमी की अधिक से अधिक आमदनी और कम से कम आमदनी में भयानक अन्तर था। उस अन्तर के बीच तरह-तरह की क़िलेवन्दी की गई थी," तो यह भाषा लेखक की असहज उपस्थिति का वैसा अहसास नहीं कराती, जैसा कि पृ. 75 पर सन्तू का यह उद्‌गार—

"‥साहब की ऊँचाई की तरफ़ की सड़क में एक क़दम रखकर महँगू गले तक धँस गया था; दो क़दम रखकर मैं धँस गया था। ऐसी स्थिति का ख़ात्मा करने के लिए मुझे आदिम युग से पत्थर-हथियार ढूँढ़ने की ज़रूरत नहीं थी। इसी सभ्यता से मुझे हथियार ढूँढ़ना था।‥"

यहाँ पर, स्पष्ट ही लेखक सन्तू बाबू की आवाज़ में नहीं, खुद अपनी आवाज़ में बोल रहा है। मगर इससे कथा-रस में या चरित्र-रस में ऐसा क्या ख़लल पड़ गया ? लेखक ने सन्तू बाबू की भूमिका निभाई तो इसका मतलब यह तो नहीं कि लेखक सन्तू बाबू में फिट हो जाए। सन्तू वाबू निरे अस्तित्व से उबरकर व्यक्तित्व की तरफ़ अग्रसर हों—आख़िर यही तो इस कल्पनात्मक उद्योग का—इस उपन्यास का अघोषित प्रयोजन और प्रेरणा है। लेखक सन्तू बाबू के धट में वहीं बैठ जाने के लिए थोड़े पैठा था ! इसीलिए पैठा था कि जब वह ऊपर आए तो सन्तू बाबू भी उसके साथ-साथ ऊपर को खिंचें।

क्या यह मतलब पूरा नहीं होता ? विनोदकुमार शुक्ल का उपन्यास क्लर्कों पर या क़स्बाई जीवन पर लिखे गए दूसरे दर्जनों उपन्यासों से आख़िर क्यों अलग पड़ जाता है ? क्या है उसकी सार्थकता का स्रोत ? यही न कि लेखक ने सन्तू बाबू से या दूसरे पात्रों से जो कहलवाया है, वह कहने की क्षमता उन पात्रों में अन्तर्निहित

है, इसका विश्वास भी हमें होता चलता है। उसने जिन स्थितियों का चित्रण किया है, महज़ उनके रस की ख़ातिर नहीं किया, बल्कि उनमें जो सचाई और उस सचाई में जो सम्भावना निहित है, उसकी ख़ातिर किया है। इसीलिए कोई यह नहीं कह सकता कि यह तो ग़ैरज़िम्मेदार फन्तासी है, वाग्विलास है। यथार्थ का भ्रम रचने में कोई त्रुटि नहीं है। परन्तु उतना ही होता तो कुछ ख़ास बात न होती। ये सारी स्थितियाँ एक वाग्वैदग्ध्यपूर्ण चित्रण के लिए नहीं चित्रित की गई हैं। बल्कि वे बदलें, इसलिए की गई हैं। वह गति और विधि क्या होगी जिससे इन क्षुद्रताओं का, इन कुण्ठाकारी, जीवनद्रोही स्थितियों का इलाज हो ? लेखक उस गति और विधि को महज़ बयान नहीं करता, उन्हें मूर्त और अभिनीत करता है अपनी भाषा की ही हरकतों से। विवरण, वृत्तान्त, संवाद और रनिंग कमेंट्री—सभी जगह यह गतिविधि है जो इन स्थितियों का स्थिति-संभव और स्थिति-प्रेरित उपचार भी झलका देती है। इसीलिए यह इसी सभ्यता से हथियार ढूँढ़ने की सहबुद्धि के निर्वाह का पूर्वाभास है। इसीलिए और इसी कारण हम इस उपन्यास को बनावट की दृष्टि से विशिष्ट महसूस करते हुए भी सिर्फ़ 'टेक्निकली इंटरस्टिंग' कहके नहीं टाल सकते। टाल तो यूँ *कुरु-कुरु-स्वाहा* को भी नहीं सकते; पर जिस तरह हम उस उपन्यास को 'टेक्निकल अचीवमेंट' कहकर काफ़ी कुछ कह जाते हैं, उस तरह *नौकर की कमीज़* के बारे में नहीं कह सकते।

---

नन्दकिशोर नवल

# यथार्थ बोध और साही की कविताएँ

*मछलीघर* और *साखी* के प्रकाशन काल के बीच डेढ़-दो दशकों का अन्तराल है। यह अन्तराल कविताओं की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। जैसे-जैसे स्वातन्त्र्योत्तर भारत का यथार्थ बदलता गया है, साही की कविता में भी बदलाव आता गया है। अब उसमें एक 'डाइरेक्टनेस' दिखलाई पड़ता है, कभी-कभी सपाटबयानी की हद को छूता हुआ। कविताओं की लम्बाई अपेक्षाकृत कम हो गई है और कवि फ़ैन्टसी के सहारे चलता भी है, तो अब उनमें किसी चक्करदार तिलिस्म का निर्माण नहीं करता। जैसे अब उसे बृहत्तर पाठक वर्ग का ध्यान है। लेकिन इससे यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि उनकी कविताओं की गूढ़ता कम हो गई है। उनकी मृत्यु के बाद उन पर प्रकाशित होने वाले पत्र-पत्रिकाओं के विशेषांकों में उनकी कविता पर जो लेख निकले और उनमें उनकी कविताओं की जिस तरह व्याख्या की गई, उससे इस तथ्य की पुष्टि होती है।

स्वातन्त्र्योत्तर भारत में जैसे-जैसे निर्धनता, निरक्षरता, बेकारी, शोषण, भ्रष्टाचार और अनैतिकता बढ़ती गई है, यथार्थ निरन्तर भयावह होता गया है। *साखी* की कविताओं में उस यथार्थ का प्रतीक है, कवि के विस्तर पर पड़ा हुआ चमचमाता उद्दीप्त छुरा, जिसे किसी ने रात के अँधेरे में टार्च की तेज़ रोशनी के साथ उसकी ओर फेंका है। "मैं छुरे को उठाकर / उसकी धार पर आहिस्ता उँगली फिराता हूँ / उसकी मूट को ग़ौर से देखता हूँ / शायद कोई संदेश हो / जो फेंकने वाले ने मेरे लिए भेजा है।" अशोक वाजपेयी ने मुक्तिबोध की कविता को 'भयानक ख़बर की कविता' कहा है। क्या साही की परवर्ती कविताएँ छुरे के रूप में दिया जाने वाला समकालीन यथार्थ का सन्देशा हैं ? *साखी* की कविताओं में इस प्रकार के बिम्ब मिलते हैं—कोई कुएँ में गिर गया है, कोई आधी रात को कहता है, दरवाज़ा खोलो आदि। ये बिम्ब एक ओर असहायता से भरे हुए हैं, दूसरी तरफ़ बेचैनी से। स्थिति इतनी ख़राब हो गई है कि सड़क पर एक क़दम चलने पर कोई पीछे से कालर पकड़कर खींचता है, "किसे पूछकर पैर उठाया ?" चेखव की कहानी 'वार्ड नं. 6' पढ़कर लेनिन ने कहा था कि सारा रूस वार्ड नं. 6 है। साही की कविता 'अस्पताल में' पढ़कर यही प्रतिक्रिया होती है कि सारा देश अस्पताल हो गया है, जिसमें "सब सो

रहे हैं / सजह समाधि की तरह / सब कराह रहे हैं / अनाहत नाद की तरह।"
'ख़ाली बारहदरी' शीर्षक कविता माहौल में व्याप्त भय को बहुत ही सशक्त ढंग से चित्रित करती है। इसमें कोई अनपहचाना व्यक्ति है, जो ख़ाली बारहदरी में बराबर टहलता रहता है। "उसके चेहरे पर / मांसपेशियों के रंग की पट्टियाँ बँधी हैं / और उसी क़िस्म का कपड़ा उसके सारे / बदन पर है।" पुराने ज़माने की तुलना में आज चीज़ें काफ़ी बदल चुकी हैं। नज़दीक जाने पर आज नगाधिराज हिमालय बजाज की दूकान का गज निकलता है महाभारत के योद्धा-भतीजे, लड़के-दामाद और समुद्र को लाँघने वाले हनुमान सुरसा के मुँह में प्रविष्ट होकर फिर न निकलने वाले अत्यन्त लघुरूप जीव ! साही का स्वर पीड़ा से पककर कबीर की तरह फक्कड़ाना हो गया है। वे कहते हैं, "साधो भाई / अब मैं क्या करूँ ?" 'सत की परीक्षा' इस संग्रह की एक चर्चित कविता है, जिसमें उन्होंने दिखलाया है कि कैसे आज ईमानदारी का मूल्य भयानक संकट में पड़ गया है। इस स्थिति का चित्रण एक स्त्री-पात्र के माध्यम से करके कवि ने उसे और करुण और त्रासद बना दिया है। एक स्त्री के हृदय से फूटनेवाला ईमानदारी का प्रकाश उसकी छाती पर जड़ाऊ हार की तरह चमकता है। उसकी ससुराल के लोग उस हार को किसी परपुरुष द्वारा प्रदत्त मानकर उसे उसके कलंक का प्रमाण मानते हैं। स्त्री की दयनीयता का अन्दाज़ा इससे लगाया जा सकता है कि "मेरे सातों भाइयों ने / बहुत कातर स्वर में / आरोप का उत्तर दिया है / कि यह लहर लेती चमक / मेरे पुरखों की थाती है / जो कभी-कभी दिख जाती है / लेकिन ऊँची नाक वालों ने कुछ नहीं सुना।" अन्त में उस स्त्री की यह कातर वाणीः

सुनो भाई साधो
और कोई रास्ता नहीं है
मुझे अपने दोनों हाथ
इस खौलते कड़ाह में डालने ही हैं।

यदि मेरी छाती पर जड़ाऊ हार की तरह चमकता
आन्दोलित प्रकाश
सचमुच मेरे हृदय का वासी हो
तो यह खौलता हुआ कड़ाह
हाथ डालने पर
गंगाजल की तरह ठण्डा हो जाये।

कहने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए कि इस कविता का सारा जादू 'हृदयवासी प्रकाश' को 'हार' में बदल देने में है। यही जादुई स्पर्श जब बहुत गहरा हो जाता है, तो साही की कविताएँ फ़ैन्टास्टिक हो जाती हैं और मुक्तिबोध की कविता की

ऊँचाइयाँ छूने लगती हैं। जैसा कि संकेत किया जा चुका है, *मछली घर* की कविताओं की तुलना में *साखी* की कविताओं में यह स्पर्श हलका है, इस कारण इसकी कविताएँ *मछलीघर* की लम्बी कविताओं की ऊँचाई तक कम ही पहुँचती हैं। लेकिन इनमें एक दूसरा बहुत ही गहरा विवशतापूर्ण और करुण स्वर सुनाई पड़ता है, जो इन्हें अत्यधिक मार्मिक बनाता है। 'अब' शीर्षक कविता में कबीर की सारी बातें उलट गई हैं। बानगी के तौर पर : "वे बाज़ार में लुकाठी लिए खड़े हैं / मेरा घर भी जलाते हैं / और मुझे साथ भी पकड़ ले जाते हैं / अब ?" यह स्वतन्त्र भारत की पुलिस है। इसी तरह संग्रह की अन्तिम 'प्रार्थना' शीर्षक कविता में साही ने दिखलाया है कि कैसे आज सहानुभूति, करुणा और सत्यवादिता ये मूल्य घोर संकट में पड़ गए हैं। इसकी भी एक बानगी : "दो तो ऐसी निरीहता दो / कि इस दहाड़ते आतंक के बीच / फटकार कर सच बोल सकूँ / और इसकी चिन्ता न हो / कि इस बहुमुखी युद्ध में / मेरे सच का इस्तेमाल / कौन अपने पक्ष में करेगा।" तात्पर्य यह कि आज सच बोलना भी ख़तरनाक है, क्योंकि उसका इस्तेमाल लोग अपने पक्ष में कर लेते हैं !

स्वभावतः इस भयावह स्थिति ने साही को बहुत निराश कर दिया था। कहा जाता है कि सोशलिस्ट पार्टी के विघटन के बाद वे सक्रिय राजनीति से अलग हो गये थे और उनकी राजनीतिक गतिविधियाँ सिर्फ़ समाजवादी युवा संगठनों और शिविरों में आने-जाने तक सीमित रह गई थीं। एक छोटी कविता में, जिसमें उन्होंने डॉ. लोहिया की तरफ़ भी इशारा किया है, अपनी कशमकश का वे इस रूप में वर्णन करते हैं :

> जहाँ मैं इस वक़्त हूँ
> वहीं से आवाज़ दूँगा।
> क्या है जो इस बेबुनियाद ख़ामोशी में
> अभिव्यक्त होना चाहता है ?
>
> पहले तो उस आदमी की याद
> जिसे याद करना न करना
> दोनों ही बेमानी हो गए हैं।
> फिर उन सपनों की याद
> जिनसे कभी कोई सरोकार नहीं रखा—
> ताकि बाद में दुख न हो।

'जिन सपनों से कभी कोई सरोकार नहीं रखा'—यह बहुत निराश कवि की ही वाणी है। निराशा *मछलीघर* की कविताओं में भी थी, लेकिन *साखी* की कविताओं में तो

कई बार घनीभूत होकर वह मृत्यु की आकांक्षा तक पहुँच जाती है। एक कविता में साही अचानक और असमय आई हुई मृत्यु का स्वागत करने के बाद कहते हैं कि "मैंने बहुत पहले / सारे तन्तु काट दिए हैं / और इस अपर्याप्त शरीर में / सिर्फ़ दिमाग़ बनकर / उम्र गुज़ारता रहा हूँ—/ यह तवे की तरह तपता हुआ सर / पत्थर की तरह आँखें / कुम्हलाई हुई उँगलियाँ / और सिकुड़े हुए पैर—/ अब इनमें केंचुल के अलावा / रह ही क्या गया है ?" इस तरह एक अन्य कविता में अपने से यह कहने के बाद भी कि "ठहरो अभी तुम्हारे मरने का वक़्त नहीं आया है / गले में फँसी हुई रस्सी को खोल दो", वे चरम निराशा के आलम में कहते हैं : "मेरे मस्तक से / झल्लाई हुई किरणें फूट रही हैं / और मैं कुछ नहीं कर पाता / जिस तरह जलते जंगल से / चिनगारियाँ फूटती हैं / और जंगल कुछ नहीं कर पाता।" अपने कवि रूप में भी वे आस्था खो बैठे हैं "मेरी वाणी से / रह-रहकर शब्दों के ढूह / आते-जाते यात्रियों पर / बरस पड़ते हैं / जिस तरह धसकते पहाड़ से / पत्थर धूल और चट्टानें बरसती हैं।" एक तीसरी कविता में उन्होंने जो कुछ कहा है उसका मतलब यह है कि स्वातन्त्र्योत्तर भारत का यथार्थ धीरे-धीरे इतना भयावह होता गया है कि उसके साक्षात्कार के बाद आदमी 'मितभाषी' हो जाता है। इसी मनोदशा में साही ने 'आदमी जिसका चला जाना शुरू हुआ' शीर्षक कविता लिखी, जिसकी अन्तर्वस्तु यह है कि नक़ली विद्रोही, जिन्हें व्यवस्था अपने पक्ष में कर लेती है, असली विद्रोहियों को विद्रोह विमुख कर देते हैं। कविता के अंत में वे कहते हैं, 'मैं देख रहा हूँ / कि मैं फँस गया हूँ। / अब मैं वापस चला जाऊँगा।' 'क्रूसो' कविता में तो वे उस साहसिक अभियान का, जिसका *मछलीघर* की कविताओं में बहुत ही उदात्त शब्दों में वर्णन किया गया है, उपहास करते हैं।

*साखी* में आकर राजनीति के साथ साही की कविताओं का सम्बन्ध किंचित स्पष्ट हुआ है, यद्यपि यह सही है कि उन्होंने उन्हें राजनीति का विकल्प कभी नहीं बनने दिया है। उनमें राजनीति और कविता अलग नहीं है, सिर्फ़ उनका कार्य-क्षेत्र अलग है। *साखी* की एक कविता में वे जनता से कहते हैं कि तुम्हारे पाले हुए साँप ने तुम्हीं को काटा है ! 'अगाध द्रष्टा' वाली कविता जैसे पण्डित नेहरू पर लिखी गई है, वैसे ही 'अन्त में सूत्रधार का वक्तव्य' शीर्षक कविता इंदिरा गाँधी पर, जो अपने व्याख्यान से अपने विरोधियों को भी सम्मोहित करके चली जाती है ! 'बादशाह अकबर के नाम शीर्षक कविता में कवि ने शासक-शासित-सम्बन्ध का चित्रण किया है। बादशाह अपने परकोटे के उस चिराग से ऊब उठा है, जो उससे काफ़ी दूर जाड़ों की रात में तालाब में खड़े व्यक्ति को भी गर्मी पहुँचाता है ? कभी-कभी जनता अपनी उपेक्षा और अपमान से ऊबकर विध्वंस की आकांक्षा करने लगती है, लेकिन जब देवता उसकी सहायता के लिए आते हैं और विध्वंस मचाने लगते हैं, तो वह भयभीत होकर त्राहि-त्राहि करने लगती है। 'वरदान देने वाले देवताओं की ओर से' कविता में नेता

जनता से स्वयं कहते हैं कि "हमने तुम्हें वरदान के पाश में / फाँस लिया है / अब तुम निकलकर कहाँ जाओगे ?" स्पष्ट है कि ये देवता आध्यात्मिक नहीं, बल्कि राजनीतिक हैं, सैनिक तानाशाह, जो पूँजीवादी जनतन्त्र में जनता की तबाही का फ़ायदा उठाकर सत्ता पर अधिकार जमा लेते हैं और फिर उस पर आतंक क़ायम कर शासन में बने रहते हैं। एक कविता साही ने जनता पार्टी के टूटने के बाद लिखी है और विभिन्न घटकों के मिथ्या दम्भ पर गहरा दुख प्रकट करते हुए अन्त में कहा है : "सुनो भाई साधो / सब जग अंधा हो गया है / मैं किसको समझाऊँ।' 'सब जग' का यहाँ मतलब है—जनता पार्टी के सारे घटक। 'वे' एक ख़ौफ़नाक कविता है, जिसका आशय यह है कि मौजूदा शासक वर्ग आदमख़ोरों से सभ्यता की रक्षा करने में असमर्थ है, क्योंकि उसकी व्यवस्था 'जारज संतान' के अस्वीकार पर ही टिकी है। 'जारज सन्तान' 'सभ्यता का नवजात शिशु' है। आदमख़ोर इस नवजात शिशु का लज़्ज़तदार गोश्त खाने का हौसला रखते हैं। मुक्तिबोध ने भी अपनी एक कविता में एक सूखे कुएँ में फेंके गए अवैध नवजात शिशु को 'आत्मोत्पन्न सत्य' का प्रतीक कहा है, जो मज़दूरों के बीच पलकर क्रान्ति का वाहक बनेगा। 'इसी शताब्दी के सामने' कविता की राजनीतिक अन्तर्वस्तु अत्यन्त स्पष्ट है :

हर रोज़
हड्डियों जैसा एक नया शकटार
निकलता है ज़मीन तोड़कर
आकाश की ओर उँगलियाँ चटकाकर
कसमें खाता है नन्दवंश के विनाश की
तुम हज़ारों कमन्दें फेंककर
उसे गिरफ़्तार करते हो
और फिर ज़मीन में दफ़नाते हो

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि देश और राजनीति की दशा देखकर साही या उनका काव्य-नायक क्या अन्तिम रूप से निराश हो उठा है ? क्या *मछलीघर* का साहसिक यात्री, जो फेंटे में जवाहर कसे हुए चारों ओर फैले समुद्री पानी को उठते-गिरते देखता है और जहाज़ियों के बेतहाशा दमामे की आवाज़ सुनता है, *साखी* की कविताओं में समूचे महाद्वीप की यात्रा से लौटा हुआ ऐसा यात्री हो गया है, जो किसी नतीजे पर पहुँचने में असमर्थ राह के पत्थर पर बैठा अबोध बच्चे की तरह नागरिकों का आना-जाना देखता है और बच्चे उस पर कंकड़ी फेंकते हैं ? *साखी* में अनेक ऐसी कविताएँ हैं, जो साही की अपराजेय आस्था और युयुत्सा का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। एक कविता में उन्होंने लोगों को प्रेरित किया है कि वे यथा स्थिति को छोड़ दें, तो वह सबसे बड़ा चमत्कार होगा। एक कविता में एक स्मृतिजीवी से

वे कहते हैं कि तुम अपने स्मृति संसार से निकलकर इस प्रतिसंसार में आओ और उसे मृत्यु की तरह नहीं, जीवन की तरह धारण करो। ज़िन्दगी चलते-चलते तुम्हें जो एकाएक मौत की तरह लगने लगती है, वह इसलिए कि तुम स्मृति की दुनिया में रहते हो। 'मेरे साथ कौन आता है' कविता में पुनः साहसिक यात्रा की बात है "मैं फिर उन कान्तारों की यात्रा करने जा रहा हूँ / जहाँ बरसों मैं भटक चुका हूँ।" यह कविता चुनौती के स्वर में लिखी गई है, यद्यपि साही कहते हैं :

> यह चुनौती नहीं है।
> क्योंकि चुनौती की भाषा अब मुझसे बोली नहीं जाती।
> मैं इतने दिनों तक निस्तब्ध सोचता रहा हूँ।
> कि मेरी आवाज़ भारी हो गई है
> और मुझसे सिवाय विनय के
> कोई दूसरी बेपाखण्ड मुद्रा बाक़ी नहीं रह गई है।
> इसलिए मैं भरसक साधारण आवाज़ में पूछता हूँ
> मेरे साथ कौन आता है ?

विनयशीलता और साधारणता वाकई *साखी* की कविताओं के स्वर की विशेषता है। दुख से यह स्वर भारी भी है *मछलीघर* के साहसिक अभियानी को सम्भव है इस बात की आशा रही हो कि जब वह अपने गन्तव्य को प्राप्त कर लौटेगा, तो उसे शोहरत हासिल होगी, लेकिन इस कविता का अभियानी गुमनाम होने के लिए निकला है। "आख़िरकार यह हमेशा संभव है / कि हम अब तक के तमाम कोलाहल को / एक झटके के साथ त्याग दें / और खड़े होकर कहें / हाँ, हमने माना कि एक ज़िन्दगी हमने / ग़लत परिणामों को सिद्ध करने में गुज़ार दी। अव हमें नई शुरुआत के लिए / नये सिरे से गुमनामी चाहिए।" वस्तुतः यथार्थ के परिपक्व बोध से उपजा यह नया तत्त्व-ज्ञान है, जिससे साही के काव्य में एक विकास सम्भव हुआ। यह तत्त्व-ज्ञान शुद्ध भौतिक है, क्योंकि उन कान्तारों में अन्य गुमनाम लोग भी रहते हैं, जिन्होंने "अपने देश के बारे में / वह सब नहीं सुन रखा है / जो हमने सुना है।"

*मछलीघर* में जेल को विषय बनाकर लिखी गई एक कविता है 'दीवारें' जिसमें कवि ने कहा है कि "अजब तरह की है यह कारा जिसमें केवल दीवारें ही / दीवारें हैं / अजब तरह के कारावासी / जिनकी किस्मत सिर्फ़ तोड़ना, / सिर्फ़ तोड़ना।" *साखी* में जेल को विषय बनाकर लिखी गई कविता है 'आख़िरी क़ैदी'। इस क़ैदी की किस्मत भी वैसी ही है : "तुम कभी भी / यह नक़्शा नहीं तैयार कर सकोगे / जो इस सारे तिलिस्म की कुंजी है।" इस तरह यह कोई रूमानी विद्रोही नहीं है, जो फूँक मारकर पहाड़ उड़ा देने की वाचालपूर्ण घोषणाएँ करता है। इस कैदी के साथ साही की दुखद यादें भी जुड़ी हुई हैं, उन दिनों की, जब राजनीति में

गहमागहमी थी और सोशलिस्ट पार्टी राष्ट्रीय स्तर पर एक शक्ति के रूप में उभरकर सामने आई थी। अब माहौल बदल चुका है :

इतिहास जिनके बीच से होकर तुम आए थे
सुनसान हैं
क्योंकि उनकी आबादियाँ
तितर-बितर हो गईं
और इस सारे माहौल पर
कुछ इस तरह का आसेब छाता जा रहा है
जो वजूद से मिटनेवाले जानवरों पर छाता जाता है

लेकिन क्या जिस क़ैदी को संबोधित कर ये बातें कही गई हैं, उस पर भी इस माहौल का असर है ? जेल के सारे क़ैदी ख़रीदे जा चुके हैं, वे समझौते करके मुक्त हो चुके हैं, साही के इस काव्य-नायक की ख़ामोशी के टूटने का भी इन्तज़ार किया जा रहा है, लेकिन यह बिकनेवाला नहीं है, क्योंकि उसकी बेज़बान आँखों में वह काला प्रकाश है, जो अभी भी उनमें सन्निपात की तरह जल रहा है ! ताज्जुब नहीं कि एक कविता में साही एक कवि की हैसियत से अत्यंत दृढ़ शब्दों में शासक वर्ग से कहते हैं :

तुम्हारे गुमाश्तों ने बढ़-बढ़कर बोलियाँ बोलीं
और सारे बाज़ार को ख़रीद लिया
मैं निहत्था आगे बढ़ा
और अपने को मुफ़्त लुटा दिया,
हम दोनों ही इसी शताब्दी की उपज हैं
तुम जितनी बार
आदमी की क़ीमत लगाते हो
मैं उतनी ही बार
अपने को मुफ़्त लुटा देता हूँ
देखूँ पहले कौन दीवालिया होता है ?

जिस तरह एकाधिकारी पूँजीवाद इस शताब्दी की उपज है, उसी तरह उसके प्रतिरोध में उठती हुई शक्ति भी, जिसकी अपराजेयता में साही को रत्ती-भर भी संदेह नहीं है।

*साखी* के स्वर की 'साधारणता' के मेल में ही इसमें कुछ ऐसी कविताएँ हैं, जिनमें कवि ने अपना प्रकाश इधर-उधर फेंकते हुए भी 'साधारण जन' पर केंद्रित किया है। *मछलीघर* की एक कविता में उसने सिर्फ़ इतना पूछा था कि "कल लाक्षागृह के भीतर जो शव पड़े मिले / वे किसके थे ?" *साखी* की कई कविताओं में उसनें उस साधारण जन को चित्रित किया है। बेनाम तकलीफ़ोंवाला बूढ़ा माली, जो अपनी चलती

कैंची के चारों ओर खामखाह मँडराती रहनेवाली बदतमीज़ तितलियों से उलझता रहता है, तो साधारण जन है ही, वे लोग भी साधारण जन ही हैं, जो गाड़ी आने के बाद सपाट और मुर्दा शक्लें लिए पहले तो आग की तरह इधर-उधर दौड़ते हैं, फिर निढाल और गुमसुम सफ़र के लिए बैठ जाते हैं। बूढ़े माली की तकलीफ़ों को इस कविता में भी नाम नहीं दिया गया है, क्योंकि उसके बिना ही कविता सारा कुछ बोल देती है और सारा भेद खोल देती है। गाड़ी पकड़नेवाले लोगों के बारे में 'अँधेरे मुसाफ़िरखाने में' कविता में कवि ने कहा है : 'कहाँ चले जाते हैं लोग / थोड़ी देर के लिए / आदिम पीड़ाओं की झलक दिखलाकर / थोड़ी देर के लिए / आदिम वैराग्य की ख़ुश्बू छोड़कर ?'' 'आदिम' विशेषण की हिन्दी कविता के एक दौर में बड़ी फ़जीहत हुई है। साही ने उद्धृत पंक्तियों में अत्यधिक सार्थक रूप में इसका प्रयोग किया है। साधारण जनों की पीड़ाएँ आज नहीं, आदिकाल जैसी हैं, जब आदमी बहुत ही साधनहीन और विपद्ग्रस्त था। इससे उन पीड़ाओं की गहराई का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है। इसी तरह साधारण जनों में अपनी स्थिति के प्रति जो निर्विकारता है, वह भी आदिकाल—जैसी ही है। पिछले चार हज़ार वर्षों की मानव-सभ्यता के विकास ने उन्हें जैसे कुछ नहीं दिया। 'वैराग्य' शब्द में दोतरफ़ा धार है। वह विपयी पर भी वार करती है और विषय पर भी। 'ख़ुश्बू' इसलिए कि वह वैराग्य स्पृहणीय भी है। लेकिन एक जगह जो स्पृहणीय है, दूसरी जगह कितना घातक। इस तरह इस उक्ति में व्यंग्य के साथ अर्थ की कई छायाएँ लिपटी हैं। 'पहाड़ियाँ, जंगल और एक आदमी' का आदमी भी साधारण जन है, जो सभ्यता के विकास से बिलकुल बाहर है। कहना चाहिए, वह सभ्यता-बहिष्कृत साधारण जनों का प्रतिनिधि है। 'हवा महल' के साधारण जन को पहचानना भी बहुत आसान है, जो भवन-निर्माण के क्रम में सबसे अंत में आता है। भवन से उसका कोई सरोकार नहीं, फिर भी—

धीरे-धीरे
एक ठोस पत्थर
उसके सर पर रख दिया जाता है
और वह बेवकूफ़ की तरह
इस पत्थर को दोनों हाथों से पकड़े हुए
नीचे से ऊपर की ओर चढ़ने लगता है।

*मछलीघर* की तरह ही *साखी* में भी अप्रत्याशित विषयों पर लिखी गई कुछ कविताएँ हैं। लेकिन प्रायः ये सारी की सारी कविताएँ व्यक्तिचित्र हैं। इनमें बार-बार एक व्यक्ति आता है, जो कवि का मित्र रहा है। उससे सम्बन्धित प्रसंगों के चित्रण से कविताएँ निहायत व्यक्तिगत मालूम पड़ती हैं, और वह व्यक्ति बिल्कुल ख़ास,

लेकिन सचाई यह है कि वह मध्यवर्गीय विवशताओं अथवा मनोवृत्ति का शिकार साधारण जन ही है। *मछलीघर* की अप्रत्याशित विषयों वाली व्यक्तिमूलक कविताओं से *साखी* की इन कविताओं का यह फ़र्क़ ध्यान में रखने लायक़ है। 'शाम के वक़्त रुद्ध अवस्थाओंवाला आदमी' मध्यवर्ग का ही तो सदस्य है, जिसके बारे में कवि कहता है : "...मैं कल्पना कर सकता हूँ / कि उसकी आज की तमाम ज़िन्दगी / और होठों की हल्की थरथराहट के पीछे / इस क़िस्म की बहुतेरी रुद्ध अवस्थाएँ होंगी / जब वह कुछ बोल नहीं सका होगा।" 'वह, तुम और मैं' का अन्यपुरुष भी मध्यवर्गीय मनोविज्ञान का ही शिकार है, जो अपने मित्रों के साथ हुए पुराने झगड़े की जड़ ढूँढ़ने और उसमें अपने पक्ष को सही ठहराने में ही बूढ़ा हो गया है ! 'औरेबी हमसफ़र' अपनी बेनकाब आँखों से कवि पर अपनी यह मध्यवर्गीय विवशता जतलाता है : "सचमुच मुझे बड़ा रश्क होता है / तुम्हारी आसानियों को देखकर / देखो न, मेरे कन्धे पर न जाने यह कैसा जुआ / डाल दिया गया है / कि मैं वक्र चलने के लिए मजबूर हूँ।" 'राघव की तलाश में एक पीड़ित नगर में पाँच दिन' का चरित्र राघव कवि को जायसी के *पद्मावत* से प्राप्त हुआ है। यह राघव वस्तुतः राघवचेतन है, जो पहले रतनसेन का सहायक था लेकिन आज वह बात भूलकर उससे उदासीन है। वह वस्तुतः उस समय भी दुष्ट था, जब उसने सिंहलद्वीप का गढ़ घेरा था। आज जबकि उसकी असलियत ज़ाहिर हो चुकी है, उससे सहायता की उम्मीद बेकार है। इस कविता में राघव कवि का ऐसा मित्र है, जिसे समाज और देश पर आए ख़तरे को टालने की क़तई चिन्ता नहीं है। कवि पाँच दिन अपने उस मित्र का पीछा करता है, उसे पिछले सहयोग की याद दिलाता है, लेकिन फल कुछ नहीं निकलता। यह कविता संभवतः राष्ट्रीय आपातकाल की पृष्ठभूमि में लिखी गई है और अपने मित्र से कवि को यह आशा रही है कि वह पहले की तरह इस बार भी उसका साथ देगा, यानी आपातकाल का विरोध करेगा, लेकिन उसकी आशा पूरी नहीं होती। यह राघव मध्यवर्गीय चरित्र नहीं है, तो क्या है ?

साही के प्रथम और द्वितीय कविता-संग्रह के काव्य-संसार में जो फ़र्क़ आया है, उसे दूसरे आलोचकों ने भी लक्ष्य किया है। प्रथम कविता-संग्रह में प्रेम और सौन्दर्य की अनेक कविताएँ थीं, भले वे उसकी लम्बी कविताओं के मुक़ाबले में न टिकनेवाली हों। द्वितीय कविता-संग्रह में उस सौन्दर्य-लोक की स्मृति-भर रह गई है, क्योंकि जीवन की कठोर वास्तविकता ने उसे छिन्न-भिन्न कर दिया है। 'फ़ानूस और हिरन' शीर्षक एक बेहद ख़ूबसूरत कविता में साही पूछते हैं : "क्या यह वही कमरा है / जहाँ मैंने सुनी थी / खिड़की के शीशे पर गिरती हुई / बूँदों की आवाज़ ? या महसूस / किया था / मेहराबों के पीछे किसी का होना ? / फ़ानूस के बिल्लौर का छिपना ? / या फ़ानूस का हिरन की गरदन पर / रोशनी फेंकना ?" ज़ाहिर है कि स्थिति बदल

चुकी है। "इस सब पर सोचते हुए / हल्की-सी झनझनाहट होती है। / शरीर में। लेकिन उसके आगे कुछ नहीं।" सुवर्णरेखा के प्रपात में पत्थर फेंककर कभी कवि ने महसूस किया था कि "यहाँ, यहाँ, अभी मैंने हमेशा के लिए / कुछ जोड़ दिया है", लेकिन बदली हुई स्थिति में वह कहता है : "शायद कोई अर्थ नहीं होता / पानी में कुछ भी डुबो देने का। / देखो, मैं कॉफ़ी के प्याले में सिक्का डुबोता हूँ / कोई अर्थ नहीं पैदा होता।" पहले का सुवर्णरेखा का प्रपात अब कॉफ़ी का प्याला हो गया है और उसमें शान्त चक्राकार नीचे जाता हुआ पत्थर का टुकड़ा कॉफ़ी के प्याले में डुबोया जानेवाला सिक्का।

लेकिन साही मोहभंग के कवि नहीं हैं, सिनिसिज़्म की तो बात ही छोड़ दें। उनका यथार्थ-बोध निरंतर परिपक्व होता गया है और उसी के अनुपात में उनकी अभिव्यक्ति में एक 'सीधापन' आता गया है। मुक्तिबोध की तरह उन्होंने अपने सृजनकर्म से कविता की परिभाषा नहीं बदली, जिससे उनकी कविताओं को जाँचने या जानने के लिए किसी सर्वथा नए प्रतिमान की आवश्यकता महसूस नहीं होती, लेकिन यह सही है कि उन्होंने नई कविता के भीतर जो अस्तित्ववाद-विरोधी धारा थी, व्यापक अर्थ में जनता से प्रतिबद्ध, उसे बल प्रदान किया। यह खेद की बात है कि *मछलीघर* जैसा श्रेष्ठ कविता-संग्रह हिन्दी में बहुत कुछ उपेक्षित रह गया और *साखी* के प्रकाशन के बाद भी साही के कविरूप का सही मूल्यांकन अभी तक नहीं हुआ। आस्था उनकी दिए की उस लौ की तरह थी, जिसे हवा के झोंके कँपा तो देते थे, लेकिन बुझा नहीं पाते थे। 'समसामयिकता' वाले अपने लेख के अन्त में उन्होंने कहा था : "समसामयिक विचारक एवं कलाकार अन्धकार से घिरा हुआ होता है, लेकिन साहस से परिपूर्ण; अनिश्चयशीलता में विवश होता है, किन्तु प्रयास में अपराजित; उत्तरहीन प्रश्नों से ग्रस्त होता है, किन्तु झूठे उत्तरों का प्रतिरोधी; सांप्रतिक सत्य से सीमित होता है, किन्तु आडंबर का विरोधी; त्रास और दुख का अस्तित्व स्वीकार करता है, किन्तु स्वतंत्रता का सैनिक होता है। उसका विवेक उसकी आस्था है, उसका संशय उसकी ईमानदारी है; उसका साहस उसके व्यक्तित्व की पूर्णता है और उसकी लघुता उसकी सार्थकता है।" ये बातें स्वयं साही की कविता पर जितनी लागू हैं, उतनी नई कविता के किसी अन्य कवि की कविता पर नहीं।

---

नन्दकिशोर नवल

# कुँवर नारायण की कविता

कुँवर नारायण ने 'तीसरा सप्तक' के अपने वक्तव्य में यह बात ख़ास तौर से कही है कि साहित्य जब जीवन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध तोड़कर 'वादग्रस्त' होने लगता है, तभी उसके स्वाभाविक विकास में बाधा पड़ती है उनका स्पष्ट संकेत पिछली प्रगतिवादी कविता की तरफ़ है। उन्होंने वहाँ यह भी कहा है कि जीवन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध का मतलब सिर्फ़ अनुभव नहीं, बल्कि वह अनुभूति और मनन-शक्ति भी है, जो अनुभव के प्रति विचारपूर्ण प्रतिक्रिया कर सके। कोई अनुभव सार्थक तभी माना जाएगा, जब वह किसी महत्त्वपूर्ण परिणाम में प्रतिफलित हो, जो कि उनके अनुसार बिना एक 'वैज्ञानिक दृष्टिकोण' के सम्भव नहीं है। 'वैज्ञानिक दृष्टिकोण' एक भ्रमोत्पादक शब्द है। भ्रम की कोई गुंजाइश न रह जाय, इसलिए आगे उन्होंने यह कहना ज़रूरी समझा है कि जब वे वैज्ञानिक दृष्टिकोण की बात करते हैं तो उनका अभिप्राय उन सिद्धान्तों या मतों से उतना नहीं होता, जिन्हें मार्क्स, फ्रायड, आइंस्टाइन, न्यूटन या डार्विन स्थापित कर गए हैं, बल्कि उस 'बौद्धिक स्वतन्त्रता' से होता है, जो सदा से जीवन के प्रति निडर और अन्वेषी प्रश्न उठाती रही है। ज़ाहिर है, उनका ज़ोर 'दृष्टिकोण' पर जितना नहीं है, उससे अधिक वैज्ञानिक अथवा बौद्धिकता पर है।

कुँवर नारायण की बौद्धिकता अस्तित्ववादी है, भले वह उनमें भारतीय दार्शनिक रूप लेकर प्रकट हुई। अस्तित्ववाद के प्रचार-प्रसार के काल में अस्तित्व सम्बन्धी भारतीय दर्शन के प्रश्नों का महत्त्वपूर्ण हो उठना कुछ मानी रखता है। 'तीसरा सप्तक' के वक्तव्य में ही उन्होंने अस्तित्व की दो बुनियादी परिस्थितियों का ज़िक्र किया है—एक व्यक्ति और अज्ञात तथा दूसरा व्यक्ति और उसका सामाजिक वातावरण। उनके अनुसार अस्तित्व की आस्था सम्बन्धी समस्याएँ मूलतः अस्तित्व की भयानक शून्यता से उपजती हैं। फ्रांसीसी दार्शनिक पास्कल के कुछ विचारों में, जिनका सम्बन्ध इस विश्व में मनुष्य के स्थान से है, धार्मिक अस्तित्ववाद का पूर्वाभास पाया गया है। कुँवर नारायण ने उनके इस प्रसिद्ध कथन को कि अनन्त विस्तार का अटूट मौन मुझे भयभीत करता है उस मूल वेदना का आरम्भ कहाँ है, जहाँ मनुष्य अपने

को मृत्यु की निश्चित और बाद की अनिश्चित सम्भावनाओं के बीच बिल्कुल अकेला पाता है, जहाँ वह अपने अल्प और असार जीवन को आने वाले महाशून्य के सन्तुलन में विचारता है, जहाँ 'मैं क्या हूँ ? मैं क्यों हूँ ?' का चिर असन्तुष्ट प्रश्न जीवन की हर आस्था को रौंदता रहता है। इस तरह वे व्यक्ति और अज्ञात के प्रश्न को उस बिन्दु तक खींचने के पक्ष में नहीं, जहाँ पहुँचकर मनुष्य जीवन से ही विमुख हो जाता है। लेकिन अस्तित्व अथवा मृत्यु का प्रश्न उन्हें परेशान करता रहता है और अन्ततः अपने *आत्मजयी* नामक काव्य में वे उसे ज़ोर-शोर से उठाते हैं। इसकी भूमिका में उन्होंने पुनः पास्कल के उक्त कथन को उद्धृत किया है और कहा है कि उसमें संकेतित 'भय' आधुनिक अस्तित्ववादी दर्शन के मूल आधारों में से है। उनके अनुसार इस 'भय' का परिणाम निराशावादी ही होगा, ऐसा मानना भारतीय दर्शन के एक महत्त्वपूर्ण स्थिति-निरूपण को ही ग़लत समझना होगा। अस्तित्व की जो दूसरी बुनियादी परिस्थिति है, व्यक्ति और उसका सामाजिक वातावरण, उसके बारे में भी वे सन्तुलनवादी दृष्टि का ही परिचय देते हैं। वे उस वस्तुवाद के समर्थक नहीं, जो परोक्ष के प्रति सर्वथा निरपेक्ष रहकर सामाजिक यथार्थ को ही संपूर्ण सत्य मानकर चलता है, व्यक्ति की सामाजिक उपयोगिता को ही उसके जीवन की चरम सार्थकता के रूप में स्वीकार करता है और जीवन के प्रत्यक्ष मूल्यों के आगे किसी अतिभौतिक रहस्य को कोई महत्त्व नहीं देता। निष्कर्ष यह कि "मेरी कविताओं में उपर्युक्त दोनों ही पक्षों से जीवन की यथा उसकी सांस्कृतिक, धार्मिक, नैतिक आदि संचित और सम्भावित मान्यताओं की विवेचना मिलेगी।"

उक्त संतुलनवाद निश्चय ही प्रगतिवाद की प्रतिक्रिया है। *परिवेश : हम-तुम* की भूमिका से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है, जिसमें कुँवर नारायण ने कहा है कि मानवीय मूल्यों की रक्षा के लिए कुछ सामाजिक नियमों को मानना अनिवार्य हो जाता है, लेकिन ये नियम, चाहे समाज के हों, चाहे राज्य के, इस सीमा तक मान्य नहीं हो सकते कि व्यक्ति की उचित स्वतंत्रता में बाधक हो जाये।' व्यक्ति-स्वातन्त्र्य उनके लिए सर्वोच्च मूल्य है। "हमें अपना संसार जीने और बनाने के लिए एक समाज में कितनी सुविधाएँ हैं, यह इस पर आश्रित नहीं होना चाहिए कि हम उसे कितना छोटा कर ले सकते हैं, बल्कि इस पर कि वह समाज व्यक्ति को कितनी स्वतन्त्रता दे सकता है; उदार, सहिष्णु और शिक्षित समाज का अर्थ ही यह है कि व्यक्ति पर कम-से-कम प्रतिबन्धों की आवश्यकता पड़े और श्रेष्ठतम व्यक्ति-विभूतियाँ उस समाज में अपने को बाहरी अनुभव न करें। व्यक्तित्व को दबाकर समाज को समृद्ध नहीं किया जा सकता।" सैद्धांतिक रूप से ये बातें प्रायः ठीक हैं पर इनसे कुँवर नारायण का व्यक्तिवादी रुझान भी स्पष्ट है।

कुँवर नारायण की चार कविता-पुस्तकें प्रकाशित हैं : *चक्रव्यूह, परिवेश :*

*हम-तुम, आत्मजयी* और *अपने सामने*। विचित्र बात है कि इन चारों ही पुस्तकों में उन्होंने अस्तित्व की दोनों बुनियादी समस्याओं को बारी-बारी से कविता का विषय बनाया है और इस तरह सन्तुलन बनाये रखने की कोशिश की है। *चक्रव्यूह* में यदि 'अंतर्जगत्' से सम्बन्धित रचनाएँ संगृहीत हैं, तो *परिवेश: हम-तुम* में 'बाह्य जगत्' से। उनके अनुसार इस क्रम में कोई यांत्रिकता नहीं है, बल्कि इन दोनों कविता-संग्रहों में चूँकि कविताओं का चयन एक ख़ास दृष्टि से किया गया है, इसलिए इसमें एक क्रम स्थापित हो गया है। इन दोनों संग्रहों की तरह ही 'आत्मजयी' में एक गहन दार्शनिक प्रश्न उठाया गया है, तो 'अपने सामने' की कविताओं में सामाजिक यथार्थ को चित्रित किया गया है। अन्तर्जगत् और बाह्य जगत्, कुँवर नारायण के अनुसार, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। *परिवेश: हम-तुम* की भूमिका में उनके शब्द हैं : "हम सब दो तरह के संसारों में रहते हैं, एक तो वह जो हममें से हर एक अपने लिए बनाता है, दूसरा वह जो हम सब मिलकर एक-दूसरे के लिए बनाते हैं। 'मैं' जिस संसार का आरम्भ है 'हम' उस संसार का अन्त नहीं—दूसरा रूप है। दोनों ही यथार्थ हैं और एक-दूसरे पर निर्भर हैं, या दोनों ही यथार्थ नहीं और एक-दूसरे के लिए मिथ्या हैं। यहाँ सिर्फ़ यह जिज्ञासा की जा सकती है कि जब ये दोनों ही संसार एक दूसरे से इतने घनिष्ठ हैं, तो उनकी कविता में ये दोनों इतने अलग-अलग क्यों दिखलाई पड़ते हैं ?

*चक्रव्यूह* कुँवर नारायण का पहला कविता-संग्रह है। इसमें कविताएँ ही कविताएँ हैं, कवि ने उनके बारे में अलग से गद्य में कुछ नहीं कहा। यह काम उसने *परिवेश : हम-तुम* की भूमिका में किया है, जिसमें उसने *चक्रव्यूह* की अधिकांश कविताओं में आत्ममन्थन की स्थिति मानी है। यह आत्ममन्थन क्यों ? इसलिए कि कवि का विश्वास है कि बाहरी जीवन की खोज से पहले आंतरिक जीवन की खोज आवश्यक है। कहना व्यर्थ है कि यह मान्यता अस्तित्ववाद के काफ़ी निकट है, जिसके अनुसार मनुष्य जो कुछ होता है, स्वयं द्वारा निर्मित होता है, अपनी परिस्थितियों द्वारा नहीं। कुँवर नारायण कहते हैं : "मन आंतरिक स्तर पर पहले उस व्यवस्था और सामंजस्य को पा ले जहाँ बाहरी जीवन के विरोध और अनास्था उसे छिन्न-भिन्न न कर सकें : तभी जीवन को कोई महत्त्वपूर्ण अर्थ दे सकना सम्भव होगा।" यहाँ बाहरी जीवन के विरोध और अनास्था से अलग रहकर आंतरिक स्तर पर अटूट व्यवस्था और अखण्ड सामंजस्य को पाने की बात है। यह वैसा ही है, जैसा पानी में तैरने के पहले तैरने की कला में पारंगत होना ! वे और भी कहते हैं : *चक्रव्यूह* मेरे लिए एक मानसिक यात्रा रहा है—एक भटका हुआ सौन्दर्य-बोध जो जीवन को टटोलता है, स्वीकृत होने के लिए। एक सहानुभूतिपूर्ण स्पर्श के लिए भीतर की प्रकृति बाह्य प्रकृति से ऐसा सम्बन्ध खोजती है जिसका आधार

सौन्दर्य हो, जिसका माध्यम मनुष्य हो और जिसकी उपलब्धि शान्ति हो।" इस तरह मानव-जीवन, सौन्दर्य और शान्ति, कवि के अनुसार, वे मूल्य हैं, जिन्हें उसने '*चक्रव्यूह*' की कविताओं में प्राप्त करना चाहा है।

अस्तित्ववादियों के अनुसार जीवन एक प्रवाह के समान है, लेकिन उसमें महत्त्व वर्तमान का ही है, विशेषतः उसके तात्कालिक क्षणों का। *चक्रव्यूह* की एक कविता में कुँवर नारायण कहते हैं कि 'जीवन का पूर्ण अर्थ / कण-कण में बँटा हुआ / अन्तहीन भाषा ज्यों / थोड़े से / शब्दों में।' तात्कालिक क्षणों में से भी सारे क्षण नहीं, बल्कि विशिष्ट क्षण ही ऐसे होते हैं, जो जीवन के क्षण कहे जा सकते हैं, ऐसा क्षण व्यक्ति के जीवन को जीता हुआ होता है, या फिर संकटग्रस्त होता है। स्वभावतः ये क्षण प्यार के क्षण होते हैं, या फिर मृत्यु की अनुभूति के क्षण। प्यार के क्षण : 'वासना की घोर अन्धी तहों में / अनुभूतियों के सत्य / अपने में छिपाए वे अलौकिक तथ्य / जो ऐहिक सुखों के तीव्रतम क्षण में / समाहित हो अचानक / चौंक पड़ते किन्हीं सपनों से उझक।' इसी तरह मृत्यु की अनुभूति के क्षणों में ही कवि को अस्तित्व-बोध हुआ है : 'यह महासंग्राम / युग-युग से चला आता महाभारत / हज़ारों युद्ध, उपदेशों, उपाख्यानों, कथाओं में / छिपा वह पृष्ठ मेरा है / जहाँ सदियों पुराना व्यूह, जो दुर्भेद्य था टूटा / जहाँ अभिमन्यु कोई भयों के आतंक से छूटा : / जहाँ उसने विजय के चंद घातक पलों में जाना / कि छल के लिए व्यूह-रक्षक वीर कायर हैं, / —जिन्होंने पक्ष अपना सत्य से ज़्यादा बड़ा माना—/ जहाँ तक पहुँच उसने मृत्यु के निष्पक्ष / समयातीत घेरे में / घिरे अस्तित्व का हर पक्ष पहचाना।'

ऊपर कुँवर नारायण की बौद्धिकता को अस्तित्ववादी कहा गया है। 'रूप-सागर कब किसी की चाह से मैले हुए ? / ये सुवासित केश मेरी बाँह पर फैले हुए !' धर्मवीर भारती वाली छिछली भावुकता से होड़ करने वाले ऐसे अपवादों को छोड़ दें, तो *चक्रव्यूह* की कविताओं में आम तौर पर एक बौद्धिक कठोरता है, लेकिन चूँकि यह बौद्धिक कठोरता किसी 'वैज्ञानिकता' का परिणाम न होकर अस्तित्ववादी दार्शनिकता का परिणाम है, इसलिए मूलतः वह अबौद्धिक है। कुँवर नारायण की अन्तर्दृष्टि में यह स्पष्ट है। उनकी ईश्वरीय अनुभूति उनके अन्तर्दृष्टिवाद की ही देन है : 'एक शून्य है / मेरे और अज्ञात के बीच, / जो ईश्वर से भर जाता है।' उनमें एक 'विकसित व्यक्ति' की कल्पना है, जो देवता के रूप में दूसरे मनुष्यों से केवल पूजा पाने का हक़दार है। इसकी विशेषता क्या है ? 'आँक लेगा वह पनपकर / विश्व का विस्तार अपनी अस्मिता में, / सिर्फ़ उसकी बुद्धि को हर दासता से मुक्त रहने दो।' इस व्यक्ति की दूसरी विशेषता यह है कि वह अकेला है और वह अपना युद्ध आप लड़ता है : 'कौन कब तक बन सकेगा कवच मेरा ? / युद्ध

मेरा, मुझे लड़ना / इस महाजीवन समर में अन्त तक कटिबद्ध।' यह प्यार, सौन्दर्य और ईश्वरीय शान्ति से बना मानवीय व्यक्तित्व है, जो स्पष्टतः प्रगतिवादी प्रतीक-पुरुष से भिन्न है।

*चक्रव्यूह* की कविताएँ प्रारंभिक हैं, जिनमें कवि की अभिव्यक्ति अपना आकार प्राप्त करने के लिए छटपटा रही है। जैसी आकुलता उसमें वैचारिक स्तर पर है, वैसी ही सम्प्रेषण के स्तर पर भी। जहाँ उसे सम्प्रेषण में सफलता मिली है, उसकी अभिव्यक्ति नई आभा से दमक उठी है। निश्चय ही कुँवर नारायण का स्वर शुरू से ही कविता में गम्भीर रहा है और उसकी लय में एक ऐसी मन्थरता रही है, जो पाठकों की चेतना को गहराई में प्रभावित करती है। दार्शनिक वितंडा को लिए हुए या उसे छोड़कर वे जब कभी काव्य-रचना में सफल हुए हैं, उन्होंने हिन्दी कविता में सृजनात्मकता के एक नए स्तर का उद्घाटन किया है। यहाँ यह कह देना भी आवश्यक है कि उनके लहजे पर यत्र-तत्र नई कविता के लोकप्रिय कवि अज्ञेय का प्रभाव भी दिखाई पड़ता है, जैसे 'एक बामन किरण बढ़कर छा गई आक्षितिज, / तीनों लोक पग से नापकर'—जैसी उक्तियों में। इस प्रभाव से छुटकारा पाना भी उनके सृजनात्मक संघर्ष का एक पक्ष रहा है।

*चक्रव्यूह* और *परिवेश: हम-तुम* के प्रकाशन के बीच कुँवर नारायण की कुछ कविताएँ 'तीसरा सप्तक' में संकलित हुई हैं। ये कविताएँ कई तरह की हैं—'ऐहिक सिलसिलों से दूर रहने वाली अकेली-सी उदासी' की भी और लिजलिजे रूमानीपन की भी। एक कविता में उन्होंने यह भी कहा है कि 'अंदर से बाहर आ सदियों की कुण्ठाएँ / बहुत बड़े जीवन की हलचल से मिल जायें', लेकिन दूसरी कविता में 'अजन्मे सूक्ष्म के अति पास, / अपनी मृत्यु से आगे' जाने की भी बात है। *परिवेश: हम-तुम* संग्रह के नाम से ही संकेतित है कि प्रेमी-प्रेमिका सामाजिक परिवेश की ओर उन्मुख हैं। स्वभावतः इसमें संकलित प्यार की कविताएँ ठोस प्यार की कविताएँ हैं, जो कल्पना या दार्शनिक चिन्तन से न उत्पन्न होकर एक समाज में रहने वाले व्यक्ति के मन में उत्पन्न हुआ है। कुँवर नारायण ने कहा भी है कि इस संग्रह की कविताओं में बाहरी जीवन को स्नेह और समझदारी से छूने का प्रयत्न किया गया है और इसकी अधिकांश कविताओं में जीवन के प्रति सहज स्वीकृति का भाव है। 'तुमने देखा, / कि हँसती बहारों ने ? तुमने देखा, / कि लाखों सितारों ने ?' और 'तुम्हारे हँसने पर फूल-से झड़ते हैं, / बाद में याद में काँटे-से गड़ते हैं !'—जैसी प्यार की कविताओं से इसकी पुष्टि होती है इन कविताओं में प्यार की अनेक स्वाभाविक स्थितियों का वर्णन हुआ है, यथार्थपरक ढंग से, जिससे ये प्यार की छायावादी कविताओं से भिन्न एक नये स्वाद और गन्ध से भर उठी हैं। प्रेम और प्रकृति बहुत कुछ सम्बद्ध हैं इससे कवि का ध्यान प्रकृति के सौन्दर्य पर भी गया है और उसने इस संग्रह की कई

कविताओं में उसके अछूते चित्र अंकित किए हैं। नमूने के तौर पर ये कुछ चित्र देखे जा सकते हैं : / संपुटित पंखुड़ियाँ—/ हवा में ज्यों उठी निर्भीक बँधी मुट्ठियाँ (सिद्धि) / सैंकड़ों रंगों में एक साथ कहकहाते हुए / फूलों का लड़कपन / (आज इनके स्कूल में छुट्टी है शायद) / (एक मूड) उस लकड़ी के टूटे पुल पर / इस तरह पड़ रही धूप-छाँह / जैसे कोई प्यासा चीता / झरने में अगले पंजे रख पानी पीता। / (लकड़ी का टूटा पुल) / और चाँद / जैसे खुले मैदान में एक डरा हुआ जंगली ख़रगोश / (रात को नदी के किनारे वाली सड़क पर) मानव सौन्दर्य के साथ प्रकृति-सौन्दर्य की एक पूरी दुनिया कवि की आँखों के सामने अनावृत हो उठी है, लेकिन यह सही है कि सामाजिक यथार्थ से उसका साक्षात्कार अभी तक नहीं हुआ। 'मैं मनुष्य-मात्र...' शीर्षक कविता में उसने अपनी मिथकीय दुनिया के ध्वस्त होने की बात कही है, लेकिन यथार्थ की 'दशानन बर्बरता' का प्रामाणिक चित्रण इस संग्रह की कविताओं में वह नहीं कर सका है। कुछ कविताओं में यथार्थ की 'हलाहल पीड़ा' का ज़िक्र है, आधुनिक मनुष्य की विवशता और भय का भी, लेकिन वह विशेष प्रभावशाली नहीं है, क्योंकि उसमें कवि का अनुभव नहीं बोलता। यही अनुभव मुक्तिबोध की सामाजिक यथार्थ का चित्रण करने वाली कविताओं को विशिष्ट बनाता है और इसी के अभाव में अन्य अधिकांश कवियों की कविताएँ प्रायः एक प्रचलित शैली की सामान्य कविताएँ बनकर रह जाती हैं। कुँवर नारायण की काव्य-भाषा निश्चय ही इस संग्रह की कविताओं में आकर साफ़ हुई है, जैसे कोहरे के भीतर से दृश्य उभरने लगे हों। उसमें एक सधाव भी दिखलाई पड़ता है, यद्यपि उस पर अज्ञेय-भारती का असर भी अभी बना हुआ है। 'उर्वरा धरती समर्पित' और 'छू गया बसन्त की बयार का महक-दुकूल'—जैसी पंक्तियों पर अज्ञेय की छाप स्पष्ट है और 'बादल के पाल तान, दिन के व्यापार बाद, जाता था दूर देश / लाखों का माल लाद' ('सूर्यास्त')—जैसी पंक्तियों पर भारती की छाप, वर्णन-शैली और वर्ण्य वस्तु दोनों ही दृष्टियों से।

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, *आत्मजयी* कुँवर नारायण की एक दार्शनिक कृति है। इसकी भूमिका में उन्होंने अस्तित्ववाद से अपना अलगाव सूचित किया है। लिखा है कि मृत्यु के चिन्तन से जीवन के प्रति निराशा ही पैदा हो, यह आवश्यक नहीं। उससे कोई नितान्त मौलिक दृष्टिकोण भी जन्म पा सकता है। मृत्यु की गहरी अनुभूति ने जीवन को असमर्थ कर दिया हो, इससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण ऐसे उदाहरण मिलेंगे, जहाँ चिन्तक की दृष्टि कुछ इस तरह पैनी हो गई कि वह जीवन को मृत्यु से भी अधिक शक्तिशाली कोई असाधारण निधि दे गया। यहाँ सिर्फ़ इतना उल्लेख करना काफ़ी है कि अस्तित्ववाद अनिवार्यतः निराशावादी दर्शन नहीं हैं। सार्त्र ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता का सम्बन्ध उत्तरदायित्व से जोड़ा था और अस्तित्ववाद को इस युग का मानववाद कहा था। यास्पर्स का सिद्धांत था

कि एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता दूसरे व्यक्तियों की स्वतन्त्रता की अपेक्षा रखती है। स्वतन्त्र व्यक्ति स्वभावतः यही चाहेगा कि दूसरे भी वही हों। उसके अनुसार स्वतन्त्रता में व्यक्ति 'मैं' हो जाता है और दूसरे के आगे अपने को उद्घाटित करते हुए उससे भी उसके 'मैं' तक ले जाता है।

*आत्मजयी* में कुँवर नारायण ने नचिकेता की औपनिषदिक कथा को आधार बनाकर उसके मृत्यु-चिन्तन के माध्यम से जीवन के किसी बृहत्तर अर्थ को खोजने की कोशिश की है। इस पुस्तक के प्रकाशन के कुछ ही दिनों बाद श्रीकान्त वर्मा ने इलाहाबाद की 'विवेचना' गोष्ठी में उस पर निबन्ध-पाठ किया था। उसमें उन्होंने *आत्मजयी* को न केवल अस्तित्ववाद से प्रभावित बतलाया था, बल्कि अस्तित्ववाद और भारतीय दर्शन के मूलभूत अन्तर को भी स्पष्ट कर दिया था : "अपने लिए अर्थ खोजने की चिन्ता स्पष्ट अस्तित्ववादी चिन्ता है। अपने लिए प्राप्त अर्थ ही मनुष्य को काठ का एक टुकड़ा मात्र होने से बचाता है। पहले अपने होने का एहसास और उसके बाद अपने लिए अर्थ प्राप्त करने का आत्मसंघर्ष स्वयं पश्चिम के चिन्तन में एक क्रान्तिकारी धारणा थी। एक प्रकार से यह व्यावहारिक दर्शन था—दो महायुद्धों के बीच भटकी हुई मनुष्यता के लिए एक संयत जीवन-दृष्टि। लेकिन यह आत्मबोध हिन्दू दर्शन के आत्मबोध से बिलकुल अलग है। हिन्दू दर्शन का आत्मबोध वस्तुतः परमात्म-बोध है—परमात्म-बोध ही प्रयोजन, उसका अर्थ और उसकी निष्पत्ति है। अस्तित्ववाद आत्मबोध केवल आत्म-बोध है।" इतना ही नहीं, उन्होंने स्पष्ट शब्दों में यह भी कहा था कि *आत्मजयी* में कुँवर नारायण ने अस्तित्व-सम्बन्धी जो प्रश्न उठाए हैं, उसकी संगति हिन्दू दर्शन से नहीं बैठती। इसीलिए हिन्दू प्रतिभा की उपज नचिकेता के उनके द्वारा निरूपित चरित्र में शुरू से ही एक विसंगति रही है। निबन्ध-पाठ के बाद होने वाले विचार-विमर्श का समापन उन्होंने इन शब्दों में किया था कि "मूल्यों के युग का चरित्र मूल्यहीनता के युग का प्रतीक नहीं बन सकता।" कहने की आवश्यकता नहीं कि श्रीकान्त वर्मा के *आत्मजयी*-सम्बन्धी ये विचार सुचिन्तित और सत्य पर आधारित हैं।

*आत्मजयी* असन्दिग्ध रूप से अस्तित्ववाद से प्रेरित ही नहीं, अतिशय प्रभावित रचना भी है। इसका पूरा ढाँचा अस्तित्ववादी है और इसका नायक नचिकेता अस्तित्ववाद को जन्म देनेवाली परिस्थितियों में उत्पन्न और उसी की मनोदशा को उसी के मुहावरों में अभिव्यक्त करने वाला एक चरित्र। अस्तित्ववाद की यह मान्यता प्रसिद्ध है कि दैनिक जीवन में हमेशा व्यक्ति अपने अस्तित्व का बोध नहीं करता। अस्तित्व-बोध उसे तब होता है, जब वह अपने को एक सन्धि-रेखा पर पाता है, उदाहरण के लिए मृत्यु के सम्मुख। *आत्मजयी* में यम नचिकेता से यही बात कहता है : 'विश्वासों से / या किसी विचित्र तर्क से ही / जीने का कोई अर्थ दिया

जा सकता है / इतना विराट इतना सुन्दर / इतना असह्य / जो शायद केवल मृत्यु तले / संदिग्ध क्षणों के बीच जिया जा सकता है।' जिन परिस्थितियों में पश्चिमी दुनिया में अस्तित्ववाद का उत्थान हुआ, वे नचिकेता की ज़ुबानी ये हैं : 'मेरे पिता / तुम और तुम्हारी दुनिया / एक दूसरे की थकी हुई प्रतिक्रिया में युगों से रूढ़ / बासी-सी लगती है। सीमित कुछ लोगों तक / तरसाई-सी लगती जीवन की अतुल राशि। /कार्य-क्रम / आय-व्यय / रीति-नीति / पेचीदा व्यवहारों की दुनिया / सिद्ध नहीं विकृत स्वभावों से निष्कासित / जीने से पहले ही बीती-सी लगती है / मैं अपनों के हठांत सत्यों से दण्डित हूँ। / उनके विमूढ़ विश्वासों से हारा हूँ। / उनकी नादानी से / कुछ ऐसे अपराधी साबित हूँ / मानो अपना ही हत्यारा हूँ / जीवन में यह कैसा कुटिल द्वैध ? / ये कैसे विधान निर्भय जीना अवैध ? / जीवित हूँ ? या केवल अपहृत हूँ ? / संज्ञा हूँ ? या केवल व्यवहृत हूँ ।' ताज्जुब नहीं कि नचिकेता को ज़ोरों से अस्तित्व-बोध होता है और वह अपनी दुनिया को अस्वीकार करता हुआ कहता है : / 'मैं अपनी अनास्था में अधिक सहिष्णु हूँ। / अपनी नास्तिकता में अधिक धार्मिक। / अपने अकेलेपन में अधिक मुक्त। / अपनी उदासी में अधिक उदार। मनुष्य की साहसिकता को वह अमूल्य थाती बतलाता है और कहता है कि सत्य हमेशा विद्रोही रहा है। नैतिक आदेश उसके लिए सोते-जागते कानों में गूँजने वाले पालतू मुहावरे हैं और विवेक, जो जीवन को वरदान बनाने वाली चीज़ है सुख-सुविधाओं के लालच में मनुष्य द्वारा बलि चढ़ा दिया जाता है। वह अपने पिता से पुनः निवेदन करता है कि 'इन मिथ्या सत्यों से अब मुझको मुक्त करो / मैं युगनिर्वासित हूँ।' उसका बल अपने स्वतन्त्र अस्तित्व पर है : 'यदि तुम्हारे अनुसरण से भिन्न भी / मेरी कोई सत्ता है / तो उसे आक्रान्त मत करो। अवसर दो / कि वह पनप सके प्रसन्न।' खुली धूप और ताज़ी हवा में इस अस्तित्व की अनुभूति उसे एक संघर्ष के बाद होती है और वह अनुभूति उसे देश-काल से भी परे प्रतीत होती है : 'वह चरम बोध का स्वावलंबी अद्भुत क्षण—तम में आकुल / सन्नाटे में स्पन्दित / ऊर्जस्वी जीवन-कण।—सब कुछ असृष्ट, / सब कुछ प्रतीक्ष / सन्दर्भहीन, / सम्पूर्ण परिस्थिति एक चेतना से विकीर्ण, / आद्यन्त—/ अपरिमित-तहस-नहस संसार विलय, आश्रित बस एक चेतना पर विस्तार, समय।' *आत्मजयी* में अस्तित्ववाद के अन्य मुहावरे भी मिलते हैं : 'हम वस्तु नहीं हैं—वस्तुस्थित', 'वह वरण नहीं / मानो खो देना था अपनी पहचान एक', 'यह प्रदत्त संसार / तुझे स्वीकार नहीं है', 'तेरे होने और न होने का / बाहर से अधिक पुष्ट / भीतर प्रमाण है,' 'तुझसे प्रमाणित यह जीवन / तेरे न होने पर भी होगा', 'महाशून्य में निर्वासित' आदि।

कुँवर नारायण ने इस कृति की भूमिका में कहा है कि उनके काव्य-नायक की चिन्ता अमर जीवन की चिन्ता है। 'अमर जीवन' से उनका तात्पर्य उन अमर

जीवन-मूल्यों से है, जो व्यक्ति का अतिक्रमण करके सार्वकालिक और सार्वजनीन बन जाते हैं। अस्तित्ववाद 'व्यक्ति का अतिक्रमण' नहीं करता, बल्कि व्यक्तित्व अथवा अस्तित्त्व की अनुभूति के माध्यम से ही देश और काल की सीमाओं को पराजित करना चाहता है। इस तरह नचिकेता के उद्देश्य और उस दर्शन के बीच, जिसके प्रभाव में उनका चरित्र-निर्माण हुआ है, एक मूलभूत असंगति है, जिसकी ओर ठीक ही श्रीकान्त वर्मा ने संकेत किया है– 'अमर जीवन' या 'जीवनमुक्त जीवन' की चिन्ता कोई बुरी बात नहीं है, बल्कि बहुत अच्छी बात है, साथ ही यह भी सही है कि उसे व्यक्तित्व का निषेध करके नहीं प्राप्त किया जा सकता, लेकिन यहाँ प्रश्न यह है कि क्या उसे भौतिक जीवन से निरपेक्ष रहकर प्राप्त किया जा सकता है ? क्या सचमुच ? वृद्धि के अधीन ही विपय हैं, विषयों का वृद्धि पर कोई नियन्त्रण नहीं और यदि है, तो उसे योग-साधन के द्वारा हटाया जा सकता है ? क्या वस्तुजगत् को आत्मशक्ति के द्वारा जैसे चाहे ढाला जा सकता है ? क्या उसके अपने नियम नहीं, जो अन्तर्जगत् को भी अपने अनुसार ढाला करते हैं और जो उसके लिए अनतिक्रमणीय हैं ? क्या 'अमर जीवन' और 'भौतिक जीवन' का सम्बन्ध इतना सरल है कि पहला दूसरे से सम्पृक्त रहकर भी उससे असम्पृक्त कर सकता है ? कुँवर नारायण ने 'अमर जीवन' को लक्ष्य बनाकर चलने वाले व्यक्ति के बारे में कहा है : "यथार्थ अब उसके बाहर नहीं, उसमें है, उससे है—अन्यथा वह कुछ नहीं है। सम्पूर्ण बाह्य परिस्थिति या तो उसकी चेतना से विकीर्ण (प्रकाशित ?) है—चेतना जो उसके वश में है, चीज़ों के वश में नहीं—या फिर अँधेरी है।" कहना व्यर्थ है कि बाहर और भीतर के बीच सम्बन्ध का यह वही सरलीकरण है, जो भारतीय भाववादी दर्शन की असफलता का कारण है। अकारण नहीं कि 'अमर जीवन' की दुहाई देने वालों की संख्या जितनी ही ज़्यादा है, वैसा जीवन जीने वालों की संख्या उतनी ही कम !

*आत्मजयी* में नचिकेता की कथा को आधुनिक सन्दर्भ देने के लिए कवि ने वाजश्रवा के वैदिक यज्ञविधान को आधुनिक वस्तुवादी दृष्टिकोण का प्रतीक बना दिया है और नचिकेता की औपनिषदिक चिन्ता को उसके प्रति आधुनिक विद्रोह का। आधुनिक भौतिकवादी सभ्यता से असंतोष मानववादी बुद्धिजीवियों के लिए स्वाभाविक है, क्योंकि इस सभ्यता ने, वह पूँजीवादी हो या समाजवादी, मनुष्यता का अवमूल्यन, मानवीय स्वतंत्रता का अपहरण और मानवीय व्यक्तित्व का विघटन किया है। लेकिन इसका उपचार भौतिकता के महत्त्व को कम करके आँकना नहीं, बल्कि भौतिकता को और आत्मिकता के सम्बन्ध की जटिलता को समझना और उसके अनुसार आचरण करना है। 'यदि एक व्यक्ति का आर्थिक और सामाजिक जीवन सन्तुष्ट है, तो उसका आन्तरिक जीवन भी सन्तुष्ट होगा'—यह सरलीकरण का दूसरा छोर है, जिसका कुँवर नारायण ने नचिकेता के माध्यम से उचित ही

प्रत्याख्यान किया है, लेकिन उनकी रचना की कमज़ोरी उनका रहस्यवाद है, जो बावजूद इसके कि वह जीवन को स्वीकार कर उसे सारपूर्ण बनाना चाहता है, निस्सार है, क्योंकि वह इच्छित विश्वास से अधिक कुछ नहीं। *आत्मजयी* में अचेतावस्था में नचिकेता का आत्मालाप है : 'किसे पाऊँ ? सभी खण्डित, सभी मोहित, / मन्त्र के वश / खिलौनों-से चल रहे हैं–/ सिर्फ़ चलने की थकन से / विफलता को छल रहे हैं।/ कहाँ जाऊँ ? / हर दिशा में / मृत्यु से भी बहुत आगे की / अपरिमित दूरियाँ हैं। / किसे अपनाऊँ ? / कि अपनी निराशाओं का पार पाऊँ। / कहाँ है वह बाँह, वह विश्वास जीवन–सिद्ध, / जो मुझ भटकते को ग्रहण कर ले। और मृतकों की सहस्रों पर्त गहरी / जर्जरित इस सभ्यता के पार पहुँचा दे ?।' यह जर्जरित सभ्यता वस्तुतः समकालीन मनुष्य का परिवेश है, जिसके चित्रण का प्रयास कुँवर नारायण ने *परिवेश हम-तुम* के अन्त में संकलित कुछ कविताओं में भी किया था। *अपने सामने* या 'परिवेश' अपने सामने फैले हुए यथार्थ जगत का ही पर्याय है। इस संग्रह की कविताओं में वह जगत विस्तार से चित्रित हुआ है। इनमें परिस्थितियाँ और जटिल और भयावह हो गई हैं। *आत्मजयी* में कवि को उस दिशा की तलाश थी, जो उसे मृत्यु के पार पहुँचा दे। *अपने सामने* में यह स्थिति है कि कवि के चारों ओर दिशाएँ हैं। 'कितना स्पष्ट होता आगे बढ़ते जाने का मतलब / अगर दशों दिशाएँ हमारे सामने होतीं, / हमारे चारों ओर नहीं।' उसने स्वीकार किया है कि उसके दार्शनिक चिन्तन ने इस दुनिया की पहेली को सुलझाया नहीं, बल्कि और उलझा दिया : 'मैंने अक्सर इस ऊल-जलूल दुनिया को/ दस सिरों से सोचने और बीस हाथों से पाने की कोशिश में / अपने लिए बेहद मुश्किल बना लिया है।' पहले उसे विश्वास था कि जीवन में कोई अर्थ है, जिसे ढूँढ़ा जा सकता है, लेकिन अब वह कहता है कि 'बेमानी लगती है अब / किसी भी मानी की खोज।' व्यर्थता–बोध, निराशा, भावात्मक संकट, विकल्पहीनता, जड़ता, सन्देह, निरुपायता, अनिश्चय, मूल्यगत गिरावट, विश्वासघात आदि–यही *अपने सामने* की कविताओं का मुख्य विषय है। कभी-कभी समकालीन परिवेश का चित्रण कुँवर नारायण ने बहुत भयानक रूप में किया है। इस तरह के दो चित्र दृष्टव्य हैं : 'कभी-कभी शाम को घर लौटते समय मेरे मन में एक अमूर्त कला के भयानक संकेत / आसमान से फट पड़ते हैं-जैसे किसी ने / तमाम बदरंग लोगों और चीज़ों को इकट्ठा पीसकर / किसी सपाट जगह पर लीप दिया हो / और रक्त के सरासर जोखिम के विरुद्ध / आदमी के तमाम दबे हुए रंग / खुद-ब-खुद उभर आए हों। यह पत्थर नहीं / मेरी चकनाचूर शक्ल का एक टुकड़ा है। / मेरे धड़ का पदस्थल / उसके नीचे गड़ा है। / मेरा मुँह एक बंद तहख़ाना है। / मेरे अंदर शब्दों का एक गुम ख़ज़ाना है। बाहर / एक भारी पत्थर के नीचे दबे पड़े / किसी वैतालिक अक्लदान में चाभियों की तरह / मेरी कटी

उँगलियों के टुकड़े।' कहने की आवश्यकता नहीं कि इस सम्पूर्ण चित्रण के पीछे कवि की एक सरल-सी आकांक्षा है—साधारण मानवीय सम्बन्धों के बीच एक साधारण मनुष्य का जीवन बिताने की : 'मुझे एक मनुष्य की तरह पढ़ो, देखो और समझो / ताकि हमारे बीच एक सहज और खुला रिश्ता बन सके / माँद और जोखिम का रिश्ता नहीं।' यह आकांक्षा निश्चय ही कविता में व्यक्त किए जाने वाले ढेर सारे निपट और आडम्बरपूर्ण मतवादों और विचारधाराओं से हमें अधिक प्रभावित करती है।

कुँवर नारायण का मानव-नियति का चित्रण कभी-कभी राष्ट्र की नियति या फिर विश्व-मानवता की नियति के चित्रण तक पहुँच जाता है। यहाँ मैं उनकी 'लापता का हुलिया' शीर्षक एक छोटी-सी कविता का ज़िक्र ज़रूर करना चाहूँगा, जिसमें उस साधारण भारतीय जन का बहुत ही मार्मिक रूप में वर्णन किया गया है, जो कई बार ऊँचाइयों से गिरकर टूट चुकने के कारण देखने पर जुड़ा हुआ लगता है, हिन्दुस्तान के नक़्शे की तरह ! हिन्दुस्तान के साथ वियतनाम और अफ्रीका भी उनकी कविताओं में मौजूद है। कभी-कभी बेल्सेन, बिआफ्रा, बेलची, वियतनाम और बाङ्ला देश ये सभी एक साथ उनकी कविताओं में आते हैं, क्योंकि इन सभी में कुछ हत्यारों ने मनुष्यता का संहार किया है। *अपने सामने* की कुछ कविताओं में ऐतिहासिक स्थानों, वस्तुओं और चरित्रों—श्रावस्ती, कोणार्क, फ़तेहपुर सीकरी, कुतुवमीनार, इब्नेबतूता, सिकन्दर आदि के सन्दर्भ आए हैं, बल्कि कुछ कविताएँ इन्हीं को विषय बनाकर लिखी गई हैं। इनमें कुँवर नारायण ने अतीत के माध्यम से सिर्फ़ समकालीन राजनीतिक यथार्थ को प्रक्षेपित नहीं किया, जो इस बात की जानकारी देता है कि वे सिर्फ़ राजनीति से संवेदित होने वाले कवि नहीं। लेकिन जब कभी उन्होंने वैसा किया है, समकालीन राजनीतिक यथार्थ पर बहुत तीखी टिप्पणी की है। इस दृष्टि से उनकी तीन कविताएँ—'कुतुवमीनार', 'आज का ज़माना' और 'उस टीले तक'—देखने योग्य हैं। पहली कविता में कवि हाथों में एक दूरबीन लिए मीनार के एक तरफ़ से इतिहास के तमाम सितारों को देखता है और कहता है : 'क्या मैं फिर किसी नये सितारे के समारोह में शामिल हूँ ?' दूसरी कविता में इन्तज़ार के लम्बे रास्तों पर निकली हुई एक जोड़ा पुरानी आँखें खड़ी हैं, यह देखने के लिए कि आज किस सुलतान की सवारी निकलती है। अन्तिम कविता में कवि कहता है कि अगर मैं सिकंदर होता, तो मुमकिन है उस रात उन तेरहों का ख़ून कर देता, जो पीछे लौटने वालों के अगुवा थे। मतलब यह कि आज का सिकन्दर ऐतिहासिक सिकन्दर से भी अधिक महत्त्वाकांक्षी और खूँख़ार है।

समकालीन मनुष्य के भयावह परिवेश का चित्रण करनेवाली कविताओं के बीच हरी दूब की तरह इस संग्रह में कभी-कभी ऐसी कविताएँ भी मिल जाती हैं, जिनका

सम्बन्ध आशा, प्रेम और विश्वास से है। ये कविताएँ इस बात का प्रमाण हैं कि मनुष्यता में कवि की आस्था अंतिम रूप से समाप्त नहीं हुई और 'मनुष्य की जीत' में उसका विश्वास बना हुआ है। स्वभावतः जहाँ उसने 'चीज़ें और आदमी'—जैसी कविता लिखी है, जिसमें मनुष्य के ऊपर वस्तु के हावी हो जाने का वर्णन है, वहीं उसने 'एक अजीब दिन' जैसी कविता भी लिखी है, जो आत्मनिर्वासन से मुक्ति की कविता है। 'ऊँचा उठा सिर' शीर्षक कविता में मनुष्य का यह जो चित्र है—'उसकी लटकी हुई छाती, धँसा हुआ पेट, झुके हुए कन्धे, वह / कौन है हमेशा जिसकी हिम्मत नहीं, केवल घुटने तोड़े जा सके ?'—वह हमें कुँवर नारायण की आस्था से परिचित कराता है, जो वस्तुतः उनकी कविता के केन्द्र में है। इस केन्द्र से चलने वाला प्रकाश उनकी व्यर्थता-बोध, निराशा, विकल्पहीनता, संदेह आदि भावात्मक स्थितियों को व्यक्त करने वाली कविताओं पर हमें जल्दबाज़ी में कोई निर्णय देने से रोकता है। मतलब यह कि कुँवर नारायण का भावजगत इतना सरल नहीं कि एक ख़ास प्रकार की कविताएँ देख कर ही उसके सम्बन्ध में कोई धारणा बना ली जाए। *अपने सामने* में प्रेम और सौन्दर्यवाली कविताओं की संख्या कम है, लेकिन ऐसी जो कविताएँ हैं वे हमें इस बात से परिचित कराने के लिए काफ़ी हैं कि वे 'जीवन की भरपूर स्वीकृति' को लक्ष्य बनाकर चलने वाले कवि हैं और उनका प्रयास रहा है कि लाख-लाख विरोधों में वे मनुष्यता के 'आधार-संगीत' को, जिसकी एक अनुकृति कोणार्क के शिक्षा-चित्र हैं, अनसुना न करें।

कुँवर नारायण में शुरू से ही एक दबा हुआ स्वर हास्य-व्यंग्य का रहा है, जो *अपने सामने* की 'चलती हुई सड़कें', 'हिसाब और किताब', 'ताला' और 'आज भी'—जैसी कविताओं में प्रकट हुआ है। 'भरी-पूरी ज़िन्दगी बड़े-बड़े काम की / ऐसे गुज़रती है जैसे हराम की। / धोबी का कुत्ता है—घर का न घाट का। / आत्महत्या न कर लूँ कहीं / इस ज़िन्दगी से ऊब / इस लिए भाँग पी और देख डाला 'मेरे महबूब।' इसी तरह : 'सोचता हूँ ये किस धन्धे में हाथ डाला / कि मुँह खोलते ही याद आता है दुकान का ताला।' पाठक भी इस बात को महसूस करेंगे कि जितनी सरलता के साथ ऐसी कविताओं में समकालीन ज़िंदगी की विसंगति और विडंबना को चित्रित किया गया है, उतनी सफलता के साथ गम्भीर कविताओं में नहीं। इन कविताओं में कुँवर नारायण की भाषा क्लासिकी गम्भीरता से युक्त न होकर हलकी-फुलकी, है, लेकिन वह बहुत ही चुभती हुई है। गंभीर कविताओं में जहाँ अनेक बार उनके वाक्य लम्बे होते हैं, वहाँ ऐसी कविताओं में प्रायः छोटे और चुस्त। यदि लम्बे होते तो उनमें उलझाव नहीं होता और वे मन में धँसते हुए चले जाते हैं। प्रमाणस्वरूप 'ताला' कविता का ही यह अंश देखा जा सकता है : आज़ादी एक बन्दोबस्त है / तीन पायों की कुर्सी की तरह निरुपाय / जिसका चौथा और सबसे

भारी पाया / भरी तिजोरियों पर लगा ताला / किसी करवट बैठो, असली दबाव / पड़ता है वहीं लामहाला।

*तीसरा सप्तक* के अपने वक्तव्य में कुँवर नारायण ने कहा था कि "जीवन के इस बहुत बड़े कार्निवाल में कवि उस बहुरूपिये की तरह है जो हज़ारों रूपों में लोगों के सामने आता है, जिसका हर मनोरंजक रूप किसी न किसी सतह पर जीवन की एक अनुभूत व्याख्या, और जिसके हर रूप के पीछे उसका एक अपना गम्भीर और असली व्यक्तित्व होता है जो इस सारी विविधता के बुनियादी खेल को समझता है।" आश्चर्य यह देखकर होता है कि उन्होंने अपने या अपनी कविता के इस 'मनोरंजक रूप' का विकास नहीं किया, अपने इस स्वर को, जो उनका अपना ही स्वर था, जैसे पहचाना ही नहीं और गम्भीर ही नहीं, दार्शनिक कविता लिखने पर अपना आग्रह बनाए रखा। चूँकि उनमें हास्य-व्यंग्य की जैसी क्षमता है, हलके-फुलके ढंग से ज़िन्दगी के पेचीदे यथार्थ को पकड़ने का जैसा सामर्थ्य है, वैसी तीक्ष्ण ऐंद्रिय संवेदना नहीं, इसलिए उनकी गम्भीर या 'साहित्यिक' कविताएँ हमें अपेक्षाकृत कम प्रभावित करती हैं। उनकी गम्भीर कविताओं की भाषा में प्रौढ़ता है, यथास्थान उसमें नाटकीयता भी है, तथापि वह ताज़गी से रहित और एक हद तक थकी हुई भाषा है, जिसका कारण तीक्ष्ण ऐन्द्रिय संवेदनशीलता की कमी ही हो सकता है।

इसी तरह कुँवर नारायण में कल्पनाशीलता की भी कमी मालूम पड़ती है। उन्होंने कई शैलियों में कविताएँ लिखी हैं और उनकी इतिवृत्तात्मक शैली की कविताओं में भी यथार्थ और काल्पनिक स्थितियाँ विचित्र प्रकार से मिली हुई होती हैं, लेकिन सृजनात्मक कल्पना का उत्कर्ष हमें उनमें शायद ही कभी देखने को मिले। यह अकारण नहीं है कि *आत्मजयी* में नचिकेता और यम की फ़ैन्टास्टिक कथा को उन्होंने एक हद तक तर्कसम्मत बनाने का प्रयास किया है। नचिकेता से जब उसके पिता ने कहा कि 'मैं तुझे मृत्यु को देता हूँ', तो वह सशरीर यमलोक नहीं पहुँचा, बल्कि उसने अपने को पानी में डुबोकर आत्महत्या करने का प्रयास किया। *आत्मजयी* में वह वस्तुतः मरता नहीं है और उसे मरने से पहले ही अचेतावस्था में पानी से निकाल लिया जाता है। इसी अचेतावस्था में वह स्वप्न देखता है, जिसमें यम से उसका साक्षात्कार होता है। *मगध* नामक अपने कविता-संग्रह में श्रीकान्त वर्मा ने ऐतिहासिक स्थानों और पात्रों के संयोग से एक बहुत ही मोहक माया-जगत का निर्माण किया है, जो अनेक स्थितियों की व्यंजना करते हुए हमारी संवेदना को एक नया आयाम देता है। कल्पनाशीलता के अभाव में ही कुँवर नारायण *अपने सामने* की इतिहास से संबंधित कविताओं में वैसा कुछ नहीं कर सके हैं। अपनी 'खेल'—जैसी कविताओं में, जहाँ वे हमें ठोस दुनिया से निकालकर क्षण-भर के लिए जादुई दुनिया में ले जाते हैं, वे हमें ज़्यादा प्रभावित करते हैं। यहाँ यह कहने की आवश्यकता न होनी चाहिए

कि कल्पनाशीलता का यह 'खेल' भी ज़िन्दगी के 'बुनियादी खेल' का ही एक रूप होता है, निश्चय ही उससे अधिक बेधक।

*साहित्य-विनोद* में संकलित एक साक्षात्कार में कुँवर नारायण ने कहा है कि "ज़िन्दगी के मामले में बिल्कुल व्यावहारिक दृष्टिकोण रखकर भी चला जा सकता है लेकिन साहित्य और कलाएँ बिलकुल व्यावहारिक दृष्टिकोण का नतीजा नहीं होतीं।" यह बात उन्होंने उस प्रगतिशीलता के विरोध में कही है, जो मनुष्य को सिर्फ़ आर्थिक रूप में देखती है भौतिक प्रगति को ही महत्त्व देती है, आत्मान्वेषण को नहीं। इससे शुरू में कही गई इस बात की पुष्टि होती है कि उन्होंने अपना काव्य-सृजन प्रगतिवाद की पृष्ठभूमि में किया है। हिन्दी कविता में यह उनका वैशिष्ट्य है कि भले उनके रास्ते में भटकाव आए हों और वे अस्तित्ववाद—जैसे भाववादी और व्यक्तिवादी दर्शन के प्रभाव में चले गये हों, लेकिन वे शुरू से मनुष्य के खण्डरूप को नहीं बल्कि सम्पूर्ण रूप को दृष्टि में रखकर, उसी को पाने के लिए, काव्य-साधना करते रहे हैं।

---

विष्णु खरे

# जनता का कवि

नागार्जुन के ताज़ा काव्य-संग्रह *हज़ार-हज़ार बाँहों वाली* की प्रारम्भिक कविताओं में दो ऐसी कविताएँ हैं जिन पर परस्पर विरोधी होने का आरोप लग सकता है—पहली है 'पछाड़ दिया मेरे आस्तिक ने' और दूसरी उसके तुरन्त बाद है 'कल्पना के पुत्र हे भगवान।' पहली कविता पढ़ने पर ऐसा प्रतीत हो सकता है कि नागार्जुन एक आध्यात्मिक अर्थ में आस्थावान् हो चले हैं। उसमें प्रातःकाल सूर्य-दर्शन तथा सूर्य को अर्घ्य देने का वर्णन है। किन्तु सूर्य-पूजा का सपाट, सतही अर्थ लेना बहुत भ्रामक होगा। वह किसी 'हिन्दू' का सूर्य-स्तवन नहीं है। उस कविता में जो सूर्य पूजा जा रहा है, वह देवता न होकर इस पृथ्वी पर जीवन सिरजने वाला, मानव में चेतना भरने वाला सूर्य है और उसकी आस्तिकता दरअसल इसी मानव में पूरी आस्था रखने वाली आस्तिकता है। जब हम यह समझ लेते हैं तब हम यह भी पकड़ पाते हैं कि इस कविता के फ़ौरन बाद 'कल्पना के पुत्र हे भगवान' जैसी ही कविता क्यों रखी गयी या लिखी गयी। इस दूसरी कविता में उस पारम्परीण, पंगु बना देने वाली 'आस्तिकता' पर निर्मम प्रहार है जिसके प्रभाव में भारतीय जनता का एक बहुत बड़ा हिस्सा अब भी अकर्मण्यता की अफ़ीम में सोया हुआ है :

छोड़कर प्रासाद खोजूँ खोह— / कह रहा है पूर्वजों का मोह / ज़ोर देकर कह रहे ये वेद और पुरान / भूल से चिपटे रहो नादान / बनूँ मैं सज्जन, सुशील विनीत / हार को समझा करूँ मैं जीत / क्रोध का अक्रोध से कर अन्त / बनूँ मैं आदर्श मानव सन्त / रह न जाये उष्णता कुछ रक्त में अवशिष्ट / गुरुजनों को भी यही था इष्ट / सड़ गयी है आँत / पर दिखाये जा रहे हैं दाँत / छोड़कर संकोच, तजकर लाज / दे रहा है गालियाँ, यह जीर्ण-शीर्ण समाज / खोलकर बन्धन, मिटाकर नियति के आलेख / लिया मैंने मुक्तिपथ को देख / नदी कर ली पार, उसके बाद / नाव को लेता चलूँ क्यों पीठ पर मैं लाद / सामने फैला पड़ा शतरंज-सा संसार / स्वप्न में भी मैं न इसको समझता निस्सार / इसी में भव, इसी में निर्वाण / इसी में तन-मन, इसी में प्राण / यहीं जड़-जंगम सचेतन औ' अचेतन जंतु / यहीं 'हाँ', 'ना', 'किन्तु' और 'परन्तु' / यहीं है सुख-दुख का अवबोध / यहीं हर्ष-विषाद, चिन्ता-क्रोध / यहीं

है सम्भावना, अनुमान / यहीं स्मृति-विस्मृति सभी का स्थान / छोड़कर इसको कहाँ निस्तार / छोड़कर इसको कहाँ उद्धार / स्वजन-परिजन, इष्ट-मित्र, पड़ोसियों की याद / रहे आती, तुम रहो यों ही वितण्डावाद / मूँद आँखें शून्य का ही करूँ मैं तो ध्यान ? / कल्पना के पुत्र हे भगवान !'

मैं नहीं समझता कि ईश्वर या उसमें आस्था को लेकर ऐसी कविता पहले कभी लिखी गयी होगी। हिन्दी कविता का एक पूरा युग भक्ति का रहा है और भले ही भक्तिकाव्य-धारा क्षीण हो गयी हो, भक्ति-भाव जनता और कविता दोनों में थोड़ा-बहुत बचा हुआ है। किन्तु नागार्जुन की यह कविता केवल भक्ति-भाव पर ही प्रहार नहीं करती, यह विश्वासों की एक पूरी प्रणाली पर वज्र की तरह गिरती है, इसकी एक-एक पंक्ति के पीछे एक-एक विस्फोट छिपा हुआ है। भारतीय समाज की प्रत्येक रूढ़ि तथा अन्धविश्वास के विरुद्ध कबीर के बाद शायद नागार्जुन ने ही ऐसी कविता लिखी है।

नागार्जुन के इस संकलन को तथा पिछले संकलनों को पढ़ते हुए मैं लगातार सोचता रहा हूँ कि नागार्जुन-सरीखे वैविध्य वाला कवि संसार के किस देश तथा किस युग के किस कवि के समकक्ष है। यद्यपि यह बिल्कुल ज़रूरी नहीं है कि हर बड़ा कवि अपने समकालीन या पूर्ववर्ती किसी कवि से तुलनीय हो, ऐसी तुलना भी ज़रूरी नहीं है—लेकिन आज जब आप कई देशों की कई कविताओं से परिचित हैं तो उनमें व्यक्तियों और प्रवृत्तियों का एक 'पैटर्न' देखने की इच्छा को अस्वाभाविक या हीनभाव नहीं कहा जा सकता। तो मुझे लगता है कि सारी विश्व-कविता में नागार्जुन सिर्फ़ वाल्ट ह्विटमैन के नज़दीक के कवि हैं। नागार्जुन के पास जो वैविध्य है, समूचे विश्व का जो चित्र नागार्जुन में है, जो गहरी सहानुभूति, आस्था तथा सहभागिता उनकी जनता के साथ है, जिस तरह वे अपनी सारी ताक़त अपने देश से प्राप्त करते हैं, अपनी संस्कृति तथा विश्व-संस्कृति से प्राप्त करते हैं, वह सिर्फ़ वाल्ट ह्विटमैन में देखने में आता है। यह अकारण नहीं है कि नागार्जुन ने अपनी एक कविता में ह्विटमैन का स्मरण किया है।

एक दृष्टि से नागार्जुन तात्कालिकता के कवि हैं किन्तु उनकी तात्कालिकता ठण्डी, बेजान, रोषहीन तात्कालिकता नहीं है। वे दैनिक, साप्ताहिक, मासिक या वार्षिक घटनाओं पर जब प्रतिक्रिया करते हैं तो उसके पीछे एक दृष्टि, एक इशारा तथा एक इरादा होता है। तात्कालिक घटनाओं के प्रति उनकी प्रतिक्रिया का स्वभाव तात्कालिक या भंगुर नहीं होता। वाल्ट ह्विटमैन की अनेक तथा लम्बी-लम्बी कविताएँ तथाकथित तात्कालिकता से भरी पड़ी हैं, लेकिन आज हम उनमें इतिहास बाँचने नहीं जाते बल्कि बदलते इतिहास पर एक बड़े कवि की प्रतिक्रिया पढ़ने जाते हैं। नागार्जुन की पिछले तीस-पैंतीस बरस की कविताओं में ऐसे कई तत्त्व हैं जो तात्कालिक कहे जा सकते

हैं, लेकिन कविताएँ बासी या पुरानी नहीं हुई हैं। पुराने सैकड़ों कवि पुराने हज़ारों हवालों से भरे हुए हैं--टी.एस. एलियट की अधिकांश कविताओं के सन्दर्भ अभी भी आम पाठकों को नहीं मालूम--लेकिन उससे उनकी सार्थकता कम कहाँ हुई है।

जो कवि जनता की कविताएँ लिखने का जोखिम उठाता है वह कभी-कभी विरोधाभास का ख़तरा भी उठाता है। यदि जनकवि होने का अर्थ है जनता के सुख-दुख, आशा-आकांक्षा, आस्था-भ्रान्ति, जय-पराजय, आक्रमण-पलायन में निष्कवच तथा निष्कपट रूप से शामिल होना, तो नागार्जुन हिन्दी के अकेले वैसे कवि हैं। जनकवि पूरी तरह से जनता के दिमाग़ तथा कार्य-कलापों का दर्पण होता है। और चूँकि जनता एक ही समय तथा अलग-अलग समयों पर हमेशा एक जैसी नहीं होती, इसलिए जनता के कवि में भी तथाकथित विरोधाभास दिखाई देंगे। जो बेचारे उन्हें विरोधाभास कहेंगे शायद उन्हीं पर खीझकर वाल्ट ह्विटमैन ने कहा था :

> Do I contradict myself !
> Very well then I contradict myself,
> (I am large, I contain multitudes.)

जब किसी कवि में इतना विश्वास होता है तब आप यह प्रश्न नहीं उठा सकते कि कहीं नागार्जुन की कविताओं में नेहरू की प्रशंसा है और कहीं उन पर व्यंग्य, या कहीं जयप्रकाश नारायण में आस्था है तो कहीं घोर अविश्वास। क्योंकि नागार्जुन के कवि ने पूरी तरह से जनता से तादात्म्य स्थापित कर लिया है।--हम यह कह सकते हैं कि नागार्जुन जनता के सहस्रों 'मूड्स' के कवि हैं। इसे कवि की समझ का अभाव कहना स्वयं कविता की समझ के अभाव को प्रकट करना है। भारत सरीखे जटिल राष्ट्र तथा भारतीय जनता सरीखी वैविध्यपूर्ण जनता के परिवर्तनशील स्वभाव को कविता में उतार पाने के लिए कवि को लचीला होना ही पड़ेगा, उसे विरोधाभास या क्रान्तिकारी समझ का अभाव कहना घातक होगा। जैसा कि कहा गया है, 1947 के बाद के भारत को यदि कविता में पूरी तरह से किसी ने प्रतिबिम्बित किया है तो वह नागार्जुन ही हैं। स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय जनता के संघर्ष का बहुत सारा इतिहास नागार्जुन की कविताओं के आधार पर लिखा जा सकता है।

निराला के बाद हिन्दी के अनेक कवि जनता से जुड़े हुए हैं और उनमें कई आयु-वर्गों तथा अलग-अलग विचारधाराओं के रचनाकार शामिल हैं। लेकिन मुझे यह लगता रहा है कि जहाँ हमारे अधिकांश सजग कवि सामान्यजन के बारे में लिखते हुए फिर भी एक अनजानी दूरी बनाये रखते हैं, नागार्जुन स्वयं उस जनता से निकले हुए कवि हैं। अन्य कई कवियों की तरह वे जनता को होशियार करने, उसका रहनुमा बनने की कोशिश नहीं करते। आज के बहुत सारे, विशेषतः युवा कवि, ऐसा लगता है मानो बेंत लेकर जनता को प्रतिबद्धता तथा क्रान्ति पढ़ाने के लिए कमर

कसे हुए हैं। यह जनता के प्रति घोर अविश्वास तथा, भगवान करे मैं ग़लत होऊँ, एक तरह की नफ़रत का निशान है। नागार्जुन के यहाँ ऐसा नहीं है। बर्टोल्ट ब्रेष्ट के 'काकेशियन चॉक सर्कल' के अन्तिम दृश्य में अज़दक की तरह उन्होंने भी विराट जन-समूह में स्वयं को तिरोहित कर लिया है। वे एक चलायमान जन-अक्षौहिणी के साथ चलते हैं—वह जहाँ भी जाये—क्योंकि उसकी बुद्धिमत्ता तथा त्रुटियों दोनों को वे समझते हैं। यह नहीं है कि जनता कभी ग़लती नहीं कर सकती या कवि कभी ग़लत नहीं हो सकता—दोनों ही एक साथ या अलग-अलग ग़लतियाँ कर सकते हैं और उन्हें सुधारेंगे भी वही—लेकिन कवि जनता से श्रेष्ठतर अथवा महत्तर नहीं है। नागार्जुन के यहाँ यही असली विनम्रता है।

इसके अलावा एक और चीज़ जनता को लेकर नागार्जुन में दिखायी देती है और वह यह कि जनता उनके यहाँ सिर्फ़ करुणोत्पादक, लाचार, असहाय, शोषित नहीं है। सामान्यजन की भयावह हालत का चित्रण करना बुरी बात नहीं है लेकिन भारतीय जनता में ज़िन्दा रहने के लिए लड़ने का माद्दा भी ज़बर्दस्त है। ऐसे बहुत सारे कवि हुए हैं और हैं जो आपको करुणा से विचलित कर देंगे, आपका हृदय तथा आँखें पसीज जायेंगे लेकिन नागार्जुन के यहाँ जनता सिर्फ़ करुणा तथा दया उपजाने वाली स्थिर, जड़, 'वहाँ रखी हुई' चीज़ नहीं है बल्कि इकट्ठा होती, समूह बनती, चलती, कभी थककर बैठती लेकिन फिर उठकर आगे बढ़ती, हमला करती, डन्डों और गोलियों के आगे तितर-बितर होती, नारे लगाती, घेराव तथा हड़ताल करती, जेल जाती और कभी-कभी जान देती जनता है। यदि दूसरे समर्थ कवियों की कविताएँ फ़ोटोग्राफ़ हैं तो नागार्जुन की कविता आईज़ेनश्टाइन की फ़िल्में हैं—इसमें मुक्तिबोध ही उनके समीप हैं। नागार्जुन के यहाँ जनता गतिशील है, बलवती है, दरअसल उसका चरित्र अपनी जड़ों से जुड़े हुए एक स्वदेशी गोरिल्ले का है। ऐसा नहीं है कि उनकी कविताओं में गाँव नहीं है लेकिन उसमें सिर्फ़ गाँव-ही-गाँव नहीं है। सारी कविताओं को पढ़कर देखा जाय तो खुलेगा कि उनमें क़स्बे, छोटे शहर और बड़े शहर ज़्यादा हैं क्योंकि निर्णायक रणस्थल यही हैं।

नागार्जुन ने अपनी अधिकांश कविताओं में कलात्मक मितव्ययिता कम ही की है, कभी-कभी बहुत ज़्यादा भी कह गये होंगे, बहुत ज़्यादा स्पष्ट किया होगा, लेकिन पिछले पैंतीस वर्षों से यह देश एक ऐसी कविता की माँग कर रहा है जिसमें कला के साथ सब कुछ कह सकने का साहस तो हो ही—कभी-कभी कला की क़ीमत पर भी कहने का माद्दा हो। कविता काव्यात्मक साहस की ही नहीं, काव्येतर साहस की भी अपेक्षा करती है। यह कहना कि नागार्जुन में दोनों तरह का साहस है नागार्जुन का अपमान-जैसा लगता है, क्योंकि उन सरीखा दुर्दम्य कवि तो किसी भाषा को बहुत सौभाग्य से मिलता है। नागार्जुन का व्यक्तिगत साहस तो कभी सन्दिग्ध नहीं रहा

किन्तु उनका कलात्मक साहस भी अद्‌भुत है। उनकी अनेक कविताएँ अनगढ़, अटपटी लग सकती हैं लेकिन वहीं दूसरी ओर उनकी बीसियों कविताएँ विभिन्न छन्दों में लिखी गयी हैं जिनमें दुर्दान्त काव्य शास्त्री भी दोष नहीं निकाल सकते। छन्द के अद्‌भुत चमत्कारों में नागार्जुन अच्छे-अच्छे शिल्पकारों को मात कर देते हैं। विलक्षण यह है कि नागार्जुन की अधिकांश 'सामाजिक' 'राजनीतिक' 'जुझारू' या 'प्रतिबद्ध' कविताएँ छंद में लिखी गयी हैं और जो अनेक व्यक्तिगत या 'पैन्सिव' या 'कन्टेम्प्लेटिव' कविताएँ हैं वे छन्दमुक्त हैं। नागार्जुन के कथ्य और शिल्प का अध्ययन इस दृष्टि से बहुत गुणकारी हो सकता है।

एक विशिष्ट बात जो नागार्जुन को अन्य बड़े कवियों से अलग करती है वह है युवा पीढ़ी में उनका अदम्य विश्वास और उसके प्रति गहरा स्नेह। हिन्दी कविता के इतिहास में युवा कवियों के ही नहीं, बल्कि अन्य युवा कलाकारों, कार्यकर्ताओं तथा क्रान्तिकारियों के प्रति इतनी समर्पित कविताएँ शायद ही किसी अन्य वरिष्ठ कवि ने लिखी हों। अपने से युवा कवियों का आवाहन पहले न किया गया हो, ऐसा नहीं है। कुछ ने वह चुनौती के रूप में किया था और कुछ ने उनकी रहनुमाई के लिए, किन्तु नागार्जुन आने वाली पीढ़ी के आगे विनत हैं। अपनी एक कविता में उन्होंने स्वयं को 'पगलेट' कहा है और युवा पीढ़ी से कहा है कि 'मैं तुम्हारे जूते चमकाऊँगा !' हिन्दी की आज की युवा पीढ़ी के काफ़ी सदस्य वक़्त से पहले ही बहुत खुर्राट हो चुके हैं और नागार्जुन उनमें से किसी के जूते चमकाएँ—ऐसे पैर किसी के नहीं हैं। हमारा यही क्या कम सौभाग्य है कि हम ऐसे ज़माने में पैदा हुए जब नागार्जुन—जैसे कवि हमारे बीच मौजूद थे—किन्तु यह नागार्जुन जैसे सशक्त कवि से ही सम्भव था कि उसे आने वाले कवि में इतनी आस्था हो। जॉन द बाप्टिस्ट की तरह वे आने वाले मसीहा में विश्वास रखते हैं। एक विचित्र अपराध भाव नागार्जुन में है जिसका कोई कारण नहीं दीखता। वे ऐसा मानते हैं कि वे और उन-जैसे कवि शायद-'असफल' रहे, कुछ कर नहीं पाये, और आने वाली पीढ़ी ही कुछ कर सकेगी, जबकि वस्तुस्थिति यह है कि यदि हिन्दी कवियों की आज की पीढ़ी में कुछ साहस दिखायी पड़ रहा है तो इसीलिए कि वह निराला, मुक्तिबोध तथा नागार्जुन-जैसे कवियों की प्रेरणा के आसरे पर खड़ी हुई है।

नागार्जुन की कुछ कविताएँ एकदम अनूठा स्वाद लिये हुए हैं और स्वयं उनकी ही कविताओं के वर्गीकरणों को तोड़ती हैं। मैं उन्हें उद्‌धृत नहीं करना चाहता, हाँ, *हज़ार-हज़ार बाँहों वाली* में उनके शीर्षक तथा पृष्ठ संख्या दे रहा हूँ : 'नथने फुला-फुला के' (171) 'नवादा.2' (84), 'खड़ी है ट्रेन' (79), 'सौदा' (56), 'वणिकपुत्र' (45) और अबूझमाड़ वाले 'शबर-पुत्र' की कविता जो इस संकलन में नहीं है—जिनमें नागार्जुन का शिल्प, शब्दचयन, वर्णन-शक्ति एक अलग स्वाद तैयार

करते हैं और निराला की 'महँगू महँगा रहा' जैसी बेहद अनायास तथा सादा किन्तु वास्तव में अत्यन्त जटिल तथा काव्यमय कविताओं की याद दिलाते हैं। इन कविताओं की शक्ति इस बात में है कि ठीक-ठीक बता पाना कठिन है कि इनमें काव्यत्व कब और कैसे आ जाता है—इनमें वह 'एवोकेटिव' ऊर्जा है जो बड़ी कविता का एक लक्षण होती है।

एक संघर्परत कवि के नाते नागार्जुन में जो एक और विशिप्ट तत्त्व है वह है आत्म-दया का नितान्त अभाव। जो कवि पिछली आधी शताब्दी से कई प्रकार के अन्यायों और अत्याचारों से जीवन तथा कविता में लड़ रहा हो उस पर यदि एक क्षण के लिए वैफल्य भाव आ जाये तो कोई अपराध नहीं किन्तु नागार्जुन में वह एक क्षण ढूँढ़ पाना मुश्किल है। उनकी एक कविता इस लिहाज़ से द्रष्टव्य है : 'इन सलाखों से टिकाकर भाल / सोचता ही रहूँगा चिरकाल / और भी तो पकेंगे कुछ बाल'—इन प्रारंभिक तीन पंक्तियों से लगेगा कि नागार्जुन टूटने वाले हैं किन्तु अगली ही पंक्तियों में वे इस 'मूड' को छोड़कर अन्दाज़ लगाने लगते हैं : 'जाने किसकी, जाने किसकी, जाने किसकी / और भी तो गलेगी कुछ दाल / न टपकेगी कि उनकी राल' और इस तरह गहन अकेलेपन और अवसाद में भी अपनी सजग चेतना का परिचय देते हैं। दरअसल दैन्य या पलायन नागार्जुन का केन्द्रीय भाव है ही नहीं, उनका 'प्रतिहिंसा ही स्थायिभाव है अपने ऋपि का / नव-दुर्वासा, शबर-पुत्र में, शबर-पितामह / महासिद्ध मैं, मैं नागार्जुन / प्रतिहिंसा ही स्थायिभाव है मेरे कवि का / जन-जन में जो ऊर्जा भर दे, मैं उद्‌गाता हूँ उस रवि का'—यही वह आक्रोश है जो नागार्जुन को जनकवि बनाता है। भारत के करोड़ों भूखे, प्यासे, बेसहारा आदमी, औरतों और बच्चों के पक्ष की यह प्रतिहिंसा उन्हें बुद्ध, कबीर तथा अन्य सन्त कवियों, निराला तथ मुक्तिबोध की पंक्ति में कालजयी स्थान देती है।

विष्णु खरे

# मुझे एक मनुष्य की तरह पढ़ो

कुँवर नारायण की प्रारम्भिक कविताओं से भी शुरू करें तो यह स्पष्ट दिखायी देता है कि व्यक्ति और कवि के रूप में अपना धर्म तथा अपनी नियति, अपने व्यक्ति और कवि के अपने आसपास से सम्बन्ध और अपने एक सोचने-समझने वाली इकाई होने को लेकर उनकी चिन्ताएँ बराबर बनी हुई हैं। कुँवर नारायण की चिन्ता किसी एक अपरिभाषेय 'मैं' तथा उससे भी ज़्यादा अपरिभाषेय ईश्वर, ब्रह्म, काल या मृत्यु के बीच छद्म आध्यात्मिक रिश्ते की नहीं रही—वे बहुत ठोस मानों में इहलोक के कवि रहे हैं—एक अमूर्त्त समय अथवा 'नेति-नेति' के साथ उन्होंने कम ही सरोकार रखा है। उन्होंने मुद्राएँ ओढ़ने की बजाय मुद्दों से दो-चार होने की हमेशा कोशिश की है और इस प्रक्रिया में अपनी लगातार ज़िद और एक विशेष तरह की भाषा के कारण लगभग एक 'दार्शनिक', 'बौद्धिक' या 'आदर्शवादी' कवि तक माने गये। आज के ज़माने में उन्हें संवेदनशील आदमी के सामने दो ही विकल्प नज़र आते हैं—या तो मजबूरन असंख्य लोगों की तरह बेसबब जीना या फिर सुकरात की तरह ज़हर पीना। अब यह तो बिल्कुल साफ़ है कि जिसे मालूम है कि विकल्प यही दो हैं—यद्यपि इनसे ज़्यादा भी हो सकते हैं और हैं—तो वह बेसबब जीने को तो कभी स्वीकार नहीं कर सकता—भले ही सुकरात की तरह ज़हर पीना एक नाटकीय, या पराजयवादी या ज़बरन शहीद बननेवाला विकल्प हो, जिसे शायद स्वीकार ही न किया जाये। जो भी हो, शहादत का पहलू छोड़ भी दें तो सुकरात के प्रतीक से कुँवर नारायण के काव्य-व्यक्तित्व का एक केन्द्रीय तत्त्व पहचाना जा सकता है। सुकरात स्वयं कुछ कहता न था किन्तु किसी भी दिए गये मुद्दे पर इतने अलग-अलग पहलुओं से प्रश्न पूछता था—और वे प्रश्न सारगर्भित तथा प्रतिकूल होते थे—कि उत्तर देनेवाला धीरे-धीरे अपने ही जवाबों में तरमीम करता हुआ असली जवाब तक पहुँच जाता था। दिये गये मुद्दे पर कई पहलुओं से सोचना विश्व की प्रत्येक महान सभ्यता का सार्थकतम गुण रहा है—महानतम कवि, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ तथा वैज्ञानिक इसी की देन हैं। दुर्भाग्यवश, कई 'रैशनल' तथा द्वन्द्वात्मक विचार-प्रणालियों में अबौद्धिकता की तानाशाही, परीक्षण, बहस

तथा मत-वैभिन्य को घोंट देने की द्वन्द्वात्मकता-विरोधी प्रवृत्ति भी प्रचण्ड हो उठती है। उससे कला और संस्कृति का ह्रास तो होता ही है, जिसके लिए वह सब कुछ किया जा रहा है उसकी प्रगति-धारा को भी वर्षों पीछे मोड़ दिया जाता है।

हिन्दी कविता में आज जहाँ सौभाग्यवश ऐसे कवि उपस्थित हैं, यद्यपि उनकी संख्या बहुत कम है, जो भारतीय तथा विश्व मानवता के सामने खड़े हुए संकटों की जटिलता को पहचान रहे हैं और आदमी होने के विविध पहलुओं से परिचित हैं, वहाँ तथाकथित कवियों और आलोचकों का एक बहुत बड़ा गिरोह नितान्त व्यक्तिगत तथा सामयिक लाभांशों के लिए एक बहुत ख़राब कविता को कविता कह रहा है। और अनजाने ही एक घातक जन-विरोधी तथा प्रगति-विरोधी भूमिका निभा रहा है। जनवाद और प्रगतिवाद के नाम पर लूट-मार और बन्दरबाँट मची हुई है जिसमें सभी एक-दूसरे के मौसेरे भाई हैं। जिनकी व्यक्तिगत, सामाजिक तथा साहित्यिक जीवन शैली का दूर-दूर का रिश्ता भी सर्वहारा से नहीं है वे आपस में मनकूला और ग़ैर-मनकूला मनसब, जागीरें और सूबे बाँट रहे हैं। वेशक इस बटमारी को बदलाव समझकर कुछ निहायत प्रतिबद्ध और ईमानदार लोग भी इन मंचों पर दिखायी पड़ते हैं या भलमनसाहत में घसीट लिए जाते हैं, लेकिन प्रचण्ड बहुमत विदूपकों या पाखण्डियों का है जो 'अनेकता में एकता' तथा 'सर्व धर्म समवाय' के नाम पर दरअसल एक दिग्भ्रमित या मौक़ापरस्त 'मीडियाकर' साहित्य को मानदण्ड बना लेने पर आमादा हैं।

भयावह यह है कि तुरत ख्याति या मान्यता-प्राप्ति की लालच में—क्योंकि 'अहोरूपं अहोध्वनि' का बाज़ार जितना गरम अब है उतना कभी नहीं था—कुछ ऐसे कवि अथवा आलोचक जो सही सोच का सामर्थ्य रखते हैं वे भी अपने साहस तथा विवेक का इस्तेमाल न करते हुए चालू लोकवाद के जाने-अनजाने शिकार होते जा रहे हैं। कविता में क्या हो, क्या न हो; कवि क्या कहे, क्या न कहे; कवि कैसे कहे, कैसे न कहे—यह सब तय हो चुका है। रूढ़ियाँ, रीतियाँ, लीकें निश्चित हो चुकी हैं।

लेकिन अच्छा कवि मूलतः बहुत ज़िद्दी होता है और कविता लिखते समय अपने विवेक और शक्ति के अलावा किसी और को नहीं मानता—मानना चाहता भी है तो उसका सर्जनात्मक विवेक और ऊर्जा उस पर बाज़ी मार ले जाते हैं। कुँवर नारायण हिन्दी के उन विरले कवियों में से हैं जिन्होंने स्वयं पर एक निर्मम नियन्त्रण तथा संयम रखकर, अधिकतर ग़लत समझे जाने का जोखिम उठाकर भी बाह्य ही नहीं, आन्तरिक प्रलोभनों से भी बचकर अपनी कठोरतम शर्तों पर अपनी कविता की रचना की है। कवि-समाज में आदर तथा लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए कोई कवि अपने साथ छल भी कर सकता है—सर्जनात्मक स्तर पर अपने ही मन में उठ रहे प्रश्नों और सन्देहों तथा अपने विवेक से प्राप्त हो रहे असुविधाजनक उत्तरों से

घबराकर कई कवियों ने आसान रास्ते चुने हैं लेकिन *अपने सामने* में कुँवर नारायण की कविताएँ और उनका कवि 'सुविधाप्रेमी' नहीं हैं। उन्हें जो दिखता है उसमें उनका एकदम या पूरा विश्वास कभी नहीं होता—आभास में उनका यकीन नहीं है। दरअसल कुँवर नारायण की कविता, जो आमतौर पर सच समझ लिया जाता है, जो स्वीकृत है, 'जग-ज़ाहिर' है, सर्वमान्य है, उनके विरुद्ध औद्धत्यहीन दृढ़ता से खड़ी हुई है। उनकी कविताएँ रूढ़ार्थों के ख़िलाफ़ हैं—'ऐसा प्रचलित है' इतना ही कह देने से वे उसमें विश्वास नहीं कर लेतीं। चीज़ों, व्यक्तियों, घटनाओं, क्रियाओं, विशेषणों, वर्णनों, अवधारणाओं, परिभाषाओं, समीकरणों, समाधानों, सर्वशुद्ध हलों में कुँवर नारायण की कविता अन्धश्रद्धा नहीं रखती। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि वह दोषदर्शन, शून्यवाद, सर्वद्रोह और मूल्यहीनता की कविता है। इसका यह मतलब भी नहीं है कि कुँवर नारायण अराजकता, विध्वंस, विश्व तथा मानव-संहार में विश्वास रखते हैं। बात इतनी है कि वे जानते हैं कि आज के जटिल युग में किसी भी वस्तु का आसान भाष्य अथवा हल नहीं है। किन्तु उनकी कविता का तेवर इस अहसास का सतही, चालू, उद्दण्ड या रुग्ण उल्था नहीं है—यदि यह अहसास उथला होता तब उनकी कविता भी वैसी होती। हिन्दी कविता में बौद्धिक तथा सामाजिक अनास्था के कई रूप हैं जिनमें से एक अकविता का, दूसरा श्रीकान्त वर्मा—कैलाश वाजपेयी की कविता का, तीसरा आत्म-दया से भरा लघुमानववाद का तथा चौथा जुझारू वामपन्थ का है और कई कवियों में ये और अन्य तत्त्व एक साथ भी पाये जा सकते हैं। इन चार तरह की कविताओं के अतिवाद से अपने को बचाये रखना और तब भी अपनी कविता सुरक्षित रख पाना कुँवर नारायण सरीखे विरले सजग, समर्थ तथा सच्चे कवि के ही बूते की बात थी। यह नहीं है कि सिर्फ़ कुँवर नारायण जैसी कविता ही इन अतिवादों से बच पाई है—हिन्दी में और भी समर्थ तथा युवा कवि हैं जिन्होंने अपने को इनसे बचा रखा है और अपने तरीक़े से बचा रखा है। कुँवर नारायण इस बात में विशिष्ट हैं कि उनके संशय, दुविधा, तथा हिचक में कोई मुद्रा नहीं है, उनकी कविता एक दुखद रूप से जागरूक व्यक्ति की कविता है जो चाहकर भी स्वयं को धोखा नहीं दे सकता :

> ...ज़रूरी लगता है ज़िन्दा रखना
> उस नैतिक अकेलेपन को
> जिसमें बन्द होकर
> प्रार्थना की जाती है
> या अपने से सच कहा जाता है
> अपने से भागते रहने के बजाय।

मैं जानता हूँ किसी को कानोंकान ख़बर
न होगी
यदि टूट जाने दूँ उस नाज़ुक रिश्ते को
जिसने मुझे मेरी ही गवाही से बाँध रखा है,
और किसी बातूनी मौक़े का फ़ायदा उठाकर
उस बहस में लग जाऊँ
जिसमें व्यक्ति अपनी सारी ज़िम्मेदारियों से छूटकर
अपना वकील बन जाता है।

(अपने बजाय)

कुँवर नारायण की कविता अपनी वकालत की कविता नहीं है—यह उस दौर में बड़े जोखिम की चीज़ है जिसमें हर दूसरा कवि या तो अपनी शूरवीरता या अपने बलिदान का वकील स्वयं बना हुआ हो या स्वयं सारे घपले करता हुआ दूसरों से 'बताओ तुम किस तरफ़ हो' पूछता फिर रहा हो। कुँवर नारायण की कविताएँ किसी की नीयत पर शक नहीं करतीं और न आत्ममुग्ध भाव से स्वयं को दूसरों से बेहतर या दूसरों का रहनुमा या मसीहा सिद्ध करने की कोशिश करती हैं—यह आकस्मिक नहीं है कि उनकी एक कविता, जो दुर्भाग्यवश मुझे उनकी अच्छी कविता नहीं लगती, सलीब पर चढ़ाये गये ईसा के बिम्ब का इस्तेमाल करती है, किसी जननायक का नहीं।

कुँवर नारायण में एक व्यक्ति के बार-बार ग़लत समझे जाने, ग़लत आदमी के धोखे में पकड़ लिए जाने, गिरफ़्तार होने, सज़ायाफ़्ता होने, पीड़ित किये जाने, बेदख़ल किये जाने आदि के चित्र कई बार आये हैं और जो इस युग में भी झूठ का साथ न देने वाले की नियति है :

अपराधी की तरह पकड़ा जाता रहा बार-बार
अद्भुत कुछ जीने की चोर-कोशिश में;
लेकिन हर सज़ा के बाद वह कुछ और पोढ़ा होता गया,
वहीं से उगता रहा जहाँ से तोड़ा गया।

(समुद्र की मछली)

कोई गश्त लगा रहा है मेरी यादों में—
मैं पहरे में हूँ।

(विकल्प-2)

मुझे अफ़सोस है
कि मेरे वहाँ 'मौजूद होने' के एक बिल्कुल दूसरे मतलब को
कुछ चोरों के शक ने
नाहक मार डाला।

(शक)

उसके दोनों हाथ उसके पीछे बाँध दो,
और एक बेहतरीन झूठ उसकी आँखों पर,
शायद वह कुछ नहीं कहेगा।...
वह छटपटायेगा
लेकिन छटपटाना कोई तर्क नहीं।
वह मर गया है, और अब उसमें और तुममें कोई फ़र्क़ नहीं।

(विश्वासघात)

वे सब मिलकर
मेरी बहस की हत्या कर डालते हैं
ज़रूरतों के नाम पर
और पूछते हैं कि ज़िन्दगी क्या है
ज़िन्दगी को बदनाम कर।

(ज़रूरतों के नाम पर)

कहीं यह भी कोई जुर्म न हो
बहुतों के मामले में
बहुतों से अलग राय रखना !

(आसन्न संकट में)

झूठ या सच से नहीं
इस तरह यकीन रखनेवालों के बहुमत से
डरता हूँ
आज भी !

(आज भी)

आज के ऐसे आदमी की, जो अपना सोच ख़ुद सोचना चाहता हो और अपने को धोखे में न रखना चाहता हो, भयावह स्थिति का आकलन ऊपर उद्धृत पंक्तियों में तो है ही, दो पूरी कविताओं—'विकल्प-1' तथा 'अब वो नहीं रहे'—में अपनी पूरी निर्मम तीव्रता में है। इन दोनों को समान्तर रखकर पढ़ा जा सकता है—एक में जबकि अनन्त क़ैद है तो दूसरी में अनन्त बेदख़ली है—या तो कन्सट्रेशन कैम्प है या निर्वासन है। और यह उस समय है जबकि आप अपराधी नहीं हैं, जबकि आप कई बार हिसाब चुकता कर चुके हैं, कई बार आपको मुक्त किया जा चुका है, फिर भी निगरानी में हैं, और एक घर की ओर भाग रहे हैं जबकि फिर उसी घर के सामने किसी बेरहम कार्रवाई की सरगर्मी है और वे फिर आने वाले हैं। कुँवर नारायण की यह और ऐसी कविताएँ कोई अस्तित्ववादी या काफ़्का-काम्यूनुमा छद्म नहीं हैं, वे दरअसल एक बर्फ़ीला चीत्कार हैं जो चीज़ों को देख-समझ पाने वाले बीसवीं सदी के मस्तिष्क में लगातार गूँजता रहता है। हाँ,

सौभाग्यशाली हैं वे जिन्होंने 'जीवन' के सारे 'सत्यों' को समझ लिया है—उन्हें ऐसी कोई असुविधा नहीं होती, स्वर्ग का राज्य उन्हीं का है।

मनुष्य को 'रैशनल', 'सोशल' 'एनिमल', अवश्य कहा जाता है लेकिन समाज में 'रैशनल' और 'सोशल' एक साथ हो पाना कम-से-कम निर्ममता की हद तक ईमानदार तथा संवेदनशील व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है। यह एक त्रासद सत्य है कि बेहद समता वाले समाजों में भी कवि और कलाकार पूर्णतः सामाजिक प्राणी नहीं बन पाते—जो कवि-कलाकार समाज की शर्तों पर नहीं जीते उन्हें नैतिकता, क़ानून, पार्टी कार्यकर्ता तथा व्यवस्था, यहाँ तक कि उनके कतिपय सहधर्मी भी, हमेशा एक सन्दिग्ध, साज़िशी व्यक्ति समझते हैं :

नज़दीक आओ, और नज़दीक,
मैं तुम्हारा
या किसी का
बुरा नहीं चाहता।
तुम क्यों मुझे घेरते हो
अपने शकों से ?

मुझे एक मनुष्य की तरह पढ़ो, देखो और समझो
ताकि हमारे बीच एक सहज और खुला रिश्ता बन सके
माँद और जोखिम का रिश्ता नहीं।

(विकल्प-2)

—उसकी रोज़मर्रा कोशिश (के बावजूद)
कि वह कैसे ज़िन्दा रहे उन तमाम लड़ाइयों के बीच
जो उसकी नहीं—जो उसके लिए भी नहीं—जिनमें
वह न योद्धा कहलाये, न कायर,
केवल अपना फ़र्ज़ अदा करता चला जाय
ईमानदारी से और फिर अपने ही घर की
दीवारों में वह ज़िन्दा न चुनवा दिया जाय।

(वह कभी नहीं सोया)

आज की दुनिया में जीने की भयावहता और साँसत को जानते हुए भी कुँवर नारायण ने अपनी 'सेंस ऑफ़ ह्यूमर' तथा विसंगति-विरोधाभास देख पाने की ताक़त गँवाई नहीं है, बल्कि इन्हीं सम्बलों के कारण वे इस दुनिया को ज़्यादा समझ तथा झेल पाये हैं :

मैंने अक्सर इस ऊलजलूल दुनिया को
दस सिरों से सोचने और बीस हाथों से पाने की

कोशिश में
अपने लिए बेहद मुश्किल बना लिया है।

× × ×

जब तुम अपने मस्तक पर बर्फ़ का पहला तूफ़ान
झेलोगे और काँपोगे नहीं—
तब तुम पाओगे कि फ़र्क़ नहीं
सब कुछ जीत लेने में
और अन्त तक हिम्मत न हारने में।

(अन्तिम ऊँचाई)

मैं अस्पताल गया
लेकिन वह जगह अस्पताल नहीं थी
वहाँ मैं डॉक्टर से मिला
लेकिन वह आदमी डॉक्टर नहीं था।

× ×

डॉक्टर ने मेज़ पर से
आपरेशन का चाकू उठाया
मगर वह चाकू नहीं
जंग लगा भयानक छुरा था।
छुरे को बच्चे के पेट में भोंकते हुए उसने कहा
अब यह बिल्कुल ठीक हो जायेगा।

(इंतिज़ाम)

...क्यों खोजना पड़ता है
मिथकों में, वक्रोक्तियों में, श्लेषों में, रूपकों में
झूठ के उलटी तरफ़ क्यों इतना रास्ता चलना पड़ता है
एक साधारण सचाई तक भी पहुँच पाने के लिए ?

(आदमी अध्यवसायी था)

मेरी बायीं तरफ़
क्या मेरा बायाँ हाथ है ?
मेरा दाहिना हाथ
क्या मेरे ही साथ है ?
या मेरे हाथों के बल्लों से
मेरे ही सिर को
गेंद की तरह खेला जा रहा है ?

मैं जो कुछ भी कर पा रहा हूँ
वह विष्टा है या विचार ?

(सन्नाटा या शोर)

वर्तमान विचारशील आदमी का संकट दरअसल ईमानदारी, विवेक, समझौता-विरोध, आत्म-प्रवंचना से शत्रुता, अप्रिय सत्य के स्वीकार, विरोधाभासों-विसंगतियों-द्वन्द्वात्मकता के एहसास तथा दूसरों और दूसरों से ज़्यादा कहीं अपने पर हँस लेने की ताक़त से उपजा संकट है। इसके साथ-साथ इतिहास तथा संस्कृति से धोखा न खाने का माद्दा भी जुड़ा हुआ है। जिसे मानवता के इतिहास का एहसास नहीं है उसे मानवता के वर्तमान और भावी संकटों का एहसास भी नहीं हो सकता। यह आकस्मिक नहीं है कि कुँवर नारायण की कविताओं का लगभग एक-तिहाई हिस्सा इतिहास से सम्बद्ध कविताओं का है। कवि या रचनाकार इतिहास में अनेक उद्देश्यों और अनेक रूपों में जाता है। घटिया रचनाकार इतिहास को गरिमामण्डित या मोहक बनाने जाता है, वह उसकी कल्पित भव्यता से रोमांचित होता है और किसी तथाकथित स्वर्णयुग को पुनरुज्जीवित करता है। दूसरे क़िस्म का रचनाकार इतिहास को प्रासंगिक बनाने के लिए उसे इस्तेमाल करता है—उसकी जो विचारधारा हो उसमें खोजने की कोशिश करता है या उसे उस पर आरोपित करता है। किन्तु रचनाकार कभी-कभी व्यक्तिगत रूप से भी इतिहास को बहुत शिद्दत से महसूस करता है और उसमें स्वयं अपनी उपस्थिति महसूस करता है। इसके पीछे समय को एक लगातार धारा के रूप में देखने की मंशा होती है और इतिहास को एक लगातार अपने को दुहराते जाते पैटर्न के रूप में—इतिहास को इसमें एक ऐसी 'टाइम-मशीन' के रूप में देखा जाता है जिसमें आप प्रविष्ट होकर व्यतीत में पहुँच सकते हैं या जिसके माध्यम से आप नया रूप धारण कर सकते हैं। इस तरह कवि इतिहास में अपने कई जन्म और मृत्यु, अवतरण और अवरोहण, जय और पराजय देखता है—वह प्रगति होते हुए भी देखता है किन्तु मानव-व्यापारों को कतिपय महान् प्रसंगों और बार-बार लौटने वाले पैटर्नों में भी देखता है—भौतिक प्रगति के भ्रम और आध्यात्मिक विकास की साँप-सीढ़ी के रूप में देखता है जहाँ सौ पर भी एक साँप बैठा हुआ है। इतिहास में इस पदार्पण को वह गरिमामय भी बना सकता है, त्रासद भी और साँसत-भरा भी। भारत जैसे देश में, जिसके पास एक बहुत बड़ा सांस्कृतिक व्यतीत है, आमतौर पर रचनाकार इतिहास की राष्ट्रवादी, हिन्दुत्ववादी या आर्यवादी व्याख्या के शिकार हुए हैं—अक्सर रामायण, महाभारत तथा पुराणों की कथाओं के रूमानी या हास्यास्पद संस्करण हुए हैं। 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा' छाप उपन्यासों, महाकाव्यों, नाटकों, खण्ड-काव्यों तथा कविताओं से हिन्दी साहित्य के घूरे में पर्याप्त अभिवृद्धि हुई है। उसके बाद 'आधुनिकता' के दबाव के तहत अश्वत्थामा, अभिमन्यु वग़ैरह भी भुनाये गये लेकिन भारतीय

इतिहास से स्वयं को कविता में एकात्म करने में अग्रणी रहे श्रीकान्त वर्मा जिन्होंने अपनी इतिहास-कथिताओं में हमेशा एक अभिजात उपस्थिति की मुद्रा बनाये रखी—उनकी इतिहास-कविताओं में कवि का 'पर्सोना' अशोक, चन्द्रगुप्त, लिच्छवी, कलिंग, बाबर, हुमायूँ, समरकन्द, युद्ध, पराजय से नीचे सोचता ही नहीं। इतिहास की व्याख्या इन कविताओं में जैसी भी होती हो—श्रीकान्त वर्मा के तेवर हमेशा भारतीय, मध्यपूर्वीय अथवा यूरोपीय चक्रवर्तियों के होते हैं। उनकी कविताओं में इतिहास 'वाइट मैन्स वर्डन' है, नायकवादी, सामन्तवादी, तथा 'डिबाइन राइट ऑफ़ किंगशिप' वाला है—'अन्ईजी लाइज़ द हेड दैट बेअर्स द क्राउन' वाली मनोवृत्ति का है। इतिहास के परलोक में घुसकर उनका कवि वह प्राप्त करने की कोशिश करता है जो उसे इहलोक में प्राप्त नहीं हुआ। उसके पीछे एक प्रजावत्सल भावना यह भी रहती है कि अच्छा हुआ तुम लोग अशोक, बाबर या लिच्छवी नहीं हुए, देखो हमें कितनी मर्मांतक शारीरिक तथा आध्यात्मिक व्याधियाँ उठानी पड़ीं, तुम सामान्यजन रहकर ही सुखी हो...इसके बिल्कुल विपरीत कुँवर नारायण की इतिहास-रचनाएँ किसी भी गरिमा, औदात्य, सांस्कृतिक रूमान, जलाल या प्रभामण्डल का इस्तेमाल नहीं करतीं। *अपने सामने* में क़रीब एक-तिहाई कविताएँ इतिहास से या तो सीधे-सीधे संबंधित हैं या किसी इतिहास-संदर्भ की हैं—दरअसल उन्हें इतिहास कविताएँ कहना उतना सही नहीं है जितना समय-कविताएँ कहना, क्योंकि इतिहास 'डॉक्युमेंटेड' समय से अधिक कुछ नहीं है, और वह भी समय के सारे आयामों को नहीं छूता। शायद 'कोणार्क' और 'अनात्मा देह (फ़तेहपुर सीकरी)' में ही उनमें ऐतिहासिक स्थलों का पर्यटकी वर्णन-सा मिलता है—हालाँकि 'अनात्मा देह' में वह उत्साह कुछ कम हैं—उसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ ही एक रहस्य, समय में वापस होने का एहसास, लिये हुए हैं :

> इन परछाइयों के अलावा भी कोई साथ है।
> सीढ़ियों पर चढ़ते हुए लगता है
> कि वहाँ कोई है
> जहाँ पहुँचूँगा...
> ...हरी काई के क़ालीन पर एक अनात्मा देह लेटी है...

समय या इतिहास में लौटना एक सैद्धांतिक सम्भावना तो है ही और समर्थ रचनाकारों के हाथों में यह एक सशक्त हथियार रहा है। 'ए कनैक्टिकट यैन्की इन किंग आर्थर्स कोर्ट', 'द टाइम मशीन' और उसके बाद सैकड़ों अच्छे-बुरे 'साइंस-फ़िक्शन' लेखकों ने काल-यात्रा को एक 'क्लिशे' बना दिया है। लेकिन पिछले दिनों एक भयावह विज्ञान-कथा पढ़ी थी जिसमें एक आदमी नियतिवश एक ऐसी समय-क़ैद में पड़ जाता है जिससे वह मुक्त तो होता है लेकिन फिर ठीक पिछली ही तरह फँस जाता है। कुँवर नारायण के यहाँ समय या इतिहास में क़ैद

हो जाने का या वापसी के उपक्रम का 'मोटिफ़' अनेक वार आया है :

कभी-कभी लगता है अपने ही किसी दुःस्वप्न में क़ैद हूँ
आज से हज़ारों साल पहले।

(विकल्प)

जैसे इन जगहों में पहले भी आया हूँ।

(पहले भी आया हूँ)

कई बार पहले भी
शुरू की जा चुकी है
हमारी कहानी

(मस्तकविहीन बुद्ध प्रतिमा)

जिधर घुड़सवारों का रुख़ हो/उसी ओर घिसटकर जाते हुए
मैंने उसे कई बार पहले भी देखा है।

(दिल्ली की तरफ़)

मेरे हाथों में एक दूरबीन है
मीनार
जिसके एक तरफ़ से मैं
इतिहास के तमाम सितारों को देख रहा हूँ—

(कुतुब मीनार)

कोई नहीं। कुछ नहीं। यह सब
एक गन्दा ख़्वाब है
यह सब आज का नहीं
आज से बहुत पहले का इतिहास है।

(इब्नेबतूता)

हज़ारों साल से उसी एक पिटते हुए आदमी को
उसी एक पिटे हुए सवाल की तरह/उसी से पूछा जा रहा है
"तुम कौन हो ?
कहाँ रहते हो ?
तुम्हारा नाम क्या है ?"

(फ़ौजी तैयारी)

उन्होंने/फिर एक बार हमें जीत लिया है...वे सबके सब/वापस आ गये हैं।

(बर्बरों का आगमन)

वही शायद फिर आ गया है लौटकर
मेरे दरवाज़े पर मुझे पुकार-पुकार कर जगाता हुआ

गुलामों और सुल्तानों का ज़माना।

(आज का ज़माना)

आज भी वे/
अनेक साम्राज्यों और बियावानों से होते हुए
भागे चले जा रहे हैं।

(भागते हुए)

समय या इतिहास की अपनी यात्रा में कुँवर नारायण आमतौर पर या तो सामान्यजन हैं या सड़क पर खड़ा हुआ एक सामान्य दर्शक। सिर्फ़ दो कविताओं में वे सामान्यजन से कुछ ऊपर उठे हैं। 'उस टीले तक' में वे एक अभियान-दल के सदस्य हैं और 'इब्नेबतूता' में इब्नेबतूता—लेकिन इन दोनों में भी वे विशिष्ट नहीं हो पाये हैं—विशिष्ट संवेदना-सम्पन्न आम आदमी ही हैं। दरअसल अपनी इतिहास-कविताओं में कुँवर नारायण सदियों से पिस रही रैयत हैं या अपना आत्म-सम्मान बचाये हुए, चुपचाप किसी भी साज़िश में शरीक होने से इन्कार करते हुए एक **आउटसाइडर**। कुँवर नारायण के यहाँ इतिहास निरंकुशता, अत्याचार, मदान्धता, हत्या, षड्यन्त्र, आक्रमण, आगज़नी, मानव-मूल्यों का तिरस्कार तथा संहार का एक अनंत सिलसिला है जिसमें मरीचिकाएँ और इन्द्रजाल हैं, सामान्यजन के लिए या तो जयजयकार है या अत्याचार है या मौन असहमति है। वहाँ हर तथाकथित मुक्ति एक नयी पराधीनता में पतित हो जाती है। कुछ हद तक यह इतिहास का नकारात्मक तथा नैराश्यपूर्ण पठन है लेकिन इतिहास का एक निर्मम सबक़ ऐसा भी है जिससे इतिहास के साथ साज़िश करने वाले ही इन्कार कर सकते हैं। इतिहास के प्रति यह रवैया मानव-विरोधी नहीं है बल्कि बहुत दर्दनाक ढंग से मानव-समर्थक है—इतना कि कवि सामान्यजन को किसी भी यूटोपिया या रामराज्य की अफ़ीम नहीं खिलाना चाहता—पुराने चिराग़ों के बदले कुँवर नारायण कोई नये चिराग़ नहीं देते—वे चिराग़ तले अँधेरों की ओर इंगित करते हैं।

इतिहास के प्रति यह रुख़ दरअसल कुँवर नारायण के उसी रुझान से उपजा है—वे वाक्य को प्रमाण मानने से इन्कार करते हैं और यह इन्कार पूर्वग्रहयुक्त उद्दण्डता नहीं है बल्कि इतिहास के एक सही और तकलीफ़देह पठन से पैदा हुआ है। इतिहास के तमाम छलों और प्रपंचों से वे वाकिफ़ हैं, इतिहास के सरलीकरणों से भी, इसलिए वह उनके लिए 'द वंडर दैट वाज़ इंडिया' नुमा कोई चीज़ नहीं है। कुँवर नारायण के यहाँ इतिहास सिर्फ़ भारत तक ही सीमित नहीं है या किसी युग विशेष तक—उनकी निगाह पूरी मानव-सभ्यता के 'विकास' को लेकर चलती है इसलिए उसमें एक विश्व-दृष्टि है जो इतिहास से सरोकार रखनेवाले अधिकांश भारतीय रचनाकारों में दिखायी नहीं देती। इसके साथ हर्ष की बात यह है कि वे अपने इतिहास-ज्ञान को गण्डे-ताबीज या आभूषण की तरह नहीं पहनते और न

ही वह 'एक्सपोर्ट-ओरियंटेड' है। इतिहास उनके लिए इस्तेमाल की नहीं, अनुभव की चीज़ रही है—इतिहास की चपेट में आये हुए आदमी की चीख़ उनकी कविताओं में हमेशा कहीं-न-कहीं नेपथ्य में रही है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह लगती है कि इन तमाम कविताओं में एक द्वन्द्वात्मकता देखी जा सकती है—इनमें अत्याचारी और पीड़ित साफ़-साफ़ पहँचाने गये हैं, अत्याचारी को भी पीड़ित बताकर रिहा नहीं किया गया है। कुँवर की इन कविताओं को ग़लत समझना असम्भव है—उनकी सहानुभूति असन्दिग्ध रूप से इतिहास के तमाम पीड़ितों और शोषितों के साथ है। कुँवर नारायण इतिहास के धीरोदात्त विजयी या पराजित नायकों में न हैं और न उनके साथ हैं—वे उस सामान्यजन के साथ हैं जो हमेशा ही पिसता रहा है। वे इस तरह के भयावह इतिहास से मुक्त होने के लिए संगठित होने के लिए संगठित होने का आह्वान तो नहीं करते लेकिन क्या इतना संकेत अपर्याप्त है कि 'उसके ऊँचे उठे सिर पर एक बोझ रखा है/काँटों के मुकुट की तरह/बस इतने से ही पहचानता हूँ/आज भी/उस मनुष्य की जीत को' (ऊँचा उठा सिर) तथा 'जेतवन की परिव्राजक हवाओं में/आह, उन अनुपस्थितियों का स्पर्श/जिनके बाद भी अस्तित्व में कुछ अर्थ बाक़ी है' (श्रावस्ती) जैसी पंक्तियों का कवि पश्चिम (यदि उसे पश्चिम कहा जा सकता है तो) में ईसा और पूर्व में बुद्ध को और उनके किसी सामंजस्य को इस तरह के इतिहास से मुक्ति एक एक निकाय मानता है।

इतिहासपरक ये कविताएँ दो तरह की हैं, एक में कवि वर्तमान में खड़ा रहकर अतीत के किसी घटना-बिन्दु को देखता है जैसे 'पहले भी यहाँ आया हूँ, 'श्रावस्ती', 'मस्तकविहीन बुद्ध प्रतिमा', 'कोणार्क', 'रास्ते' और 'अनात्मा देह' में, लेकिन 1970 के पहले लिखी गयी इन कविताओं के बाद लिखी गयी रचनाओं में जैसे वर्तमान के कपड़े उतारकर इतिहास-धारा में कवि बेलौस उतर गया हो और स्रोत तथा बहाव दोनों तरफ़ स्वयं शरीक होता हुआ आ-जा रहा हो। 'दिल्ली की तरफ़', 'इब्नेबतूता', 'बर्बरों का आगमन', 'आज का ज़माना', 'भागते हुए', 'वह कभी नहीं सोया' तथा 'उस टीले तक' में कवि शिकार, गवाह तथा आकलनकर्ता तीनों अलग-अलग या एक साथ है। इन कविताओं में अपने गुण को साकार कर देने की अद्भुत क्षमता है—ये लम्बी कविताएँ नहीं हैं लेकिन कुँवर नारायण के कुशल हाथों में आठ-आठ, दस-दस या तीस-तीस पंक्तियों की ये कविताएँ इतिहास के कई परिच्छेदों की कहानी कह रही हैं। इनमें से भी 'दिल्ली की तरफ़', 'इब्नेबतूता', 'आज का ज़माना', 'भागते हुए', 'वह कभी नहीं सोया' और 'उस टीले तक' में अद्भुत उद्रेकी (evocative) शक्ति है। इन कविताओं में से सिर्फ़ एक अंश उद्धृत करना उन्हें नष्ट करना होगा इसलिए यही कहा जा सकता है कि यदि कुछ और नहीं तो इतिहास के विभिन्न कालों के मात्र शाब्दिक चित्रों के वास्ते ही इन्हें पढ़ा जा सकता है हालाँकि उनकी वास्तविक शक्ति तो चित्रित किये गये क्षण के विभिन्न अर्थों

को आलोकित कर देने में है। ये कविताएँ कुँवर नारायण की अन्य कविताओं के साथ हिन्दी कविता में अपना विशिष्ट स्थान बनाएँगी इसमें मुझे कोई शक नहीं और यही कविताएँ हैं जो कुँवर नारायण को उनके अन्य समवयस्क कवियों—रघुवीर सहाय, श्रीकान्त, वर्मा, केदारनाथ सिंह—के बीच भी अपनी विशिष्ट पहचान बनाये रखने में समर्थ बनाती हैं। यह बहस अप्रासंगिक है और बेकार भी कि इनमें से बड़ा कवि कौन है लेकिन यह स्पष्ट है कि अपने-अपने प्रकार की कविताओं से ये कवि महत्त्वपूर्ण हैं और कुँवर नारायण की अपनी पहचान है स्वयं को अनाटकीय तथा निश्छल रूप से सामान्य व्यक्ति बनाये रखते हुए भी पीड़ित सामान्यजन के पक्ष में यथासम्भव खड़े रहना, अपनी बुद्धि तथा विवेक की यथासम्भव रक्षा करना और उन्हें स्वयं पर, अपने समय तथा विश्व पर तथा बीते हुए समय तथा हो चुके संसार पर लागू करना। इसमें वे उत्कृष्ट कवि हैं और आज की हिन्दी कविता में ऐसे एकमात्र। उनकी कई कविताएँ हिन्दी के अनेक स्वघोषित प्रतिवद्ध कवियों से ज़्यादा प्रतिबद्ध हैं क्योंकि उनमें मसीहाई रूमानियत नहीं है और काग़ज़ी क्रान्ति नहीं है। वे वामपन्थी नहीं हैं लेकिन यदि अन्याय, अत्याचार, बर्बरता, तानाशाही तथा फ़ासीवाद मानसिकता के विरुद्ध बिना गुर्राये, रेंके या हुँहुआये खड़ा रहना प्रतिबद्धता है तो कुँवर नारायण की पक्षधरता असन्दिग्ध है। वैसे किसी भी अच्छे कवि को इस तरह के प्रमाण-पत्रों की आवश्यकता भी नहीं होती—मेरी यह पुरानी आस्था है कि प्रत्येक वामपन्थी कवि अच्छा कवि भी हो यह क़तई ज़रूरी नहीं, लेकिन प्रत्येक अच्छा कवि मूलतः वामपन्थी, प्रतिबद्ध और जनता का होता ही है और देर-सवेर तथाकथित वामपंथियों-जनवादियों को भी उसे ऐसा मानना ही पड़ता है।

कुँवर नारायण की कई कविताएँ ऐसी हैं जो उनकी ही कविताओं के किसी विभाजन में नहीं रखी जा सकतीं—जैसे 'बँधा शिकार' और 'पूरा जंगल', जो मुझे सम्बद्ध कविताएँ लगती हैं। दोनों में जंगल के किसी हिंस्र जानवर का चित्र है, 'बँधा शिकार' में वह 'पर्सनलाइज़्ड' है। 'पूरा जंगल', जो ब्लेक की कविता 'टाइगर टाइगर बर्निंग ब्राइट' की याद दिलाती है, ब्लेक के ईश्वरवादी रहस्यवाद को काट फेंकती है लेकिन उस हिंस्र पशु को अपने-आप में पूर्ण बनाती है—जो कुछ उसका है और उसके आसपास है वह उसी के कारण है—और यह धारणा इस कविता को 'रेखा के दोनों ओर' की इन पंक्तियों से जोड़ती है—'लेकिन यह उसकी अपनी शैली थी—/इस तरह अपने को देखना/मानों वह नहीं उसकी वजह से/बाक़ी सब पूरा है'—यह वह गर्वोक्ति है जो कबीर जैसे अक्खड़ों, रहस्यवादियों में ख़ूब मिलती है और जो उर्दू शायरी में 'हम से है, ज़माना ज़माने से हम नहीं' बनकर गूँजती है। वैसे भी किसी हिंस्र जानवर पर लिखी गयी यह हिन्दी की एक अद्वितीय कविता है—इतना 'ऑब्जर्वेशन' हिन्दी के कितने कवियों के पास है। 'बँधा शिकार' में शेर

को आकृष्ट करने के लिए बजाए किसी निरीह जानवर के बाँधने के जीवित आदमी को ही बाँध देने का रूपक है—आदमी जो सामान्यतः शिकारी हो सकता था अब ख़ुद एक लाचार शिकार है। शेर कुछ भी हो सकता है—आदमी को घेर रहे सैकड़ों संकटों में से एक, यहाँ तक कि मृत्यु भी, पृथ्वी की मृत्यु भी—लेकिन 'वह अपनी खुरदुरी देह को रगड़ता है/मेरी देह से जो अकड़कर वृक्ष हो गयी है' जैसे बेहतरीन ब्योरे उसे सिर्फ़ एक कविता के रूप में भी उलेख्य बनाते हैं। 'पूरा जंगल' में यदि किसी हिंस्र पशु का चित्र है तो 'चील' में आकाशचारी का—'एक कील पर सारे आकाश को नचाती' का समान्तर 'उसका पूरा जंगल है' और 'दूरबीनी आँखों से देखती हमें/कमबख़्तियाँ जीते' का समान्तर 'ऊँघती उसकी आँखें...दया है,/क्रूरता है,/उपेक्षा है' में है—हालाँकि 'मनमौज़ी', 'नटखट गुदगुदी', 'हँसाती' और 'नन्हीं-सी जान झूम-झूम जाती' जैसे शब्द कविता को कुछ कमज़ोर बनाते हैं—चील में चुहल का यह तत्त्व उससे कुछ छीन-सा लेता है।

उलटबाँसी, विसंगति, वैपरीत्य, व्युत्क्रम, प्रत्याशित भूमिकाओं का अप्रत्याशित सहमा या धीमा परिवर्तन कुँवर नारायण की कुछ कविताओं में देखे जा सकते हैं और इनमें असन्तोष, आशंका, आतंक, परिहास, व्यंग्य आदि जटिल तत्त्व जन्म लेते हैं। हम एक संकेत ऊपर कर आये हैं किन्तु 'जब आदमी आदमी नहीं रह जाता' में 'जब मैं एक डरे हुए जानवर की तरह/उसे अकेला छोड़कर बच निकला था ख़तरे से सुरक्षा की ओर,/वह एक फँसे हुए जानवर की तरह/खूँख़्वार हो गया था', 'तब भी कुछ नहीं हुआ' में 'जिन नंगे तारों को मैंने अकस्मात् छू लिया था/उनमें विजली नहीं थी।/मुझे एक झटका लगा कि उनमें बिजली नहीं है।/मुझे अक्सर एक झटका लगता है जब वहाँ/बिजली नहीं होती/जहाँ बिजली को होना चाहिए' या पूरी कविता 'एक अजीब दिन' (जो मुझे इस संकलन की अच्छी कविता नहीं लगती) या पूरी भयावह कविता 'इन्तिज़ाम' या 'मतलब का रिश्ता' की ये पंक्तियाँ 'चमकता सूरज/आईने में कोई दूसरा/आँखों में कोई दूसरा/कोई और कहता/मेरी बात औरों से/नाव की दिशा में/बहती दूरी की पूरी नदी', 'बाक़ी कविता' की पंक्तियाँ 'पत्तों पर पानी गिरने का अर्थ/पानी पर पत्ते गिरने के अर्थ से भिन्न है' 'खेल' की पंक्तियाँ...'हमारी अक्ल को हमारी ही अक्ल से/हैरान करे.../और अन्त में हम/जादूगर पर ताज्जुब करते घर लौटे/अपने पर नहीं', 'सन्नाटा या शोर' की प्रारंभिक पंक्तियाँ 'कितना अजीब है/अपने ही सिरहाने बैठकर/अपने को गहरी नींद में सोते हुए देखना' में अनेकायामीय अर्थों के विभिन्न विरोधाभास-विसंगतियाँ हैं जो कुँवर नारायण की कविता के सही मूल्यांकन को एक रोमांचक अन्वेषण बनाते हैं। विसंगतियों के इस आकलन के पीछे सब कुछ व्यर्थ है या हास्यास्पद है ऐसी मंशा बिल्कुल नहीं है बल्कि कुँवर नारायण की कई उलटबाँसीनुमा स्थितियाँ उससे ज़्यादा विस्तृत तथा गहरा विश्लेषण माँगती हैं जितना यहाँ दिया जा सकता है—वे

वर्षों के अनुभव, मनन, चिन्तन तथा पठन-पाठन से उपजी जटिल चीज़ें हैं।

'ज़रूरतों के नाम पर' कुँवर नारायण की एक ऐसी कविता है जो उनकी अन्य इसी तरह की कविताओं से मेल नहीं खाती—इसकी पहली पंक्ति 'क्योंकि मैं ग़लत को ग़लत साबित कर देता हूँ' तथा बीच में 'वे जो अपने से जीत नहीं पाते/सही बात का भी जीतना सह नहीं पाते' कुँवर नारायण की क़लम से निकली प्रतीत नहीं होतीं लेकिन अधिकांश व्यक्तिगत कविताओं में वे एक 'लो प्रोफ़ाइल' ही लिये नज़र आते हैं, आम राय से अलग राय रखने के अपराध-भाव से ग्रस्त 'जहाँ झूठ है, अन्याय है, कायरता है, मूर्खता है' वहाँ से हमेशा अपने को अधूरा छोड़कर चले आते हैं 'जहाँ सहयात्रियों के स्वार्थ की धमकी' उन्हें 'अक्सर इसी विकल्प की ओर ढकेलती है/कि चलती ट्रेन से बाहर कूद जाऊँ', यद्यपि वे जानते हैं कि नैतिक अकेलेपन को ज़िन्दा रखने या अपने से सच कहने की बजाय किसी बातूनी मौक़े का फ़ायदा उठाकर उस बहस में भी लगा जा सकता है जिसमें व्यक्ति अपनी सारी ज़िम्मेदारियों से छूटकर अपना वकील बन जाता है 'क्योंकि झूठ एक कला है, और/हर आदमी कलाकार है जो यथार्थ को नहीं/अपने यथार्थ को/कोई-न-कोई अर्थ देने की कोशिश में पागल है।' कुँवर नारायण की इस तरह की कविताएँ बड़ी हद तक आत्मपरक, 'कन्फ़ैशनल' हैं और उनमें से कुछ तो केवल उनके जीवन-सिद्धान्तों को ही नहीं बल्कि कला-सिद्धान्तों को भी मुखरित करती हैं। इस तरह की कविताओं में कुँवर नारायण भरसक 'होलीअर दैन दाउ' की मुद्रा से बच सके हैं और आत्मदया तथा आत्मपीड़ा से भी। इनमें उन्होंने अपने या अपनी कविता या विश्वासों के लिए रियायत या रहम नहीं चाहा है बल्कि एक बराबरी के इन्सान की तरह समझ, सहिष्णुता तथा स्वायत्तता की माँग की है, अपने अनुभव तथा विवेक की शर्तों पर जीवन तथा कला को गढ़ने की माँग की है। देखा जाय तो इस तरह की कविताएँ एक-दूसरी तरह की समीक्षा, दूसरे तरह के साहित्य-शास्त्र की माँग ही प्रस्तुत नहीं करतीं बल्कि उसे आधार तथा आकार भी देती हैं।

यद्यपि मैं कुँवर नारायण की पन्द्रह कविताओं—'एक अजीब दिन, 'ऊँचा उठा सिर', 'शनाख़्त के सिलसिले', 'चलती हुई सड़कें', 'लखनऊ', 'अनुचित लगता है अब', 'ज़रूरतों के नाम पर', 'लाउडस्पीकर','गाय', 'अकेली ख़ुशी', 'दूर तक', 'पहले भी आया हूँ', 'काले लोग', 'लापता का हुलिया' और 'काफ़ी बाद'—को विभिन्न कारणों से पसन्द नहीं कर सका और श्रेष्ठ शेष छप्पन में से कुछ-एक का बिल्कुल उल्लेख न कर सका किन्तु मेरा विश्वास है कि अपने सामने की कविताएँ कुँवर नारायण की काव्य-यात्रा में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हैं जिसमें उन्होंने अपनी छवि को अतिक्रमित किया है। भाषा, कथ्य और शिल्प तीनों के स्तर पर *अपने सामने* की कविताएँ उनकी पिछली सारी काव्य-कृतियों से बहुत आगे की ज़मीन पर खड़ी हुई हैं—जहाँ भाषा पैनी और लचीली हुई है, वहाँ पहले की अतिशय

बौद्धिकता या विचारशीलता भी कविता बन सकी है। कुँवर नारायण को 'कवियों का कवि' बन जाने का बहुत ख़तरा था—*अपने सामने* की कविताएँ पढ़कर यह आश्वस्ति होती है कि वे कवियों के लिए ही नहीं, बल्कि आज की तथा आनेवाली कविता और उसके पाठकों के लिए भी प्रासंगिक कवि बने रहेंगे। यहाँ इसका अवकाश नहीं है कि कुँवर नारायण की पिछली कविताओं तथा इन कविताओं को परस्पर सामने रखा जाये लेकिन 18 वर्ष (*परिवेश : हम-तुम* के बाद) या 14 वर्ष *(आत्मजयी)* के बाद नयी कविता के संस्कारों को नैसर्गिक रूप से त्यागते हुए वे हिन्दी साहित्य के आठवें दशक के अन्त तथा नवें दशक के प्रारंभ में भी अपने लिए एक निजी तथा प्रासंगिक स्थान बना पाए हैं। यह अच्छे कवियों के सूखे से ग्रस्त समसामयिक कविता की मरुभूमि के लिए अप्रत्याशित वर्षा की तरह है।

कोई भी अच्छा कवि किसी भी आलोचक की गिरफ़्त में पूरा नहीं आता—किसी अच्छी किताब की मुकम्मिल समीक्षा के लिए शायद एक दूसरी ही किताब लिखनी पड़ती है और फिर भी लगेगा कि कुछ छूट-सा गया है। किसी अच्छे संकलन की एक भी अच्छी कविता की एक पंक्ति को भी, एक शब्द तक को भी आलस्य, लापरवाही, प्रमाद या अहंमन्यता में नज़रअन्दाज़ करना कवि का तो ज़्यादा कुछ नहीं बिगाड़ता, तथाकथित आलोचक की क़लई अवश्य खोल देता है। कुँवर नारायण की इन कविताओं में ऐसे कई आंतरिक 'ट्रांजीशन' हैं, 'मैं', 'तुम', 'वह' और 'हम' के अनेक रूप और अर्थ हैं, फिर उसके बाद उनकी कुछ प्रेम-कविताएँ हैं या प्रेम तथा प्रकृति की मिली-जुली कविताएँ हैं, कुछ कवि-कर्म को लेकर परेशानी की रचनाएँ हैं, जिनका विस्तार से विश्लेषण होना चाहिए। भावनाओं और विचारों को बौद्धिक या आध्यात्मिक चिन्ता या संकट की कविता का रूप देने वाले हिन्दी में एकमात्र कवि कुँवर नारायण हैं—आदमी होने की 'क्राइसिस' के वे एक साथ एक व्यक्ति, एक भारतीय तथा एक विश्व-नागरिक के रूप में कवि हैं और वह भी सिर्फ़ वर्तमान समय-बिन्दु पर नहीं, बल्कि एक ऐतिहासिक नैरन्तर्य में। ऐसे कवि की कोई भी अच्छी कविता आलोचक से केवल सहृदयता, रसज्ञता अथवा आस्वादकता से कहीं ज़्यादा माँग करती है—लगभग पूरा जागरूक मनुष्य होने की माँग करती है। कुँवर नारायण की कविता आलोचक के लिए एक बहुत बड़ी और श्रेयस्कर चुनौती है जिससे कतराकर वह अपने को समृद्ध बनाने का और आज की कविता तथा विश्व की जटिलता से मुठभेड़ का एक सुअवसर ही गँवायेगा।

---

अशोक वाजपेयी

# कविता के देश में

*बाहर मैं कर दिया गया हूँ। भीतर, पर, भर दिया गया हूँ*
—निराला

अगर हम हिन्दीभाषी समाज और कविता के सम्बन्ध पर विचार करें तो आज जो स्थिति है वह बहुत विचलित करने वाली है। कविता का आज समाज से जितना सीधा सरोकार है, शायद पहले कभी नहीं था। कविता में नितांत समसामयिकता एक परम मूल्य की तरह प्रचलित है : आज जो हो रहा है, आज के जो दबाव-तनाव हैं, आज की हालत के बारे में आज की हिन्दी कविता का अधिकांश सीधे-सीधे बात करता है पर विडम्बना यह है कि कविता के प्रति समाज की विमुखता या उदासीनता भी शायद अभूतपूर्व ही है। हिन्दी अंचलों में हर वर्ष लाखों छात्र-छात्राएँ अपनी कक्षाओं और पाठ्यपुस्तकों में कविताएँ पढ़ते हैं और उनमें से एक प्रतिशत भी कविता में रुचि या उसका रस लेने के क्षेत्र में थम नहीं पाते। जिसे हम महत्त्वपूर्ण और विचारणीय कविता कहते हैं उसके पाठकों या श्रोताओं की संख्या हिन्दी भाषी जनसंख्या के मान से लगभग नगण्य है क्योंकि पुस्तकें, वे भी कविता की, ख़रीदनेवालों की संख्या लज्जाजनक रूप से इतनी कम है कि उसे संख्या मानने में भी संकोच होता है। यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि किस तरह के कविता विमुख और पुस्तक-उदासीन समाज में आज हिन्दी कविता लिखी जा रही है।

हिन्दी आज भी स्वयं अपने क्षेत्रों में विचार और चिन्तन की भाषा नहीं बन सकी है। यह नहीं कि उसके ऐसा बनने में कोई आत्यंतिक असामर्थ्य है। सामर्थ्य का कोई अभाव नहीं है पर फिर भी तथ्य यह है कि उसमें दर्शन, विज्ञान, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान आदि का कोई मौलिकता या तात्त्विक कार्य नहीं हुआ है। हम ऐसे किसी बड़े दार्शनिक, अर्थशास्त्री, वैज्ञानिक का नाम नहीं ले सकते जिसका बुनियादी कार्य सीधे हिन्दी में हुआ और मान्य हुआ हो। क्या इससे यह दुर्भाग्यपूर्ण निष्कर्ष नहीं निकलता कि हिन्दी मानसिकता में विचार, सूक्ष्मताओं और जटिलताओं के प्रति ही उदासीनता है ? दूसरे शब्दों में यह कि हिन्दी भाषा जैसी वह आज है, में न साहित्य

प्रेमी हैं न विचार प्रेमी। इसे शायद इस तथ्य से भी प्रमाणित माना जा सकता है कि फूहड़ और सतही का आकर्षण हिन्दी क्षेत्रों में कई गुना बढ़ा और फला-फूला है। हमारे बड़े कवियों और लेखकों के गौरवग्रंथ अगर पाठ्यक्रमों में न हों और अगर साहित्य से किसी बुनियादी लगाव के कारण नहीं बल्कि शुद्ध प्रोफ़ेशनल विवशता के चलते फैला विराट् आलोचना और शोध का उद्योग न हो, बहुत हाशिए की चीज़ भर रह जाएगा। यह तो शायद हमारा अपना मनोबल हर हालत में ऊँचा रखने का द हटयोग है कि हम इस स्थिति को समूची हिन्दी संस्कृति का एक बुनियादी संकट नहीं मानते।

यह बात भी नज़रअंदाज़ नहीं की जा सकती कि अख़बारों में, मासमीडिया पर, राजकाज में सार्वजनिक अभिव्यक्ति के अन्य मंचों पर हिन्दी भाषा के साथ जो अनाचार या अत्याचार हो रहा है उसका कोई प्रतिरोध हिन्दी समाज में कम से कम दीखता तो नहीं है। उदारता और ग्रहणशीलता के नाम पर हर किसी को यह छूट मिली हुई है कि वह व्याकरण, वाक्य-विन्यास, उच्चारण, हिज्जों आदि के साथ जो चाहे मनमानी करे। जो चाहे हमें उपदेश देने का अधिकार पा गया है कि हिन्दी भाषा को कैसी होना चाहिए या कि उसे अभी किस दिशा में विकास करना है। अपनी भाषा के प्रति जैसा लगाव या ममत्व कई हिन्दीतर अंचलों में है उसकी तो जैसे कल्पना भी हमारे यहाँ करना असंभव है। मराठी में लेखकों की एक प्रदेशव्यापी यात्रा 'ग्रंथाली' निकलती है और लाखों रूपयों की पुस्तकें सीधे पाठकों को वेचकर सम्पन्न होती है। हिन्दी में सामान्य नागरिक तो दूर अव हिन्दी के वैध विद्यार्थी भी नहीं जानते या जानना चाहते कि हमारे आज के महत्त्वपूर्ण लेखक या ग्रंथ कौन से हैं।

यह नहीं कि हिन्दी भाषी साहित्य या कविता के नाम पर कुछ पढ़ या सराह नहीं रहे हैं--घटिया और सतही, सनसनीखेज़ और फूहड़ साहित्य का व्यापार विराट् है और अपार हिन्दीजन द्वारा ही संपोषित है। लाखों लोग घटिया ढंग से हास्य और व्यंग्य, दयनीय रूप से भावुक और गलदश्रु, क्लीशों से भरी कविता आधी-आधी रात तक बैठकर सुनते हैं। वे उन लेखकों और कवियों की रचनाएँ हैं जिनका हमारी सारी आलोचना या गंभीर और उत्तरदायी साहित्य-चर्चा में भूल से भी कभी ज़िक्र भी नहीं होता। कारण जो भी हो यह मानने से कोई छुटकारा नहीं कि जब हिन्दी कविता ने समकालीन जीवन, उसके अंतर्विरोधों और संघर्षो को, उसकी बहुलता और गहराई से जूझने की इतनी व्यापक और खरी चेष्टा शुरू की है तब उसके लिए हिन्दी समाज में बहुत कम जगह बची है। कविता का सामाजिक और आंतरिक व्योम बहुत विस्तीर्ण हो गया है पर उसका भौतिक व्योम इतना संकीर्ण हो गया है कि उसे शायद व्योम कहना ही नहीं चाहिए--वह निरा सँकरा-सा अवकाश भर है। बल्कि शायद कहा तो यह भी जा सकता है कि हिन्दी अंचल जिस तरह के दायवंचन की गिरफ़्त में है

और उसमें जिस तरह की सांस्कृतिक अराजकता फैल गई है उसमें महत्त्वपूर्ण कुछ करने की, अर्थात् स्थापित व्यवस्था को किंचित् विचलित करने की एक अविचारित और उपेक्षा-भरी छूट भर है।

हिन्दी समाज के कुछ और पक्षों पर भी ध्यान देना इस सिलसिले में ज़रूरी है। किसी भी समाज में सूक्ष्मता और जटिलता के प्रति आकर्षण नहीं होता जबकि सब जानते हैं कि किसी भी समाज में सूक्ष्मता और जटिलता के प्रति एक तरह की हिंस्र और आक्रामक असहनशीलता बढ़ी है—हिन्दी में—और उसका प्रभाव उसकी आलोचना पर भी पड़ा है—सूक्ष्म और जटिल असह्य है, लगभग अमान्य। यहाँ विस्तार में जाना ज़रूरी नहीं है कि कैसे एक जटिलता-विरोधी नया शास्त्र विकसित किए जाने की गंभीर चेष्टा हो रही है और कैसे हमारी कृतियों और लेखकों को सहजता-सरलता की नई सारणियों में रखा जा रहा है और कैसे इस चेष्टा का अर्थ अंततः हिन्दी की अपनी जातीय परंपरा का अवमूल्यन है। यह बताना अनावश्यक होना चाहिए कि कबीर, तुलसीदास, प्रसाद, निराला, अज्ञेय, मुक्तिबोध, शमशेर, रघुवीर सहाय और त्रिलोचन सार्थक और अनिवार्य रूप से जटिल हैं और उनका तथाकथित दो टूकपन या जीवन-पक्षधरता इस जटिलता के विरुद्ध नहीं जाती, बल्कि यह जटिलता का उस पक्षधरता या जीवनासक्ति का अनिवार्य अनुषंग है। जटिलता और सरलता का ध्रुवीकरण अवास्तविक है—एक ही कवि में, जैसे कि जीवन में भी, ये दोनों जब-तब या साथ-साथ हो सकते हैं। कई बार ऊपर से सरल लगनेवाली अभिव्यक्ति अपने निहितार्थों में ख़ासी जटिल हो सकती है। अलबत्ता व्यर्थ का उलझाव वांछनीय नहीं है जैसे कि सूक्ष्मताओं और उलझनों को नज़रअंदाज़ करती सरलता भी नहीं—दोनों ही अवस्थाओं में जीवन की सच्ची रचनात्मकता की उपेक्षा होती है।

हिन्दीभाषी अंचल में राज बढ़ता जाता है, समाज घटता जाता है। ऐसे अनेक क्षेत्र हैं जो सदियों से राज के हस्तक्षेप के बाहर माने जाते थे। वे सब धीरे-धीरे राज के दायरे में आ गए, राज ने उन्हें समाज से लगभग छीन लिया है और हमने ऐसा होने को अपना मूक-मुखर समर्थन दिया है। सामाजिक कर्म और सार्वजनिक जीवन के इतने सारे क्षेत्र हैं जिनमें हिन्दी अंचलों में कोई स्वतः स्फूर्त आंदोलन या सामाजिक सक्रियता नहीं है जबकि उदाहरण के लिए महाराष्ट्र, गुजरात या केरल में शिक्षा, पर्यावरण, संस्कृति आदि क्षेत्रों में समाज की उपस्थिति और क्रियाशीलता प्रमुख है न कि राज की। हिन्दी में तो साहित्यिक पुस्तकों का प्रकाशन पाठकों पर नहीं, सरकारी ख़रीद पर भयावह रूप से निर्भर है। कई बार तो यह दुस्वप्न सताता है कि जल्दी ही हम हिन्दी के समाज में नहीं हिन्दी के राज में रहने लगेंगे। समाज तो कविता में दिलचस्पी ले सकता है, राज नहीं। विशेषतः प्रजातांत्रिक राजव्यवस्थाएँ तो साहित्य

की उपेक्षा ही करती हैं—अलबत्ता सर्वसत्तावादी राजव्यवस्थाएँ साहित्य को ख़तरनाक मानकर उस पर ध्यान एकाग्र करती हैं। विडंबना यह है कि समाज का राजीकरण उस अंचल में हो रहा है जहाँ जन के नाम पर साहित्यिक हलक़ों में बड़ी गहमागहमी है और जहाँ अभी कुछ सदियों पहले सूरदास जैसे महाकवि हुए हैं जिनके लिए मानो राज का कोई अस्तित्व ही नहीं था।

हिन्दी साहित्य इस बात पर सचमुच गर्व कर सकता है कि उसमें किसी तरह का धार्मिक-सांप्रदायिक लेखन संभव ही नहीं है। संप्रदायवादी भले किसी लेखक या कृति का दुरुपयोग कर लें पर कोई बाक़ायदा महत्त्वपूर्ण या विचारणीय लेखक या कृति हिन्दी में आज नहीं है जिसे हम सांप्रदायिक कह सकें। इसे हिन्दी की जातीय परंपरा का एक मूल तत्त्व ही कह सकते हैं कि उसमें दृष्टियों की बहुलता का और इसलिए समभाव का सहज और निरंतर स्वीकार है।

यहाँ हम याद कर सकते हैं कि 1933 में 'सुधा' में लिखते हुए निराला ने कहा था—'भारतीयता के नाम पर जिस कट्टरता, सीमित भावों और कार्यों का प्रचार किया जाता है, रक्षा की जाती है, वह अस्तित्व को क़ायम रखने की जगह नष्ट ही करती है। अस्तित्व तो व्याप्ति ही से रह सकता है। यहाँ का सनातन धर्म व्याप्ति है भी।' फिर ऐसा क्यों है कि हिन्दी अंचल ही देश में सबसे अधिक सांप्रदायिकताग्रस्त हैं ? इधर सबसे अधिक दंगे और धार्मिक उन्माद का सबसे व्यापक उभार हिन्दी अंचल में ही है। थोड़ा ठिठककर सोचें तो क्या राजनीति का सबसे अधिक अपराधीकरण भी हिन्दी अंचल में नहीं हुआ है ? क्या हम यह नहीं कह सकते कि हिन्दी अंचल का प्रभुत्व वाला वर्ग हिन्दी के अपने मौलिक संस्कारों के विपरीत जाकर भी इस अंचल में अपना प्रभुत्व जमाने में सफल हुआ है और इस अर्थ में हिन्दी में साहित्य और समाज के बीच नहीं, तो भाषा और प्रभुत्व के बीच संपूर्ण विच्छिन्नता है। यह विच्छिन्नता साहित्य को तो सार्वजनिक जीवन के हाशिए में ढकेलती ही है, हिन्दी भाषा और जन की सांस्कृतिक नियति को एक विकट ख़तरे में डाल रही है। आज की कविता इस परिस्थिति में अगर प्रायः आत्मसंबोधित है तो इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए। अगर भाषा ही कभी कविता के संबोधन को अनावश्यक मान ले तो बात और है अन्यथा एक ऐसे समाज में जहाँ प्रभुवर्ग कविता को फ़िज़ूल मानता हो और जन उसके प्रति उदासीन हो, कविता अपना स्वत्व और सत्व आत्मसंबोधित होकर ही बचा सकती है।

निराला ने 1933 में ही एक और महत्त्वपूर्ण टिप्पणी की थी—'जनता साहित्य के साथ नहीं रहती, साहित्य के साथ लाई जाती है। पर हमें विश्वास है, साहित्य

की महाप्राणता, जो जनता को ज्ञान के भीतर से बहा ले गई है, एक दिन अपनी शक्ति का परिचय देगी।' जनता को साहित्य के साथ लाने का प्रयत्न करने वाले हमारे समाज में कौन हैं ? कुछ संस्थाएँ : उदाहरण के लिए पूरी शिक्षा-व्यवस्था, पत्रिकाएँ, लेखक संगठन और आलोचना का विशद व्यापार। यहाँ विस्तार में जाना आवश्यक नहीं है पर यह बात नोट की जा सकती है कि ये सभी एजेंसियाँ कुल मिलाकर सफल नहीं हो सकी हैं अन्यथा जनता का, साहित्य के संदर्भ में, इतना विसंस्कारीकरण न हुआ होता कि वह सच्चे, विचलित करने और दृष्टि देने वाले साहित्य के प्रति इतनी उदासीन रहती और उत्तेजक और सतही के प्रति इतनी आकर्षित। कई बार तो लगता है कि साहित्य इन एजेंसियों के लिए लक्ष्य नहीं बल्कि अपना प्रभुत्व स्थापित करने और बनाए रखने का उपजीव्य भर है। दिक़्क़त यह है कि परिस्थिति इतनी विषम लगती है कि निराला की तरह साहित्य की महाप्राणता और उसकी शक्ति में विश्वास निराशा का कर्तव्य जान पड़ता है। जनता को 'बहाने' वाली शक्तियाँ साहित्य के लिए कुछ करेंगी या करना भी चाहेंगी, यह दुराशा मात्र लगती है।

यह माना जाता है कि पिछले पच्चीस-तीस बरसों में हमने अपनी पश्चिमाभिमुख आधुनिकता की सीमाओं को पहचाना है और एक अधिक जातीय, आत्मविश्वस्त भारतीय आधुनिकता की ओर क़दम बढ़ाए हैं। मनुष्य का संसार से सम्बन्ध, मनुष्य और प्रकृति का साहचर्य, मनुष्य की नियति आदि प्रश्नों पर जो पारंपरिक भारतीय दृष्टि रही है और उसके भारतीय मनोरचना और समाज व्यवस्था के लिए जो फलितार्थ हैं उन्हें हमने जानना-पहचानना शुरू किया है। पहले भारतीय मिथकों या पुराणकथाओं की नए अर्थों में व्याख्या करके अपनी जड़ों से जुड़ने की ज़रूरत पूरी हो जाती थी पर अब अधिक गहरे और मूलधर्मी प्रश्नों और चिंताओं से सृजनात्मक कल्पना जुड़ने लगी है। समूची जीवनदृष्टियों और पद्धतियों, उनके हमारे समाज में अभी भी प्रासंगिक और सक्रिय होने की पहचान ने भी परिदृश्य पर प्रभाव डाला है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भारतीय सनातनता और अपने समय के सम्बन्धों की द्वन्द्वात्मकता हमारे विचार और सृजन जगत् का अंग बनी है—इतिहास, व्यक्ति, समाज आदि अनेक अपने संदर्भ में अपरीक्षित कोटियों पर हमने पुनर्विचार आरंभ किया है। नीरंध्र परंपरावाद (जो पिछले दो सौ वर्षों को एक अनादि-अनंत कालचक्र में विशेष महत्त्व का नहीं मानता) और नीरंध्र आधुनिकतावाद में (जिनके लिए दो सौ वर्षों के और उस दौरान हावी हुए एकरैखिक ऐतिहासिक समय के अलावा कालचक्र या अन्य किसी जातीय बोध का अस्तित्व ही मानो नहीं है) चल रहे समर और उसके मुद्दों का अहसास बढ़ा है। एक नक़लची और आत्मतुष्ट प्रभुत्व वर्ग के प्रभाव में

हमारा समाज एक अनुसमाज बनकर न रह जाए या किसी तरह के सतही समन्वयवाद में न फँस जाए, इसकी चिंता भी बढ़ी है।

इधर सचाई के बड़े दावेदार के रूप में जनसंचार माध्यम भी उभरे हैं। प्राचीनों को इस तरह की स्पर्धा का सामना नहीं करना पड़ा था और अभी बीस बरस पहले तक इन माध्यमों का प्रचार-प्रसार इतना नहीं था कि उन्हें हिसाब में लेना ज़रूरी हो। पर अब दृश्य पूरी तरह बदल गया है—उनके पास अपार साधन हैं और तथ्यों को हूबहू तत्परता से सामने लाने की अनेक युक्तियाँ भी। ऐसी हालत में कविता तथ्यसंग्रह के स्तर पर उनका मुक़ाबला नहीं कर सकती, बल्कि उनसे प्रक्षेपित वास्तविकता के संस्करण ही वास्तविक माने जाने लगे हैं और वास्तविकता के शेष रूप या तो कम वास्तविक या अविश्वनीय। ऐसे में हो सकता है कि सचाई का वह हिस्सा कविता के पल्ले अभी भी पड़ सके जो इन माध्यमों से उनकी प्राथमिकताओं के चलते छूट जाता है। ज़ाहिर है कि कविता छूटी हुई सचाई से न तो अपना काम चला सकती है, न ही अपने अस्तित्व का औचित्य सिद्ध कर सकती है। कविता अब तथ्यों का दस्तावेज़ या सचाई का विवरण होने की बजाय अपने को कल्पनाशक्ति के सहारे सचाई का नया ज़ोखिम (एडवेंचर) बना सकती है—उसका गल्प हो सकती है जो तथ्यों के बदलने से अप्रासंगिक नहीं हो जाएगा। तथ्य और उनके संग्रह या संयोजन कालांतर में तिरोहित हो सकते हैं पर कल्पना की संरचनाएँ अधिक टिकाऊ सिद्ध हुई हैं।

अगर ऊपर किया गया कविता की स्थिति का आकलन सही है तो यह ज़ाहिर है कि बहुत हद तक कविता एक ऐसे समाज में लिखी-पढ़ी जा रही है जिसकी उसे न तो ख़ास परवाह है, न ही शायद कोई ज़रूरत। ऐसी हालत में कविता के सामने दो ही विकल्प हैं—एक तो यह कि वह अपनी स्थिति के ऐसा होने के ट्रैजिक बोध के साथ सचाई के ऐसे गल्प बनाती रहे जो सिर्फ़ उसी के वस के हैं और दूसरा यह कि वह उन शक्तियों की पिछलगुआ हो जाए जिनका प्रभुत्व इस समाज में है और इस बहाने कुछ महत्त्व हासिल करने की कोशिश करे। जैसे कि जीवन में, वैसे ही कविता में यह ज़रूरी नहीं है कि इनमें से कोई एक विकल्प ही चुना जाए—सही तो यह है कि हिन्दी कविता ने पिछले तीन-चार दशकों में दोनों ही विकल्प, अक्सर साथ-साथ आज़माए हैं।

राजनीतिक, धर्म या विज्ञान संसार को समझने-बदलने के माध्यम हैं। कविता भी ऐसा ही माध्यम है। उनकी एक बिरादरी बनना स्वाभाविक है। लेकिन कुछ माध्यम हैं जो शक्ति और सत्ता से सन्नद्ध हैं और मानव समाज में शक्ति या सत्ता पाने

या भोग सकने में मदद करते हैं। कुछ हैं जो इस मामले में असहाय हैं—उनकी अपनी सार्थकता और अस्मिता है पर जिस तरह का समाज आज बन गया है उसमें अनेक माध्यम से किसी तरह की शक्ति या सत्ता नहीं मिल सकती। कविता उन्हीं निरुपाय माध्यमों में से है। सत्ता की दृष्टि से वह एक अकिंचन कर्म है। बल्कि हमारे जैसे कविता विमुख समाज में तो वह आर्थिक दृष्टि से भी एक दरिद्र कर्म है। शायद उसकी भौतिक असहायता, अकिंचनता और सत्ता से दूरी ही उसे उसकी आध्यात्मिक गरिमा और उसका शांत अनाक्रामी गौरव देते हैं। कविता का मार्ग चुनना मुक्तिबोध के शब्द लेकर कहें 'गरबीली ग़रीबी' जान बूझकर वरण करना है। इसे रूमानियत या हवाईपन कहकर व्यवहारबुद्धि वाले ख़ारिज करते हैं या उसका मज़ाक़ उड़ाते हैं। महान् स्वप्नों के एक-एक कर चूर होने वाले समय में, दुस्वप्नों से आक्रान्त युग में यह रूमानियत और स्वप्नशीलता अपनी तथाकथित अप्रासंगिकता से ही अपनी एक अलग प्रासंगिकता बनाती है। आत्मा के गुप्तचर अपना काम चुपचाप ही कर सकते हैं।

दूसरा विकल्प भी है—अपने को किसी शक्तिशाली का पिछलगुआ बनाकर शक्ति अर्जित करने का विकल्प। इसे स्वीकार करने वाले लोग भी हैं और सिर्फ़ वे ही नहीं जो कविता को मसलन मनोरंजन उद्योग के साथ जोड़कर उसे तथाकथित जन कविता बनाते हैं जिसके अधिकांश कवियों को पीछे छूट जाने का, जन के साथ न माने जाने का भय इतना सताता है कि उनका अकेले होने या रह जाने का साहस शेष नहीं रहा। आइरिश कवि शीमस हीनी ने स्थानीय और प्रादेशिक कल्पना में जो भेद किया है वह इस प्रसंग में हमारे काम का है। स्थानीय कल्पना को अपनी पल्ली या स्थान के कविता के विषय होने की कलात्मक वैधता के बारे में कोई शंका नहीं होती जबकि प्रादेशिक कल्पना हमेशा ही अपने कंधों के ऊपर महानगर की ओर उसका अनुमोदन पाने के उद्देश्य से ताक रही होती है। इधर के अनेक कवि छोटे-छोटे अश्रुतपूर्व स्थानों से आए हैं पर उनकी कल्पना दुर्भाग्य से स्थानीय नहीं, प्रादेशिक है या स्थानीय से शुरू होकर जल्दी ही प्रादेशिक हो जाती है। यह भी निरा संयोग नहीं है कि उनमें से अधिकांश या तो महानगर पहुँच ही जाते हैं या पहुँचने की निरंतर चेष्टा में लगे रहते हैं।

इधर की कविता की दूसरी कमी है ऐन्द्रियता का अभाव। एक तरह से अख़बारीपन ने हमारी कविता भाषा को यों ग्रस लिया है कि उसमें पठनीयता और प्रसाद गुण तो आ गए हैं पर सम्बन्धों और वस्तुओं की ऐन्द्रियता धीरे-धीरे ग़ायब होती जा रही हैं। यह आश्चर्य की बात है कि पचहत्तर बरस की उमर में लिखी गई

शमशेरबहादुर की 'काल तुझसे होड़ है मेरी' में संग्रहीत कविताएँ इधर की सबसे ऐन्द्रिय कविताएँ हैं। यह विचित्र है कि इधर की कविता हालाँकि युवा कवियों द्वारा लिखी जा रही है उसमें प्रेम और शृंगार का एकदम देशनिकाला नहीं तो उनके बारे में अजब-सी झिझक ज़रूर दीख पड़ती है। यह एक नए क़िस्म की जड़ीभूत सौंदर्याभिरुचि है जो इन अत्यंत मानवीय और स्वाभाविक भावों को कविता में आने से रोकती है। सच्ची, प्रश्नाकुल विचारशीलता और गहरी अचूक ऐन्द्रियता का एक साथ शिथिल पड़ना आकस्मिक नहीं है—जो दृढ़ता से सोच नहीं सकता वह गहराई से भोग भी नहीं सकता। इसीलिए इधर की काव्यभाषा में अंतर्ध्वनियाँ नहीं हैं। वे लगभग ज़िद कर इकहरी यथार्थ की दो टूक संरचनाएँ है जो अपने पूर्वाविचारित सत्य से इतनी आक्रांत हैं कि गल्प बनना भूल जाती हैं।

कविता में नवाचार और प्रयोग की परंपरा भी इधर शिथिल हुई है। यह सोचकर विचित्र लगता है कि जिस तरह का और जितना विविध नवाचार अज्ञेय, मुक्तिबोध या शमशेर ने किया या बाद में रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा और विनोदकुमार शुक्ल ने, उस तरह की नवाचारिता इधर पिछले दो दशकों में निस्तेज पड़ गई है। भाषा शिल्प, तकनीक, बिंबविधान, प्रतीक व्यवस्था आदि अनेक स्तरों पर इन कवियों ने जो प्रयोग किए उनके मुक़ाबले आज की कविता न तो प्रयोगशील है, न ही इनोवेटिव। एक तरह से छायावाद से नवाचार की जो परंपरा नई कविता ने नये रूप संयोजन कर आगे बढ़ाई थी वह उधर की कविता में आकर सूख गई लगती है। किसी भी अर्थ में यह अवसान दुखद और दुर्भाग्यपूर्ण है।

अंत में एक और विडम्बना की ओर संकेत करना ठीक होगा। इधर, यानी स्वतंत्रता के बाद भारत में कविता का सत्ता से ऑब्सेशन बढ़ा है। एक प्रजातांत्रिक व्यवस्था में शायद यह अस्वाभाविक नहीं है। मुक्तिबोध और रघुवीर सहाय जैसे कवियों के यहाँ सत्ता की उपस्थिति हमारी आंतरिकता और हमारे समय का कुछ बहुत विचलित करने वाला गल्प हमारे सामने लाती है। लेकिन इसके कुछ दुर्भाग्यपूर्ण पक्ष भी हैं। एक तो है सत्ता के विरोध की सस्ती नाटकीयता का प्रलोभन और उसे पोसने वाला सरल दिमाग़ीपन। दूसरा है कविता का नवविकसित सत्ता केन्द्रों के आसपास एंकाग्र होना—फिर ये केंद्र राजनैतिक सत्ता के हों, संगठनों के या अख़बारों के। तीसरा है एक तरह के नैतिक भोथरेपन का विस्तार जिसके रहते सत्ता के साथ अपने सम्बन्ध का प्रायः कोई आत्मालोची स्पेस नहीं बन पाता पर दूसरों की नीयत पर शंका और अपनी नैतिक श्रेष्ठता एक आदत ही बन जाती है। हम यह भूल से गए हैं कि कविता की अदालत की मूल प्रतिज्ञा ही यह है कि वहाँ किसी दूसरे पर अभियोग नहीं लगाया जा सकता है कि वहाँ सिर्फ़ आत्माभियोग की इजाज़त है और यह उसकी परम

नैतिकता है। वह सत्ता पर संदेह तभी कर सकती है जब पहले अपने पर भी संदेह करे। अपने-अपने कठघरों में स्वेच्छया कै़द लोग दूसरे लोगों के लिए अदालत नहीं हो सकते। कम-से-कम उन्हें ऐसा होने से बराबर इनकार तो करना चाहिए। कविता का महत्त्व होने में है, किसी और का अनुकरण या संस्करण होने में नहीं। त्रिलोचन का एक कवितांश है :

*दौड़-दौड़ असमय समय न आगे आए,*
*वह कविता क्या जो कोने में बैठ लजाए।*

कविता अवश्य दौड़ती है पर जीवन और मनुष्य के लिए, भाषा के लिए, किसी और के लिए नहीं।

---

अशोक वाजपेयी

# उदाहरण होने से बचकर

वैसे तो यह कहा-माना जाता रहा है कि पिछले बीस-पच्चीस बरसों में कविता ने अलंकारों से अपने को मुक्त किया है और सपाटबयानी और सीधे साक्षात्कार को अपना मूलाधार बनाया है, लेकिन इस व्यापक काव्य-मुक्ति के बावजूद यह देख पाना बहुत मुश्किल नहीं है कि ज़्यादातर कविता बराबर किसी-न-किसी आलंकारिकता का शिकार होती रही है। परम्परा से चले आये और जाने-पहचाने अलंकार-आभूषण भले छोड़ दिये गये हों, तथाकथित सामाजिकता और उसको लेकर विकसित हुआ 'हीरोइक्स', तनावग्रस्त व्यक्ति और उसे लेकर घिरी आत्मदया और नैतिक अहंकार आदि अनेक नयी रूढ़ियों ने काव्यदृश्य पर—और यह अधिक दुर्भाग्यपूर्ण है कि युवा प्रतिभा पर—क़ब्ज़ा जमाया है। ज़िम्मेदार और सार्थक रचना वहाँ सम्भव हुई हैं जहाँ इस नयी आलंकारिकता के प्रलोभन के प्रति कवि सतर्क रहे हैं और जहाँ कविता को किसी तरह 'हीरोइक्स' बनाये बग़ैर एक सीधे-सच्चे आदमी के बेलाग और तीखे बयान और बखान के रूप में लिखा और पहचाना गया है। ऐसे कवियों में, जो हर हालत में थोड़े ही हैं, विनोदकुमार शुक्ल की कोशिश बहुत उल्लेखनीय है।

विनोदकुमार शुक्ल के यहाँ कविता किसी भी तरह की यानी चालू मुहावरों की नयी आलंकारिकता, सबको तुच्छ-नगण्य मानने की अतर्कित बहादुरी, बड़बोलेपन और मध्यवर्गीय आत्मदया, सभी से मुक्त है। यही कारण है कि उनकी कविता सबसे अलग दीखती है : इतनी अलग कि न केवल पुराने पैमानों से बल्कि कविता के तीस विद्रोही वर्षों के बाद बनी पहचान से भी उसे ठीक-ठीक पहली नज़र में कविता कहना मुश्किल है। यह कविता इतनी धूसर, शान्त, सादी और कविता के लटकों से अलग है कि कविता ही नहीं लगती। वह आजकल लिखी जा रही कविता का एक तरह से प्रतिपक्ष है—प्रति कविता है। निजीपन और सामाजिकता का द्वैत इस कविता के लिए अप्रासंगिक ही है और सबसे बड़ी बात यह है कि विनोदकुमार शुक्ल कविता को लेकर किसी शहादत या वीरता भाव से क़तई पीड़ित नहीं हैं। यह कविता में अविश्वास नहीं है, बल्कि एक तरह का 'ट्रैजिक' और वस्तुनिष्ठ आकलन है कि कविता में किसी भी चीज़ को, चाहे वह स्वयं कविता ही क्यों न हो, बहुत

बढ़ा-चढ़ाकर नहीं देखा जा सकता। अगर हमारे समाज में और मध्यवर्गीय मानसिकता में कविता कोई केन्द्रीय भूमिका अदा नहीं करती तो यह भी आज की उस मानवीय स्थिति का अंग है जिसका साक्षात्कार कविता को करना है और उसे लेकर किसी तरह का अतिरेक बेमानी होगा। दरअसल विनोदकुमार शुक्ल का काव्य निर्मोह और अपस्फीति का काव्य है, जो जैसे अपने काव्य होने के प्रति भी कोई मोह नहीं पालता और उनके चारित्रिक मसख़रेपन से, अपने काव्य होने पर भी, स्वयं प्रश्नचिह्न लगाता चलता है।

ज़्यादातर कवि निचले मध्यवर्ग से आते हैं और किसी-न-किसी तरह के आभिजात्य के प्रति उनका आकर्षण अस्वाभाविक नहीं है। मसलन कई बार लगता है कि यौन या क्रान्तिकारिता के प्रति जो ललक युवा कवियों में रही है वह कहीं-न-कहीं अपनी सामाजिक आकांक्षाओं की क्षतिपूर्ति या एक ऐसे लोक में शरण लेने की इच्छा के कारण रही है जिसमें कुछ महत्त्वपूर्ण या चौंकानेवाला करने से मान्यता मिल सके। ये सभी अन्ततः आभिजात्य के ही संस्करण हैं, मान्यता की ही तलाश है हुआ यह है कि यह आकर्षण और यह खोज कवियों को उनकी मध्यवर्गीयता की ठोस ज़मीन से दूर ले गयी है। उसके नीरस उबाऊपन से मनोवैज्ञानिक मुक्ति पाने के लिए युवा कवि महत्त्व की उन धारणाओं से प्रेरित हुए हैं जो उनके निजी संघर्ष से अर्जित या उनकी अपनी हालत की निर्मम खोज से पैदा नहीं हुई हैं। इसलिए उनकी रचनाएँ महत्त्व की खोज हैं पर वैसा महत्त्व नहीं जो उन्हें अपनी जड़ों की खोज से मिल सकता हैं, बल्कि वह जो दूसरों द्वारा अभीष्ट है और जिसे पाने की इच्छा अपनी सामाजिक स्थिति को नज़रअंदाज़ या अपनी स्थिति को अतिरंजित करने पर ही होती है। विनोदकुमार शुक्ल की एक यह भी विशेपता है कि उसमें मध्यवर्गीय परिवेश से भागने की कोई कोशिश नहीं है। उलटे, कविता लगभग ज़िद्दी ढंग से अपने को निचले मध्यवर्ग और उसकी अनगिनत छोटी-बड़ी सच्चाइयों में ही रोपे रहती हैं अतिरंजना से वह लगभग कविता न माने जाने की हद तक मुक्त है। दूसरे शब्दों में, वह ऐसी कविता है जो कवि की ठोस निजी ज़िन्दगी और सामाजिक स्थिति को उसके पूरे ब्योरे में स्वीकार कर चलती है और कवि के मानवीय होने के समूचे अर्थ को धीरे-धीरे और अविचलित भाव से इन्हीं सच्चाइयों में खोजने के लिए जैसे प्रतिश्रुत है। विनोदकुमार शुक्ल की पूरी बिम्ब व्यवस्था, जीवन की छवियाँ, मुद्राएँ और मुहावरे सब इस सीमित दुनिया से आते हैं : मुहल्ला, खटारा साइकिल, रैताइन, धँसी इमारत में बूढ़ा माली, म्युनिसिपैल्टी का नल, बाल्टी, औरत, लड़की, दुकानदार, चपरासी, किरायेदार, पेड़, हरा तोता, पिंजड़ा, मालिक, घोड़ा, अठन्नी, गन्दा झोला, ईदगाहभाटा, नौकरी आदि मिलकर जो दुनिया बनाते हैं, वह निचले मध्यवर्ग की जानी-पहचानी लेकिन कविता से अब तक छूटी हुई-सी दुनिया है।

नायाब और दूरदराज़ चकित कर देनेवाले बिम्ब और प्रतीक जुटाने की ख़ासी आज़मायी हुई हिकमतें इस कविता के लिए ग़ैर-ज़रूरी हैं। कल्पना की दूरगामी उड़ानें भी उसके लिए अप्रासंगिक ही हैं। जिस कविता में बिम्बों का चमकता संसार नहीं, कल्पना की उड़ानें नहीं, उसमें भला बचता ही क्या है ? सुखद आश्चर्य यही है कि जो बचता है वह एक बिल्कुल अप्रत्याशित ढंग की कविता है। जो कुछ बचता है उसमें चीज़ों और लोगों के साथ अनेकविध और अप्रत्याशित सम्बन्ध है : यह कविता महानगर के अधिकतर कल्पित ऐश्वर्य और अतिरंजित संत्रास की कविता नहीं है। वह छोटे शहर की, मुहल्ले की कविता है : वह किसी शिखर या चौक के किसी मंच से दिया गया उद्दाम बयान नहीं है, बल्कि जैसे मुहल्ले की किसी चाय की दुकान की बेंच पर बैठकर की गयी निजी बातचीत है। इस कविता में कवि एक स्पष्ट और सक्रिय चरित्र है, पर उसे अपने कवि होने का कोई सीधा या हस्तक्षेपकारी बोध नहीं है। वह मुहल्ले में एक 'कवि' नहीं है—वह मुहल्ले में एक 'आदमी' है वह अपना और अपने संसार का शान्त भाव से बखान करता है लेकिन दोनों की सीमाओं के प्रति बराबर सचेत है—।

> मैं हमेशा जाता हुआ दिखाई देता हूँ।
> मैं अपनी पीठ बहुत अच्छी तरह पहचानता हूँ।

अपनी पीठ अच्छी तरह पहचानने से ही विनोदकुमार शुक्ल की कविता में प्रामाणिक सघनता आ पायी है : उसमें कहीं भी ऊपर या बाहर से दृष्टिपात करने की मुद्रा नहीं हैं यह बखान बीचोंबीच फँसे-बसे आदमी का है, जिसकी हिस्सेदारी के बारे में शक की कोई गुंजाइश नहीं।

मध्यवर्गीयता के गहरे रचे-बसे होने का यह आशय क़तई नहीं है। कि इस कविता में कल्पनाशील साहस का अभाव है या कि जिस तरह के कामचलाऊ और शुद्ध व्यावहारिक मूल्यों पर वैसा जीवन चलता है, उससे कोई समझौता विनोदकुमार शुक्ल करते हैं। उनकी संवेदना उनके सारे शान्त मिज़ाज और ठेठपन के बावजूद, निरे वस्तु संसार में और मानवीय सम्बन्धों में ऐसा कुछ खोजती है जो गहरी अन्तर्दृष्टि देता है और ऐसे अप्रत्याशित, विचलित करनेवाले अनुभवों के बीच हमें ले जाता है :

> घोड़ा भूखा था तो
> उसके लिए कुहरा हवा में घास की तरह उगा था।
> और कई मकान, कई पेड़, कई सड़कें इत्यादि कोई घोड़ा नहीं था।
> अकेला एक घोड़ा था। मैं घोड़ा नहीं था।
> लेकिन हाँफते हुए, मेरी साँस हूबहू कुहने के नस्ल की थी।

यदि एक ही जगह पेड़ के नीचे खड़ा हुआ वह मालिक आदमी था तो

उसके लिए मैं दौड़ता हुआ, जूते पहिने हुए था जिसमें घोड़े की तरह नाल ठुकी थी।

विनोदकुमार शुक्ल के यहाँ बराबर एक तरह की शान्त पर अनिवार्य ऐन्द्रिकता है, 'जो कुहरा हवा में घास की तरह उगा था' जैसी पंक्ति से अत्यन्त नाटकीय रूप से व्यक्त होती है, हालाँकि प्रायः कभी भी कोई विशाल और पारम्परिक क़िस्म की हाहाकारी नाटकीयता उसमें नहीं होती। चीज़ों को देखने-पकड़ने में उनके यहाँ एक तरह की आदिम शक्ति का भी एहसास होता है। कुहरा, हवा, पेड़, घोड़ा, मालिक और नाल जैसे बिल्कुल अतिपरिचित बिम्बों से वह लगभग अनायास एक ऐसे अनुभव-बिन्दु पर पहुँचते हैं जहाँ आदमी और घोड़े के बीच एक और आदमी के मालिक होने से एक अन्यन्त विचलित करनेवाला तादात्म्य हो जाता है। इस तादात्म्य को बिना किसी शोरगुल के दिखा पाना ही कामचलाऊपन और व्यावहारिकता के मध्यवर्गीय समझौतों से कविता को मुक्त करना है। मुक्तिबोध फ़ेलौशिप के दौरान लिखी गयी कविताओं में यह बात ज़्यादा साफ़ तौर पर समझ में आती है कि वह अपनी नैतिक संवेदनशीलता तक ही सीमित नहीं है और आदमी और उसके पड़ोस, आदमी और चीज़ों के संसार और आदमी के संसार को नियमित करनेवाली शक्तियों के संघर्ष के प्रति उनकी संवेदना का विस्तार हुआ है। उनका निरुद्वेग पहले जो भ्रम पैदा करता रहा हो, अब कम-से-कम इतना साफ़ है कि वह तटस्थ नहीं है :

> यह ज़मीन पर गिरे
> दो किलो चावल के एक-एक दाने को बीनकर
> मुहल्ले के लोगों के द्वारा
> इकट्ठा करने का
> इस तरह पेट से ज़्यादा
> समूह की ताक़त बढ़ाने का हिसाब है
>
> ... ...
>
> एक-एक कर जिसको जब भी मौक़ा मिले
> अकेले से अच्छा
> किसी को साथ लाना है।
>
> ... ...
>
> डंक मारनेवाले विचारों को फैलाना है।
> ज़रूरी काम है।

प्रगतिशीलता के नये दौर में भी लफ़्फ़ाजी से छुटकारा चूँकि नहीं हो सका है, यह अचरज नहीं होना चाहिए कि इस तरह की कविता की गहरी मानवीय आस्था को पहचाना न जाये और उसे एक तरह की शुद्ध कविता मानकर ख़ारिज कर दिया

जाये। लेकिन यह बात उल्लेखनीय है कि वैचारिक स्पष्टता और पक्षधरता विनोदकुमार शुक्ल ने अपनी कविता और मुहावरे का स्वाभाविक और संवेदनशील विस्तार करके ही अर्जित की हैं उन्हें किसी दुराग्रह की तरह ऊपर से थोपा या चस्पाँ नहीं किया है। चूँकि वह एक सजग कवि हैं, उन्होंने इसकी बराबर सावधानी बरती है कि चालू मुहावरों का कोई दख़ल उनकी कविता में न होने पाये। अपने मुहावरे और अनुभव की शुद्धता पर ऐसा आग्रह हर तरह की जोखिम उठाकर करना मार्मिक होने के साथ ही फलदायी भी रहा है नतीजा यह है कि विनोदकुमार शुक्ल का मुहावरा बिल्कुल अगल से पहचाना जा सकता है वह उन थोड़े-से मुहावरों में से है जिसका अलग व्यक्तित्व शुरू से ही स्पष्ट रहा है और जिसका आतंक अनेक युवा कवियों पर है। कई बार तो इतना कि उसकी अनुगूँजों से उनकी कविता मुक्त नहीं रह पाती। अपेक्षाकृत युवा कवि के लिए अपने काव्य-समय में ऐसी जगह पा सकना निश्चय ही उपलब्धि है।

आत्मविश्लेषण अक्सर इधर की कविता का स्थायी भाव रहा है। लेकिन ज़्यादातर विश्लेषण वस्तुपरक न होकर आत्मस्फीति में बदलता रहा है दूसरों को कमतर दिखाना या अपने को दूसरों से बेहतर बता पाना ही इस तरह के विश्लेषण का हश्र हुआ है। विनोदकुमार शुक्ल की कविता में इस तरह विश्लेषण एक लगातार प्रक्रिया है और आत्मस्फीति की बजाय उनके यहाँ लगातार अपस्फीति है। लेकिन यह अपस्फीति अपना या दूसरों का भण्डार फोड़ करने जैसी आसान हरकत पर अपने को केन्द्रित नहीं करती : सब पर शक करने की नैतिक संवेदन-हीनता से यह कविता मुक्त है बल्कि इसके बरक्स उसमें एक सूक्ष्म नैतिक बोध है जो अतिरंजना का बराबर निषेध कर वस्तुपरकता की ओर ले जाता है। अपनी या दूसरों की जो चीरफाड़ कविता में विनोदकुमार शुक्ल करते हैं वह सबकुछ को एकबारगी सन्देहास्पद बनाने के लिए नहीं है : वह अपनी हालत को ठीक-ठीक समझने-परखने के लिए है और अपने वर्ग को तजे बिना उस नाटकीय स्फीति से बचने के लिए है जिसमें मध्यवर्गीय व्यक्ति विशाल और मौलिक परिवर्तन का केन्द्रीय वाहक होने की खुशफ़हमी पालता है एक तरह का शरारती क्रीड़ा-भाव भी उन कविताओं में बार-बार उभरता है : कुछ-कुछ ऐसा, जैसे कि कोई अपना गुब्बारा फाड़ने के बाद दूसरों के पास वैसा ही गुब्बारा दिखने पर उसे सुई चुभो रहा हो। दूसरों पर जो टिप्पणी इस कविता में है उसका अधिकार खुद अपने पर निर्मम टिप्पणी कर कवि ने अर्जित किया है—और यह अधिकार बाहर नहीं, कविता के अन्दर ही स्वायत्त किया गया है। इसलिए यह कविता सिर्फ़ भाषाई अन्वेषण नहीं है, नैतिक अन्वेषण भी है।

अपस्फीति का काव्य एक ज़माने में हमें मनुष्य की नगण्यता की और 'लघु

मानव' की ओर, नयी कविता के दौर में, ले जा चुका है विनोदकुमार शुक्ल की कविता में महिमा-मण्डित मनुष्य नहीं है, बल्कि एक ऐसा मनुष्य है जो अपनी साधारणता में बराबर 'वध्य' है। लेकिन उनकी कविता पढ़ने से कोई बेचारगी या लघुता का बोध नहीं होता। अपनी निरलंकार साधारणता में मनुष्य अपने द्वारा किये जा रहे दूसरों के शोषण और खुद के शोषण को पहचानने की कोशिश करता है और शोषण से मुक्ति पाता है। यह मुक्ति, जो आत्मान्वेषण की शान्त परन्तु कठिन प्रक्रिया से मिलती है, इस कविता का एक तरह से अभीष्ट है। दरअसल विनोदकुमार शुक्ल अपने वर्ग की सबसे गहरी और प्रामाणिक पहचान इसी शोषण को देखने-परखने में देते हैं : मध्यवर्ग का जंजाल भी इसी में सबसे स्पष्ट रूप से झलक पाता है। मध्यवर्गीय मनुष्य स्वयं शोषक है और शोषित भी , और स्थिति का व्यंग्य और आशा दोनों इसी में हैं कि वही इस शोषण को पहचान भी पाता है। अपने चारित्रिक स्वभाव के अनुरूप इस कविता में इस शोषण का बखान कभी भी मुखर या सीधा नहीं है : यह राजनैतिक समझ नैतिक संवेदना और एक परिष्कृत काव्य-संवेदना के साथ ऐसी घुली-मिली है कि उसे अलग देख पाना आसान नहीं है। उसे कविता के अनिवार्य रूपाकार से बाहर निकालकर निरे विचार के रूप में रखना और परखना भी उन शर्तों के प्रतिकूल है जिन्हें सच्ची कविता अपने पाठक पर अदृश्य रूप से लागू करती है—भले ही आलोचनात्मक विश्लेषण के लिए ऐसा करना लगभग अनिवार्य-सा है।

भाषा और मुहावरे की समृद्धि का पारम्परिक प्रमाण यह रहा है कि किसी कवि का शब्द-भण्डार कितना विपुल है। इस दृष्टि से देखें तो विनोदकुमर शुक्ल की कविता को समृद्ध की बजाय विपन्न मानना होगा : लेकिन अगर समृद्धि का प्रमाण यह भी हो कि अपने शब्द-भण्डार से कवि कितना काम लेता है और मानव-संसार और सम्बन्धों की कितनी बारीकियों और सम्भावनाओं को उजागर कर पाता है, तो उनकी कविता विपन्न क़तई नहीं है। आमतौर से एक छोटे शहर का निम्न-मध्यवर्गीय जो कामचलाऊ शब्द-भण्डार बरतता है, उसे ही उन्होंने अपना कारगर औज़ार बनाया है। उनकी सारी कविताओं में शायद ही कोई ऐसा शब्द हो जो असाधारण हो या दूर की कौड़ी लगता हो। वह कभी-कभी विन्यास को अप्रत्याशित मोड़ देकर या सामान्य शब्दों-छवियों को एकाग्र सघनता और पारदर्शिता देकर उनका अर्थ-विस्तार करते हैं। रूपकों और प्रतीकों की भाषा उनके लिए अप्रासंगिक है। लेकिन यह असमर्थता नहीं है। इस तरह के प्रयोगों से एक नयी ताज़गी का एहसास होता है :

बतख का झुण्ड  
बतख की तरह था।

बतख की तरह चोंच और पंख थे।

**(लगभग जयहिन्द** में कविता चार)

सुबह छह बजे का वक़्त सुबह छह बजे की तरह

**(लगभग जयहिन्द** में कविता पाँच)

मध्यवर्गीय व्यक्ति की भाषा और उक्तियाँ कहावतों, उपमाओं आदि में वैसी रसी-बसी नहीं होतीं जैसी कि मसलन किसानों या मज़दूरों की। उसकी भाषा कुछ कुछ स्वाभाविक रूप से उन गहरी जड़ों से कटी होती है जो विविध अनेकायामिता और चित्रवर्णी समृद्धि को पोसती हैं। यह वर्गीय असमर्थता विनोदकुमार शुक्ल अपनी कविता में साफ़ स्वीकार करते हैं। पर इसी का इस्तेमाल वह निपुणता से एक ऐसी कविता रचने में करते हैं जो 'मिनिमल' है। युवा पीढ़ी के दूसरे महत्त्वपूर्ण कवि धूमिल से तुलना की जाये तो जहाँ धूमिल एक तरह के किसानी बातूनीपन के कवि हैं वहाँ विनोद कुमार शुक्ल एक तरह की बाबूगिरी की अल्पभाषिकता के कवि हैं। धूमिल जब-तब उद्दाम वक्तव्य देते हैं और कविता को वक्तव्य मानते भी हैं, लेकिन विनोदकुमार शुक्ल में ज़्यादातर ठण्डा और सपाट बखान है उनकी कविता में धूमिल जैसी दृश्य-गतिशीलता भी नहीं है बल्कि खण्डित और गद्यधर्मी ठहराव जैसा है। मध्यवर्ग के यातना शिविर में यत्किंचित् साधनों का प्रयोग कर इधर-उधर लिख ली गयी इबारतों की तरह ये कविताएँ हैं। लेकिन कहीं भी उनमें तदर्थता या कामचलाऊपन नहीं है। उनकी अन्तर्निहित छटपटाहट को यकायक पहचान पाना कठिन ज़रूर है, पर असम्भव नहीं है। ऐसी सीमित-बाधित और विपन्न हालत में भी कविता सम्भव है। यह बात बहुत मार्मिकता के साथ विनोदकुमार शुक्ल की कोशिश सिद्ध करती है।

ठण्डेपन, निरुद्वेग और सपाटबयानी के बावजूद विनोदकुमार शुक्ल की कविता का एक दूसरा पक्ष उनकी ऐन्द्रिकता है। उनकी कविता में भावुकता के लिए कोई जगह नहीं है, लेकिन चीज़ों को उनकी भौतिक उपस्थिति की पूरी सघनता में उनकी कविता पकड़ और दिखा पाती है। दो-एक उदाहरण ही काफ़ी होंगे :

हरे रंग का तोता
इतना जाना-पहचाना
कि तोता कम हरा रंग ज़्यादा
तोता यदि निकलेगा
तो पिंजड़े में हरा रंग छोड़कर
...      ...
दूसरे पेड़ पर कौवे के बाजू में बैठी
रोती ज़्यादा औरत की गोद में

खेलते ज़्यादा बच्चे का
बड़े होने का भरोसा है...

यह नहीं है कि इस तरह की ऐन्द्रिकता कभी-कभार या किन्हीं ख़ास अवसरों पर ही झलकती हो : यह उनकी काव्य-प्रकृति का सहज और अनिवार्य अंग है। इसलिए छोटी कविताएँ हों या लम्बी, उनमें संवेदना की यह ऐन्द्रिक पकड़ हर जगह अचूक है। यही ऐन्द्रिकता उनकी निरीक्षण की शक्ति को भी बहुत पैना बनाती है; किसी भी दृश्य या सम्बन्ध की बारीकियों को वह उसी के कारण अलक्ष्य नहीं कर पाते। विनोदकुमार शुक्ल की कविता में 'मिनिमैलिटी' के बावजूद, बहुत बारीक निरीक्षण का हमेशा साक्ष्य रहता है और कभी-कभी एक ऐसी अबोध सरलता भी, जो उनकी दहशत-भरी दुनिया में राहत का काम करती है।

फ़ैण्टेसी का भी इस्तेमाल इस कविता में है, लेकिन इतना बारीक और सुघर कि किसी तरह का झटका कभी नहीं लगता। एक बेहद सामान्य स्थिति के बखान को विनोदकुमार शुक्ल बहुत शान्ति और बिना किसी नाटकीयता के ऐसा मोड़ दे देते हैं कि कुछ अप्रत्याशित सामने आ जाता है, पर वह फिर सामान्य की ओर वापस चले जाते हैं। सामान्य और असामान्य के बीच एक द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध उनके यहाँ बराबर मिलता है, लेकिन कभी भी फ़ैण्टेसी और यथार्थ के बीच एक महीन अन्तर से अधिक कुछ नहीं होता। दिलचस्प यह है कि फ़ैण्टेसी किसी तरह के इच्छित विश्वास या क्षतिपूर्ति की इच्छा का संस्करण नहीं बनती। विनोदकुमार शुक्ल फ़ैण्टेसी और सामान्य के ऐसे तीव्रीकरण को कि वह असामान्य लगे– कभी चौंकाने के लिए इस्तेमाल नहीं करते। उनका काव्यशास्त्र चौंकाने का है ही नहीं : वह विचलित करने का है, हमारे समय की ऐसी सच्चाई दिखाने-समझने का है, जो अन्यथा अदृश्य रहती और जिसे कविता में देखना कहीं गहरे विचलित होना है।

कविता का काम जहाँ चीज़ों के बीच नये सम्बन्ध खोजना है, वहाँ चीज़ों को उनकी स्वतन्त्र सत्ता में देखना भी है। अगर विनोदकुमार शुक्ल का 'ग़रीब का लड़का' प्रतीकों के बाबा-सूट में कहीं जाने को तैयार दीख पड़ता है तो यह एक और प्रमाण उनके उस आग्रह का है जिसमें वह एक चीज़ को ठीक उस चीज़ के रूप में न देखकर किसी दूसरी चीज़ के प्रतीक या प्रतिबिम्ब के रूप में देखने की आदत का निषेध करते हैं। चीज़ों और उनके सम्बन्धों के प्रति यह सम्मान ही उन्हें ग़रीब लड़के को 'गरीबी' का उदाहरण मानने की आसान प्रवृत्ति से मुक्त रखता है। हिन्दी में हर चीज़ को किसी दूसरी चीज़ का प्रतीक मानने की इतनी भयानक रूढ़ि है कि चीज़ों और उनकी स्वतन्त्रता के प्रति आदर और संवेदनशीलता का यह पुनर्वास मूल्यवान् और कुछ मायनों में ऐतिहासिक है।

उनकी कविता इस अर्थ में बहुत मौलिक कविता है। वह चीज़ों को किन्हीं अन्य

आशयों के लिए इस्तेमाल करने अर्थात् वस्तु जगत् का शोषण करने से जान बूझकर बचती है—व्यक्ति-व्यक्ति के शोषण के साथ-ही-साथ विनोदकुमार शुक्ल स्वयं माध्यम के, और किसी भी तरह के भावात्मक शोषण न करने के प्रति बराबर सतर्क हैं।

विनोदकुमार शुक्ल की कविता एक ठोस, जाना-पहचाना लेकिन अप्रत्याशित और विचलित करनेवाला संसार हमारे लिए खोजती-रचती है जो प्रामाणिकता और व्यापकता रखते हुए भी उनका है, अद्वितीय है और उदाहरण होने से बचा हुआ है। वह निश्चय ही हमारा भी है लेकिन अपनी पूरी सघनता, निर्ममता, वस्तुपरकता और ऐन्द्रिकता के साथ एक संसार है, इस-उसका उदाहरण नहीं।

---

मैनेजर पाण्डेय

# भक्तिकाव्य और हिन्दी आलोचना

जब से हिन्दी आलोचना केवल समकालीन लेखन की समीक्षा बन गई है और उस समीक्षा की समकालीनता अपनी पीढ़ी के मित्रों के बीच परस्पर प्रशंसा या निन्दा तक सिमट गई है, तब से पुराने साहित्य की चर्चा साहित्य-चिन्ता के बाहर हो गई है। आजकल छायावाद और भारतेन्दु युग का साहित्य भी आलोचना के बदले इतिहास और शोध के खाते में डाल दिया गया है। ऐसी स्थिति में अगर रीतिकाल और भक्तिकाल की कविता आलोचना की सीमा से परे हो तो क्या आश्चर्य ! हाँ, कभी-कभी परम्परा पर बहस के दौरान भक्तिकाव्य की याद ज़रूर आती है।

आज भी भक्तिकाल की कविता की महानता और अनन्य लोकप्रियता को सब स्वीकार करते हैं; कुछ जान-बूझकर और कुछ केवल श्रद्धावश। फिर भी उस कविता के प्रति आज की आलोचना उदासीन ही अधिक है। आख़िर क्यों ? इस प्रवृत्ति के पीछे संकीर्ण समकालीनता का आग्रह है, भक्तिकाव्य सम्बन्धी अज्ञान है या परम्परा के प्रति उदासीनता ? जो भी हो, यह स्थिति चिन्ताजनक है। भक्तिकाव्य से आज की आलोचना की उदासीनता के कारण भक्तिकाव्य का भले ही कुछ न बिगड़ा हो, लेकिन समकालीन आलोचना ज़रूर प्रभावित हुई है। भक्तिकाव्य से आज की आलोचना की दूरी देखकर मन में बार-बार यह सवाल उठता है कि यदि रामचन्द्र शुक्ल और हजारीप्रसाद द्विवेदी भी आलोचना की आज वाली समकालीनता के शिकार होते तो हिन्दी आलोचना कहाँ और कैसी होती।

आज के कुछ कवि कभी-कभी निराला, नागार्जुन और त्रिलोचन की कविता में गहरी दिलचस्पी लेने की बात करते हैं। लेकिन निराला, नागार्जुन और त्रिलोचन तो भक्तिकाव्य से कभी उदासीन नहीं रहे हैं। भक्तिकाल के कवियों से उनका लगाव और उनकी कविता में भक्तिकाव्य की गहरी प्रतिध्वनियाँ जग-ज़ाहिर हैं। फिर उनकी कविता में दिलचस्पी का दावा करने वाले भक्तिकाव्य से उदासीन क्यों हैं ?

भक्तिकाव्य की एक विशेषता हिन्दी भाषा के काव्यत्व का उत्कर्ष है। हिन्दी-भाषी समाज ने लम्बे काल के अपने इतिहास में व्यापक जीवन-जगत के साथ

अनेक प्रकार के सम्बन्धों का अनुभव जिस भाषा में किया है, उसमें वे अनुभव अनेक रूपों में संचित हैं। उन अनुभवों को नाम और रूप देकर सगुण-साकार बनाने की रचनात्मक प्रक्रिया से ऐसे शब्दों, मुहावरों, कहावतों, लोकोक्तियों, लोकवार्ताओं और बात कहने के विशेष ढंग का विकास हुआ है, जिनमें हिन्दीभाषी समाज की संवेदनशीलता प्रकट हुई है और उसकी ज़िन्दगी की सहज कविता भी। उस कविता में जीवन की वास्तविकताओं की अनुभूतियाँ हैं और नई सम्भावनाओं की चाह भी। वह हिन्दी भाषा के स्वभाव की कविता है और हिन्दीभाषी समाज के स्वभाव की कविता भी। यही हिन्दी का हिन्दीपन है। हिन्दी भाषा की इसी बुनियादी कविता का या हिन्दीपन का उत्कर्ष भक्तिकाव्य में दिखाई देता है। वैसे तो प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कवि की अपनी विशिष्ट काव्यभाषा होती है, लेकिन बड़े कवि वही होते हैं, जो अपनी भाषा के काव्यत्व को पहचानकर उसे समकालीन बनाते हुए विकसित करते हैं। हिन्दी में ऐसा उन्हीं कवियों ने किया है, जो भक्तिकाव्य को भूले नहीं हैं। आज के जिन कवियों की स्मृति में भक्तिकाव्य नहीं है, उनकी कविता में अन्तर्राष्ट्रीय आधुनिकता भले ही अधिक हो, लेकिन हिन्दीपन कम ही है।

समकालीनता की मारी आज की हिन्दी आलोचना ने कबीर को आध्यात्म-प्रेमी विदेशियों तथा उनके देशी सहयोगियों को सौंप दिया है और तुलसीदास को 'जय श्रीराम' का नारा लगानेवाले शाखामृगों की मर्ज़ी पर छोड़ दिया है। लगता है कि जायसी, सूरदास और मीराबाई की कविता ऐसे उपयोगों-दुरुपयोगों की छूट नहीं देती, इसलिए वे अभी बचे हुए हैं।

आलोचना की समकालीनता का एक पक्ष यह भी है कि वह अतीत की महत्त्वपूर्ण रचनाओं की वर्तमान अर्थवत्ता की खोज करे। लेकिन खोज की प्रक्रिया ऐसी हो कि रचना में जो अर्थ अदृश्य है वह सामने आये, कालातीत की ऐतिहासिक भूमि और भूमिका प्रकट हो, कृति की पवित्र प्रतिमा में प्रतिष्ठित चेतना का समकालीन अर्थ खुले और उसकी नई सम्भावनाओं की पहचान हो, ताकि वह नई चेतना के विकास का माध्यम बने; न कि पूजा की वस्तु। रामचन्द्र शुक्ल और हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भक्तिकाव्य की व्याख्या करते हुए अपने-अपने ढंग से यही काम किया है। हाल के वर्षों में विजयदेव नारायण साही ने जायसी के *पद्मावत* के नये अर्थ और महत्त्व की खोज की है और विश्वनाथ त्रिपाठी ने मीरा की कविता की नई पहचान विकसित की है। आलोचना की इस समकालीनता के अनुसार केवल नया ही समकालीन नहीं होता। जो सार्थक है, वही समकालीन है; वह नया हो या पुराना। किसी ने ठीक ही कहा है कि 'साहित्य के स्वराज्य में अतीत के नागरिक भी वैसे ही सक्रिय रहते हैं, जैसे वर्तमान के।' साहित्य में सच्ची नागरिकता रचनाओं की ही होती है; और रचनाएँ अन्ततः सार्थक या निरर्थक होती हैं, न कि नई और पुरानी।

विद्वान लोग समझते हैं कि वे ही साहित्य की आलोचना, परम्परा की पहचान और संस्कृति की व्याख्या करते हैं। यह पूरी सच्चाई नहीं है। कभी-कभी विशेष ऐतिहासिक स्थितियों और सामाजिक वास्तविकताओं का सामना करती हुई जनता भी संस्कृति, परम्परा और साहित्य की पहचान का विवेक विकसित करती है। वह विवेक संग्रह और त्याग की प्रक्रिया से विकल्पों के बीच चुनाव में मदद करता है। यदि हम इस व्यापक प्रक्रिया को समझने के लिए केवल भक्तिकाव्य के साथ जनचेतना के सम्बन्ध पर ध्यान दें तो भी उस प्रक्रिया का स्वरूप स्पष्ट हो जायेगा। यह सब जानते हैं कि भक्ति-आन्दोलन केवल कविता का आन्दोलन नहीं है। वह एक अखिल भारतीय समग्र सांस्कृतिक आन्दोलन है, जिसका पहले की संस्कृति, परम्परा और कविता से गहरा सम्बन्ध है और बाद की संस्कृति, परम्परा और कविता के विकास में उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। भक्तिकाव्य की कविता जनता के जीवन में रमी हुई कविता है, वह परम्परा है और संस्कृति भी है। इसलिए जब इस देश की जनता के सामने ऐसी ऐतिहासिक स्थितियाँ और सामाजिक वास्तविकताएँ आती हैं, जो विकल्पों के बीच चुनाव की चुनौती खड़ी करती हैं, तब वह भक्ति आन्दोलन के कवियों की ओर देखती है। ऐसी स्थितियों में विद्वान् लोग विचारों की विदेशी सहायता से काम चला लेते हैं, लेकिन साधारण जनता तो अपने भक्त कवियों से ही कुछ आशा कर सकती है।

पिछले कुछ वर्षों में इस देश में अनेक जन-आन्दोलन हुए हैं। उन आन्दोलनों को भक्त कवियों की याद आती रही है और उनसे शक्ति भी मिलती रही है। जब महाराष्ट्र के दलितों ने वर्ण-व्यवस्था और जातिप्रथा के विरुद्ध विद्रोह किया, तब उन्हें मराठी के भक्त कवि नामदेव, एकनाथ, तुकाराम आदि से प्रेरणा और शक्ति मिली। हिन्दी क्षेत्र का दलित आन्दोलन कबीर से प्रेरित और प्रभावित होता रहा है। यहाँ दलित आन्दोलन के विकास के साथ कबीर और रैदास की लोकप्रियता बढ़ी है। वैसे कबीरदास पहले से ही दलित जन-समुदाय में अधिक लोकप्रिय रहे हैं। इधर जब से साम्प्रदायिकता की महामारी फैली है और मस्जिद-मन्दिर का झगड़ा खड़ा हुआ है, तब से कबीरदास का महत्त्व साधारण जनता के साथ-साथ विद्वानों की भी समझ में आने लगा है। कबीर ऐसे कवि हैं, जिन्हें किसी तरह की साम्प्रदायिकता और कट्टरता न तो अपना बना सकती है और न पचा सकती है। साम्प्रदायिकता, धार्मिक कट्टरता और अनेक दूसरी सामन्ती रूढ़ियों के विरुद्ध संघर्ष में प्रेरणा का एक अक्षय स्रोत है भक्त कवियों की कविता; इसीलिए उसमें साधारण जनता के साथ-साथ बुद्धिजीवियों की भी दिलचस्पी बढ़ गई है।

हिन्दी क्षेत्र में अभी सामन्ती मूल्यों और रूढ़ियों का जितना अधिक प्रभाव है उतना देश के किसी अन्य भाग में शायद ही कहीं हो। इसलिए यहाँ स्त्रियों का जैसा शोषण, दमन और उत्पीड़न है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं। यहाँ हत्या और

आत्महत्या से बचा हुआ स्त्री-जीवन आग के दरिया से गुज़रने के समान है। इस पराधीनता से स्त्रियों की मुक्ति का जो आन्दोलन हिन्दीक्षेत्र में अब आरम्भ हुआ है, वह मीराबाई के जीवन और काव्य के विद्रोही स्वरों को पहचान रहा है। मीरा के काव्य में राजसत्ता, पुरुषसत्ता, लोकरूढ़ि और कुलीनता के विरुद्ध विद्रोह का स्वर जैसा प्रखर है, वैसा उस काल के किसी अन्य कवि के यहाँ नहीं है। यही कारण है कि राजस्थान में दिवराला के सतीकाण्ड के बाद इस नृशंस सामन्ती प्रथा के विरुद्ध जो आवाज़ उठी और आन्दोलन चला, उसमें मीराबाई को बार-बार याद किया गया। यह स्वाभाविक और ज़रूरी भी था। आज भी भारतीय नारी को गुलाम बनाए रखने में राजसत्ता, पुरुषसत्ता, लोकरूढ़ि और कुलकानि की बहुत बड़ी भूमिका है। मीरा के काव्य और जीवन से इन चारों के विरुद्ध संघर्ष की प्रेरणा मिलती है। अभी हिन्दी आलोचना में मीराबाई के वास्तविक महत्त्व की खोज और पहचान बाक़ी है। अनेक आलोचक तो उन्हें भक्तिकाल के बड़े कवियों में गिनने के लिए भी तैयार नहीं हैं। लेकिन जब इस देश में नारी-स्वाधीनता का आन्दोलन पूरी तरह विकसित होगा, वह शहरों से बढ़कर गाँवों तक पहुँचेगा और यहाँ का स्त्री-समुदाय सचमुच स्वतन्त्र होगा, तब मीराबाई हिन्दी ही नहीं, गुजराती जनता के बीच भी सबसे अधिक लोकप्रिय होंगी। इस बात पर कम ध्यान दिया गया है कि जैसे विद्यापति हिन्दी क्षेत्र को बंगाल से जोड़ते हैं, वैसे ही मीराबाई गुजरात से। बंगाल में जो महत्त्व विद्यापति का है, उससे अधिक गुजरात में मीराबाई का है।

इस तरह हिन्दीभाषी जनता ने अपने जीवन-संघर्ष और सामाजिक संघर्ष की प्रक्रिया में भक्त कवियों का महत्त्व पहचाना है और उनकी कविता के संग्रह-त्याग का विवेक विकसित किया है। क्या यह विवेक तर्कयुद्ध में लगे आलोचकों के निर्णयों से कम महत्त्व का है ? क्या यह आलोचकों के किसी काम का नहीं ? क्या भक्तिकाव्य सम्बन्धी आलोचनात्मक चेतना के विकास में उस विवेक की कोई भूमिका नहीं है ?

## भक्ति काव्य : व्याख्या की समस्याएँ

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा और नामवर सिंह के महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक प्रयत्नों के बावजूद भक्तिकाव्य की व्याख्या हिन्दी आलोचना के लिए आज भी एक चुनौती है। इसका एक कारण भक्तिकाव्य की अपार सृजनात्मक समृद्धि है। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी और मीरा की कविता एक व्यापक आन्दोलन से जुड़ी हुई हैं, लेकिन इन सबकी कविता एक-सी नहीं है। उनमें से हरेक की कविता का अपना विशिष्ट रूप, रंग और स्वर है। एक की कविता से निकलकर दूसरे की कविता में प्रवेश करना लगभग कविता की दूसरी दुनिया में पहुँचना है। जो आलोचक इन कवियों की कविताओं में केवल सामान्य

एकता ढूँढ़ते रहते हैं, वे उनकी सृजनात्मक विशिष्टताओं और विविधताओं को देख नहीं पाते।

भक्तिकाव्य के व्याख्याकारों के सामने एक कठिनाई और भी है। वह एक व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन की देन है, जिसकी जड़ें अपने समय के समाज और उसके इतिहास में बहुत दूर तक फैली हुई हैं। भक्तिकाव्य में उस समय के भारतीय समाज की वास्तविकताएँ हैं और उनकी आलोचना भी है, सामाजिक व्यवस्थाओं के चित्र हैं और व्यवस्था के बन्धनों को तोड़ने की आकांक्षा भी है, सामन्ती सत्ता के अनेक रूप हैं और उनके आतंक के विरुद्ध निर्द्वन्द्व निर्भयता भी है। उसमें कहीं शास्त्र की रूढ़ियों के अस्वीकार की घोषणा है, कहीं लोक के बन्धनों की उपेक्षा का साहस है तो कहीं शास्त्र और लोक के बीच समन्वय का प्रयास भी है। उसमें उस काल के सामाजिक और सांस्कृतिक अन्तर्विरोधों की अभिव्यक्ति है; कहीं अन्तर्विरोधों के बीच संघर्ष की चेतना अधिक है तो कहीं समन्वय की कोशिश। उस युग के वैचारिक द्वन्द्वों की पहचान में प्रत्येक कवि का एक अपना पक्ष है और अन्य पक्षों का प्रतिवाद भी है।

भारतीय समाज के इतिहास, उसकी सांस्कृतिक प्रक्रिया और उसके भीतर उठे भक्ति आन्दोलन से कबीर, जायसी, सूर, तुलसी और मीरा का सम्बन्ध एक जैसा नहीं है। इसीलिए सामाजिक अन्तर्विरोधों और भावात्मक वैचारिक द्वन्द्वों के बारे में उनकी चिन्ताओं में भी अन्तर है। भक्ति आन्दोलन और उसके काव्य की यह ज़टिल समग्रता उस व्याख्याकार को भटकाती है, जो किसी एक कवि की सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि को केन्द्रीय दृष्टि मानकर उसकी सापेक्षता में अन्य कवियों का मूल्यांकन करता है या एक कवि के भावबोध को दूसरे कवि के भावबोध की कसौटी बनाता है।

भक्तिकाव्य के किसी भी व्याख्याकार के सामने एक समस्या भक्ति आन्दोलन से इस्लाम और उससे जुड़ी हुई सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया के सम्बन्ध की रही है। कुछ लोग भक्ति आन्दोलन को इस्लाम और मुसलमानी शासन की प्रतिक्रिया समझते हैं तो कुछ दूसरे उस पर इस्लाम का अत्यन्त सीमित प्रभाव मानते हैं। जो लोग भक्ति आन्दोलन को लोकजागरण का आन्दोलन और जनसंस्कृति की अभिव्यक्ति कहते हैं, वे भी लोकजीवन और जनसंस्कृति के भीतर इस्लाम के सामाजिक और सांस्कृतिक प्रभावों को अस्वीकार नहीं करते। लेकिन आश्चर्य की बात है कि ऐसे सभी आलोचक भक्तिकाव्य में उन प्रभावों की अभिव्यक्ति की उपेक्षा करते हैं। यह एक ऐतिहासिक वास्तविकता है कि भक्ति आन्दोलन के काल में इस देश में इस्लाम मौजूद था और भारतीय समाज में मुसलमान केवल मौजूद ही नहीं थे, बल्कि शासक भी थे। विचारणीय बात यह है कि उस ऐतिहासिक वास्तविकता का कौन-सा पक्ष भक्ति आन्दोलन के किस कवि की कविता में किस

रूप में व्यक्त हुआ है। मीरा की कविता में उस वास्तविकता के चिह्न बहुत कम हैं। तुलसीदास के यहाँ इस्लाम और मुसलमानों की मौजूदगी दर्ज है और अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग भी है। सूरदास की कविता में कृषि, ग्राम-प्रबंध, व्यापार, शासन-व्यवस्था और दरबार आदि से जुड़े चित्रों में उस वास्तविकता के अनेक पक्ष हैं और उनके साथ अरबी-फ़ारसी की शब्दावली भी है। ध्रुपद के साथ खयाल गायकी और रबाब तथा शहनाई आदि बाजों का उल्लेख भी है। इस तरह सूर और तुलसी की कविता में उस नई सांस्कृतिक प्रक्रिया की ओर संकेत है, जो उस काल में विकसित हो रही थी। लेकिन भारतीय जीवन में उस वास्तविकता के व्यापक प्रसार और गहरे प्रभाव की समग्रता का जैसा बोध कबीर और जायसी के काव्य में है, वैसा और कवियों के यहाँ नहीं। कबीर और जायसी की कविता में उस वास्तविकता के बोध के साथ-साथ धार्मिक रूढ़िवाद से उपजे भेदभाव को हटाकर मानवीय स्तर पर व्यापक एकता की पहचान और प्रतिष्ठा का प्रयत्न भी है।

भक्तिकाव्य की व्याख्या से जुड़ी हुई दूसरी विवादास्पद समस्या निर्गुण-सगुण के सम्बन्ध की है। यह सही है कि कबीर, सूर और तुलसी के काव्य में निर्गुण-सगुण के सम्बन्ध पर जितना विवाद है, उससे अधिक वितण्डावाद आलोचकों की व्याख्याओं में है। लेकिन यह भी सच है कि कबीर, सूर और तुलसी की कविता में निर्गुण-सगुण के सम्बन्ध पर पर्याप्त विवाद है। कबीरदास निर्गुण भक्त हैं। उन्होंने पुराणपोषित अवतारवाद का विरोध किया है—'दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। राम नाम को मरम है आना।।' सगुण मत का आधार है अवतारवाद। सूर के कृष्ण और तुलसी के राम अवतार हैं। उनकी सगुण लीला और चरित्र के कवि हैं सूर और तुलसी। यह सब विवादास्पद नहीं है। विवाद की बात यह है कि सूर और तुलसी ने निर्गुण का खण्डन किया है कि नहीं ? वैसे तो कृष्ण की सगुण लीला के गायक सूरदास की कविता में आदि से अन्त तक प्रेम के उल्लास से भरपूर जीवन के उत्सव का सर्वव्यापी संगीत है, जिसमें तन्मयता से हटकर किसी वाद-विवाद के लिए कोई जगह नहीं है, फिर भी सूर ने 'भ्रमरगीत' के उद्धव-गोपी संवाद में ज्ञान बनाम भक्ति और निर्गुण बनाम सगुण विवाद के लिए अवसर निकाल ही लिया है। वहाँ तीन सौ से अधिक पदों में योग, ज्ञान और सबसे अधिक निर्गुण की निस्सारता पर गोपियों का धाराप्रवाह व्याख्यान है। गोपियों के भावाकुल तर्क के आगे ज्ञानी उद्धव निरुत्तर, अवाक् और पराजित दिखाई देते हैं। 'भ्रमरगीत' के सगुण-निर्गुण-विवाद से साबित होता है कि सूरदास अपने युग के वैचारिक द्वन्द्वों से अलग और अनभिज्ञ कवि नहीं हैं।

सगुण-निर्गुण-विवाद में तुलसीदास अधिक सजग हैं। वे दार्शनिक कवि हैं और भारतीय धर्म, दर्शन तथा साहित्य की विशाल परम्परा के परम पण्डित भी। जब वे निर्गुण का खण्डन करते हैं, तब उनके सामने निर्गुण भक्ति की पूरी परम्परा

रहती है :

> साखी सबदी दोहरा, कहि कहनी उपखान।
> भगति निरूपहिं भगतजन, निंदहिं वेद पुरान।।

कबीरदास भी योगियों के बाह्याचार की आलोचना करते हैं, लेकिन वे गोरखनाथ को आदर के साथ याद करते हैं—'साखी गोरखनाथ ज्यूं अमर भये कलिमाह।' उसके ठीक बिपरीत तुलसीदास गोरखनाथ के योग को भक्तिविरोधी मानते हैं—'गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग।' साथ ही वे प्रेम की कहानी और आख्यान लिखने वाले सूफ़ियों की भी आलोचना करते हैं। निर्गुण का खण्डन करते समय तुलसीदास प्रायः कबीर को सामने रखते हैं। कबीर ने कहा था—'दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। राम नाम को मरम है आना।।' मानो उसे याद करते हुए *रामचरितमानस* के 'शिव-पार्वती-संवाद' में तुलसी ने लिखा :

> एक बात नहिं मोहि सोहानी। जदपि मोह बस कहेहु भवानी।।
> तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरिहं मुनि ध्याना।।
> कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच।
> पाखंडी हरिपद विमुख जानहिं झूठ न साच।।

निर्गुणपन्थियों की इससे अधिक कठोर आलोचना और क्या हो सकती है। इसके बाद भी यदि किसी को तुलसीदास के निर्गुण-विरोध पर सन्देह हो तो उससे बहस करना व्यर्थ है। तुलसीदास उन सबकी उग्र आलोचना करते हैं, जो वेद तथा पुराण का विरोध करते हैं और श्रुतिसम्मत तथा पुराण-पोषित भक्तिपथ से अलग चलने की कोशिश करते हैं। इसके साथ ही तुलसीदास निर्गुणपन्थियों की कड़ी आलोचना के बाद दार्शनिक स्तर पर निर्गुण-सगुण के बीच एकता स्थापित करते हैं :

> सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा।।
> अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।।

तुलसीदास जिस वैदिक और पौराणिक परम्परा की रक्षा के लिए निर्गुण की आलोचना करते हैं, उसमें विरोधी विचारों के साथ ऐसा व्यवहार बहुत पहले से होता आया है। उस व्यवहार के अनुसार किसी विरोधी विचार का पहले पूर्ण विरोध किया जाता है। यदि विरोध से वह नष्ट नहीं होता तो उसे विकृत किया जाता है। अगर वह विरोध और विकृति की प्रक्रिया को झेलते हुए जीवित रहता है तो उसके विद्रोही स्वर को दबाकर उसे आत्मसात् कर लिया जाता है। निर्गुण मत से पहले बौद्ध दर्शन और लोकायत दर्शन विरोध, विकृति और समाहार की इसी पद्धति के शिकार हो चुके हैं।

## स्त्री सम्बन्धी दृष्टिकोण

सामाजिक व्यवस्था और सांस्कृतिक प्रक्रिया के साथ सभी भक्त कवियों का सम्बन्ध एक-जैसा नहीं है। यही कारण है कि उस युग की अनेक सामाजिक वास्तविकताओं और स्थितियों के बारे में उनकी राय भी एक-जैसी नहीं है। इसका सबसे स्पष्ट प्रमाण स्त्री के बारे में विभिन्न भक्त कवियों के विचारों में दिखाई देता है। यद्यपि कबीर की सामाजिक चेतना अत्यन्त प्रखर है, लेकिन उनके स्त्री-सम्बन्धी विचारों पर उस युग की गहरी छाया है। वे कहते हैं :

> नारी कूंड नरक का, बिरला थामे बाग।
> कोई साधुजन ऊबरे, सब जग मुआ लाग।।

सामाजिक व्यवस्था और धार्मिक विश्वास सम्बन्धी कबीर के अधिकांश विचारों से तुलसीदास असहमत हैं, लेकिन स्त्री के बारे में दोनों की राय लगभग एक-जैसी है। कबीर की तरह तुलसी भी स्त्री को अवगुणों की खान और बुराइयों की जड़ समझते हैं। वे यह भी कहते हैं कि पति की सेवा (चाहे पति जैसा भी हो) उसका धर्म है :

> सहज अपावन नार, पति सेवत सुभगति लहै।
> जस गावत श्रुति चार, अजहूँ तुलसी हरिहै पिये।।

तुलसीदास स्त्री की पराधीनता की पीड़ा पहचानते हैं :

> कत विधि सृजी नारि जग माँही। पराधीन सपनेहूँ सुख नाहीं।।

पर साथ ही वे स्त्री की स्वतन्त्रता को भी ख़तरनाक समझते हैं—'जिमि स्वतन्त्र भए बिगरहिं नारी', इसलिए उसे पुरुष के शासन में रखना पसन्द करते हैं। कबीर और जायसी सती प्रथा को भी महिमा-मण्डित करते हैं। इस तरह कबीर, जायसी और तुलसी के काव्य में स्त्री सामन्ती रूढ़ियों में जकड़ी हुई है। लेकिन सूरदास के काव्य में स्त्री का सहज, स्वतन्त्र और तेजस्वी रूप मिलता है, जो प्रेम के अलावा लोक और वेद के किसी बन्धन को नहीं मानती। 'सूरसागर' में केवल एक जगह सती प्रथा का उल्लेख है। वहाँ भी उस प्रथा की भर्त्सना ही है और उसके जघन्य रूप के त्रासद प्रभाव की ओर संकेत भी :

> देख जरनि, जड़, नारि की, (रे) जरति प्रेम के संग।
> चिता न चित फीकौ भयौ, (रे) रची जु पिय के रंग।
> लोक-वेद बरजत सबै, (रे) देखत नैननि त्रास।

स्त्री के बारे में मीरा का दृष्टिकोण बाक़ी भक्त कवियों से एकदम अलग है। उनकी कविता में एक ओर सामन्ती समाज में स्त्री की पराधीनता और यातना की अभिव्यक्ति है तो दूसरी ओर उस व्यवस्था के बन्धनों का पूरी तरह निषेध और उससे स्वतन्त्रता के लिए दीवानगी की हद तक संघर्ष भी है। उस युग में एक स्त्री

के लिए ऐसा संघर्ष अत्यन्त कठिन था। लेकिन मीरा ने अपने स्वत्व की रक्षा के लिए कठिन संघर्ष किया। वह राठौड़ राजकुल की बेटी और सिसौदिया राजकुल की बहू थी, जहाँ सतीप्रथा का चलन था। लेकिन विधवा होने के बाद मीरा कुल की रीति और लोक की रूढ़ि के अनुसार सती नहीं हुई। वह लगातार लांछन, अपमान और यातना सहती हुई स्वतन्त्र रहकर कृष्णभक्त बनीं। उन्होंने निर्भय होकर भ्रामक युगधर्म और लोकभय का सामना करते हुए स्पष्ट कहा :

भजन करस्यां सती न होस्यां मन मोह्यो घण नामी।

उस युग में किसी स्त्री को भक्ति भी सहज सुलभ न थी; क्योंकि स्त्री को भक्त-रूप में स्वीकार करने के लिए व्यापक समाज की कौन कहे, साधु समाज भी तैयार न था। उस काल में मीरा के बारे में प्रचलित विभिन्न प्रवादों से भी यही संकेत मिलता है। *चौरासी वैष्णवों की वार्ता* में वल्लभ-सम्प्रदाय के भक्तों का गुणगान किया गया है, लेकिन मीराबाई को उसमें बहुत बुरा-भला कहा गया है और गालियाँ भी दी गई हैं।

मीरा का जीवन और काव्य उस काल के अन्य भक्त कवियों की स्त्री-सम्बन्धी मान्यताओं का प्रतिकार है और प्रत्युत्तर भी।

## मूल्यांकन सम्बन्धी मतभेद

भक्ति आन्दोलन और उसके काव्य के स्वरूप की जटिल समग्रता का एक और रूप लोकजीवन से उसके सम्बन्ध में दिखाई देता है। भक्तिकाव्य के प्रमुख व्याख्याकारों ने उस सम्बन्ध का विवेचन किया है। आचार्य शुक्ल भक्तिकाव्य को लोकधर्म की अभिव्यक्ति मानते हैं और रामविलास शर्मा उसे लोकजागरण का काव्य कहते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भी लोकधर्म को भक्ति आन्दोलन की जन्मभूमि मानते हैं, लेकिन लोकधर्म की उनकी धारणा शुक्लजी से भिन्न है। वह शास्त्रीय धर्म के विरोध और विकल्प में विकसित लोकधर्म है। नामवर सिंह लोकधर्म को जनसाधारण के विद्रोह की विचारधारा कहते हैं। वास्तव में आचार्य शुक्ल के लोकधर्म का आधार है—तुलसीदास की सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि और आचार्य द्विवेदी के लोकधर्म के मूल में कबीरदास की सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तुलसीदास के लोकधर्म की कसौटी पर दूसरे भक्त कवियों को परखते हैं इसीलिए उन्हें 'निर्गुण धारा के सन्तों की बानी में लोकधर्म की अवहेलना छिपी हुई' दिखाई देती है, सूर का 'प्रेमपक्ष लोक से न्यारा' लगता है और मीरा की प्रेमसाधना लोकमर्यादा का अतिक्रमण करने के कारण खटकती है। शुक्लजी के अनुसार, 'तुलसीदास ने यह पहचाना कि निर्गुण सन्तों के 'वचनों

से जनता की चित्तवृत्ति में घोर विकार की आशंका है, जिससे समाज विशृंखल हो जायेगा, उसकी मर्यादा नष्ट हो जायेगी।' तात्पर्य यह कि जो भी पहले से चली आती हुई सामाजिक व्यवस्था और मर्यादा को बदलने की प्रेरणा देगा वह तुलसीदास और शुक्लजी के लोकधर्म का विरोधी होगा। सवाल यह है कि कैसे समाज और कैसी मर्यादा के लिए सन्तों की बानी ख़तरा बन रही थी। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि सामाजिक असमानता और जाति-पाँति के भेदभाव पर टिकी हुई समाज-व्यवस्था और उसकी रक्षा करने वाली मर्यादाओं का विरोध निर्गुण सन्तों के काव्य में है। वही तुलसीदास को असह्य लगता है और रामचन्द्र शुक्ल को लोकविरोधी। शुक्लजी का लोकधर्म मूलतः ऐसा समाज-दर्शन है जिसमें पहले से स्थापित और स्थिर सामाजिक सम्वन्धों को यथावत् बनाए रखने का आग्रह है।

भक्तिकाव्य में जहाँ वर्णाश्रमवादी समाज-व्यवस्था, उस व्यवस्था के पोषक शास्त्रों और उन शास्त्रों को धारण करनेवाले पण्डितों का विरोध दिखाई देता है वहाँ आचार्य शुक्ल की भौंहें तन जाती हैं। ऐसा विरोध सबसे अधिक निर्गुण काव्य में है, इसलिए उसके सामने आते ही शुक्लजी कटु हो जाते हैं। वह कटुता कहीं सीधे प्रकट होती है और कहीं व्यंग्य बनकर। इसका सबसे दिलचस्प उदाहरण नामदेव के प्रसंग में दिखाई देता है। महाराष्ट्र के भक्त कवि नामदेव की कविता में निर्गुण-सगुण की एकता है। वह एकता उनके मराठी अभंगों में है और उनकी हिन्दी रचनाओं में भी। कहा जाता है कि नामदेव पहले सगुण भक्त थे, बाद में निर्गुण की ओर झुके। उनके सगुण से निर्गुण की ओर जाने को शुक्लजी ने अपने विशेष व्यंग्यात्मक अन्दाज़ में प्रस्तुत किया है—"नामदेव किसी गुरु से दीक्षा लेकर अपनी सगुण भक्ति में प्रवृत्त नहीं हुए थे। अपने ही हृदय की स्वाभाविक प्रेरणा से हुए थे। ज्ञानदेव उन्हें बराबर 'बिन गुरु होहिं न ज्ञान' समझाते आते थे। अन्त में बेचारे नामदेव ने नागनाथ नामक शिव के स्थान पर जाकर बिसोवा खेचर या खेचरनाथ नामक एक नाथपन्थी कनफटे से दीक्षा ली।" शुक्लजी का संकेत स्पष्ट है—नामदेव सगुण भक्त हुए थे अपने ही हृदय की प्रेरणा से, लेकिन निर्गुण बने दूसरे के कहने पर। सगुण होना स्वाभाविक प्रक्रिया है, लेकिन निर्गुण होना पतन है; इसलिए निर्गुण की ओर झुकनेवाले नामदेव 'बेचारे' हो गए !

शुक्लजी ने अपने इतिहास में नामदेव की सगुण और निर्गुण दोनों तरह की कविताओं को उद्धृत किया है; पहले सगुण के पद, बाद में निर्गुण के। सगुण लीला के पदों को उद्धृत करने के बाद उन्होंने लिखा है—"यह तो हुई नामदेव की व्यक्तोपासना सम्बन्धी हृदयप्रेरित रचना।" फिर बाद के निर्गुण पदों को लक्ष्य करके लिखा है—"आगे गुरु से सीखे हुए ज्ञान की उद्धरणी अर्थात् 'निर्गुन बानी' भी कुछ देखिए।" इस व्यंग्य-बाण का लक्ष्य केवल नामदेव की निर्गुण कविता ही नहीं है, कबीर की कविता भी है; बल्कि पूरी निर्गुण कविता है। अभिप्राय यह है कि निर्गुण

कविता में न हृदय की प्रेरणा होती है न बुद्धि की साधना। फिर वह कविता कैसे होगी। आलोचना बुद्धि का चमत्कार देखिए कि नामदेव कि सगुण सम्बन्धी कविता तो 'हृदय प्रेरित रचना' है लेकिन उन्हीं की निर्गुण कविता 'सीखे हुए ज्ञान की उद्धरणी' मात्र ! क्या आलोचना के इस चमत्कार के मूल में निर्गुण कविता के प्रति गहरा तिरस्कार नहीं है ?

नामदेव और कबीर की कविता में काफ़ी समानता है। उन दोनों की धार्मिक भावना और सामाजिक चेतना में भी बहुत दूर तक एकता है। इस एकता का बोध कबीर को भी था, तभी उन्होंने नामदेव को अत्यन्त आदर के साथ याद किया है। भारतीय समाज में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच एकता स्थापित करने के लिए कबीर ने जिस भक्तिमार्ग का विकास किया, उसके मार्गदर्शक नामदेव थे। नामदेव की मराठी और हिन्दी कविता में उस एकता की भावना अत्यन्त गहरी है। यहाँ तक कि उनकी कृष्णलीला के चीरहरण-प्रसंग में एक मुसलमान गोपी भी शामिल है। हिन्दू-मुसलमान एकता की ऐसी अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति का साहस किसी दूसरे भक्त कवि की कविता में शायद ही मिले। नामदेव की निर्गुण कविता के प्रसंग में आचार्य शुक्ल के आक्रामक व्यंग्य को देखकर यह अनुमान करना कठिन नहीं है कि यदि कृष्णलीला में एक मुसलमान गोपी को शामिल करने वाली कविता उनके सामने होती तो वे कैसी प्रतिक्रिया करते।

## भक्तिकाव्य और लोकधर्म

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के भक्ति आन्दोलन सम्बन्धी विचारों की व्याख्या करते हुए नामवर सिंह ने लिखा है कि "मध्यकाल में मुख्य अन्तर्विरोध शास्त्र और लोक के बीच द्वन्द्व का है।" भक्ति आन्दोलन शास्त्रीय धर्म का विरोध करने वाले लोकधर्म के उत्थान का आन्दोलन है। उस लोकधर्म में उस युग के किसानों और दस्तकारों के विविध वर्गों-उपवर्गों की मिली-जुली भावनाओं की अभिव्यक्ति है और दमनकारी सामाजिक व्यवस्था तथा सांस्कृतिक मूल्यों के विरुद्ध विद्रोह की चेतना है। वही लोकधर्म कबीर और दूसरे सन्तों के काव्य का मुख्य प्रेरणास्रोत है। यह सब ठीक है। लेकिन जब नामवर सिंह कहते हैं कि "सामान्यजन में प्रचलित टोना, टोटका, तन्त्र-मन्त्र, मिथक आदि विश्वासों को ही वे (हजारीप्रसाद द्विवेदी) लोकधर्म मानते हैं," तब बात उलझ जाती है। अगर यही सब लोकधर्म है तो रूढ़ि और अन्धविश्वास किसे कहेंगे ? क्या कबीर के काव्य में कहीं भी इन सबका समर्थन और स्वीकार है ? कबीर की दृष्टि में यह सब लोकधर्म नहीं, लोक में प्रचलित अपधर्म है।

कबीर शास्त्रीय धर्म की बार-बार आलोचना करते हैं; वह चाहे वेद-पुराण के

सहारे चलनेवाला हो या कुरान के सहारे; उस पर पण्डितों-पुरोहितों का प्रभुत्व हो या मुल्लाओं-मौलवियों का क़ब्ज़ा। लेकिन कबीर यह भी जानते हैं कि समाज में लोकधर्म के नाम पर वह भ्रमजाल भी फैला होता है, जिसे लोकाचार कहा जाता है। वह कई बार शास्त्रोक्त व्यवहार होता है। इसीलिए कबीर लोकाचार की भी आलोचना करते हैं :

ताथैं कहिये लोकाचार, वेद कतेब कथै व्यौहार।।

वे आँख मूँदकर सामान्यजन में प्रचलित विश्वासों को स्वीकार नहीं करते, उन्हें सजग आलोचनात्मक दृष्टि से देखते हैं। कबीर के सामने यह लोकविश्वास था कि जो काशी में मरेगा वह मोक्ष पायेगा और मगहर में मरने वाला अगले जन्म में गदहा होगा। इस लोकविश्वास को मानने का अर्थ था भक्ति का निरादर। कबीर ने स्पष्ट शब्दों में इस लोकविश्वास का खण्डन किया है। वे कहते हैं :

लोकामति के भोरा रे।
जो कासी तन तजै कबीरा, तो रामहिं कहा निहोरा रे।।
× × ×
कहै कबीर सुनहू रे सन्तो भ्रमि परे जिमि कोई रे।
जस कासी तस मगहर ऊसर हिरदै राम सति होई रे।।

कबीर यह नहीं मानते कि लोक में धर्म के नाम पर जो कुछ है वह सब विवेकसम्मत है। अन्धविश्वास और रूढ़ियों का चलन भी लोक में ही होता है। उनका आत्मविश्वास न तो शास्त्र की रूढ़ियों को स्वीकार करता है और न लोक-प्रचलित अन्धविश्वासों को। प्रायः जिसे लोकधर्म कहा जाता है उसमें बहुत कुछ ऐसा भी होता है जिसे कबीर लोकभ्रम मानते हैं :

लोका जानि न भूलौ भाई।

कबीर शास्त्रीय ज्ञान के बोझ से मुक्त हैं। वे लोक के व्यापक अनुभव से शास्त्रीय ज्ञान की सामाजिक भूमिका भी पहचानते हैं; इसीलिए वेद और क़ुरान को कभी झूठ का बाना, कभी प्रपंच, कभी फन्दा और कहीं लोक को भरमाने का साधन कहते हैं। वे लोक के अनुभव से यह भी जानते हैं कि समाज में बहुत-सी भ्रामक मान्यताएँ और रूढ़ियाँ वेद और क़ुरान के नाम पर प्रचलित हैं। पुरोहितों और मौलवियों के लिए वेद तथा क़ुरान सामाजिक-धार्मिक रूढ़िवाद के जाल को अधिक कठोर और मज़बूत बनाने के पवित्र स्रोत रहे हैं। इसीलिये कबीर लोक में प्रचलित धार्मिक रूढ़िवाद के साथ-साथ उसके मूल स्रोतों पर भी आक्रमण करते हैं। यही नहीं, वे एक क़दम आगे बढ़कर जीवन के अनुभव और उस अनुभव से पाये सत्य को शास्त्र और उसके सत्य से अधिक प्रामाणिक मानते हैं, 'तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आँखिन की देखी।' कबीर जिस 'अनभै साँचा' को लेकर शास्त्र के सामने खड़े होते हैं उसी के सहारे वे लोकभ्रम के भय का भी सामना करते

हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार "अनभै साँचा अनुभव सत्य है और अनभय सत्य भी।" जीवन के विभिन्न प्रसंगों में सत्य का अनुभव तो बहुतों को होता है, लेकिन उसे कभी शास्त्र के भय और कभी लोक के डर से कहने का साहस नहीं होता। बिरला ही कोई निर्भय होकर अपने अनुभव का सच कहता है। वही कबीर होता है; कल, आज और कल भी।

वेदान्त के अनुसार सत्य के दो रूप हैं—पारमार्थिक और लौकिक। आध्यात्मिक स्तर पर सभी आत्माओं की पवित्रता और एकता पारमार्थिक सत्य है, लेकिन समाज में अमीर-ग़रीब, ऊँच-नीच, जाति-पाँति आदि का भेद व्यावहारिक या लौकिक सत्य है। सत्य के इन दोनों रूपों की समानान्तर सत्ता बनाए रखना शास्त्रीय धर्म का मुख्य लक्ष्य रहा है। कबीरदास ऐसे शास्त्रीय धर्म और उनके अनुगामी लोकधर्म दोनों का विरोध करते हैं। वे पारमार्थिक और लौकिक सत्य के बीच के अन्तर को अस्वीकार करते हैं, आत्मा की माँग और जीवन की वास्तविकताओं के बीच की दरार को पाटना चाहते हैं; इसीलिए आध्यात्मिक क्षेत्र की समानता और एकता की भावना को मनुष्यों के बीच सामाजिक समानता और एकता के रूप में चरितार्थ करने का आग्रह करते हैं।

भक्तिकाल के लोकधर्म को लेकर आलोचना में जो धर्मयुद्ध चला है उसमें शास्त्रीय धर्म से लोकधर्म के द्वन्द्व की पहचान हुई है, लेकिन लोकधर्म के आन्तरिक द्वन्द्व की उपेक्षा हुई है। कबीर और दूसरे सन्त कवि शास्त्रमत (जिसे वे प्रायः वेदमत कहते हैं) और उससे प्रभावित लोकमत की आलोचना करते हुए एक नई नैतिक चेतना और विश्वदृष्टि विकसित करते हैं, जिसे वे प्रायः साधुमत कहते हैं।

एंतोनियो ग्राम्शी ने लोकमत का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है कि लोकमत अनुभवाश्रित, यथार्थपरक, समय सापेक्ष और भौतिकवादी होता है। उसमें भोलापन, सहजता और भावावेग की प्रधानता होती है। किसी भी समाज में एक ही समय में विभिन्न जनसमुदायों के अनुभव से जुड़े अनेक लोकमत हो सकते हैं। लोकमत में ज़िन्दगी की सच्चाई होती है, लेकिन उसे सामाजिक सत्य का निर्भ्रान्त स्रोत समझना सही नहीं है। ग्राम्शी ने यह लिखा है कि धर्म लोकमत का महत्त्वपूर्ण अंग है, लेकिन लोकमत केवल लोकधर्म नहीं है। प्रायः जिसे लोकमत कहा जाता है उसमें शास्त्रीय धर्म का प्रभाव होता है और वह नवीनता का विरोधी भी होता है। ग्राम्शी के विश्लेषण से स्पष्ट है कि लोकमत को यथावत् स्वीकार करना या उसे महिमामण्डित करना उसके अन्तर्विरोधों की उपेक्षा करना है।

भक्ति आन्दोलन के साथ जो नया लोकधर्म विकसित हुआ, वह सभी कवियों के यहाँ एक जैसा नहीं है। दूसरी भारतीय भाषाओं के भक्तिकाल के लोकधर्म की स्थानीय विशेषताओं को छोड़ दें और केवल हिन्दी के भक्तिकाव्य को देखें तो भी यह समझना बहुत कठिन न होगा कि कबीर, जायसी, सूर, तुलसी और मीरा के

लोकधर्म का रूप एक-सा नहीं है। वैसे जब शास्त्रबद्ध और संघबद्ध धर्म भी आरोपित एकता के बावजूद समाज के सभी वर्गों और समुदायों के बीच समान अर्थ और रूप में माना नहीं जाता तब किसानों, कारीगरों, पंडितों और स्त्रियों का लोकधर्म एक कैसे होगा। भक्ति आन्दोलन के प्रत्येक कवि के लोकधर्म का रूप उसकी विश्वदृष्टि के अनुरूप है और कवि की विश्वदृष्टि पर उस वर्ग या समुदाय की ज़िन्दगी की वास्तविकताओं और आकांक्षाओं की छाप है, जिसका वह सदस्य है। वही विश्वदृष्टि प्रत्येक कवि की भक्तिभावना, सामाजिक चेतना और काव्यरचना के विशिष्ट स्वरूप का निर्माण करती है।

कबीर जिस लोकधर्म का विकास कर रहे थे उसका मुख्य लक्ष्य है मानुष सत्य या मनुष्यत्व का विकास। आचार्य शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि "कबीर ने मनुष्यत्व की सामान्य भावना को आगे करके निम्न श्रेणी की जनता में आत्मगौरव का भाव जगाया।" मनुष्यत्व की भावना को ही आगे रखकर कबीर एक ओर हिन्दू समाज के जातिभेद, धार्मिक रूढ़िवाद, अन्धविश्वास आदि की आलोचना करते हैं तो दूसरी ओर मुसलमान समुदाय के धार्मिक वाह्याचार और रस्मो-रिवाज की बखिया उधेड़ते हैं। यह आलोचना जनता को जगानेवाली है और रूढ़िवादियों को चिढ़ानेवाली। साथ ही यह आलोचना जनता के मन से शास्त्र के भय और सामाजिक रूढ़िवाद के भ्रम को दूर करके उसमें मनुष्यत्व की भावना जगाने वाली है।

कबीर की एक बड़ी विशेषता प्रश्न करने की प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति कबीर में जितनी प्रखर है उतनी उस काल के किसी अन्य कवि में नहीं है। उस समय के समाज, उसकी व्यवस्था और उसके धर्म का कोई भी पक्ष कबीर के प्रश्नों से बच नहीं पाया है। वे सामाजिक व्यवस्था और धार्मिक आस्था की रूढ़ियों को प्रश्नों के कठघरे में लाकर सवाल-दर-सवाल करते हुए उनके अन्तर्विरोधों को खोलते हैं। उनके प्रश्न उस युग की नैतिक मान्यताओं को चुनौती देते हैं और नई नैतिक दृष्टि की ज़रूरत का अहसास जगाते हैं। उन सवालों की कौंध लोगों के दिमाग़ पर छाए भ्रामक विश्वासों के कोहरे को छिन्न-भिन्न करनेवाली है। कबीर के प्रश्न जितने सरल और बेलाग हैं, उतने ही तीखे और तिलमिला देनेवाले भी हैं। वे कभी-कभी सुकरात की तरह अज्ञानी बनकर प्रश्न करते हैं और ज्ञानियों की पोल खोल देते हैं। प्रश्न की प्रवृत्ति ही कबीर की कविता में व्यंग्य को विशिष्ट सामाजिक कला बनाती है। वही प्रवृत्ति पाठकों को प्रश्न पूछने की प्रेरणा और निर्भीक दृष्टि भी देती है। कबीर और तुलसी की कविता में एक अन्तर यह है कि कबीर की कविता प्रश्न पैदा करती है, जबकि तुलसी की कविता उत्तर देनेवाली है।

कबीरदास अगर केवल आलोचना और प्रश्न करने तक सीमित रहते तो वे अधिक से अधिक असहमति और विरोध के कवि होते, जैसाकि कुछ लोग कहते

हैं। लेकिन ये केवल असहमति और विरोध के कवि नहीं हैं। उनकी सामाजिक सजगता असहमति और विरोध से आगे बढ़कर समाज में मनुष्यत्व की भावना को विकसित करने और मानुष-सत्य को प्रतिष्ठित करने के लक्ष्य को सामने रखती है। आलोचना और प्रश्न की प्रवृत्ति तो उस बड़े लक्ष्य की राह बनाने में सहायक मात्र है। कबीर मनुष्यत्व की भावना के विकास के लिए मनुष्य के हृदय के धर्म अर्थात् मानवीय भावों और उनसे विकसित मानवीय गुणों को लोकधर्म का आधार बनाते हैं। समाज में मानवीय भावों और मानवोचित गुणों के प्रसार के लिए मनुष्य-विरोधी भावों को हटाना आवश्यक होता है; इसीलिए कबीर ईर्ष्या, क्रूरता, कामुकता, कपट, अहंकार, पाखण्ड आदि की आलोचना करते हैं और प्रेम, करुणा, दया, उदारता, अहिंसा, समता आदि मानवीय भावों और गुणों को लोकधर्म बनाने पर ज़ोर देते हैं। वे यह भी चाहते हैं कि इन मानवीय भावों, विचारों और गुणों के अनुरूप आचरण मनुष्य स्वयं करे, न कि उसके लिए कोई अवतारी राम या कृष्ण। गौतम बुद्ध की तरह कबीर भी मनुष्य से यही कहते हैं कि अपना दीपक स्वयं बनो।

कबीर के लोकधर्म में व्यक्ति के आध्यात्मिक उत्कर्ष से अधिक महत्त्वपूर्ण है समाज में मनुष्यत्व का जागरण। भक्ति-दर्शन के अनुसार भक्ति के क्षेत्र में अमीर-ग़रीब, स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-शूद्र आदि का भेद नहीं होता। कबीर इस आध्यात्मिक सत्य को सामाजिक सत्य बनाते हैं और एक समतामूलक मानवीय समाज के निर्माण की माँग करते हैं। ऐसी माँग वे ही कर सकते थे; क्योंकि वे समाज के उस हिस्से से आए थे जिसके जीवन में सामाजिक विषमता की लगातार मार की पीड़ा ही सबसे बड़ी सच्चाई थी। इसीलिए वे सामाजिक समता को लोकधर्म का सबसे बड़ा मूल्य मानते हैं। तुलसीदास भी भक्ति के क्षेत्र में ऊँच-नीच, जाति-पाँति, स्त्री-पुरुष का भेद नहीं मानते; लेकिन राम की भक्ति के क्षेत्र में ही, सामाजिक जीवन में नहीं; यहाँ तक कि रामराज्य में भी नहीं। वे भक्त समुदाय के बाहर व्यापक समाज में वर्णाश्रम व्यवस्था को ही आदर्श मानते हैं। यद्यपि उन्हें जीवन में ग़रीबी के दुख का अनुभव था—'नहिं दरिद्र सम दुख जग माँही।' साथ ही, वे वर्णव्यवस्था के उत्पीड़न से भी परिचित थे, इसीलिए खीझकर लिखा—'धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोऊ'। फिर भी अन्ततः वे काल्पनिक आदर्श वर्णव्यवस्था को ही लोकधर्म के रूप में स्थापित करना चाहते हैं।

कबीर की कविता का लोक और उसका धर्म दूसरे भक्त कवियों से अलग है; क्योंकि उनके जीवन का अनुभवलोक भी दूसरों से भिन्न है। कबीर बार-बार कहते हैं—'मैं जुलाहा, मैं जुलाहा।' उनकी कविता का ताना-बना भी कहता है कि वह एक बुनकर की कविता है। उस कविता का पूरा लोक एक जुलाहे के जीवन-यथार्थ के अनुभवों और आकांक्षाओं से बुना हुआ है। यहाँ तक कि उनकी

भक्ति-भावना का रहस्यलोक भी उन्हीं अनुभवों और आकांक्षाओं से बना है। कबीर की कविता और भक्ति के इस स्वरूप को किसी आलोचक ने भले ही न पहचाना हो, लेकिन उनके समानधर्मा जायसी ने ज़रूर पहचाना और लिखा :

ना नारद तब रोइ पुकारा। एक जोलाहे सौं मैं हारा।।
प्रेम तन्तु नित ताना तनई। जप तप साधि सैकरा भरई।।

कबीर प्रत्येक लौकिक और अलौकिक वस्तु को जुलाहे की नज़र से देखते हैं। उनके लिए ईश्वर भी एक बुनकर ही है और उसकी यह दुनिया तथा मानव काया—'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' है। वे अपने जीवनानुभवों का ताना तनकर उसमें भक्ति का बाना बुनते हैं :

हरि मोर रहँटा मैं रतन पिउरिया।
हरि को नाम लै कातल बहुरिया।
छ मास ताग बरस दिन ककुरी।
लोग बोले भल कातल बपुरी।।
कहै कबीर सूत भल काता।
रहँटा न होय मुक्ति कर दाता।।

चरखा कबीर के लिए जीवनयापन का साधन है और पूजा की वस्तु भी। उनकी दृष्टि में जीवन के कर्म से धर्म अलग नहीं है। उनके कवि-कर्म और जीवन-कर्म में अद्‌भुत एकता है। कारीगर कबीर के जीवन की कला ही उनकी कविता की कला बन गई।

तुलसीदास का कवि-स्वभाव कबीर से एकदम भिन्न है। वे 'नाना पुराण निगम आगम' के पण्डित हैं और संस्कृत काव्य की विशाल परम्परा के मर्मज्ञ भी। शास्त्र-मत या वेद-मत उनकी काव्यदृष्टि का अनिवार्य अंग है। साथ ही, वे उस समय के समाज में प्रचलित विभिन्न धार्मिक मतों से परिचित हैं और लोकमन को अच्छी तरह पहचानते भी हैं। वे एक कुशल कथावाचक की तरह नये-नये संवादों और प्रसंगों को रचते हुए अपने युग के वैचारिक द्वन्द्वों को समेटने की कला में अत्यन्त निपुण हैं। इसी कला के सहारे वे पुराणों, स्मृतियों आदि की मान्यताओं को लोकभाषा के माध्यम से लोकमन में प्रतिष्ठित करते हैं। *रामचरितमानस* के संस्कृत स्रोतों पर ध्यान दें तो स्पष्ट होगा कि वह कविता में अनुवाद की कला का अनन्य उदाहरण हैं। आजकल आलोचना की एक प्रवृत्ति पाठों की अन्तर्व्याप्ति की खोज पर ज़ोर देती है। उसके लिए *रामचरितमानस* से बेहतर पाठ शायद ही मिले। तुलसीदास की कविता में सामाजिक और धार्मिक स्तर पर समन्वय की चिन्ता अधिक है। वे जिस तरह *रामचरितमानस* के आरम्भ, अन्त और बीच में जगह-जगह संस्कृत में वन्दना और प्रार्थना लिखकर लोकभाषा से संस्कृत का समन्वय करते हैं, वैसे ही लोकमत से वेदमत का। इस प्रक्रिया से वे एक ओर वैदिक-पौराणिक

परम्परा के लिए लोकमत में जगह बनाते हैं तो दूसरी ओर उस परम्परा में और लोकमन में भी अपनी जगह सुनिश्चित करते हैं। यह तुलसीदास के काव्य का एक पक्ष है।

तुलसी के काव्य का दूसरा पक्ष यह है जिसके आगे-पीछे कोई शास्त्र नहीं है। वहाँ लोकजीवन का व्यापक अनुभव है, उनका अपना चिन्तन है और गहरी सहृदयता है। यह सब *रामचरितमानस* में भी है; विशेषतः उसके मानवीय सम्बन्धों के चित्रण, कथा के रचना-विधान और काव्यभाषा की बनावट में। परन्तु उनकी गम्भीर चिन्तनशीलता और सहृदयता के एक से बढ़कर एक उदाहरण *विनयपत्रिका* में मिलते हैं। *विनयपत्रिका* में उनका निश्छल आत्मनिवेदन दूसरे भक्त कवियों के आत्मनिवेदन से भिन्न नहीं है। *कवितावली* के आत्मकथ्यात्मक छन्दों में अपने जीवन और समाज के कठोर सच को सीधे कहने की तत्परता है तो दूसरे अनेक छन्दों में उस समय के समाज के यथार्थ का मर्मस्पर्शी चित्रण भी है। उन्होंने समाज में फैली ग़रीबी, भुखमरी, अकाल और महामारी के त्रासद यथार्थ का जो चित्रण किया है उसमें उनकी जनजीवन से गहरी आत्मीयता और व्यापक करुणा व्यक्त हुई है। तुलसीदास के काव्य का यह पक्ष शास्त्रमत से मुक्त एवं लोक अनुभव से प्रेरित है।

## भक्तिकाव्य में प्रेम भावना

कबीर जिन मानवीय भावों को लोकधर्म का आधार बनाकर समाज में मनुष्यत्व की भावना का विकास करना चाहते थे, उनमें सबसे अधिक व्यापक और गंभीर भाव है प्रेम। वही भक्ति का मूल भाव है और सम्पूर्ण भक्तिकाव्य का केन्द्रीय भाव भी। आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि "भक्तिमार्ग शुद्ध भावमार्ग या प्रेममार्ग है। उसका आधार मनुष्य की सहज रागात्मिका वृत्ति है। उसकी पद्धति वह प्रेम-पद्धति है जिसे सब लोग स्वभावतः जानते हैं।"

तात्पर्य यह कि भक्तिकाव्य के प्रेम के मूल में लौकिक अनुभव है। भक्त कवियों ने प्रेममार्ग की जिन बाधाओं का वर्णन किया है वे भी लोकजीवन में प्रेम की अनुभूति की बाधाएँ हैं। जैसे सामाजिक जीवन में प्रेम की अनुभूति शास्त्र और लोक की रूढ़ियों से स्वतन्त्र होना चाहती है वैसे ही जायसी, सूर और मीरा की प्रेमानुभूति विधि-निषेध से स्वतन्त्र है। वह शास्त्र के भ्रम और लोक के भय से मुक्त मानवीयता के विकास में सहायक है। भारतीय समाज में इस प्रेम का विशेष महत्त्व यह है कि वह कर्मवाद की मान्यताओं का निषेध करता है।

भक्तिकाव्य का प्रेम भक्ति आन्दोलन की विभिन्न धाराओं को आपस में मिलाता है। वह वैष्णवों को सूफ़ियों से और निर्गुण सन्तों को सगुण भक्तों से

जोड़ता है। कहीं वह सामाजिक मूल्य है तो कहीं सामाजिक कर्तव्य। लेकिन उसका सबसे उत्कट और आवेगमय रूप स्त्री-पुरुष के प्रेम में मिलता है, इसलिए माधुर्य भाव भक्ति की अनुभूति का आदर्श है।

कबीर की कविता में प्रेम एक सामाजिक मूल्य भी है, परन्तु उनकी भक्ति की सान्द्रता वहीं प्रकट हुई है जहाँ माधुर्य भाव के अन्तर्गत प्रियतम से मिलन की आकांक्षा, मिलन की सम्भावना का सुख और विरह की व्याकुलता व्यंजित हुई है। कबीर प्रेम की अनुभूति को जब भारतीय स्त्री के पारिवारिक परिवेश और उसमें पलने वाले मानवीय सम्बन्धों की भाषा में व्यक्त करते हैं तब वह अधिक मूर्त और संवेद्य होती है। वह प्रेमानुभूति कहीं-कहीं रहस्यमयी लगती हुई भी भारतीय स्त्री की पारिवारिक ज़िन्दगी की अनुभूतियों को ही प्रतिबिम्बित करती है। वैसे लौकिक प्रेम की अनुभूति भी पूरी तरह रहस्य-रहित नहीं होती।

जायसी प्रेम के कवि के रूप में विख्यात हैं। उनके अनुसार संसार में प्रेम से अधिक सुन्दर और काम्य कुछ भी नहीं है। प्रेम ही मनुष्य के जीवन का चरम मूल्य है, जिसे पाकर मनुष्य बैकुण्ठी होता है, अन्यथा वह एक मुट्ठी राख नहीं तो और क्या है—'मानुप प्रेम भएउ बैकुण्ठी। नाहीं त काह छार भरि मुट्ठी।।' वही प्रेम जायसी की कविता का प्रेरक है। उनकी कविता का लक्ष्य भी प्रेम ही है। उनका विश्वास है कि उनकी कविता पाठक के मन में प्रेम की पीर अवश्य पैदा करेगी।--'मुहम्मद कवि यह जोरि सुनावा। सुना सो पीर प्रेम कर पावा।।' जायसी यह भी मानते हैं कि प्रेम केवल उन्हीं की कविता का लक्ष्य नहीं है, बल्कि संसार की सभी भापाओं की कविता में जहाँ प्रेम है वहीं मनुप्य का मन लगता है :

> तुरकी अरबी हिन्दुई, भाषा जेती आहि।
> जेहि महँ मारग प्रेमकर, सबै सराहैं ताहि।।

जायसी की दृष्टि में प्रेम अत्यन्त गूढ़ और अथाह है। ज़ाहिर है, ऐसे प्रेम की कविता लिखना भी आसान नहीं होगा। दूसरे कवि अधिक-से-अधिक आँसुओं से प्रेम की कविता लिखते हैं, लेकिन जायसी ने आँखों से टपकनेवाले लहू से प्रेम की कविता लिखी है :

> जोरी लाइ रकत कै लेई। गाढ़ि प्रीति नयनन्ह जल भेई।
> ओ मैं जानि गीत अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा।।

*पद्मावत* में प्रेम की प्रधानता निर्विवाद है, परन्तु उस प्रेम के स्वरूप के बारे में मतभेद है। विवाद का विषय यह है कि वह प्रेम मूलतः लौकिक है या अलौकिक। जो आलोचक जायसी को सूफ़ी कवि सिद्ध करते हैं वे *पद्मावत* में प्रत्येक स्तर पर सूफ़ीमत की खोज करते हुए उसके प्रेम को अलौकिक, आध्यात्मिक और रहस्यवादी कहते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल *पद्मावत* को सूफ़ी काव्य मानते हैं और उसके प्रेम को अलौकिक, आध्यात्मिक और एकान्तिक कहते हैं, लेकिन

वे *पद्मावत* में जगह-जगह लौकिक प्रेम का उत्कर्ष देखते हैं। विजयदेव नारायण साही ने *पद्मावत* में शुद्ध कविता की खोज की है। उन्होंने लिखा है कि जायसी ऐसे कवि हैं जिसे बैकुण्ठी प्रेम की तलाश नहीं है, जो ऐसा प्रेम चाहता है जो प्रेम करनेवाले मनुष्य को ही बैकुण्ठी बना दे।

जायसी की कविता का आधार है लोकजीवन का व्यापक अनुभव। *पद्मावत* की भाषा की बनावट और मुहावरों में लोकजीवन के अनुभवों की अनुगूँज से सब परिचित हैं। उसी अनुभव से जायसी को वह प्रेमगाथा मिली है, जो *पद्मावत* की कथा बन गई है। लोककथा की एक विशेषता यह है कि उसमें लौकिक से अलौकिक की सहज एकता होती है। यही स्थिति *पद्मावत* की कथा में भी है। *पद्मावत* की संरचना में लोकगीतों की भावभूमि और संवादधर्मिता जगह-जगह मौजूद है। लोकगीतों की भावभूमि और संवादधर्मी कल्पना का एक रूप सखियों के साथ पद्मावती की जलक्रीड़ा और बातचीत में दिखाई देता है तो दूसरा नागमती के विरह-वर्णन में। लोकगीतों की प्रश्नोत्तरी शैली और संगीतमयता पूरे *पद्मावत* में व्याप्त है। जायसी ने *पद्मावत* को गीत कहकर लोकगीत से आत्मीय सम्बन्ध की ओर ही संकेत किया है।

*पद्मावत* का अन्तर्लोक भी लौकिक अनुभवों से भरा हुआ है। यहाँ तक कि उसके काल्पनिक रहस्यलोक अर्थात् सिंहलद्वीप में भी बहुत कुछ वैसा ही है जैसा जायसी के समय के समाज में था। उदाहरण के लिए कोई चाहे तो सिंहलद्वीप के बाज़ार का वर्णन पढ़ सकता है। *पद्मावत* का रहस्यलोक कवि के लोक अनुभव का ही प्रतिविम्ब है। उस रहस्यलोक में कवि जहाँ भी जीवन के यथार्थ की सीमाओं को लाँघकर मानवीय आकांक्षा की सम्भावनाओं की ओर संकेत करता है वहीं अपार्थिव और अलौकिक की झलक मिलती है। *पद्मावत* में कहीं-कहीं अलौकिकता के आभास का यही रहस्य है। इसके पात्रों का स्वभाव और व्यवहार भी प्रायः मानवोचित ही है। पद्मावती के रूप, स्वभाव और व्यवहार में कहीं-कहीं असाधारणता ज़रूर आती है, लेकिन वह प्रेमिका, पत्नी और सौत के रूप में अधिकतर साधारण स्त्री की तरह व्यवहार करती है। यही स्थिति रत्नसेन तथा नागमती की है। *पद्मावत* का प्रेम असाधारण ज़रूर है, लेकिन अलौकिक नहीं।

यदि एक ओर 'पद्मावत' को सूफ़ी सिद्धान्त का दृष्टान्त काव्य मान लेना ग़लत है तो दूसरी ओर जायसी की कविदृष्टि के सूफ़ियाना अन्दाज़ को अस्वीकार करना भी सही नहीं है। जो लोग जायसी को शुद्ध सूफ़ी सन्त सिद्ध करना चाहते हैं, वे *पद्मावत* के लौकिक और मानवीय पक्षों की उपेक्षा करके केवल आध्यात्मिक और अलौकिक की खोज करना चाहते हैं और जो उन्हें शुद्ध कवि साबित करते हैं वे यह भूल जाते हैं कि *अखरावट* और *आख़िरी कलाम* भी जायसी की ही रचनाएँ हैं। इस प्रसंग में एक ग़लती तब होती है जब सूफ़ीमत की परवर्ती परिणति को

ध्यान में रखकर *पद्मावत* की व्याख्या की जाती है।

मध्यकाल के दार्शनिकों, कलाकारों और कवियों की विश्वदृष्टि के निर्माण में धर्म की लगभग वही भूमिका रही है जो आधुनिक युग में राजनीति की है। उस युग में जीवन-जगत की धार्मिक परिभाषा सर्वोपरि थी। जीवन की वास्तविकताओं और आकांक्षाओं को अर्थ धर्म की भाषा में ही समझना-समझाना सुगम था। उस युग का कोई कवि धर्म की सर्वाश्लेषी भाषा का सामना करने से कैसे बच सकता था। भक्तिकाल के कवियों ने पहले से चली आती धार्मिक भाषा के बदले लोकजीवन की भाषा को विकसित किया। यही प्रयत्न जायसी के काव्य में भी है। जायसी की विश्वदृष्टि का सूफ़ी स्वभाव उनकी कविदृष्टि को लोकजीवन के क़रीब ले जाता है; क्योंकि सूफ़ीमत मूलतः लोकधर्म है। आरम्भ से ही सूफ़ी कवियों ने लोकप्रचलित प्रेम-कथाओं को काव्यरचना का आधार बनाया और अपने क्षेत्र की बोली में कविता लिखी। जनसंस्कृति के विकास में सूफ़ियों का यह योगदान अविस्मरणीय है।

जायसी की दृष्टि में मानव-जीवन का सच्चा मार्गदर्शक प्रेम है, धार्मिक कट्टरता नहीं। *पद्मावत* में पद्मिनी को पाने की इच्छा रत्नसेन के मन में है और अलाउद्दीन के मन में भी। रत्नसेन सत्ता और शक्ति को पीछे छोड़कर केवल प्रेम के सहारे पद्मिनी को पाने का प्रयत्न करता है और सफल होता है। अलाउद्दीन पद्मिनी के लिए चित्तौड़ पर चढ़ाई करता है। उसके पास प्रेम के सिवा सब कुछ है—सत्ता, शक्ति और साथ में धार्मिक उन्माद भी। उसके अभियान का अन्त यह है :

> जौहर भई सब इस्तरी, पुरुष भए संग्राम।
> बादशाह गढ़ चूरा, चितउर भा इस्लाम।।

चित्तौड़ पर अलाउद्दीन और इस्लाम का क़ब्ज़ा हुआ, लेकिन किस क़ीमत पर ? वहाँ जो कुछ सुन्दर, कोमल और काम्य था, उसे जलाकर ! इस जीत से बड़ी इन्सानियत की हार और क्या होगी ? जायसी का संकेत स्पष्ट है कि धार्मिक कट्टरता भयंकर होती है, यदि वह सत्ता से जुड़ी हो तो और भी विनाशकारी होती है। सत्ता, शक्ति और धार्मिक उन्माद के बावजूद प्रेम के अभाव में अलाउद्दीन को पद्मिनी नहीं मिली, उसकी चिता की राख मिली और उस राख से ढककर झूठी पड़ी पृथ्वी पर व्यर्थता की जीत हाथ लगी। जायसी की दृष्टि में अलाउद्दीन की चाह मृगतृष्णा है जिसका यही अन्त होता है—'जौ लहि ऊपर छार न परै। तो लहि यह तिस्ना नहिं मरै।।' वास्तव में *पद्मावत* धार्मिक कट्टरता पर प्रेम की विजय का काव्य है।

सूर के काव्य में प्रेम कबीर से अधिक स्वाभाविक और जायसी से अधिक लौकिक है। सूर को कबीर की तरह वात्सल्य और माधुर्य की अभिव्यक्ति के लिए बालक तथा बहुरिया बनने की आवश्यकता नहीं है और जायसी की तरह प्रेम की

अलौकिक आभा दिखाने की चिन्ता भी नहीं। वहाँ यशोदा और गोपियों के हृदय से तादात्म्य के लिए कविसुलभ सहृदयता का सर्जनात्मक उपयोग है। उनकी प्रेमानुभूति की अथाह गहराई और अपार विविधता का अक्षय स्रोत प्रेम का लौकिक अनुभव है, कोई शास्त्र नहीं; न काव्यशास्त्र, न भक्तिशास्त्र। उसे शास्त्रबद्ध करने का प्रयत्न आचार्यों ने किया है। सूर के काव्य में प्रेम की अनुभूति के ऐसे अनेक पक्ष हैं जिनका उल्लेख किसी शास्त्र में नहीं है। ऐसे कुछ प्रसंगों की ओर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने संकेत किया है।

सूर की गोपियों का प्रेम कोई सीमा नहीं जानता। वह कोई बन्धन नहीं मानता, न संयोग में और न वियोग में। उसका लक्ष्य है तन्मयता। इस लक्ष्य में बाधक बनने वाले शास्त्र और लोक के सभी बन्धन असह्य हैं। यद्यपि आचार्य शुक्ल प्रेम के इस रूप को बहुत पसन्द नहीं करते, फिर भी उन्होंने इसके सच्चे स्वरूप की ओर संकेत किया है। उन्होंने लिखा है कि "वह लोक और वेद दोनों की मर्यादाओं से परे हैं।"

आचार्य शुक्ल जिसे मर्यादा कहते हैं वह वास्तव में रूढ़ि है। रूढ़ियाँ केवल शास्त्र की ही नहीं होतीं, लोक की भी होती हैं। लोक की रूढ़ियाँ शास्त्र की रूढ़ियों से कम दमनकारी नहीं होतीं। समाज में प्रचलित रीति-रिवाज, मान-मर्यादा, कुल-कानि आदि से उपजा लोकभय प्रायः लोकधर्म बनकर मानवीय भावों और सम्बन्धों के स्वतन्त्र विकास को, ख़ासतौर से प्रेम की दुनिया को, छिन्न-भिन्न कर डालता है। गोपियों का प्रेम निर्द्वन्द्व एवं निर्भीक है। वह शास्त्र की रूढ़ि और लोक के भय से मुक्त है। गोपियों के प्रेम का स्वभाव यह है :

गोपी स्याम रंग राँची।
देह गेह सुधि बिसारि, बढ़ी प्रीति साँची।
दुविधा उर दूर भई, गई मति वह काँची।।
मातु-पिता लोक भीति बाकी नहिं बाँची।
सकुच जबहि आवै उर बार-बार झाँची।।

घनानन्द कह गये हैं कि 'अति सूधो सनेह को मारग है, जहँ नेकु सयानप बाँक नहीं।' जिस प्रेम में अपनी थोड़ी-सी चालाकी भी बाधक होती है, उसमें शास्त्रमत और लोकमत के लिए जगह कहाँ होगी। इसलिए संयोग में गोपियाँ स्पष्ट कहती हैं—'आरज पन्थ चलै कहँ सरिहै, स्यामहि संग फिरौरी।' वियोग में उनके प्रेम का वेग सारी रूढ़ियों और मर्यादाओं को बहा ले जाता है :

'अब यह दशा देखि निज नैननि, सब मरजाद ढही।'

सूर का प्रेम शास्त्र और लोक की रूढ़ियों से एकदम स्वतन्त्र है। वह विधि-निषेध से मुक्त मानवीय मनोकामना का मूर्त रूप है। ऐसा प्रेम किसी रूढ़िबद्ध समाज में संभव नहीं है। रूढ़िबद्ध समाज में ऐसा प्रेम अधिक से अधिक एक

आकांक्षा, कल्पना या सपना हो सकता है। प्रेम की स्वतन्त्रता के लिए रूढ़िमुक्त समाज ज़रूरी है। सूर की विशेषता यह है कि उन्होंने स्वच्छन्द समाज में स्वच्छन्द प्रेम का चित्रण किया है। उस युग में ऐसे समाज और ऐसे प्रेम का चित्रण तत्कालीन समाज की सीमाओं को लाँघकर स्वतंत्र प्रेम और प्रेम की मानवीय आकांक्षा के अनुकूल कल्पनालोक का सृजन है। सूर का वृन्दावन ऐसा यूटोपिया है, जिसमें आदिम समाज की स्मृति और भावी समाज की सम्भावना का योग है। यह रचनादृष्टि स्वच्छन्दतावादी काव्यदृष्टि के समान है, इसलिए आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि "इस प्रेम को हम जीवनोत्सव के रूप में पाते हैं। सूर के कृष्ण और गोपियाँ पक्षियों के समान स्वच्छन्द हैं। वे लोक के बन्धनों से जकड़े हुए नहीं दिखाए गए हैं। जिस प्रकार स्वच्छन्द समाज का स्वप्न अंग्रेज़ कवि शेली देखा करते थे, उसी प्रकार का यह समाज सूर ने चित्रित किया।" सूर का प्रेम आज भी रूढ़िमुक्त समाज और प्रेम के लिए संघर्ष में प्रेरणाप्रद है; क्योंकि भारतीय समाज आज भी उन्हीं बन्धनों से जकड़ा हुआ है जिनसे मुक्ति की आकांक्षा सूर के काव्य में है। उन्हीं बन्धनों के कारण प्रेम यहाँ आज भी जीवन का उत्सव नहीं, एक अपराध या मानवीय कमज़ोरी है। शुक्लजी के कथन से यह भी स्पष्ट है कि भक्तिकाव्य में केवल शास्त्र और लोक का द्वन्द्व देखना काफ़ी नहीं है, लोक के आन्तरिक अन्तर्विरोधों की पहचान ज़रूरी है।

भक्तिकाल के कवियों में मीराबाई का प्रेम सबसे अधिक सहज, उत्कट और विद्रोही है। उनको प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए किसी बिचवई की ज़रूरत नहीं है; न कबीर की तरह रूपक की, न जायसी की तरह लोककथा की और न सूर की तरह गोपियों की। वहाँ सीधा और प्रत्यक्ष प्रेम-निवेदन है, निर्भय और निर्द्वन्द्व आत्माभिव्यक्ति।

वैसे तो कबीर, जायसी और सूर के लिए भी प्रेम का मार्ग आसान और सुगम न था, लेकिन मीरा को अपने हृदय के विवेक की रक्षा के लिए जिस अग्निपरीक्षा से गुज़रना पड़ा, उससे भक्तिकाल के किसी दूसरे कवि को नहीं। कबीर, जायसी और सूर के सामने चुनौतियाँ और कठिनाइयाँ भावजगत की थीं। मीरा के सामने भावजगत से अधिक भौतिक जगत की, सीधे पारिवारिक और सामाजिक जीवन की चुनौतियाँ तथा कठिनाइयाँ थीं। उस पुरुष-प्रधान सामन्ती समाज में एक स्त्री, वह भी मेड़ता के राठौड़ राजपूत कुल की बेटी और मेवाड़ के महाराणा परिवार की बहू, ऊपर से विधवा। यही था मीरा का अपना लोक। उसके धर्म और उसमें स्त्री की स्थिति का अनुमान किया जा सकता है। लेकिन उसके विरुद्ध विद्रोह की कल्पना भी कठिन है। मीरा ने उस आतंककारी लोक और उसके भयावह धर्म के विरुद्ध खुला विद्रोह किया। उस विद्रोह का साक्षी है उनका जीवन और काव्य।

मीरा का विद्रोह अन्धे के हाथ लगा बटेर नहीं है। वे अपने संघर्ष की

परिस्थितियों के बारे में पूरी तरह सजग हैं। विरोधी शक्तियों के खूंखार स्वभाव और अपनी वास्तविक स्थिति की पहचान के बाद उन्होंने कहा है 'तन की आस कवहूँ नहिं कीनो, ज्यों रण माँही सूरो।' उनका संघर्ष सचमुच असाधारण है। जीवन की बाज़ी लगाकर लड़ा जाने वाला एक युद्ध। संकल्प उनकी शक्ति का मुख्य स्रोत है। संकल्प के पीछे प्रेम में अटूट आस्था का वल है। तभी वे विरोधियों को चुनौती देती हुई घोषणा करती हैं :

लोक लाज कुल कानि जगत की, दइ बहाय जस पानी।
अपने घर का परदा कर ले, मैं अवला बौरानी।।

यह चुनौती उन लोगों को है जो लोकलाज और कुल की मर्यादा के नाम पर मीरा की स्वतन्त्रता को कुचलना चाहते थे और असफल होने पर खीझकर उन्हें बावरी, दीवानी, कुलनासी आदि कहते थे। "अपने घर का परदा कर ले, मैं अवला बौरानी" में आरम्भ का व्यंग्य बाद की विडम्वना से मिलकर जो प्रभाव पैदा करता है वह चुनौती के स्वर को अधिक अर्थपूर्ण और धारदार बना देता है। यहाँ एक सजग स्त्री-स्वर सुनाई देता है, जिसमें आक्रोश की अनुगूँज है, किसी पीड़ित की चीख़ या पुकार नहीं। इससे यह भी स्पप्ट है कि संकल्प और आस्था के साथ अपनी अस्मिता और स्वतन्त्रता के लिए संघर्पशील अवला भी पुरुष प्रभुत्व के लिए चुनौती बन सकती है।

अपने प्रेम की रक्षा के लिए मीरा का संघर्ष चौतरफ़ा है। उसके विरोध में राणा की राजसत्ता है और सिसौदिया कुल की मर्यादा (कुल कानि) भी, पुरुप प्रभुत्व की सत्ता है और सामंती समाज की रूढ़ियाँ (लोक-लाज) भी। इनमें से कोई भी एक स्त्री की स्वतन्त्र चेतना की हत्या करने में सक्षम है। फिर जहाँ चारों एकत्र हों वहाँ आतंक का क्या कहना ! मीरा ने इन सवका सामना किया है और कभी-कभी आगे बढ़कर उन्हें ललकारा भी है :

सीसौद्यो रूठ्यो म्हाँरों काँई कँर लेसी।
म्हें तो गुण गोविन्द का गास्याँ, हो माई।।
राणाजी रूठ्याँ वाँरो देस रखासी।
हरि रूठ्या कुम्हलास्याँ, हो माई।।
लोक लाज की काण न मानूँ।
निरभै निसाणा घुरास्याँ हो माई।।

मीरा की सामाजिक सजगता का एक प्रमाण यह भी है कि उन्होंने जहाँ भी सामन्ती समाज की रूढ़ियों को चुनौती दी है वहाँ समानधर्मा सखी या माँ को ही सम्बोधित किया है, भाई या पिता को नहीं।

प्रेम स्वभाव से ही सत्ता विरोधी और स्वतन्त्र होता है। वह अपने प्रिय को छोड़कर किसी और की सत्ता स्वीकार नहीं करता। सत्ता से प्रेम के संघर्ष की कहानी

उतनी ही पुरानी है, जितनी प्रेम की कविता की परम्परा। यह आवश्यक नहीं कि प्रेम की कविता में विरोधी सत्ता हमेशा सामने हो। वह कहीं प्रत्यक्ष होती है और कहीं परोक्ष। प्रेम ही मीरा के सामाजिक संघर्ष का साधन है और साध्य भी। यद्यपि कबीर भी कहते हैं कि प्रेम का घर खाला का घर नहीं है, लेकिन मीरा की प्रेमसाधना कवीर से भी अधिक कठिन है। उनका दुर्गम प्रेमपथ का अनुभव ठीक ही कहता है :

> लगन को नाँव न लीजै, री भोली !
> लगन लगी को पैंडो ही न्यारो, पाँव धरत तन छीजै।
> जे तूँ लगन लगाई चाहे, सीस को आसन कीजै।।

यह कोई काव्योक्ति नहीं, मीरा के जीवन की सच्चाई है। मीरा के प्रेम में आत्मसमर्पण और आत्मविश्वास का अनुपम द्वन्द्व है। उनका आत्मसमर्पण आत्मविसर्जन नहीं है। उस प्रेम में गोविन्द के सामने आत्मसमर्पण है तो सामन्ती शक्तियों के विरोध की दृढ़ता भी है। गोविन्द से मीरा कहती हैं—'म्हाने चाकर राखो जी ! म्हाने चाकर राखो जी !' तो दूसरी ओर राणा से कहती हैं—'थे तो राणाजी म्हानै इसड़ा लागो, ज्यों वृच्छन में कैर' या फिर ''सिसौद्यो रूठ्यो म्हाँरौ काँई कँर लेसी।' वे गोविन्द के सामने आत्मसमर्पण करती हैं और उससे शक्ति अर्जित करती हुई सामन्ती शक्तियों का सामना करती हैं। मीरा कभी-कभी राजसत्ता और उसकी शक्ति की सीमा बताने के लिए उसके सामने ईश्वर की सत्ता और शक्ति को रख देती हैं :

> राणाजी रूठ्याँ वाँरो देस रखासी।
> हरि रूठ्या कुम्हलास्याँ, हो माई।।
> या
> राजा रूठै नगरी राखे, हरि रूठ्या कहँ जाणा।

इस तरह वे सामन्ती सत्ता की तुच्छता सामने लाकर उसके आतंक, भय तथा प्रलोभन से मुक्ति की प्रेरणा देती हैं और अपने प्रेम की श्रेष्ठता सिद्ध करती हैं।

मीरा का विद्रोह एक विकल्पविहीन व्यवस्था में अपनी स्वतन्त्रता के लिए विकल्प की खोज का संघर्ष है। उनको विकल्प की खोज के संकल्प की शक्ति भक्ति से मिली है। यह भक्ति आन्दोलन का क्रान्तिकारी महत्त्व है। मीरा की कविता में सामन्ती समाज और संस्कृति की जकड़न से बेचैन स्त्री-स्वर की मुखर अभिव्यक्ति है। उनकी स्वतन्त्रता की आकांक्षा जितनी आध्यात्मिक है, उतनी ही सामाजिक भी है। मीरा का जीवन संघर्ष, उनके प्रेम का विद्रोही स्वभाव और उनकी कविता में स्त्री-स्वर की सामाजिक सजगता भक्ति आन्दोलन की एक बड़ी उपलब्धि है, जिसकी ओर हिन्दी आलोचना में कम ध्यान दिया गया है। नाभादास ने मीरा

के संघर्ष के महत्त्व को पहचानते हुए भक्तमाल में सच ही लिखा है :

सदरिस गोपिन प्रेम प्रकट, कलियुगहि दिखायो।
निरअंकुश अति निडर, रसिक जस रसना गायो।।

× × ×

भक्ति निसान बजाय के काहूते नाहिन लजी।
लोक लाज कुल शृंखला, तजि मीरा गिरधर भजी।।

मीरा के काव्य में रूढ़िवादी लोकमत का विरोध अत्यन्त उग्र है, लेकिन उसमें शास्त्रमत की कोई चिन्ता नहीं है। उसका कहीं विरोध है और न कहीं सहारा। उसके आकर्षण, भय और भ्रम से पूरी तरह मुक्त है मीरा की कविता।

## प्रेम का स्वरूप और महत्त्व

भक्तिकाव्य के प्रेम का महत्त्व सव स्वीकार करते हैं, लेकिन भक्त कवियों की प्रेमानुभूति के स्वरूप और महत्त्व के बारे में काफ़ी मतभेद है। नामवर सिंह की यह बात सही है कि "आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि में एक तुलसीदास को छोड़कर प्रायः सभी भक्त कवियों का प्रेम ऐकान्तिक है।" आचार्य शुक्ल के अनुसार भक्तिकाव्य में जहाँ माधुर्य भाव है वहाँ प्रेम प्रायः ऐकान्तिक है। वह पारिवारिक और सामाजिक मर्यादाओं का अतिक्रमण करता है, इसलिए 'लोकबाह्य' है। इस दृष्टि से केवल तुलसीदास का प्रेम लोकबद्ध है, बाक़ी जायसी तथा सूरदास का प्रेम अंशतः ऐकान्तिक है और मीरा का पूर्णतः। शुक्लजी की इस राय का अभिप्राय यह है कि प्रेम पारिवारिक मर्यादाओं से बँधा हुआ एक सामाजिक कर्तव्य है, जैसा कि वह तुलसीदास के काव्य में मिलता है; शास्त्र और लोक की रूढ़ियों को चुनौती देने वाली स्वतन्त्रता की आकांक्षा का प्रेरक स्वाधीनभाव नहीं, जैसा कि वह सूर और मीरा के काव्य में है। कवीर, जायसी, सूर और मीरा के काव्य में प्रेम उत्तरोत्तर शास्त्र के भ्रम और लोक के भय से उन्मुक्त होता दिखाई देता है।

असल में भक्तिकाव्य या किसी भी काव्य के प्रेम को सम-विषम, स्वकीया-परकीया, लोकबद्ध और ऐकान्तिक आदि रीतिगत साँचों में बाँटकर समझने की कोशिश ही ग़लत है। प्रेम की अनुभूति का लक्ष्य है तल्लीनता; इसलिए काव्य में प्रेमानुभूति की गहराई, सच्चाई और तन्मयता महत्त्वपूर्ण है न कि उसका सम या विपम रूप। फिर भगवान से भक्त के प्रेम में विषमता पर आश्चर्य और आपत्ति क्यों ?

भक्तिकाव्य के प्रेम के स्वरूप पर विचार करते समय एक और बात ध्यान देने लायक़ है। विभिन्न कवियों की काव्यानुभूति का स्वरूप उनकी अभिव्यक्ति के रूप से बहुत दूर तक प्रभावित हुआ है। जिस कवि ने कथा का सहारा लेकर

प्रबन्धकाव्य के भीतर प्रेम की अभिव्यक्ति की है उसके यहाँ प्रेम के दोनों पक्षों के अनुभवों की अभिव्यक्ति की संभावना बनी है। परन्तु जहाँ कथासूत्र विरल है, अथवा पद या प्रगीत में प्रेम व्यक्त हुआ है वहाँ अभिव्यक्ति के रूप की आत्मपरकता के अनुरूप ही अनुभूति भी अधिक आत्मपरक है। आख्यान में अनेक अनुभवों और स्वरों के समावेश की सम्भावना होती है, जबकि प्रगीत में एकाकी अनुभव और स्वर मुखर होता है। तुलसी और जायसी के कथात्मक काव्य में उभयपक्षी प्रेम अधिक उभरा है। सूर की कविता में कथा बहुत झीनी है, इसलिए वहाँ गोपियों का आत्मनिवेदन ही प्रमुख है। कबीर और विशेषतः मीरा की प्रेमानुभूति प्रगीत में ढली हुई विशुद्ध आत्माभिव्यक्ति है, जहाँ दूसरे पक्ष के अनुभव की खोज व्यर्थ है।

भक्तिकाव्य के बाहर भी अधिकांशतः प्रेम की वही कविता महत्त्वपूर्ण है जो सम-विषम की रूढ़ि से मुक्त है। आधुनिक प्रेम-कविता को छोड़ भी दें तो कालिदास के 'मेघदूत' से घनानन्द की कविता तक फैली हुई प्रेमकाव्य की उदात्त परम्परा में सम-विषम की कोई चिन्ता नहीं है। अगर लोक और शास्त्र की रूढ़ियों से मुक्त होने के कारण सूर और मीरा का प्रेम ऐकान्तिक है तो कालिदास के *मेघदूत* और घनानन्द का प्रेम भी ऐकान्तिक ही होगा। यदि प्रेम की ऐसी स्वच्छन्दता ही ऐकान्तिक है तब तो मानना होगा कि ऐकान्तिकता प्रेम का सहज स्वभाव है और अच्छी प्रेम कविता की स्वाभाविक विशेषता भी।

भक्ति आन्दोलन जनसंस्कृति के अपूर्व उत्कर्ष का अखिल भारतीय आन्दोलन है। ऐसे आन्दोलन में अनेक स्वरों का समावेश कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जो आन्दोलन समाज के विभिन्न वर्गों, उपवर्गों और समुदायों के जीवन की वास्तविकताओं तथा आकांक्षाओं से जुड़ा हो उसमें अनेक संवादी और विसंवादी स्वरों का सह-अस्तित्व स्वाभाविक ही है। यह स्थिति हिन्दी ही नहीं, दूसरी भारतीय भाषाओं के भक्तिकाव्य में भी दिखाई देती है।

हिन्दी के भक्तिकाव्य में अनेक स्वर हैं। सगुण भक्तों का स्वर निर्गुण सन्तों से भिन्न है। सगुण भक्तों में सूर का स्वर तुलसी से पृथक् है। मीरा की कविता का सजग और विशिष्ट स्त्री-स्वर कबीर, जायसी, सूर और तुलसी से बहुत अलग है। यही नहीं, तुलसी के काव्य में एक ओर *विनय-पत्रिका* में आत्यन्तिक आत्मनिवेदन और *कवितावली* में कठिन जीवन-संघर्ष का स्वर है तो दूसरी ओर *रामचरितमानस* में आत्मविश्वास से भरा उपदेश का स्वर है। स्वरों की इस अनेकता में कहीं-कहीं परस्पर विरोध भी है। लेकिन उस विरोध के बावजूद भक्ति-भावना की मूलगामी लोकधर्मिता के स्तर पर संपूर्ण भक्ति-काव्य में एकता अधिक प्रबल है। वही एकता भक्ति आन्दोलन के विशिष्ट व्यक्तित्व का निर्माण करती है।

हिन्दी आलोचना में भक्ति आन्दोलन की व्याख्या की एक विडम्बना यह है

कि कुछ आलोचक उस आन्दोलन के तिल-भर अन्तर्विरोध को ताड़ बनाकर पेश करते हैं तो कुछ अन्य केवल सतही समानताओं की आड़ में विभिन्न स्वरों के बीच के विरोध को छिपाने की कोशिश करते हैं। दोनों स्थितियों में भक्ति आन्दोलन के समग्र रूप की ठीक-ठीक पहचान ख़तरे में पड़ जाती है।

हिन्दी आलोचना में सबसे पहले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने निर्गुण सन्तों के विरुद्ध सगुण भक्तों को खड़ा किया। उन्होंने निर्गुण सन्तों को लोक-विरोधी और सगुण भक्तों को लोक-संग्रही घोषित किया। बाद में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को निर्गुण सन्तों के सामाजिक विचार सगुणों से अधिक प्रगतिशील लगे। मार्क्सवादी आलोचकों ने निर्गुण-सगुण विवाद को और अधिक उग्र बनाया। मार्क्सवादी आलोचना के एक छोर पर रामविलास शर्मा हैं, जिनकी दृष्टि में निर्गुण-सगुण के बीच कहीं कोई द्वन्द्व नहीं है। वे भक्ति आन्दोलन और उसके काव्य में किसी विसंवादी स्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। दूसरे छोर पर मुक्तिबोध हैं, जिनके अनुसार "निर्गुणमत के विरुद्ध सगुणमत का संघर्ष निम्न वर्गों के विरुद्ध उच्चवंशी संस्कारशील अभिरुचि वालों का संघर्ष था।" मुक्तिबोध की इस मान्यता को अन्तिम निष्कर्ष तक पहुँचाया है नामवर सिंह ने। उन्होंने निर्गुण से सगुण के मतभेद में लोक से शास्त्र का द्वन्द्व देखा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल निर्गुणमत और काव्य को लोक-विरोधी मानते थे तो नामवर सिंह सगुणमत और काव्य को लोक-विमुख तथा लोक-विरोधी कहते हैं।

इस निर्गुण बनाम सगुण के विवाद में जाति और वंश वाला मुक्तिबोध का तर्क विचित्र है और उससे नामवर सिंह की सहमति आश्चर्यजनक। नामवर सिंह ने हजारीप्रसाद द्विवेदी के प्रसंग में लिखा है कि "किसी लेखक के दृष्टिकोण को उसे पैदा करनेवाले जाति, वर्ग या समाज के आधार पर, निर्धारित करने का प्रयास 'फूहड़ समाजशास्त्र' है।" अगर यह मान्यता सही है तो केवल हजारीप्रसाद द्विवेदी के प्रसंग में ही नहीं, कबीर, सूर, मीरा और तुलसी के प्रसंग में भी सही होगी। ऐसी स्थिति में निर्गुण और सगुण कवियों के दृष्टिकोण को उनके वंश और जाति के आधार पर निर्धारित करने का प्रयास भी 'फूहड़ समाजशास्त्र' ही है। इस समाजशास्त्र में जाति और वर्ग पर्यायवाची बन गए हैं। वैसे यह समाजशास्त्र तथ्य से अधिक अनुमान पर आश्रित है। यह कौन नहीं जानता कि कबीर, रैदास, सेन, घना आदि निर्गुण सन्तों के गुरु रामानन्द सगुण भक्त थे। साथ ही यह भी तथ्य है कि सगुण धारा में अनेक मुसलमान और निम्न जातियों से आये भक्त शामिल थे।

इस प्रसंग में महत्त्वपूर्ण सवाल यह है कि क्या सगुण कवियों ने उच्च जाति और उच्च वंश के प्रभुत्व का समर्थन किया है ? यद्यपि सूरदास के पारिवारिक परिवेश के बारे में कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता, लेकिन हजारीप्रसाद द्विवेदी का

अनुमान है कि वे सम्पन्न समाज में पले थे। अगर यह अनुमान सही है तो भी स्वच्छन्द प्रेम के उन्मुक्त गायक सूर के काव्य में कहीं भी जाति और वंश के प्रभुत्व का समर्थन तो क्या, स्वीकार भी नहीं है। सूर का प्रेम समाज और शास्त्र की सभी रूढ़ियों से स्वतन्त्र है। मीराबाई ज़रूर उच्च कुल की हैं। लेकिन उनके जीवन और काव्य में कुलीनता के विरुद्ध विद्रोह की खुली घोषणा है। वे एक ओर राजकुल के आकर्षण और भय से मुक्त हैं तो दूसरी ओर रैदास को अपना गुरु मानती हैं। उनके बारे में नाभादास ने ठीक ही लिखा है; 'लोक लाज कुल शृंखला तजि मीरा गिरधर भजी।' तुलसीदास उच्च जाति के 'मंगनकुल' में पैदा हुए थे। उनका बचपन इस तरह बीता था : 'बारे ते ललात-बिललात द्वार-द्वार दीन, जानत हौं चारिफल चारि ही चनक को।' उन्होंने *रामचरितमानस* में वर्णाश्रम-व्यवस्था का आदर्श समाज के सामने रखा है, लेकिन *कवितावली* में उस व्यवस्था के यथार्थ के अनुभव की पीड़ा भी व्यक्त हुई है—'मेरे जाति-पाँति न चहौं काहू की जाति-पाँति।' ऐसी स्थिति में सगुण भक्तों को उच्चवंशी और उच्चजातीय वर्गों के प्रभुत्व का पोषक कहना सूर की प्रेम-भावना, मीरा की विद्रोही चेतना और तुलसी के आत्मसंघर्ष का अपमान करना है।

सगुण काव्य धारा की सीमा बताने के लिए मुक्तिबोध ने यह सवाल किया है : "क्या यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य नहीं है कि रामभक्ति शाखा के अन्तर्गत एक भी प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण कवि निम्नजातीय शूद्र वर्गों से नहीं आया ?" यह तथ्य है। लेकिन इससे क्या साबित होता है। तथ्य तो यह भी है कि आधुनिक काल में प्रगतिशील आन्दोलन के अन्तर्गत भी कोई महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली कवि निम्नजातीय शूद्र वर्गों से नहीं आया। तब क्या इससे यह साबित होता है कि प्रगतिवाद के बड़े कवि उच्चवंशी उच्चजातीय वर्गों के प्रभुत्व के प्रमाण हैं। महत्त्वपूर्ण तथ्य और भी हैं। प्रेमचन्द ने 'ठाकुर का कुआँ' और 'सद्गति' जैसी कहानियाँ लिखी हैं और नागार्जुन ने 'हरिजन गाथा' जैसी कविता। इन रचनाओं के लेखक शूद्र समुदाय से नहीं आए हैं, इसलिए क्या उनका कोई महत्त्व नहीं है ? हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में भी निम्नजातियों के बीच से कोई महत्त्वपूर्ण लेखक क्यों नहीं आया—यह एक महत्त्वपूर्ण समाजशास्त्रीय सवाल है। इसका उत्तर खोजने के लिए भारतीय समाज की संरचना और उसकी सांस्कृतिक परम्पराओं के स्वभाव की गहरी छानबीन ज़रूरी है, केवल दूसरे लेखकों को दोषी कहकर छुट्टी पा लेने की प्रवृत्ति से बात नहीं बनेगी। यह प्रवृत्ति भक्ति आन्दोलन की जटिल समग्रता को समझने में भी सहायक न होगी।

निर्गुण और सगुण की दार्शनिक दृष्टियों के बीच कहीं-कहीं द्वन्द्व है, लेकिन वह हर जगह लोक से शास्त्र का द्वन्द्व नहीं है। सूरदास के 'भ्रमरगीत' में योग के साथ-साथ निर्गुण का जो खण्डन है उसका आधार कोई शास्त्र नहीं, विशुद्ध लोक

अनुभव है। वास्तव में लोक-मानस निर्गुण और सगुण के बीच विरोध की तुलना में एकता और अविच्छिन्नता को अधिक महत्त्व देता है। कबीर के पद अनेक परवर्ती भक्त कवियों के संग्रहों में सहज भाव से शामिल और स्वीकृत हैं। सिक्खों के *आदिग्रन्थ* में तो कबीर के पद हैं ही, *सूरसागर* और मीरा की पदावली में भी कबीर के पदों से एकदम मिलते-जुलते अनेक पद पाये जाते हैं। वे पद कबीर के हों या न हों, लेकिन भाव और रचना-पद्धति की दृष्टि से वे कबीर के पदों के समान हैं। यह समानता साबित करती है कि जन-मानस में निर्गुण-सगुण के बीच अलगाव से अधिक प्रबल है एकता।

भक्ति आन्दोलन की एकता और अविच्छिन्नता को समझने के लिए इस बात पर ध्यान देना ज़रूरी है कि भक्त कवि पूर्ववर्ती भक्तों की परम्परा और समकालीन भक्तों से अपने सम्बन्ध के बारे में कितने सजग हैं। निर्गुण-सगुण का भेद इस सम्बन्ध बोध में कहीं बाधक नहीं है। अगर कबीर के काव्य में जयदेव, नामदेव और गोरखनाथ का आदर के साथ स्मरण है तो जायसी के *अखरावट* में कबीर की प्रेम-साधना के महत्त्व की पहचान भी है। मीरा की कविता में भक्ति आन्दोलन की एकता का बोध दूसरों से अधिक व्यापक है। वहाँ नामदेव, कबीर, रैदास, धन्ना और करमाबाई के साथ-साथ नरसी मेहता के महत्त्व की पहचान है। मीराबाई सगुण भक्त हैं, लेकिन उनके परम्परा-बोध में अधिकतर निर्गुण भक्त शामिल हैं।

भक्ति आन्दोलन की दोनों धाराओं के बीच एकता की पहचान का पहला व्यवस्थित प्रयास नाभादास के *भक्तमाल* में है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार नाभादास तुलसीदास के समकालीन थे। उन्होंने सन् 1600 ई. के आसपास *भक्तमाल* की रचना की, जिसमें 316 छप्पयों में दो सौ भक्त कवियों की भक्ति-भावना और काव्य-रचना की मुख्य विशेषताओं की अभिव्यक्ति है। *भक्तमाल* मध्यकाल का अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ था। उसका बाङ्ला और मराठी में अनुवाद हुआ था। बाद के दिनों में उसका अनुकरण करते हुए असंख्य भक्तमाल लिखे गए हैं।

नाभादास निम्नतम शूद्र समुदाय से आए हुए सगुण रामभक्त थे। उनके *भक्तमाल* में निर्गुण-सगुण, ब्राह्मण-शूद्र, स्त्री-पुरुष—सभी तरह के भक्तों के लिए सम्मानजनक जगह है। वहाँ केवल श्रद्धावश भक्तों का गुणगान या उनकी महिमा का बखान नहीं है, जैसा कि प्रायः समझा जाता है। *भक्तमाल* में सन्तुलित विवेक के साथ प्रत्येक भक्त कवि के व्यक्तित्व, विचार, भक्ति-भाव और कवित्व की बुनियादी विशेषताओं की अचूक पहचान है। इस सच्चाई को जानने के लिए कबीर, सूर, मीरा और तुलसी पर लिखे छंदों को पढ़ लेना पर्याप्त होगा। *भक्तमाल* भक्ति आन्दोलन की एकता का प्रमाण है और उसके इतिहासबोध का प्रस्थान बिन्दु भी।

## भक्ति आन्दोलन की विफलता

भक्ति आन्दोलन के समग्र रूप पर विचार करनेवाले किसी भी व्यक्ति के सामने यह प्रश्न ज़रूर खड़ा होगा कि वह आन्दोलन विफल क्यों हुआ। मुक्तिबोध ने यह प्रश्न उठाया है और उसका उत्तर खोजने की कोशिश भी की है। उनका प्रश्न है : "क्या कारण है कि निर्गुण भक्तिमार्गीय जातिवाद विरोधी आन्दोलन सफल नहीं हो सका ?" मुक्तिबोध के इस प्रश्न में सम्पूर्ण भक्ति आन्दोलन की शिथिलता और समाप्ति की चिन्ता नहीं है। सूफ़ी और सगुण धाराएँ उनकी चिन्ता से बाहर हैं; केवल निर्गुण की असफलता का सवाल सामने है। मुक्तिबोध निर्गुण की असफलता और अन्त का कारण सगुणधारा को मानते हैं। उन्होंने लिखा है, "जो भक्ति आन्दोलन जन-साधारण से शुरू हुआ और जिसमें सामाजिक कट्टरपन के विरुद्ध जन-साधारण की सांस्कृतिक आकांक्षाएँ बोलती थीं, उसका मनुष्य-सत्य बोलता था, उसी भक्ति आन्दोलन को उच्चवर्गीयों ने आगे चलकर अपनी तरह बना लिया, और उससे समझौता करके, फिर उस पर अपना प्रभाव क़ायम करके और अनन्तर जनता के अपने तत्त्वों को उनमें से निकालकर उन्होंने उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।" मुक्तिबोध के अनुसार, सगुण भक्तिधारा के माध्यम से उच्चवंशी उच्चजातीय वर्गों का सांस्कृतिक प्रभुत्व स्थापित हुआ और "साहित्य के क्षेत्र में उन वर्गों का प्रधानभाव शृंगार, विलास का प्रभावशाली विकास हुआ; इसलिए भक्तिकाव्य की प्रधानता जाती रही है।"

नामवर सिंह भी मुक्तिबोध के इस मत से सहमत हैं कि भक्ति आन्दोलन में सगुणधारा के प्रभाव का विस्तार 'उच्चवंशी उच्चजातीय वर्गों के प्रभुत्व' का प्रसार है और वही भक्ति आन्दोलन की शिथिलता तथा समाप्ति के लिए दोषी है। लेकिन वे सगुण कवियों के शृंगार को सामंती प्रभाव का प्रमाण नहीं मानते। उनकी दृष्टि में वह शृंगार मानवीय प्रवृत्तियों के सामन्ती दमन के विरुद्ध विद्रोह है। जो शृंगार मुक्तिबोध को सामन्ती विलास का द्योतक लगता है, वही नामवर सिंह के लिए सामन्ती दमन के विरुद्ध मानवीय विद्रोह का व्यंजक है। जाहिर है दोष उस शृंगार में नहीं; मुक्तिबोध की दृष्टि में है।

नामवर सिंह के अनुसार सगुण काव्य की मुख्य कमज़ोरी शास्त्र-सापेक्षता है, जो एक ओर निर्गुणधारा का विरोध करती है और दूसरी ओर रीतिकाव्य के उदय का कारण बनती है। नामवर सिंह के विवेचन से यह स्पष्ट नहीं होता कि सगुणधारा क्यों और कैसे शास्त्र-सापेक्ष है, इसलिए यह सवाल उठता है कि आख़िर सगुण काव्य में शास्त्र-सापेक्ष क्या है—सूर का वात्सल्य और शृंगार ? मीरा का प्रेम और विद्रोह ? या तुलसी का आत्मनिवेदन और आत्मसंघर्ष ? क्या यह सब शास्त्र-सापेक्ष और लोक-विमुख है ? इन सबका रीतिकाव्य से क्या लेना-देना है ?

वास्तव में भक्ति संवेदना और भक्ति आन्दोलन की व्यापक लोकधर्मिता, उसकी समतावादी सामाजिक चेतना, उसका रूढ़िवाद और कुलीनता के विरुद्ध विद्रोह, शास्त्र के भ्रम और लोक के भय से मुक्ति का उसका आह्वान, उसकी प्रेमानुभूति का सहज तथा स्वच्छन्द स्वभाव और लोकसंस्कृति के विभिन्न रूपों—विशेपतः लोकभाषाओं—के उत्कर्ष का उसका अभियान जितना मूलगामी है उतना ही आश्चर्यजनक है उसका अन्त। वैसे आधुनिक भारतीय भाषाओं के निर्माण और आधुनिक भारतीय साहित्य के विकास में भक्ति आन्दोलन की भूमिका को देखते हुए यह कहना सही नहीं होगा कि वह पूरी तरह विफल हो गया, लेकिन यह भी सच है कि उसका सामाजिक उद्देश्य पूरा न हो सका। भक्ति आन्दोलन के माध्यम से जन-साधारण की जो सामाजिक और सांस्कृतिक आकांक्षाएँ प्रकट हुई थीं वे अधूरी ही रह गईं।

इस विफलता का कारण निर्गुण से सगुण के द्वन्द्व में खोजना ठीक नहीं है; क्योंकि अगर हम यह मान भी लें कि सगुणधारा ने निर्गुणधारा को समाप्त कर दिया तो हमारे सामने एक और सवाल आ खड़ा होगा कि सगुणधारा को किसने समाप्त किया ? असल में निर्गुण, सूफ़ी और सगुण अर्थात् पूरा भक्ति आन्दोलन जिस सामन्ती समाज-व्यवस्था के विरुद्ध खड़ा हुआ था, वह अधिक शक्तिशाली साबित हुई। उसने भक्ति आन्दोलन की सभी धाराओं को धीरे-धीरे अपने अनुकूल बना लिया। इससे साबित होता है कि सिर्फ़ सदाचारवाद से—चाहे वह कितना भी क्रान्तिकारी क्यों न हो—सामाजिक व्यवस्था नहीं बदलती। डी. पी. मुखर्जी ने भक्ति आन्दोलन की सामाजिक असफलता के कारणों की ओर सही संकेत किया है। उनके अनुसार भक्ति आन्दोलन में समाज के स्वरूप की पहचान है, लेकिन सामाजिक हित की कोई धारणा नहीं है। फलतः उसमें आत्मा के अनुरोध और सामाजिक ज़िन्दगी की ठोस ज़रूरतों के बीच दरार है, आध्यात्मिकता की भौतिक अन्तर्वस्तु और लोकधर्म के विभिन्न रूपों के बीच अन्तर्विरोध है। भक्ति आन्दोलन की यही आन्तरिक कमज़ोरी उसकी सामाजिक विफलता का मुख्य कारण है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि केवल साहित्य के सहारे समाज को बदलने की आकांक्षा का अन्त प्रायः असफलता में होता है।

भक्ति आन्दोलन की सभी धाराओं, विशेपतः निर्गुणधारा, की परवर्ती परिणति से सिद्ध होता है कि सामाजिक सरंचनाएँ और सांस्कृतिक परम्पराएँ प्रायः साहित्यिक प्रवृत्तियों और परम्पराओं से अधिक शक्तिशाली होती हैं। जिस वैदिक-पौराणिक परम्परा और उससे पोषित सामाजिक व्यवस्था के विरोध में निर्गुणधारा आगे बढ़ी थी, वह परम्परा अधिक स्थायी साबित हुई। बाद के दिनों में निर्गुणधारा भी उसी सर्वग्रासी परम्परा की धारा में विलीन हो गई। इस प्रक्रिया की सच्चाई जानने के लिए कबीर के व्यक्तित्व और विचारों के संस्कृतीकरण के

इतिहास की समझ ज़रूरी है। पिछले पाँच सौ वर्षों से कबीर के व्यक्तित्व और विचारों को वैदिक-पौराणिक परम्परा के विभिन्न साँचों में ढालने के अनेक प्रयास लगातार होते आ रहे हैं। ऐसे प्रयासों के पीछे निर्गुणधारा और कबीर की विचारधारा का कोई विरोधी नहीं, बल्कि कबीर के भक्तगण हैं। कबीर के विचारों को शास्त्र-सापेक्ष बनाने का काम कबीरपन्थियों ने किया है।

कबीर ने जीवन-भर जिन धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों का विरोध किया, उन्हीं में कबीर को क़ैद करने की कोशिश कबीरपन्थियों ने की है। कबीर ने अपने जीवन में न मठ बनाया न सम्प्रदाय चलाया; लेकिन बाद में उनके नाम पर जो मठ और सम्प्रदाय बने हैं, उनमें मठवाद और सम्प्रदायवाद की सारी रूढ़ियाँ मौजूद हैं। कबीर ने धार्मिक आडम्बर और बाह्याचार का खण्डन किया था, कबीरपन्थी 'जप माला छापा तिलक' के सहारे लोक-परलोक दोनों साधते हैं। कबीर-पन्थियों ने तरह-तरह के मिथकों और चमत्कारों को कबीर से जोड़कर उन्हें अवतार बनाया है, उनकी मूर्ति स्थापित की है और शास्त्रीय विधि से मूर्ति-पूजा की प्रथा भी चलाई है। यहाँ तक कि आधुनिक कबीरपंथ पर वर्ण-व्यवस्था की भी छाया पड़ रही है।

कबीर ने कहा था : 'संस्कीरत है कूप-जल भाखा बहता नीर।' कबीरपन्थी लोकभाषा की गंगा को संस्कृत के कूप-जल में डुबाकर पवित्र बना रहे हैं; वे कबीर की वानी का संस्कृत में अनुवाद कर रहे हैं। *बीजक* का संस्कृत में अनुवाद हो चुका है। नाभादास ने कहा था : 'कबीर कानि राखी नहीं, वर्णाश्रम षट दरसनी।' आधुनिक कबीरपन्थी संस्कृत में कबीर की विचारधारा की व्याख्या कर रहे हैं ताकि वह षट्दर्शन की परम्परा में मान्य और स्वीकार्य हो सके। 'दशमात्रा', 'कबीर शतकम्' और 'ब्रह्मनिरूपण' जैसी पुस्तकों में यही प्रयत्न दिखाई देता है। कबीर के विचारों के संस्कृतीकरण का यह अभियान मुक्तिधर्मी लोकप्रतिभा को रूढ़िवादी शास्त्रीयता का जामा पहनाने का अभियान है।

इस अभियान का एक अद्भुत उदाहरण है *कबीर मंसूर* नामक पुस्तक, जिसके लेखक हैं कबीरपन्थी साधु परमानन्द। मूलतः उर्दू में लिखी हुई यह पुस्तक पहली बार सन् 1857 ई. में छपी थी। उसका हिन्दी अनुवाद 1903 ई. में प्रकाशित हुआ। पुराणों की शैली में लिखा हुआ लगभग पन्द्रह सौ पृष्ठों का यह पोथा हिन्दू देवी-देवताओं के चित्रों से सुसज्जित है ! इसमें चारों युगों में कबीर के अनेक अवतारों का वर्णन है; केवल कलयुग में मूसा, दाऊद, सुलेमान, ईसा, मुहम्मद आदि रूपों में उनके चौदह अवतारों की चर्चा है। इस पुस्तक के अनुसार कबीर 'परमब्रह्म' हैं। पुस्तक में उनकी अनेक लीलाओं का भी वर्णन है। कबीर ने राम-रहीम की एकता पर ज़ोर दिया था तो *कबीर मंसूर* में उन्हें हिन्दू, इस्लाम और ईसाई धर्मो के बीच एकता का सूत्रधार बना दिया गया है। यह पुस्तक कबीर के व्यक्तित्व के ऐतिहासिक महत्त्व और उनके विचारों की क्रान्तिकारी भूमिका को मिटाकर उन्हें

मिथकीय, शास्त्र-सापेक्ष और परम्पराबद्ध बनाती है। *कबीर मंसूर* के कबीर की केवल पूजा हो सकती है, वे सामाजिक और सांस्कृतिक रूढ़िवाद के विरुद्ध किसी संघर्ष के प्रेरणास्रोत नहीं बन सकते।

कबीरपन्थ में कबीर के विचारों की दुर्गति के इतिहास से साबित होता है कि कोई क्रान्तिकारी विचारधारा विरोधियों की आलोचनाओं से नहीं मरती; वह इतिहास-प्रक्रिया से बेख़बर अनुयायियों की अन्धश्रद्धा, कट्टरवादिता और महत्त्वाकांक्षा से मरती है।

---

मैनेजर पाण्डेय

# जीवन की लय में मुक्ति का राग

---

सुना है इस साल त्रिलोचन शास्त्री सत्तर वर्ष के हो गये हैं। कहना कठिन है कि यह सच है या अफ़वाह। अभी उनका 'उठा हुआ सिर, चौड़ी छाती, लम्बी बाँहें/सधे क़दम तेज़ी से चलना' देखकर कौन कह सकता है कि वे सत्तर के हैं। कहीं यह भी उनके बारे में फैली अनेक किंवदन्तियों की तरह एक किंवदन्ती तो नहीं है। नागार्जुन कहते हैं कि त्रिलोचन किंवदन्ती-पुरुष हैं। निराला के बाद सबसे अधिक क़िस्से त्रिलोचन के बारे में कहे-सुने गये हैं। उनको किंवदन्ती-पुरुष बनाने में सबसे अधिक योगदान उनके मित्रों का है, लेकिन कुछ सहयोग उनका भी है। वे अपने बारे में क़िस्से सुनकर या तो चुप रहते हैं या मुस्करा देते हैं, जैसे कि उन क़िस्सों से उनका कोई सम्बन्ध ही न हो। अपने बारे में ऐसी तटस्थता, लेकिन दूसरों की गहरी चिन्ता उनकी विशेषता है। यह बाहर से साधारण दिखनेवाले उनके व्यक्तित्व की आन्तरिक असाधारणता का प्रमाण है।

हम आज जैसे समाज में जी रहे हैं, उसमें शब्दों का अर्थ बिगड़ते देर नहीं लगती। प्रायः समझा जाता है कि शब्दों का अर्थ बदलने और बिगाड़ने का सबसे बड़ा कारखाना राजनीति है, लेकिन साहित्य भी उससे पीछे नहीं है। राजनीति की तरह साहित्य में भी पाखण्ड के प्रसार से शब्दों का अर्थ भ्रष्ट करने की प्रक्रिया तेज़ी से चल रही है। कई दूसरे शब्दों की तरह 'संघर्ष' भी इस प्रक्रिया का शिकार हुआ है। जिसे देखिए वही साहित्यकार जीवन और साहित्य में 'संघर्ष' कर रहा है। फिर भी कुछ लेखकों ने अपने जीवन और रचना-कर्म से 'संघर्ष' के अर्थ की रक्षा की है। त्रिलोचन उनमें सबसे आगे हैं। दूसरों के लिए 'संघर्ष' विशेषण है, लेकिन त्रिलोचन की वह संज्ञा है। सुविधाजीवी कवियों के शब्द अघाये आदमी की डकार होते हैं, लेकिन त्रिलोचन की कविता में शब्द आँखों से टपकनेवाले लहू की बूँदें हैं।

पिछले पचास वर्षों से त्रिलोचन की साहित्य-साधना अविराम चल रही है। उनकी गद्य रचनाएँ अभी पत्रिकाओं के पन्नों में बिखरी पड़ी हैं। कविताएँ धीरे-धीरे प्रकाश में आ रही हैं। उनका पहला संग्रह 1945 में छपा, दूसरा 1956 में और

तीसरा 1957 में। वर्ष 1957 से '80 के बीच उनका कोई संग्रह नहीं आया, लेकिन 1980 से '87 के बीच छह-सात संग्रह निकल चुके हैं। '60 से '80 के बीच बीस वर्षों का अन्तराल और '80 के बाद उनकी कविताओं के प्रकाशन की एक लहर। इससे स्वाधीनता के बाद की हिन्दी कविता का इतिहास और उससे त्रिलोचन के विशेष सम्बन्ध की स्थिति स्पष्ट होती है। कमोबेश यही स्थिति मुक्तिबोध, नागार्जुन, शमशेर और केदारनाथ अग्रवाल के साथ भी है। मुक्तिबोध के जीवन में उनका कोई काव्य-संग्रह नहीं छपा, मृत्यु के बाद उनकी रचनावली ज़रूर छप गयी है। नागार्जुन 1962 में *प्यासी-पथराई आँखें* लेकर आये तो 1975 में *तालाब की मछलियाँ* देख सके। 1959 में शमशेर की *कुछ कविताएँ* छपीं और '61 में *कुछ और कविताएँ*। फिर 1980 के बाद कई संग्रह निकले हैं। '60 से '80 के बीच केदारनाथ अग्रवाल के दूसरों से अधिक काव्य-संग्रह छपे हैं—लेकिन '80 के बाद उनके भी अनेक संग्रह आये हैं। ये सभी कवि 1936 से या कुछ पहले से भी लगातार कविताएँ लिख रहे हैं। जब इनके संग्रह नहीं आ रहे थे तब भी वे कविताएँ लिख रहे थे। वर्ष 1980 के बाद के संग्रहों में उस काल की उनकी कविताएँ हैं।

1975 के बाद प्रगतिशील धारा की कविता में पाठकों की दिलचस्पी बढ़ने के पीछे 1970 के आसपास से आरम्भ होनेवाले जन-आन्दोलनों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। उन आन्दोलनों ने साहित्य और समाज के सम्बन्ध के बारे में नये ढंग से सोचने की प्रेरणा दी। साहित्य-चेतना बदली तो आधुनिकतावादी कविता निरर्थक लगी। नयी रचनाशीलता मध्यवर्गीय जीवन की सीमा से निकलकर व्यापक जन-जीवन के यथार्थ और अनुभवों से जुड़ने की आकांक्षा लेकर आगे बढ़ी तो वैसी रचना की परम्परा की खोज शुरू हुई। प्रगतिशील कविता की परम्परा जीवन्त रूप में मौजूद थी, ज़रूरत थी उसको पहचानने और अपनाने की। इसी प्रक्रिया से प्रगतिशील कविता की धारा एक बार फिर हिन्दी-कविता की मुख्यधारा बनी है। आज जबकि इतिहास-प्रक्रिया में जनधारा ने प्रगतिशील काव्य-धारा की प्रासंगिकता स्थापित कर दी है, तब कुछ पुराने आलोचक उसकी व्याख्या करके ख़ुद को प्रासंगिक बनाना चाहते हैं ?

प्रगतिशील काव्य-धारा में जितनी व्यापकता है उतनी विविधता भी है। नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, मुक्तिबोध, शमशेर और त्रिलोचन की रचनाशीलता को समग्रता में देखने पर उसकी व्यापकता और विविधता का बोध होता है। इन कवियों में रचनात्मक उद्देश्य की एकता है, लेकिन प्रत्येक की काव्य-रचना का निजी रूप-रंग है। नागार्जुन और केदारनाथ अग्रवाल की रचनाशीलता में काफ़ी समानता है, फिर भी दोनों में अन्तर है। आज़ादी के पहले के जन-आन्दोलनों की प्रतिध्वनि केदार के कविताओं में है, लेकिन आज़ादी के बाद के जन-जीवन और जन-आन्दोलनों की धड़कन नागार्जुन की कविताओं में मिलती है। नागार्जुन के व्यंग्य

की धार अप्रतिम है। मुक्तिबोध की गहन विचारशीलता और शमशेर की कला से प्रगतिशील धारा समृद्ध हुई है। किसान-जीवन की लय में मानव-मुक्ति का सधा हुआ राग त्रिलोचन की कविताओं में है। ये पाँचों कवि वैसे ही परस्पर पूरक हैं, विरोधी नहीं; जैसे भक्तिकाल के चारों महाकवि। कुछ आलोचकों की संकुचित दृष्टि में प्रगतिशील धारा की यह व्यापकता और विविधता अट नहीं पाती। वे मूल्यांकन के नाम पर छँटनी करते हैं। कविता में प्रगतिशीलता को केवल राजनीति तक और राजनीति को आन्दोलन तक सीमित समझनेवाली आलोचना दृष्टि जन-जीवन की वास्तविकता और आकांक्षा के अन्य रूपों की अभिव्यक्ति को खारिज करती चलती है। यही नहीं, वह दृष्टि इन्द्रियबोध और भावों को छूनेवाली कविता को यथार्थवादी मानती है, लेकिन पाठकों के विवेक को प्रभावित करनेवाली कविता को यथार्थवाद के बाहर रखती है। प्रगतिशील धारा के प्रभाव को सीमित करने का कुछ श्रेय ऐसे आलोचकों को भी देना चाहिए। हिन्दी में राजनीतिक कविता का एक छोर है 'राम की शक्ति-पूजा' और दूसरे छोर पर शैलेन्द्र का यह गीत 'हर ज़ोर-जुल्म की टक्कर में हड़ताल हमारा नारा है'। इन दोनों के बीच राजनीतिक कविता की ज़मीन बहुत व्यापक है। जिनकी नज़र केवल छोरों पर रहती है वे बीच की व्यापकता नहीं देख पाते।

पिछले कुछ वर्षो में साहित्य-चेतना के बदलने के साथ त्रिलोचन की कविता की लोकप्रियता बढ़ी है। लेकिन नये-पुराने आचार्यगण उन्हें अब भी कवि मानने को तैयार नहीं हैं; न आधुनिकतावादी आचार्य और न प्रगतिवादी। 1986-87 में कुछ आगे-पीछे इतिहास और आलोचना की दो पुस्तकें आयी हैं—रामस्वरूप चतुर्वेदी की *हिन्दी साहित्य और संवेदना का इतिहास* और रामविलास शर्मा की—*नयी कविता और अस्तित्ववाद* का नया संस्करण। दोनों में 'कहीं त्रिलोचन नहीं।' वे रामस्वरूप चतुर्वेदी की संवेदना के बाहर हैं और रामविलास शर्मा के यथार्थवाद से बहुत दूर। दोनों पुस्तकों में एक और समानता है। केदारनाथ अग्रवाल दोनों को पसन्द हैं; रामस्वरूप चतुर्वेदी के लिए प्रगतिवादी काव्य की अकेली उपलब्धि और रामविलास शर्मा की दृष्टि में क्रान्तिकारी यथार्थवाद के अग्रदूत। *नयी कविता और अस्तित्ववाद* के पहले संस्करण में केदारनाथ अग्रवाल की कोई ख़ास चर्चा न थी। जहाँ थोड़ी-सी चर्चा थी, वहीं त्रिलोचन का भी उल्लेख था। 1986 में इतिहास-दृष्टि बदली तो केदारनाथ अग्रवाल क्रान्तिकारी यथार्थवाद के कवि हो गये और त्रिलोचन इतिहास से बहिष्कृत। त्रिलोचन के बारे में आधुनिकतावाद और प्रगतिवाद के इन दोनों आचार्यों को एकमत देखकर कुछ लोग चकित हैं। लेकिन मुझे इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं लगती। त्रिलोचन की तरह जो रचनाकार आचार्यों के बनाये रास्ते को छोड़कर चलता है, या अपनी राह बनाता है, उसके साथ आचार्यगण ऐसा ही व्यवहार करते हैं।

त्रिलोचन की कविता का व्यक्तित्व ऐसा है कि वह आधुनिकतावादियों को पसन्द नहीं आ सकता। उन्होंने आज तक अपनी कविता को लगातार आधुनिकतावादी फ़ैशनों और प्रवृत्तियों से बचाया है। नयी कविता के व्यापक प्रभाव के दौर में भी वे दृढ़तापूर्वक (कुछ लोगों के अनुसार हठपूर्वक) अपनी कविता के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की रक्षा करते रहे, जबकि कई प्रगतिशील कवि नयी कविता के क़रीब जा रहे थे। यही कारण है कि त्रिलोचन की कविता में नयी कविता का कहीं कोई प्रभाव नहीं है; व्यक्तिवाद, रहस्यवाद आदि की छाया नहीं है। उनकी कविता नयी कविता के समानान्तर उसके विरोध में खड़ी दिखायी देती है।

नयी कविता का आधुनिकतावाद अनुभव के स्तर पर शहरी मध्यवर्ग की ज़िन्दगी से जुड़ा था और विचारों में पश्चिम के समानधर्मा कवियों-आलोचकों का अनुगामी था। त्रिलोचन की कविता की दुनिया एकदम दूसरी है। उसमें गाँव की ज़िन्दगी की वास्तविकताएँ और आकांक्षाएँ हैं, जनजीवन के चित्र हैं और गाँव की 'बोली-ठोली, लाग-लपेट, टेक, भाषा, मुहावरा, इंगित' आदि हैं। किसान-जीवन और जातीय मन का यह काव्य नयी कविता के आधुनिकतावाद का प्रतिपक्षी और प्रतिरोधी है। नयी कविता के आधुनिकतावादी वातावरण में त्रिलोचन की कविता महानगर में बसे-बचे गाँव की तरह है। यह आपकी मानसिकता पर निर्भर है कि उसे आप पिछड़ेपन की निशानी मानें या रेगिस्तान में नखलिस्तान।

त्रिलोचन का यथार्थवाद दूसरे कवियों के यथार्थवाद से कुछ अलग है। उसमें न कहीं भावुकता है, न झूठा आशावाद; न काल्पनिक संघर्षों के अमूर्त चित्र हैं, न मारो-मारो, काटो-काटो की ललकार है। वहाँ जनशक्ति में आस्था है, संघर्ष के लिए आह्वान है, मुक्ति-आन्दोलन के गीत भी हैं; लेकिन यह चेतावनी है कि 'सोच-समझकर चलना होगा।' उपदेश और आह्वान *धरती* की कविताओं में अधिक है, बाद के संग्रहों में कम। उनकी कविता का मुख्य स्वर यह है :

> भाव उन्हीं का सबका है जो थे अभावमय
> पर अभाव से दबे नहीं, जागे स्वभावमय।

वे किसान-जीवन के वास्तविक सुख-दुख, आशा-निराशा और संघर्षों की कविता लिखते हैं—काल्पनिक उल्लास और विजय की नहीं। जो लोग जन-जीवन की कविता में केवल आशा और उल्लास देखना चाहते हैं, उनको लक्ष्य करके त्रिलोचन ने लिखा है :

> अगर न हो हरियाली
> कहाँ दिखा सकता हूँ ? फिर आँखों पर मेरी
> चश्मा हरा नहीं है। यह नवीन ऐयारी
> मुझे पसन्द नहीं है। जो इसकी तैयारी
> करते हों वे करें। अगर कोठरी अँधेरी

है तो उसे अँधेरी समझने-कहने का
मुझको है अधिकार।

वे मानते हैं कि अगर जनता के जीवन में संघर्ष और दुख है तो उस वास्तविकता को झुठलाना ग़लत है। लेकिन वे यह भी जानते हैं कि 'दुख के तम में जीवन ज्योति जला करती है'। वे किसान जीवन की करुण-कहानी नहीं कहते, उसके स्वाभिमान की रक्षा को महत्त्व देते हैं। उनका किसान अभाव में जीता है, लेकिन अभाव से दबता नहीं। उनकी कविता में किसान-जीवन का यथार्थ सच्चे और खरे रूप में है; न वह भावुकता के उच्छ्‌वास में डूबा है, न विचारधारा के आग्रह से ढका है। ऐसा यथार्थवाद अधीर पाठकों को बेचैन करता है।

त्रिलोचन की कविता के बारे में यह कहना काफ़ी नहीं है कि वह किसानों के जीवन-संघर्ष की कविता है। यह भी देखना ज़रूरी है कि वे किसान-जीवन के यथार्थ को किस दृष्टि से देखते और चित्रित करते हैं। हिन्दी में किसान-जीवन के कवियों की कमी नहीं है। उनमें से अधिकांश कवि मध्यवर्गीय दृष्टि से किसान-जीवन के यथार्थ को देखते हैं। वे कभी समय की माँग और कभी बौद्धिक सहानुभूति के कारण किसान-जीवन की कविता लिखते हैं। ऐसी कविताओं में कहीं कवि तटस्थ दर्शक की तरह होता है तो कहीं किसानों का वकील। इनसे भिन्न मध्यवर्गीय दृष्टि के कवि हैं जो किसान-जीवन की दयनीयता से द्रवित होकर उनकी व्यथा-कथा कहते हैं या किसान-जीवन की सरलता, सादगी और पवित्रता का गौरव-गान करते हैं। त्रिलोचन ऐसे कवि नहीं है। उनकी दृष्टि एक सजग किसान की दृष्टि है जो उस जीवन को जीते, देखते-सुनते और समझते हुए कवि को मिली है, इसलिए उसमें मध्यवर्गीय तटस्थता और भावुकता नहीं है। उसमें किसान-जीवन से आत्मीयता और तादात्म्य है, लेकिन उस जीवन में मौजूद रूढ़ियों की आलोचना भी है। उनकी दृष्टि किसान-जीवन की समग्रता को देखती है। वह उस जीवन की शक्ति के स्रोतों की खोज करती है तो जड़ता की जड़ों पर प्रहार भी करती है। त्रिलोचन इसी सजग किसान-दृष्टि से प्रकृति, समाज और विश्व को देखते हैं। मानवीय सम्बन्धों और भावों के उनके बोध में भी वही दृष्टि सक्रिय रहती है।

उनकी कविता में किसान-जीवन के विभिन्न पक्षों के चित्र हैं। वे चित्र अलग-अलग हैं, फिर भी उनमें सम्बन्ध है और उस सम्बन्ध के बीच से किसान-जीवन की लय उभरती है। मध्यवर्गीय मानसिकता के कवियों की कविता में किसान बहुत कुछ करता है, लेकिन वह खेती करता नहीं दिखायी देता। त्रिलोचन सबसे पहले किसान को किसान के रूप में, जीवन के लिए प्रकृति से लड़ते हुए किसान के रूप में चित्रित करते हैं :

है धूप कठिन सिर ऊपर
थम गयी हवा है जैसे

दोनों दूबों के ऊपर
रख पैर खींचते पानी
उस मलिन हरी धरती पर
मिलकर वे दोनों प्रानी
दे रहे खेत में पानी।

ऐसा चित्र केवल सुनी-सुनायी वातों के आधार पर कल्पना के सहारे चित्रित नहीं किया जा सकता। इसके लिए सहृदयता भी काफ़ी नहीं है, उस जीवन से गहरा परिचय चाहिए।

इससे भिन्न एक चित्र में किसान-जीवन का दूसरा पक्ष है। ऊपर के चित्र में पति के साथ घाम-शीत सहती हुई जो खेत में पानी दे रही है वह किसी दिन बहू बनकर पति के घर आयी होगी। ऐसे अवसर पर किसान के जीवन में और घर में जो उत्सव और उल्लास आता है उसकी अभिव्यक्ति त्रिलोचन ने की है। लेकिन उनकी सहृदयता उस भीड़-भाड़ से अलग आशंका, भय और संकोच में डूबी हुई वहू के पास पहुँच जाती है :

काँपती सुख से कहीं बैठी अकेली
साधती होगी बहू कुछ भाव के स्वर
आज मनसा इन सवों की गीत की पहली कड़ी ही
गा रही है गा रही है गा रही है।

कुछ कवि किसान को एक धारणा या विचार मात्र मानते हैं और कविता में उस पर बहस करते हैं। त्रिलोचन किसानों को जीते-जागते मानव-समुदाय के रूप में देखते हैं। किसानों में आर्थिक स्थिति के अनुसार अनेक स्तर हैं, कई तरह के भेद हैं। त्रिलोचन की कविता में ग़रीबी, शोषण और उत्पीड़न के शिकार किसान हैं। उनकी कविता में सबसे अधिक खेतिहर मज़दूर आते हैं और उन खेतिहार मज़दूरों में भी स्त्रियों की जीवन-दशा पर उनका ध्यान अधिक जाता है। उनकी कविताओं में कुछ चरित्र हैं। ये सव ग्रामीण कारीगर, खेत-मज़दूर और स्त्रियाँ हैं। नगई महरा, भोरई केवट, मंगल, निरहू, भिखरिया, अतवरिया, चम्पा, सोना और सुकनी आदि ऐसे ही चरित्र हैं। इन चरित्रों के माध्यम से गाँव में सबसे कठिन ज़िन्दगी जीनेवाले लोगों के ठोस अनुभवों की एक दुनिया साकार रूप में हमारे सामने आती है। ऐसे चरित्र या तो प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में मिल सकते हैं या नागार्जुन के काव्य-संसार में। ऐसे चरित्रों को कविता में ले आनेवाले कवि की सामाजिक चेतना और वर्ग-दृष्टि के बारे में अलग से कुछ कहना अनावश्यक है।

त्रिलोचन जिस जनपद के कवि हैं, वहाँ के ग़रीब किसान और खेत-मज़दूर आर्थिक तंगी के दिनों में किसी बड़े शहर में जाकर मज़दूरी करते हैं। गाँव में पत्नी अकेली रह जाती है। त्रिलोचन ने दो कविताओं में परदेशी मज़दूर और गाँव में

रहने वाली उसकी पत्नी के मन की गहराई में उतरकर उनकी भावनाओं की थाह लेने की कोशिश की है। एक कविता है 'परदेशी के नाम पत्र' और दूसरी है 'सचमुच इधर तुम्हारी याद तो...।' पहले 'परदेशी के नाम पत्र' का एक अंश पढ़िए :

सोसती सिरी सर्व उपमा जोग बाबूराम दास को—

× × ×

और वह बछिया कोराती है। यहाँ
जो तुम होते। देखो कब ब्याती है।

× × ×

तुम्हें गाँव की क्या कभी याद नहीं आती है
आती तो आ जाते
मुझको विश्वास है।
थोड़ा लिखा समझना बहुत,
समझदार के लिए इशारा ही काफ़ी है।

वैसे तो पूरा पत्र पढ़ने पर ही (पत्र भी कहीं आधा पढ़ा जाता है !) इस कविता का मर्म समझना सम्भव है; फिर भी जो अंश सामने है उससे स्पष्ट है कि गाँव की बोली, भाषा, मुहावरे और इशारों का उपयोग करते हुए कवि परदेशी की पत्नी की भावनाओं को व्यक्त करने में सफल है। अब इस पत्र का जवाब भी पढ़ लीजिए :

सचमुच इधर तुम्हारी याद तो नहीं आयी
झूठ क्या कहूँ। पूरे दिन मशीन पर खटना
बासे पर आकर पड़ जाना और कमाई
का हिसाब जोड़ना, बराबर चित्त उचटना
इस-उस पर मन दौड़ाना, फिर उठकर रोटी
करना, कभी नमक से कभी साग से खाना।

× × ×

धीरज धरो आजकल करते तब आऊँगा
जब देखूँगा अपना घर कुछ कर पाऊँगा।

परदेशी मज़दूर के पत्र में उसकी कठिन ज़िन्दगी और मन की दशाओं को जिस कुशलता से प्रकट किया गया है वह केवल त्रिलोचन ही कर सकते हैं। यह उनकी यथार्थवादी कला का एक उदाहरण है। आधुनिकतावाद के दौर में मध्यवर्गीय व्यक्ति के परायापन (एलिअनेशन) को कविता और कहानी में बहुत फेंटा गया, लेकिन मज़दूर का परायापन किसी रचना में दिखायी नहीं दिया। मार्क्स ने लिखा है कि मज़दूर परायापन की प्रक्रिया का शिकार होकर धीरे-धीरे अपने परिवार और

मानवीयता से भी अलग हो जाता है। इस कविता में मज़दूर अपने परिवार से विच्छिन्न हो गया है। अभी उसमें परिवार से लगाव बचा है, मनुष्यता बची है; लेकिन कब तक ? परायापन की प्रक्रिया में पड़े मज़दूर की भौतिक और मानसिक स्थितियों की ऐसी अभिव्यक्ति हिन्दी के किस दूसरे कवि ने की है ? किसानों-मज़दूरों की ज़िन्दगी की त्रासद स्थितियों को गहराई से महसूस करनेवाला कवि ही यह लिख सकता है, 'हाथों के दिन कब आयेंगे। कब तक आयेंगे, यह कोई नहीं बताता।'

जैसे प्रकृति के बिना किसान का जीवन अधूरा होता है, वैसे ही प्रकृति की उपेक्षा करनेवाली किसान-जीवन की कविता भी अधूरी होगी—यह बात किसान-जीवन की समग्रता का कवि जानता है। प्रकृति किसान-जीवन का अंग है। उससे किसान का सम्बन्ध मनमाने की बात नहीं है, अस्तित्व की अनिवार्यता है। त्रिलोचन का किसान-मन प्रकृति में ख़ूब रमता है। उनके यहाँ प्रकृति किसान-जीवन के अंग के रूप में है और उससे स्वतन्त्र भी, उसका आकर्षक सौन्दर्य है और विस्मयकारी रूप भी, सावन की बरसात का संगीत है और भादों का प्रचण्ड मेघ-गर्जन भी, प्रकृति से सहज आत्मीयता है और कठिन संघर्ष भी। प्रकृति से किसान-जीवन का ऐसा ही नाता है।

ऋतुओं के बदलने के साथ किसान का जीवन-क्रम बदलता है। त्रिलोचन ने विभिन्न ऋतुओं में बदलते किसान-जीवन का चित्रण किया है। उन्हें वर्षा और वसन्त विशेष प्रिय हैं। एक से किसानों को जीवन मिलता है और दूसरे से जीवन्तता मिलती है। उनकी कविता में वर्षा के अनेक रूपों के चित्र हैं। एक है भादों की रात में यह वर्षा :

> भरी रात भादों की...पथ...लपका वह कौंधा
> दीप्ति भर उठी आँखों में इतनी, फिर हम तुम
> कुछ भी पकड़ सके न डीठ से, छाया चौंधा।
> तड़-तड़ तड़त्तड़ाङ् धाङ् धा धाङ् धु ङ् धू हुम्
>
> × × ×
>
> रिमझिम-रिमझिम—छक् छक् छक् छक्, सर् सर् सर् सर्
> चम चम चमक—धमाके घन के, उत्सव निशिमद।

और अब इससे एकदम भिन्न वर्षा के संगीत और चित्र 'झापस' कविता में :

> आठ पहर की टिप् टिप्
> सड़क भींग गयी है
> पेड़ों के पत्तों से बूँदें
> गिरती हैं टप् टप्

हवा सरसराती है
चिड़ियाँ पंख समेटे यहाँ वहाँ बैठी हैं।

वर्षा के ये दोनों चित्र एक-दूसरे से भिन्न हैं। दोनों में गति और ध्वनि को मूर्त करनेवाली शब्द-योजना और भाषिक-संरचना भी अलग-अलग है। इन चित्रों से साबित होता है कि त्रिलोचन रूप के ही नहीं, गति और ध्वनि के भी चित्रकार हैं। यह उनकी यथार्थवादी कला का एक और नमूना है।

त्रिलोचन प्रकृति के रूप और प्रभाव दोनों का ध्यान रखते हैं, इसलिए उनकी प्रकृति की कविताएँ कहीं भी मानवीय सन्दर्भ से कटी हुई नहीं हैं। ऐसी कविताओं में जातीय जीवन के प्राकृतिक परिवेश का उनका बोध प्रकट होता है। ये कविताएँ उनकी रचनाशीलता के देश-काल का पता बताती हैं। उनकी प्रकृति की कविताओं में रूप, रस, गन्ध और ध्वनि का संसार कितना समृद्ध है—यह जानने के लिए वर्षा सम्बन्धी कविताओं के साथ 'मेंहदी और चाँदनी', 'उत्सव', 'धूप सुन्दर धूप में जग रूप सुन्दर', 'फूलों की चाँदनी नीम में जो आयी है', 'कटहल के फूलों की लहरों ने रोका था', 'गेहूँ जौ के ऊपर सरसों की रंगीनी' जैसी कविताओं को पढ़ना ज़रूरी है। इन कविताओं में आत्मपरकता भी है, लेकिन उससे कहीं भी रूप, रस, गन्ध और ध्वनि का स्वरूप खण्डित और विकृत नहीं हुआ है। वह आत्मपरकता प्रकृति से मनुष्य के आत्मीय सम्बन्ध की अनुभूति जगाती है।

उनकी कविताओं में अन्धकार लगभग नहीं है। धूप, चाँदनी, उषा और किरणों का प्रकाश है। उन्होंने कहीं-कहीं अत्यन्त सहज ढंग से प्रतीक पद्धति का हल्का सहारा लेकर प्रकृति के रूपों और क्रिया-व्यापारों के माध्यम से जीवन स्थितियों की व्यंजना की है। एक प्रमाण इस कविता में देखिए :

पीपल के पत्ते ने ज्यों मुँह खोला खोला
त्यों चटाक से लगा तमाचा आकर लू का,
झेल गया वह भी आख़िर बच्चा था भू का
लेकिन जिसने देखा उसका धीरज डोला,
बैठ कलेजा गया। तड़पकर कोकिल बोला
कूऊ कूऊ मिले भले ही आधा टूका
लेकिन ऐसा न हो। राह चलते जो चूका
उसको दुख ने अदल बदलकर फिर-फिर तोला
सबको नहीं, नौनिहालों को अगर बचा दे
तो लू का डर नहीं जहाँ चाहे आ जाये।

ऐसी कविताएँ साबित करती हैं कि प्रकृति की कविता में भी प्रगतिशील सामाजिक दृष्टि हो सकती है, जीवन-संघर्ष की कविता भी मुक्ति-संघर्ष की प्रेरणा दे सकती है।

कुछ कवि प्रकृति का वर्णन करते हैं, कुछ उसकी व्यंजना करते हैं, लेकिन त्रिलोचन प्रायः प्रकृति का चित्रण करते हैं। जो व्यक्ति वर्णन, व्यंजना और चित्रण में अन्तर नहीं जानता होगा वह त्रिलोचन की कला को ठीक-ठीक नहीं पहचान पायेगा। चित्रण के लिए प्रकृति से गहरे लगाव के साथ-साथ उसके स्थिर और गतिशील रूप-रंग की सूक्ष्मताओं का तल्लीनता से निरीक्षण भी आवश्यक है। चित्रकार माइकेल एंजेलो की तरह त्रिलोचन भी आसमान में मेघों के बनते-मिटते चित्रों को तल्लीनता से देखते हैं। कभी-कभी उन्हें मन में साधकर शब्दों में उतारते भी हैं :

> सन्ध्या ने मेघों के कितने चित्र बनाये--
> हाथी, घोड़े, पेड़, आदमी, जंगल, क्या-क्या
> नहीं रच दिया और कभी रंगों से क्रीड़ा
> की, आकृतियाँ नहीं बनायीं। कभी चलाये
> झीने-से बादल जिनमें चटकीली लाली
> उभर उठी थी, जिनकी आभा हरियाली पर
> थिरक उठी थी, जाते-जाते क्षितिज-परी पर
> सूरज ने सोना बरसाया। छाया काली
> बढ़ने लगी, रंग धीरे-धीरे फिर बदले,
> पेंसिल के रेखाचित्रों-से बादल छाये।

सचमुच त्रिलोचन के सॉनेट आगरा के क़िले के उस नग के समान हैं, जिसमें पूरा ताजमहल प्रतिबिम्बित होता है। किसी सॉनेट के एक अंश को उद्धृत करना उस नग को तोड़कर उसके एक टुकड़े को देखना है। उनके सॉनेट (और दूसरी अच्छी कविताओं) की संरचना इतनी सुघटित होती है. पूरे वाक्यों के साथ लय और छन्द का विन्यास इतना आवयविक होता है कि किसी एक अंश को अलग करना उसके साथ ज़्यादती लगती है। त्रिलोचन चित्रण-कला प्रकृति से सीखते हैं, लेकिन वह कला सार्थक तब होती है जब वे मानव-जीवन और मानव-चरित्रों का चित्रण करते हैं।

त्रिलोचन की कविता के भाव-लोक की चर्चा तब तक अधूरी रहेगी जब तक उनकी प्रेम-कविताओं पर कुछ बात न होगी। उनके संग्रहों में असंख्य प्रेम-कविताएँ हैं। हर तरह की रूढ़ि और रीति से मुक्त प्रेम की कविताएँ प्रगतिशील कवियों में या तो शमशेर ने लिखी हैं या त्रिलोचन ने। प्रेम के बारे में उनका दृष्टिकोण एकदम स्पष्ट है, 'प्यार करो तो प्यार करो, क्या आगा-पीछा' या 'चाहे जो समझे यह दुनिया, मैंने तुमको प्यार किया है।' कोई दुविधा नहीं, किसी की परवाह नहीं। इस दृष्टिकोण में रोमांटिक कवियों जैसी मुक्ति-चेतना है; लेकिन प्रेम कल्पना में नहीं, यथार्थ के धरातल पर विकसित होता है। यह प्रेम जीवन-जगत से दूर एकान्त में

नहीं ले जाता। वह जीवन की लय पैदा करता है, जगत-जीवन का प्रेमी बनाता है। यहाँ प्रेम शौक नहीं है, वह जीवन की अनिवार्यता है :

आज मैं अकेला हूँ
अकेले रहा नहीं जाता
जीवन मिला है यह
रतन मिला है यह
धूल में
कि
फूल में
मिला है
तो
मिला है यह
मोल तोल इसका
अकेले कहा नहीं जाता।

जीवन की कठिनाइयों से यह अकेलापन जब और गहरा हो जाता है तब लगता है कि 'बाँह गहे कोई, लहरों में साथ रहे कोई'। प्रेम की अनुभूति में ऐसी गम्भीरता और अभिव्यक्ति में निश्छलता घनानन्द में मिलती है। इन प्रेम-कविताओं में जीवन की लय में मानव-मन की मुक्ति का राग मुखरित होता है।

दुनिया-भर के बड़े कवियों ने प्रेम को सामाजिक रूढ़िवाद और शास्त्रीय रीतिवाद से मुक्त करने के लिए लम्बा संघर्ष किया है। यही नहीं, उन्होंने प्रेम को रूढ़िवाद और रीतिवाद से संघर्ष का माध्यम भी बनाया है। हिन्दी कविता में ऐसे संघर्ष की लम्वी गौरवशाली परम्परा है। आश्चर्य की बात है कि आजकल हिन्दी में प्रेम कविता के बारे में एक नया रूढ़िवाद पनप रहा है, वह भी मार्क्सवाद के नाम पर। प्रेम को स्वकीया-परकीया के खानों में बाँटकर प्रेम कविता पर रीतिवादी ढाँचा लादने की कोशिश हो रही है। कहा जा रहा है कि कविता में स्वकीया प्रेम ही प्रगतिशील है। फिर तो ऐसी प्रगतिशीलता का अगला क़दम सती-प्रथा का समर्थन ही होगा। प्रेम की कविता में अनुभूति की सचाई और तन्मयता की जगह अगर स्वकीयापन को प्रगतिशीलता की कसौटी मान लिया जाय तो संस्कृत और हिन्दी के अनेक महाकवियों के साथ दुनिया-भर के रोमांटिक कवि प्रतिक्रियावादी साबित होंगे।

त्रिलोचन सॉनेट के कवि माने जाते हैं। सॉनेट से उन्हें ख्याति मिली है और आलोचना भी। कई लोग चकित हैं कि एक विजातीय छन्द में जातीय मन या भारतीय मन की कविता कैसे सम्भव हुई है। आश्चर्य तो यह है कि जो लोग सॉनेट

की अभारतीयता पर उँगली उठाते हैं वे उपन्यास और कहानी के बारे में ऐसे सवाल नहीं करते, जबकि वे विधाएँ भी आधुनिक रूप में पश्चिम की देन हैं। अगर आज कोई सिनेमा को विदेशी कहकर उसकी आलोचना करे तो लोग क्या कहेंगे ? यह भी एक विडम्बना ही है कि जो रूपवाद के विरोधी हैं, वही त्रिलोचन के सॉनेट की अन्तर्वस्तु की उपेक्षा करके उसके रूप के पीछे पड़े रहते हैं। लेकिन इन सबके साथ ही त्रिलोचन के सॉनेट की शक्ति और सौन्दर्य को सराहनेवाले भी हैं। रेणु को सॉनेट के कवि त्रिलोचन 'शब्द-योगी' लगते हैं और केदारनाथ अग्रवाल को 'शब्द-साधक'। शमशेर उनकी सहजता पर फ़िदा हैं।

त्रिलोचन ने सॉनेट के अलावा दूसरे काव्य-रूपों में भी लिखा है। 'गुलाब और बुलबुल' ग़ज़लों का संग्रह है। दुष्यन्त कुमार की ग़ज़लों के बाद हिन्दी में ग़ज़ल की बाढ़ आ गयी है। इस बाढ़ में लोग उस निर्झर की भूल गये हैं जो 'गुलाव और बुलबुल' में है। उनके यहाँ मुक्त छन्द के साथ-साथ गद्य कविता भी है। 'चैती' और 'अरघान' में ऋचाओं की शैली में कुछ अत्यन्त छोटी कविताएँ हैं। इन सबसे अलग 'नगई महरा' जैसी लम्बी कविता है जो हिन्दी की लम्बी कविताओं की परम्परा में अनेक कारणों से विशिष्ट है। उसमें लम्बी कविता को मिथक, फ़ैण्टेसी, रूपक और अमूर्तन के घटाटोप से मुक्त करके जन-जीवन के यथार्थ और ठोस अनुभवों की भूमि पर उतार लाने का सफल कलात्मक प्रयास है। उस कविता में जन-जीवन के अनुभव उसी जीवन की भाषा में यथार्थवादी रचाव के साथ व्यक्त हुए हैं। यथार्थ से भाषा का ऐसा आत्मीय सम्बन्ध केवल 'हरिजन गाथा' (नागार्जुन) में दिखायी देता है। त्रिलोचन ने नगई महरा को लम्बी कविता का नायक बनाकर एक स्तर पर वही काम किया है जो *गोदान* में होरी को लाकर प्रेमचन्द ने किया था।

त्रिलोचन घटनाओं के कवि नहीं हैं। वे मूल्यों के कवि हैं। उनकी कविता में सामाजिक-राजनीतिक घटनाओं का चित्रण-वर्णन बहुत कम है, मानव-जीवन की दशाओं और अनुभवों की अभिव्यक्ति अधिक है। वे मानवीय अनुभवों और जीवन-दशाओं की अभिव्यक्ति करते हुए संघर्ष, आस्था, जिजीविषा, प्रेम, न्याय और स्वतन्त्रता जैसे जीवन-मूल्यों की व्यंजना करते हैं। इन जीवन-मूल्यों के बारे में वे कविता में वक्तव्य भी देते हैं, लेकिन कविता वहीं होती है जहाँ मूल्य या तो जीवन के अनुभवों के बीच व्यक्त होते हैं या वक्तव्य के पीछे मन्तव्य में रहते हैं। घटनाओं की कविता हमारे सामने की वास्तविकता का बोध कराती है, इसलिए वह ज़ल्दी मन को छूती है। मूल्यों की कविता सतह के नीचे छिपी सचाइयों को पहचानने की अन्तर्दृष्टि देती है, इसलिए वह पाठकों से धैर्य की माँग करती है, धीरे-धीरे विवेक को प्रभावित करती है। यही कारण है कि त्रिलोचन की कविता कुछ देर से पाठकों के मन में जगह पा सकी।

त्रिलोचन की कविता हमारे सामने एक महत्त्वपूर्ण सवाल रखती है कि आज हम जिन स्थितियों का सामना कर रहे हैं, उसमें कौन-सी कविता सार्थक भूमिका निभा सकती है ? आजकल जनता की चेतना पर लगातार संचार-माध्यमों का हमला बढ़ रहा है, उसकी अनुभूति, कल्पना और सोच को एक ख़ास ढाँचे में ढालने की कोशिश हो रही है। यहाँ मनुष्य लोहा, कोयला आदि की तरह एक संसाधन मान लिया गया है, जिसका शोषण व्यवस्था के अस्तित्व के लिए अनिवार्य हो रहा है। इस व्यवस्था में मनुष्य की मनुष्यता ख़तरे में है। यहाँ आदमी को रूढ़ियों और बर्बर आदिम प्रथाओं की आग में झोंका जा रहा है। सत्ता क्रमशः अधिक ख़ूँखार और दमनकारी होती जा रही है और जनवादी शक्तियाँ फूट और बिखराव की स्थिति में पड़ी हैं।

ऐसी स्थिति में सबसे पहले उस कविता की ज़रूरत है जो पाठकों को प्रगतिशील जीवन-मूल्यों के प्रति सचेत बनाये और उनकी रक्षा के लिए संघर्ष में आस्था जगाये। इसीलिए आज त्रिलोचन की कविता विशेष प्रासंगिक हो गयी है। वह कविता संचार-माध्यमों के हमलों से जन-चेतना को भ्रमित होने से बचा सकती है। मूल्यों की कविता ही उस चेतना के विकास की भूमिका तैयार करती है जो रेणु के शब्दों में, 'समाज को मानवीय और मनुष्य को सामाजिक' बनाने का संकल्प लेती है। उस चेतना को शोषक व्यवस्था और दमनकारी सत्ता के विरुद्ध संघर्ष की प्रेरणा देनेवाली कविताओं की भी आज ज़रूरत है। यह काम वही कविता कर पायेगी जो वर्तमान व्यवस्था के वास्तविक चरित्र को उघाड़कर जनता के सामने रखती है और आज के जन-संघर्षो से जुड़कर उनके विकास में सहायक बनती है। ऐसी कविता नागार्जुन लिखते हैं।

आज से चालीस वर्ष पहले के जन-संघर्षों और आन्दोलनों की कविताओं का ऐतिहासिक महत्त्व है, लेकिन आज के सन्दर्भ में उनकी प्रासंगिकता सन्दिग्ध ही है। तात्कालिकता घटनाओं की कविता का एक बड़ा गुण है, लेकिन वही उनकी आयु के लिए ख़तरा भी है। 1848 की क्रान्ति के बाद किसी ने एंगेल्स से पूछा कि '1848 की क्रान्ति की कविताएँ कहाँ गयीं।' एंगेल्स ने जवाब दिया, 'वे सब अपने समय के राजनीतिक पूर्वग्रहों के साथ मर गयीं।' राजनीति के तात्कालिक आग्रहों और कार्य-नीतियों का अनुगमन करनेवाली कविताओं का प्रायः यही हाल होता है।

---

सुधीश पचौरी

# उत्तर-संरचनावाद और विखण्डन

पिछले दो-ढाई दशक से साहित्य-संस्कृति के क्षेत्र में उत्तर-संरचनावाद ने गहरा असर डाला है। उत्तर-संरचनावाद भाषा के क्षेत्र में निजता, तादात्म्य और अर्थ के पुराने सोच को खण्डित करता हुआ आया है।

साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में जॉक देरिदा ने विखण्डन की जो पद्धति विकसित की उसका बहुत दूर तक असर हुआ। इसने साहित्य की चली आती 'प्रकृति' और 'रूप' की अवधारणाओं को बदल डाला। और सिर्फ़ साहित्य-समीक्षा पर ही असर नहीं हुआ, देरिदा की पद्धति ने भाषा और दर्शन की प्रश्नोत्तरी को भी बदल दिया। समाजशास्त्र और इतिहास के क्षेत्र में मिशेल फूको के लेखन ने विचार की प्रकृति और इतिहास की अवधारणाओं को बदल डाला। जाक लाकां ने यही काम मनोविश्लेषण के क्षेत्र में किया। उन्होंने अपने विश्लेषण से संस्कृति के निर्माण और बोध की प्रक्रिया को समझने के तौरतरीक़े बदल दिए। समूचा नया 'व्याख्यावाद' खड़ा कर दिया। इसी तरह, फ्रांसुआ ल्योतार ने इतिहास के परम आधुनिक क्षणों को नये सिरे से विखण्डित किया और उत्तर-आधुनिक क्षणों को खोजा। यहीं से सभ्यता-संकट के प्रश्न शुरू हुए।

उत्तर-संरचनावाद सिर्फ़ एक पद्धति की तरह ही नहीं आया वह एक दार्शनिक रूप की तरह भी आया। फ्रांस में सातवें-आठवें दशक में विकसित हुआ यह विचार आज विश्व के बौद्धिक वातावरण का निर्णायक स्वर है और उत्तर से उत्तर-संरचना विकसित करने में मददगार है। यूरोप के मौजूदा चिन्तन पर इसकी गहरी छाप है और आज के भूमण्डलीय यथार्थ में यह एक भूमण्डलीय अवधारणा की तरह ही पढ़ा जा सकता है।

उत्तर-संरचनावाद उत्तर-औद्योगिक युग की रणनीति भी कही जा सकती है। और विखण्डन भी। यों यह सच है कि स्वयं फ्रांस में भी उत्तर-संरचनावाद की स्वीकृति उतनी नहीं हुई जितनी कि संरचनावाद की हुई थी। इसका कारण है। संरचनावाद आधुनिक राज्य-सत्ता एवं समाज का पूर्णतम रूपवाद था और है, जबकि उत्तर-संरचनावाद उत्तर-आधुनिक समय का उत्पाद है इसलिए वह एक विराट

विखण्डन में ही अपने को सिद्ध करता है इसीलिए वह एक 'रणनीति' के रूप में तो स्वीकृत होता है, समाज में वह जल्दी स्वाभाविक नहीं बनता।

उत्तर-संरचनावादी विचार पद्धति सातवें दशक के मध्य में आरम्भ हुई। विकराल राज्‍ सत्ताओं के सामने मानव अधिकारों की माँग, आधुनिक जकड़बन्दी से छटपटाकर पीछे लौटकर धार्मिक एवं तत्त्ववादी चिन्तन में शरण ढूँढ़ना मूलतः उत्तर-आधुनिक स्थितियों को स्वीकार करना था। यहाँ आकर महान संरचनावाद की राजनीति स्वयं निरंकुश प्रतीत होने लगी और उत्तर-संरचनावाद के ज़रिए उसके सीमान्तों पर प्रहार किया गया। नैतिकता के आधारों के प्रश्न, राजनीति की नैतिकता के प्रश्न, आधुनिकतावादी निरंकुश जनतन्त्रों में मानव अधिकारों का उद्घोष, नये-नये ढंग से उठने लगे। नीत्शे और हायडेगर की बड़े पैमाने पर वापसी हुई।

उत्तर-संरचनावाद संरचनावाद के सीमान्तों की प्रतिक्रिया में शुरू हुआ। लेवीस्ट्रॉस द्वारा विकसित संरचनावाद में निरंकुशता के तत्त्व सबसे पहले (1950) लाकां ने खोजे। लाकां ने बताया कि स्ट्रॉस की पद्धति मनुष्य समाज को अन्ततः एक मशीन की तरह सुपरिभाषेय और कथनीय बनाती है। यह ख़तरनाक है। वह मनुष्य को केन्द्र में नहीं रखती। 1981 के आसपास मिशेल फूको ने *मैडनैस एण्ड सिविलाइज़ेशन* में अच्छी तरह सिद्ध किया कि किस तरह हमारे आधुनिक विज्ञान एवं समाजविज्ञान 'दमनकारी' हैं। *द सैवेज माइण्ड* के प्रकाशन के बाद मिशेल फूको ने संरचनावादी स्ट्रॉस के नृविज्ञान और सार्त्र के इतिहासबोध की धज्जियाँ उड़ा दीं।

उत्तर-संरचनावाद के केन्द्र में सासूर या लेवीस्ट्रॉस नहीं हैं बल्कि नीत्शे हैं। फूको ने माना है कि नीत्शे के अध्ययन के बाद ही उसे इतिहासवाद और हीगेलवाद को छोड़ने की ज़रूरत महसूस हुई। यह द्वन्द्वात्मकता ठीक विपरीत यात्रा है। लाकां ने मनोविज्ञान में, फूको ने सांस्कृतिक रूपों के क्षेत्र में और लुई अल्थुसर ने सिद्धान्त के क्षेत्र में यह यात्राएँ सातवें दशक में शुरू कीं।

लेकिन उत्तर-संरचनावादी दिशा में सबसे निर्णायक हस्तक्षेप सातवें दशक के मध्य में जॉक देरिदा के *स्पीच एण्ड फ़िनोमिना, राइटिंग एण्ड डिफ़रैंस,* तथा *ऑफ़ ग्रामाटोलोजी* जैसे अध्ययन के रूप में आया। संरचनावाद का चला आया वर्चस्व टूट गया।

जॉक देरिदा का लेखन विधाओं के वर्गीकरण को व्यर्थ करता है क्योंकि वह उनमें से किसी एक में अँटता नहीं। विखण्डन का कोई परम्परागत रूपविधान संभव ही नहीं है। वह दर्शन होते हुए भी दर्शन नहीं है। वह आलोचना होते हुए भी आलोचना नहीं है।

विखण्डन क्या है ? इस पर सोचते हुए देरिदा कहते हैं कि विखण्डन की क्रिया याद दिलाती है कि भाषा किस तरह दर्शन की योजना को जटिल बनाती

है या बाहर फेंकती है। विखण्डन विचार को 'निरस्त' करता चलता है। विचारधारा जो पश्चिमी दर्शन का सत्तावादी भ्रम है। विचारधारा यानी तर्क जो पश्चिमी समाज का संचालक रहा है। विखण्डन इस तर्क को व्यर्थ करता है। इस अर्थ में देरिदा दार्शनिक कम समीक्षक अधिक हैं। देरिदा के यहाँ 'रचना' और 'समीक्षा' में भी भेद नहीं है, जैसा कि नव्यालोचकों के यहाँ है। विखण्डनवादी दृष्टि में सब बराबर हैं। आलोचना, दर्शन, भाषाविज्ञान, नृविज्ञान आदि तमाम मानव विज्ञान देरिदा के लिए सभी विखण्डन की वस्तु हैं। सभी कुछ देरिदा का लक्ष्य है।

साहित्य में देरिदाई पद्धति का पहला बड़ा उदाहरण पॉल द मान के लेख 'ब्लाइण्डनेस एण्ड इनसाइट' (1971) में मिलता है। पॉल द मान ने नव्यालोचना का विखण्डन किया और पाया कि रचना में आधारभूत रूपकों को ढूँढ़ने के लिए नव्यालोचना को पढ़ना अन्ततः एक ऐसी 'अन्धता' है जो नव्यालोचना की अन्तर्दृष्टि में ही निहित है। नव्यालोचना कविता को शाब्दिक मूर्ति (वर्बल आइकॉन) मानती है। देशकाल से परे। स्वयंभू संरचना यही इसकी अन्धता है। रचना के आवयविक रूप में 'तनाव' और 'अस्पष्टताओं' की बात करना अन्धता है। यह इकहरी आलोचना 'अस्पष्टता' और तनाव की आलोचना बन जाती है। पॉल द मान ने कहा—'रूप' एक कहानी बन जाता है, व्याख्या करने वाले व्याख्याता का निर्माण बन जाता है।

विखण्डनवादी दृष्टि में साहित्यिक पाठ और आलोचना में कोई भेद नहीं है। चूँकि दोनों रूप अर्थ की बहुलता-जटिलता और आशयों को ढूँढ़ने चलते हैं इसलिए किसी भी एक रूप का दूसरे के मुक़ाबले विशेष दरजा नहीं हो सकता। न 'रचना' बड़ी है, न समीक्षा बड़ी है। सभी प्रयत्न बराबर हैं। क्योंकि सभी 'लेखन' हैं। अरसे तक आलोचना में यह ग़लतफ़हमी पैदा की गई है कि 'रचनात्मक' भाषा आलोचनात्मक भाषा से बड़ी है, प्राथमिक है। यह मानकर चला गया कि साहित्यिक पाठ (टैक्स्ट) में एक प्रामाणिक अनुभव बैठा रहता है और आलोचक का काम उसकी ओर इशारा करना होता है।

देरिदा ने कहा कि यह पश्चिमी विमर्श का अपराध है कि वह भाषा के खेल को नष्ट करता है। उसे एक स्थिर अर्थ प्रदान करना चाहता है जैसाकि 'वाक्' (वाणी) में होता है। वाक् में (वाचित) एक 'अर्थ' उपस्थित होता है। वक्ता का आशय। आशय और कथन की एकतानता होती है। इसीलिए साहित्यिक पाठ को 'अर्थ की उपस्थिति' का पाठ कहा जाता है। यह पश्चिमी विमर्श (विचार-विमर्श) का रहस्यवाद है। इसे पाठ और 'विमर्श' की छद्म-सीमाओं को तोड़कर ही भेदा जा सकता है।

'विमर्श' की प्रक्रिया को इसके लिए पलटना ज़रूरी है। विखण्डन में पाठ-प्रक्रिया 'अलग' होती है। पढ़ने का ढंग बदलना होता है। साहित्यिक पाठ (टेक्स्ट)

को अलग ढंग से पढ़ा जाना होता है। पाठ इसलिए नहीं पढ़े जाने चाहिए कि अन्तर्दृष्टि खोजनी है, बल्कि उन अन्धताओं को पाना है जो अन्तर्दृष्टि की सीमा होती है। पाठ की 'स्वायत्तता' को इस क्रम में तोड़ दिया जाता है।

यह विखण्डनात्मक पाठ ही देरिदाई विखण्डन का स्रोत है। यह क्या है ? देरिदा के अनुसार उनका 'पाठ' एक 'कार्रवाई' है। उसमें कोई नतीजे कोई निष्कर्ष नहीं हैं। यदि कुछ है तो 'भेद' की भाषा है। 'भेद' स्थापना। यही अलग चीज़ है।

हम देख चुके हैं कि सासूर के संरचनावाद में 'भाषा' अर्थ का भेदक (डिफ़रेंशियल)-संजाल है : व्यंजक-व्यंग्य के बीच एक-एक का सम्बन्ध नहीं है। ध्वनि ओर बोध का भेद शव्दों को अलग (भेद) करता है। भेदों की संरचना पर ही भाषा निर्भर है। संरचनात्मक होने के कारण ही भाषा अपने में असीम अर्थ करती है। यह अवधारणा आधुनिक भाषाविज्ञान का आधार बनी। अब भाषाविज्ञान को एक निश्चित संरचना का आधार मिल सकता था, एक-दूसरे से सम्बद्ध निर्भर तत्त्वों का व्याकरण (सिंक्रोनी)। इस तन्त्र ने स्वभावतया उन्नीसवीं सदी के इतिहासवादी भाषा विज्ञान (डाइक्रोनिक) को हाशिया दे दिया। सासूर ने भाषा की आम व्यवस्था (लांग) और भाषा के स्वतंत्र वाक् (परोल) में भेद किया। इसका असर सांस्कृतिक-चिन्तन पर पड़ा। अब तमाम सांस्कृतिक रूप 'व्याकरण' के रूप में पढ़े जा सकते थे। भाषाविज्ञान ने इस तरह लगभग हर मानव विज्ञान को समझने का दावा किया।

देरिदा ने यहीं उसकी सीमा की ओर इशारा किया। सासूर के वाक् (परोल) और लिखित (लांग) के द्वैतवाद को देरिदा ने अन्तर्विरोधी पाया और कहा कि यह द्वैतवाद पश्चिमी द्वैतवादी चिन्तन का फल है। सासूर की भाषा के बीच 'वाचक' की भूमिका अन्ततः केन्द्रीय रहती है। परोल यानी स्वतन्त्र वाक् करने वाला प्रमुखता पाता है। यह वाचक ही तो पुराना लेखक है। देरिदा इसे संरचनावाद का अन्दरूनी 'रोग' मानते हैं। वे पूछते हैं कि हम उस 'वाक्' को कितना आज़ाद और 'विशिष्ट' मानें जो स्वयं एक व्याकरण के रूप में भाषा की उपस्थिति (प्रेजेंस) की दरकार रखता है। सासूर के चिन्तन का यह भीतरी अन्तर्विरोध है। उक्त अवधारणा में एक व्याकरण के रूप में 'भाषा की मौजूदगी' नहीं है। स्वतन्त्र भाषा अर्थ के लिए 'भाषा' की दरकार रखती है। यह सत्य दबा हुआ है सासूर में। 'लेखन' 'वाक्' से छोटा है, यह तत्त्व सासूर के चिह्न-विज्ञान का आपत्तिजनक तत्त्व है।

*लिग्विंस्टिक्स एण्ड ग्रामाटोलोजी* (1977) में देरिदा बताते हैं कि सासूर के यहाँ लेखन बाक़ायदे दूसरे दर्जे का बनाया गया है। यह तरीक़ा 'दवाये गये अर्थ' के दृश्यमान अन्तर्विरोध की ओर इंगित करता है। इन अन्तर्विरोधों को देखकर हमें भाषा-विज्ञान से आगे लेखन-विज्ञान (ग्रामाटोलोजी) और पाठ-विज्ञान खोजना पड़ता है।

देरिदा बताते हैं कि बोला गया शब्द (वाक्) बोलनेवाले की दरकार रखता है ताकि वह प्रामाणिकता पा सके। सासूर 'लिखित' को जीवनरहित भाषा मानता है। बोला गया शब्द सीधा अर्थ देता है। लेकिन लिखित शब्द अर्थ की सत्ता (शुद्ध उपस्थिति) को खो देता है। देरिदा इस अवधारणा को पश्चिमी तत्त्वदर्शन का कुफल मानते हैं जो सासूर की संरचनावादी अवधारणाओं की भयावह सीमा है।

देरिदा कहते हैं कि लेखन भाषा की पूर्व-शर्त है। वह 'वाक्' से पहले मौजूद रहती है। इसलिए लेखन को दोयम नहीं कहा जा सकता। लेखन, देरिदा के लिए एक स्वतन्त्र खेल या लीला है। लीला का यह तत्त्व, अनिश्चय का यह तत्त्व संचार के हर रूप में मौजूद रहता है। लेखन इसलिए अर्थ का 'अनन्त तबादला' (डिस्पलेसमेंट) है जो भाषा का अनुशासन करता है और इकहरा नहीं रहने देता और जो उसे स्वतः प्रामाणिक बनाता है। 'वाक्' भी इस तरह 'आम लेखन' है। भाषा (लिखित) हमेशा प्रसारण और भेदक संकेतों का संजाल है जिसे 'वाक्' करने वाला अकेला नहीं समझ सकता। इसलिए स्वर और 'इन्द्रिय' का सहज सासूरीय बन्धन अपर्याप्त रहता है। 'वाक्' को स्वयंभू कहना दरअसल 'भाषा' के लेखन से डरना है। यही तत्त्ववाद है जो लेखन से डरता है। पश्चिमी तत्त्ववाद 'लेखन' से डरता है।

सारी समस्या शब्दार्थ की है। 'शब्द' के बाद 'अर्थ' कि 'अर्थ' के बाद है 'शब्द' ? 'लिखित' को दोयम रखने के प्रयत्नों को देरिदा पश्चिमी दर्शन के इतिहास में खोजकर सिद्ध करते हैं। पश्चिमी दर्शन की चिन्ता यह है कि यदि अर्थ अपने आप में प्रकट होता, स्वयंभू होता तो भाषा हमारी 'बॉदी' बन जाती और समस्या बनने की जगह हमारे विचारों की वाहक बन जाती। देरिदा इस तरह भाषा और विचार के सम्बन्ध को 'उलट' देते हैं। यही विखण्डन है। यह निर्णायक है। यही विखण्डन की 'हिंसा' है। यहीं देरिदा संरचनावाद को 'विखण्डन' की पूर्व शर्त कहते हैं। सासूर ने संरचना को उस बिन्दु तक पहुँचाया जहाँ वह अपनी संरचना में क़ैद हो गयी। उसने भाषा की बात करते-करते 'भाषा' को ही दबा दिया। वाक् को प्रमुख और प्राथमिक बना दिया। विखण्डन एक ऐसी रणनीति बनाता है, जो दिये गये 'पाठ' के तत्त्वों के क्रम को उलटा कर देता है और उन विरोधों (तनाव) को तोड़ देता है जिस पर 'पाठ' टिका होता है। लेखन 'वाक्' से प्राथमिक नहीं है लेकिन वह अधिक मौलिक है। वाक् और लेखन के 'विरोध' की यदि क़ायदे से समीक्षा नहीं की गई तो वह एक अन्ध-आस्था बन जाती है। [यह पश्चिमी दर्शन में 'विखण्डन' से पूर्व रही है।]

विखण्डन इस प्रकार एक (स्ट्रैटेजिक) कार्रवाई है। पढ़ने की कार्रवाई। पढ़ना जो पाठ से बँधा है और जो 'बन्द' नहीं है। देरिदा अपनी विखण्डनवादी रणनीति की व्याख्या नहीं करते। विखण्डन 'अवधारणा' नहीं है क्योंकि यहाँ कोई पक्की

विचार योजना नहीं है, जिसमें फिट होकर 'लेखन' अपनी जगह प्राप्त कर ले। इसके विपरीत संरचनावाद में एक अवधारणा थी जो बहुत जल्दी एक निश्चित पद्धति में बदल जाती थी और जो 'पाठ' को फटाफट एक सकल योजना में बदल देती थी। 'पाठ' के अनिश्चित तत्त्वों को छोड़ देती थी। इस ख़तरे से बचने के लिए देरिदा इकहरे समीक्षा पद नहीं मानते। इसीलिए वे पार्थक्य या भेद (डिफ़रेंस) पर ज़ोर देते हैं क्योंकि यह पद व्यंजक के स्तर पर ही निर्णायक पार्थक्य स्थापित करने को कहता है। देरिदा 'डिफ़र' और 'डेफ़र' दोनों के आशयों को 'डिफ़रेंस' में खेलते देखते हैं। पार्थक्य और परता (दूरी, देरी)। 'पार्थक्य' का यही खेल पाठ की अनिर्वचनीयता स्थापित करता है। यह चीज़ उसे अवधारणा अथवा बन्द सिद्धान्त बनने से रोकती है। वह अन्तिम पाठ के अन्तिम अर्थ, मूलतः लेखन को ही नष्ट कर देता है। इसलिए नया अर्थ है तो पूरक रूप में। अर्थ के पूरक खेल के रूप में।

देरिदा के लिए 'लेखन' एक ही साथ तमाम सांस्कृतिक कर्म का स्रोत है और अपने भीतर निहित ज्ञान को 'दबाने' वाला भी है। विखण्डन इस 'लेखन' की क़ैद में दब रहे 'अर्थ' को मुक्ति देता है। इसीलिए देरिदा कहते हैं : 'पाठ के बाहर कुछ नहीं है।'

एडमण्ड हसेर्ल की फ़िनोमिनालोजी का विखण्डन करते हुए देरिदा ने बताया कि हर पाठ अपने भीतर विखण्डन की क्रिया छिपाये रखता है, क्योंकि पाठ जिसे 'दबाता' है उसी से 'मैत्री' भी करता है। विखण्डन का काम पाठ के 'दमित तत्त्व' को पाठ के 'प्रकट तत्त्व' के सामने रखना है। यह 'दमित तत्त्व' और दबाने वाला 'प्रकटत्व' दोनों के बीच एक संशय (एपोरिया) एक स्वयंनिर्मित अन्तर्विरोध पैदा करता है।

एपोरिया यानी संशय। यह लेखन में तब पैदा होता है जब लेखक छिपाने और बताने के बीच खेलता है। देरिदा के यहाँ इस 'एपोरिया' का महत्त्व है। यह 'पार्थक्य' और 'परस्परता' को द्योतित करता है। विखण्डन उसी संशयावरोध (एपोरिया) को खोजता है जो विचार और भाषा के बीच बनता है और जो पाठ सत्य का 'ठेकेदार' होने का भ्रम रचता है। इस तरह सदा से चला आता 'सत्य' का खोजी दर्शन' भी विखण्डित हो जाता है। दर्शन अन्ततः एक लेखन भर रह जाता है जो अपने से बाहर के यथार्थ पर अधिकार नहीं रखता।

[गोदान' इस तरह जमींदारी का 'पाठ' हो सकता है। कामायनी 'मनु' की जगह 'श्रद्धा' का, 'आनन्दवाद' की जगह 'वेदना' का पाठ हो सकती है, रामचरितमानस रामराज्य की जगह कलयुग का पाठ हो सकती है।]

विखण्डन के केन्द्र में अनेक विद्वान नीत्शे के विध्वंस के विचारों की खोज करते हैं। नीत्शे नाज़ीवाद का जनक भी कहा जाता है जिसने 'हिटलर' को सम्भव

किया। नीत्शे के विचारों में 'महामानव की तलाश' और शाश्वत पुनरावतार (ईटरनल रिटर्न) आदि तत्त्व आज भी नीत्शे की स्थिति को अरक्षणीय बनाते हैं। देरिदा ऐसे नीत्शे का भी विखण्डन करते हैं।

विखण्डन पर नीत्शे के प्रभाव को पहचानने का जो सूत्र मिलता है, वह है 'सत्य' को लेकर नीत्शे का सन्देहवाद। बहुत-से लोग इसे 'विखण्डन' के 'संशयवाद' से एकमेक कर डालते हैं। नीत्शे पश्चिमी दर्शन की समीक्षा करता है और भाषा की सीमाओं को बताता है। देरिदा भी यहीं पहुँचते हैं।

नीत्शे में हमें विखण्डन के बीज मिलते हैं। वह हर पाठ पर संशय करता है। वह कहीं चैन नहीं पाता। अपने भीतर भी नहीं। नीत्शे के लिए दार्शनिक सत्य के 'ठग' हैं, सत्य जो भाषा में रहता है। सत्य भाषा की क़ैद में रहता है और निकलता नहीं है। इसे छिपाकर पश्चिमी दर्शन ने अपना काम चलाया है। तर्कवाद छिपाने के कर्म का सर्वोत्तम अस्त्र है। तर्क ने दर्शन की कल्पना-शक्ति को नष्ट कर दिया है। नीत्शे 'आधुनिक ज्ञान' को 'असत्य' कहता है। सभी दर्शन अलंकृत भाषा के 'आभरण' मात्र हैं। वे सत्य को छिपाते हैं। देरिदा भी ऐसे अनेक निष्कर्षो पर पहुँचते हैं। दोनों में क्या साम्य है ?

विज्ञान का विखण्डन करते हुए देरिदा कहते हैं कि विज्ञान मूलतः तर्क के दमनकारी विचार का विमर्श है। उसका विखण्डन उसे आज़ाद करता है। नीत्शे अनुभव में उसे आज़ाद करते हैं। देरिदा 'चिह्नों' के खेल में। देरिदा ने नीत्शे के मूलतः भारी-भरकम अतीत को तोड़ा। देरिदा भी अतीत के पाठ का विखण्डन करते हैं।

देरिदा की मौलिकता यह है कि उनका विखण्डन 'सत्यता' का दावा करने वाले 'तर्क' को उसी के विरोध में खड़ा करके देखता है और उससे छिपने (दमित) वाले अर्थ को खोजता है। यह देरिदा की 'पाठात्मक रणनीति' (पढ़ने का ढंग) है। पश्चिमी दर्शन की योजना सत्य की उपस्थिति और भाषा की प्राथमिक उपस्थिति की योजना रही है। भाषा की अलंकार योजना (विशेषण योजना) इस सत्य को कहते हुए भी छिपाती है। विखण्डन का काम इसी अन्तर्विरोध (विशेषण और विशेष्य के अन्तर्विरोध) को प्रकट करता है। वह 'अच्छे' और 'बुरे' का अन्तर्विरोध नहीं है क्योंकि ये दोनों तो दो विशेषण हैं। ये पार्थक्य (अलंकार) मात्र हैं जो 'सत्य' को दबाते हैं। असल बात दो तत्त्वों का पार्थक्य 'पाठ' की 'बहुमुखता' में निहित रहता है।

नीत्शे की तरह मार्टिन हायडेगर का असर भी विखण्डनवाद पर दिखता है। विखण्डनवाद में और हायडेगर के 'व्याख्यावाद' में कई असमानताएँ हैं। हायडेगर के लिए अस्तित्व के क्षण में सत्य की प्रामाणिकता रहती है। देरिदा सत्य की इस अन्तिम प्रामाणिकता को अस्वीकृत करते हैं। अस्तित्व में नहीं, वे सत्य को 'पाठ'

में देखते हैं।

हायडेगर द्वारा नीत्शे के पाठ को देरिदा प्रश्नांकित करते हैं।

देरिदा मानते हैं कि मार्क्स और नीत्शे के बीच कहीं उत्तर-संरचनावाद के तत्त्व छिपे हैं। यहीं से विखण्डन की 'राजनीति' आती है।

अपने एक साक्षात्कार में देरिदा ने राजनीतिक प्रतिवद्धता और विखण्डनता के सम्बन्ध के वारे में कहा है कि मार्क्स और लेनिन के 'पाठ' अभी तक क़ायदे से किसी ने नहीं 'पढ़े' हैं, उन्हें अभी पढ़ा जाना है। उन्हें पूर्वनिश्चित अर्थों के अनुरूप व्याख्यायित नहीं किया जा सकता जो पाठ के पीछे छिपे पूर्वनिश्चित 'व्यंग्य' को ढूँढ़ निकालते हैं [ दुनिया की कम्युनिस्ट पार्टियाँ यही करती रही हैं।] मार्क्सवाद का विखण्डन दरअसल मार्क्स के पाठ की अनेकमुखता को निकाल सकता है, ख़ासकर आदर्शवाद से इसके अलगाव की अनेकमुखता को और यह भी दिखेगा कि हीगेल के आदर्शवाद को खण्डित करने के क्रम में मार्क्स का पाठ स्वयं खण्डित हुआ है।

देरिदा के पार्थक्यवाद और द्वन्द्ववाद में भेद है। अपने एक साक्षात्कार (पोजीशंस, 1981) में देरिदा बताते हैं कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की भाषा 'अलंकृत' भाषा ही है। अलंकार जिन्हें 'अवधारणा' कहा जाता है मार्क्सवाद में। वे अवधारणाएं पूर्व मान्यताएँ ही हैं। पहले इनमें छिपे तत्त्व-मीमांसावाद (मेटाफ़िज़िक्स) का पता लगाना चाहिए।

मार्क्सवादी क्षेत्र में देरिदा के 'पार्थक्यवाद' को लेकर बाद में बहुत से प्रश्न उठे। कहा गया कि क्या देरिदा का विखण्डन पाठ से राजनीति और इतिहास को बाहर रखने का एक नवरहस्यवाद नहीं है ?

कुछ कहते हैं कि विखण्डन अद्वन्द्वात्मक प्रणाली है जिस पर सामाजार्थिक प्रभाव नहीं पड़ते। कहने की ज़रूरत नहीं कि उत्तर-संरचनावाद पर पड़े मार्क्स और नीत्शे के प्रभावों का विश्लेषण एक उपयोगी क्षेत्र है।

देरिदा अपने समूचे विचार क्षेत्र में मार्क्स के प्रति एक गहन चुप्पी साधे दिखते हैं। यह आश्चर्यजनक लगता है। यूरोप में ऐसी चुप्पी असह्य और असम्भव लगती है। देरिदा 'हीगेल' पर लम्बी टिप्पणी करते हैं, मार्क्स पर नहीं। हीगेल में 'चेतना और इतिहास' की एकता और अतिरिक्त 'अर्थवाद' को देरिदा 'हीगेल विरोधी' मानते हैं। एक 'हेतु विहीन चेतना' का 'प्रसारण' हीगेल को अन्तर्विरोधी बनाता है।

यहीं फ्रेडरिक जेमेसन द्वारा देरिदा की समीक्षा का बिन्दु आता है। जेमेसन ने पाया कि अर्थ की लीला मार्क्सवाद-विरोधी तत्त्व है। एक अन्य मार्क्सवादी समीक्षक टेरी ईगलटन भी यही मानते हैं कि उत्तर-संरचनावाद, पद्धति के नाम पर एक 'अराजकता' भर है। दरअसल, जेमेसन अथवा ईगलटन—दोनों संरचनावादी ढंग

से देरिदा को जवाब देते हैं।

देरिदा संरचनावाद को एकदम व्यर्थ नहीं कहते। वे सिर्फ़ यह बताते हैं कि अन्त में संरचनावाद भाषा की क़ैद में बन्द हो जाता है। देरिदा मानते हैं कि संरचनावाद ने इस प्रश्न को अन्तिम ऊँचाई से उठाया कि क्या भाषा चीज़ों को तय करती है ? क्या भाषा चीज़ों को 'देश' में स्थापित कर उन्हें नियन्त्रित करती है ? क्या ऐसा करते हुए स्वयं भाषा 'देश' में स्थिर नहीं होती ? देरिदा कहते हैं कि भाषा चीज़ों को स्थिर करते हुए स्वयं जब स्थिर होने को अभिशप्त है तो वह अपनी क़ैद बना लेती है। संरचनावाद की यही बड़ी सीमा है कि वह अपनी क़ैद अपने आप है।

टेरी ईगलटन ने *क्रिटिसिज़्म एण्ड आइडियोलोजी* (1976) में नीत्शे के बहाने उत्तर-संरचनावाद पर संक्षिप्त विचार किया है। ईगलटन को 'पाठ' की 'मुक्ति' पर घोर आपत्ति है। पाठ की मुक्तिवादी पद्धति उन्हें पसन्द नहीं। राजनीति में भी पाठ की नितान्त मुक्ति 'बुर्जुआ अराजकतावाद' का प्रतिबिम्ब लगती है उन्हें। एक आधिकारिक केन्द्र से आधिकारिक-प्रामाणिक अर्थ को हटाकर, शुद्ध स्वतन्त्र लीला में अर्थ खोजने का अर्थ—अर्थ का निषेध करना है। नीत्शे यही करता है। (टेरी ईगलटन के लिए देरिदा भी यही करते हैं।) ईगलटन विखण्डन को एक ऐसी 'रहस्यवादी' और अनन्त प्रक्रिया मानते हैं जो रूपान्तरयामी 'अर्थ' को खोलते हुए स्वयं को 'बन्द' करना भूल जाती है।

ईगलटन नये मार्क्सवादी हैं, जो समीक्षा की भूमिका 'पाठ' से बाहर मानते हैं और उसे 'पाठ' से बाहर के किसी वैज्ञानिक केन्द्र से जुड़ा मानते हैं। कहने की ज़रूरत नहीं कि ईगलटन मार्क्सवाद के भीतर बैठे पुराने पाजिटिविज़्म से इंच भर इधर-उधर नहीं जाते। हम देख चुके हैं कि स्वयं संरचनावाद ने पाजिटिविज़्म को किस तरह व्यर्थ सिद्ध किया। ईगलटन का सिद्धान्त उसी तरह के तत्त्ववादी मार्क्सवादियों की तरह अलग से आता है और पाठ की चीरफाड़ कर मतलब की बात निकालता है। इस 'हेतुवाद' पर हम पहले ही चर्चा कर आये हैं। ईगलटन साहित्य को विचारधारा का प्रतिनिधि मानते हैं।

कहने की ज़रूरत नहीं कि विखण्डन इस तरह की किसी भी आधिकारिक वैज्ञानिक स्थिति की अनुपस्थिति मानता है जो पाठ से बाहर 'नज़र' आती है। ऐसा कोई विज्ञान नहीं जो दूर रहकर अर्थ दे। यदि है तो 'विखण्डन योग्य पाठ' ही है। (फ्रेडरिक जेमेसन इतिहास में अर्थ की मुक्त-लीला सम्भव मानते हैं, ईगलटन नहीं मानते।)

मार्क्सवादी तत्त्वचिन्तक लुई अल्थुसर ने विखण्डन का एक नया मार्क्सवादी संस्करण दिया। उनका कहना था कि मार्क्सवाद स्वयं एक विखण्डनवाद है जो पाठ की प्रक्रिया को वहाँ तक ले जाता है जहाँ विचारधारा को पाया जा सके। एक

अन्य मार्क्सवादी उत्तर-संरचनावादी पियरे माशेरे समीक्षा को 'पाठ' से बाहर होती हुई मानते हैं।

*ऑफ़ ग्रामाटोलोजी* में एक जगह देरिदा कहते हैं कि 'विखण्डन अपने ही किये का शिकार होता रहता है...'

विखण्डन कई बार एक आसान काम भी समझा गया है। बहुत-से समीक्षक विखण्डनवाद को इसलिए आसान मानते हैं कि यहाँ कोई निश्चित नियम नहीं दिए जाते न उन्हें खोजना होता है। विखण्डन चूँकि अन्तहीन और खुला होता है इसलिए भी अनेक समीक्षक उसे आसानी से अपना लेते हैं। विखण्डन में 'निष्कर्षों' और नतीजों की परवाह नहीं होती, अनेक लोगों के लिए, इसलिए भी, विखण्डन उनकी काहिली का मंच बन जाता है।

ऐसा दृश्य हमें अमरीकी विखण्डनवाद के एक बड़े तबके में दिखलाई पड़ता है। देरिदा का प्रभाव पिछले दिनों अमरीका में इसीलिए बढ़ता दिखा। अनेक लोगों ने विखण्डन आसान पद्धति मान लिया जिसमें कुछ भी नहीं करना था। और किसी भी नियम से बेपरवाह होकर निष्कर्षों को रोककर सिर्फ़ मनमाने ढंग से समीक्षा की जा सकती थी। सिर्फ़ पॉल द मान ने यह बताया कि देरिदा का विखण्डन अति विकसित बौद्धिक समीक्षात्मक प्रयत्न है और वह वस्तुतः बच्चों का खेल नहीं है। देरिदा, लेकिन, इस 'खेल' के प्रति उतने चिन्तित नहीं हैं।

देरिदा के प्रभाव में आये ज्योफ्री हार्टमैन और जे. हिलिस मिलर को विखण्डनवाद के 'अराजक' सम्प्रदाय का माना जाता है। पॉल द मान को 'विखण्डन' को व्यवस्था देने वाला। हार्टमैन और मिलर विखण्डनवाद के व्याख्यात्मक स्वातन्त्र्य को उसके अन्तिम अमरीकी छोर पर ले जाते हैं जहाँ 'पाठ' ही 'नष्ट' हो जाता है। पॉल द मान, अलबत्ता विखण्डन के तर्क को स्थापित करते हैं।

पॉल द मान ने विखण्डन को पूरी रणनीति में पकड़ा और अपने पाठ से बताया है कि हर पाठ में 'तर्क' और रूप का झगड़ा फैला रहता है। यही चीज़ समीक्षा में भी रहती है। समीक्षा में यह वहाँ प्रकट होता है जहाँ 'व्याख्या' सिद्धान्त में बदलती है। समीक्षक की 'अन्धता' का सबसे 'अँधेरा क्षण' वही होता है जहाँ वह सबसे अधिक 'अन्तर्दृष्टि' दिखाता है। कोई भी पाठ, मान की नज़र में 'पूर्ण' नहीं होता। पढ़ते हुए वह एक पहलू से ही खुलता है। यही 'अंधता का कोना' होता है जिसे 'विखण्डित' करना होता है, तोड़ना होता है। लेकिन यह भी एकदम साफ़-साफ़ सम्भव नहीं होता। आलोचना इस तरह एक सतत् 'संकट' होती है। वह संकट अपने 'मूल' में ही नज़र आता है।

पॉल द मान ने 1979 में अपने ग्रन्थ *एलीगरीज़ ऑफ़ रीडिंग* में 'पढ़ने के सिद्धान्त' को विकसित किया जो विखण्डन के कुछ महत्त्वपूर्ण सूत्र खोलता है।

रूपक (मैटाफ़र) और अन्योक्ति (मेटानिमी) साथ ही 'प्रतीक' और 'विमर्श' द मान के सिद्धान्त के आधार हैं। अपने विखण्डन से वे रूपक अथवा अन्योक्ति के विरोध को देखते हैं पाठ में। यहाँ प्रतीक में 'विषयी' और 'विषय' के बीच अभेद-रूपक को तोड़ना पड़ता है। पॉल द मान का विखण्डन भाषा के सार्थक (उपदेशात्मक, संदेशात्मक) रूप को तोड़कर उसके अलंकार के शुद्ध रूप तक पहुँचता है। हल्का-फुल्का पाठ करने, तोड़ने का प्रयत्न अधिक 'पाठ' की एक नैतिक व्याख्या करके खत्म हो जाता है। इस तरह विखण्डन नहीं होता। पाठ का अर्थ तभी पैदा होता है जब हम आत्मालोचना से शुरू करें। द मान कहते हैं कि पाठ में स्वयं विखण्डनात्मक 'पठन' छिपा रहता है।

देरिदा के अवदान पर फिर लौटें।

देरिदा मानते हैं कि अब भी हम संरचनावाद में क़ैद हैं। विखण्डन उसके बिना सम्भव नहीं है। हम कह सकते हैं कि उत्तर-संरचनावादी प्रविधि के लिए हमेशा संरचना चाहिए।

देरिदा कहते हैं कि अव तक की वह भाषा और वह विचार केन्द्रवादी (लोगोसैंट्रिक) रहा है, जो अपनी प्रामाणिकता के लिए बाहर से समस्या जुटाता रहा है। पश्चिमी दर्शन का मूल स्वर यही रहा है कि भाषा किसी-न-किसी विचार और 'हेतु' की बॉदी रही है जो भाषा से बाहर होता है। [ साहित्य समीक्षा में इसे यों कहा जाता है कि अन्तर्वस्तु रूप से बाहर होती है, स्वतन्त्र होती है। भाषा इसकी माध्यम भर है। इस तरह भाषा दोयम दर्जा रखती है।]

'अनुभव भाषा से बाहर होना है' इस विश्वास के अनेक रूप और संस्करण हैं। संरचनावाद में यह है। सासूर में 'वाक्' भाषा का माध्यम है। यही केन्द्रवाद है भाषा में। देरिदा इसके विकल्प में एक अन्य शब्द लाते हैं 'भेद' या 'भिन्नता'। 'पार्थक्य और परता' दोनों को बताने वाला शब्द है यह। जब भाषा का एक तत्त्व (वाक्) दूसरे (भाषा) से सम्बद्ध होता है तो 'भिन्नता' नहीं खोता। वह भिन्नता स्थापित करता है। भाषा में अर्थ कभी पूरा नहीं रहता, बल्कि यह भाषा के दूसरे तत्त्वों के सन्दर्भो पर निर्भर रहता है। यह पार्थक्य और परता ही भाषा को बनाती है। संरचनावाद रूप और वस्तु को अविभाज्य मानता है। संरचना देरिदा में आकर 'व्यंजक' की 'श्रृंखला' वन जाती है।

देरिदा के पाठ की रणनीति इस प्रकार चलती है :—लेखन चूँकि लेखक के हेतु से अनुशासित नहीं है इसलिए वह एक स्वतन्त्र पाठ है। इसका अर्थ यह है कि पाठ का अर्थ बाहर से प्रमाणित नहीं करना है। यही लेखन (साहित्यिक पाठ) की अद्वितीयता है कि उसका प्रमाण उससे बाहर नहीं है। परम्परागत रूपवाद यह नहीं है। यह दरअसल अब तक के लेखन में हेतुवाद का ख़ात्मा है। समीक्षा कर्म इसीलिए 'हेतुओं' और बाहरी प्रमाण की खोज नहीं है। वह विखण्डन मात्र है।

विज्ञान से साहित्य विखण्डन के ज़रिए ही अलग होता है और अपने पैरों पर खड़ा होता है क्योंकि विज्ञान अपने से बाहर प्रमाण चाहता है, साहित्य नहीं चाहता।

कहने की ज़रूरत नहीं कि देरिदा के अवदान ने अब तक चले आते आलोचना सिद्धान्तों की चूलें हिला दी हैं। अब तक सोचा जाता था कि साहित्य समीक्षा या सिद्धान्त 'किसी चाकर के चाकर' थे। 'यथार्थ' की चाकर 'रचना'। रचना की चाकर 'आलोचना'। नौकर की नौकर। विखण्डन ने इस स्थिति को ख़त्म करके पहली बार आलोचना को स्वतन्त्र सत्ता दी है। आलोचनात्मक सिद्धान्त यहीं आकर एक विधा बने हैं। यहीं आकर साहित्यिक समीक्षा ने दर्शन और समाजशास्त्र का दर्जा ग्रहण किया है। समीक्षा विखण्डन की रणनीति में आकर एक सांस्कृतिक प्रक्रिया बनी है। विखण्डन साहित्य की उत्तर-आधुनिक स्थिति है। देरिदा की विखण्डन-रणनीति मूलतः एक साहित्यिक रणनीति है। विखण्डन से साहित्य-सिद्धान्तिकी नामक विधा भी आरम्भ होती है। यही 'सिद्धान्तिकी' 'विधा' मूलतः आलोचना की विधा है जो दुनिया को देखने-पढ़ने की एकमात्र उत्तर-आधुनिक विधा है।

विखण्डन उत्तर-संरचना का पर्याय नहीं है। विखण्डन एक रणनीति है जो उत्तर-संरचनावाद को भी विखण्डित करती है।

विखण्डन का उत्स 'पाठ' में है। यहाँ 'पाठ' के 'पाठक' और 'पढ़ने की क्रिया' पर ज़ोर है। यहीं से लेखन 'लेखक' के केन्द्र से निकलकर 'पाठक' के बीच आ जाता है। पाठक लेखक के नायकत्व के मुक़ाबले एक प्रतिनायक बन जाता है। पाठक का यह नवावतार संरचनावाद ने शुरू कर दिया था क्योंकि उसे 'पाठ' के 'अन्तर्पाठ' को पैदा करना था। 'पाठक के बिना 'लेखन' की मुक्ति नहीं है। बार्थ ने इसी तरह ही उत्तर-संरचना शुरू की। देरिदा ने उसे चरम पर पहुँचाया।

यहीं से 'स्त्रीवादी' पाठ का श्रीगणेश हुआ जो बाद में चलकर उत्तर-संरचनावाद का एक अंग बना। एक पाठक के रूप में पाठ के साथ चलते हुए अब तक के छिपे हुए अनेक अर्थ खुलने लगे। कुछ भी लेखकगत नहीं रहा। न लेखक के इरादों पर भरोसा रहा। सार्वभौमिक मानववाद के परखच्चे उड़ गए। *द अथॉरिटी ऑफ़ एक्सपीरियेंस : एसेज़ इन फ़ैमिनिस्ट क्रिटिसिज़्म* में मौरियाने एडेम्स ने लिखा कि अब 'पूरी तरह वस्तुगत होने' और 'पक्षपातरहित होने का बहाना ख़त्म हो गया। अब हमें जेन आयर 'मर्दों' की नज़र से नहीं देखती। अब हमें जेन आयर में 'एक ओरत की शादी में निर्भरता का अर्थशास्त्र' नज़र आता है।' केट मिलैट ने तो साहित्य में स्त्री-छवि को सैक्सवादी राजनीति की तरह पढ़ा। एक औरत ने पढ़ते हुए अपने नतीजे निकाले।

'औरत की तरह पढ़ना'—यह उत्तर-संरचनावाद का एक नितान्त विखण्डनात्मक तत्त्व है। 'यह कोई सैद्धान्तिक अवधारणा नहीं है' जैसा कि शोजां फैल्मान ने लिखा

है 'बल्कि यह एक जीवित कर्म है जिसमें सैक्सवादी तादात्म्य काम करता है।' स्त्रीवादी समीक्षा इसी दृष्टि का फल है जो उत्तर-संरचनावाद का एक ज़बर्दस्त औज़ार है। एलेन शुवाल्टर ने *टुवार्ड्स ए फ़ेमिनिस्ट पोयटिक्स* में कहा है कि एक औरत के रूप में पढ़ने से पाठ में सक्रिय सैक्सीय संहिता की सार्थकता आसानी से समझ में आती है।

कहने की ज़रूरत नहीं कि 'औरत के पाठ' के जन्म ने अनुभव की 'सम्पूर्णता' को लेखक से हटाकर पाठक के 'पाठ' में केन्द्रित कर दिया। पाठ में अर्थ एक ऐसी चीज़ होता है, जिसे अर्जित करना पड़ता है। मर्दवादी आलोचना प्रायः इस 'अर्जन' को नज़रअन्दाज़ करती है। अब तक की आलोचना मर्द-लेखक के इरादे (हेतु) को सबके लिए समान हित वाला मानकर चलती रही है। उत्तर-संरचनावादी 'औरत के पाठ' ने इस अवधारणा को ख़त्म कर दिया।

लेकिन औरत का 'पाठ' सभी औरतों को हर बार आसानी से प्राप्त नहीं होता। कारण कि वे अपने 'लिंगभेद' के कारण होनेवाले 'पार्थक्य' के प्रति सचेत नहीं होतीं। मर्दों की भाषा में औरत को भी मर्दानगी से तादात्म्य स्थापित करना 'औरतों' के लिंग-भेदी 'दमन' को सामने लाता है।

स्त्रीवादी समीक्षा और पाठ के बाद साहित्य के पाठ की अवधारणा बदल गई। अब तक का समीक्षाशास्त्र मूलतः 'पितावादी' अथवा 'मर्दवादी' रहा जिसमें लेखक की भूमिका पितामह की तरह होती है, वही 'अर्थ' को वैधता प्रदान करता है। समीक्षा लेखक (मर्द) को स्थापित करती रही है। स्त्रीवादी समीक्षा ने इन तमाम स्तरों पर चली आती समीक्षा को गहरी चुनौती दी है।

उत्तर-संरचनावाद ने 'लिंग-भेद' को प्रखर करते हुए औरत के पाठ को विशेष सिद्ध किया। इससे स्वयं साहित्य में एक नई स्थिति पैदा हुई।

---

## सुधीश पचौरी

# केवल वयस्कों के लिए

अपने उम्बर्टो इको ने हिन्दी में हरिया लिख दिया है। हरिया हरामी इको के 'पेंडुलम' और 'रोज' दोनों को छका रहा है।

मनोहरिया का वयस्क खेल ठहरा। परम खिलाड़ी। पहले दरजे के उत्तर-आधुनिकाये हुए कथाकार।

हिन्दी की पहली वयस्क-कथा लिखी है मनोहरिया ने। मर्दवादी कथा।

हिन्दी के आरामपरस्त पढ़ने वाले सिर पकड़ कर बैठे हैं। गाली दे रहे हैं। कम्बख्त गन्दी-गन्दी बातें करता है जी ! नामर्दी और मर्दानगी के गोपनीय प्रसंग कहता है खुलेआम ! पापी ! पाजी !

हरिया हरकुलीज की हैरानी उन्हें चिढ़ाती है। मनोहरिया से लेखक बिरादरी उसी तरह परेशान-हैरान है और दो-चार साल होती रहेगी जिस तरह हरिया ने कहानी के भीतर डॉ. नीलाम्बर, हेमन्त शराबी, गणेशदत्त शास्त्री, मुरलीधर ज्यू, हेमुली बोज्यू और दर्जन भर उन लोगों को हलकान कर रखा है और जिस हैरान करनेवाली हैरानी के बारे में आप तभी जान सकते हैं जब कुल जमा एक सौ सत्ताईस पृष्ठ की इस उपन्यासिका का आनन्दपूर्वक पाठ कर लें और हैरानी का अपना पाठ बना सकें।

चूँकि महान हरिया हरकुलीज मदुआ हैं, मेंटली रिटार्डेड जैसे हैं, फिर भी अपनी बिरादरी के लिए एक हैरान करने वाली कहानी, सुलझाने के लिए छोड़ गये हैं इसलिए कृपा करके उस 'गू' पर न अटकें जो उनके पिता श्री राय सैप यानी एल डी सी उर्फ़ राय साहब उर्फ़ गिरवाणदत्त तिवारी उर्फ़ जंगलात कटानेवाले उर्फ़ समलिंगी उभयलिंगी व्यभिचारीजी के उपस्थ में अक्सर अटका रहता है और कहानी में हरिया मदुआ उन्हें एकदू बिठाकर अटके हुए गू को निकालने का अपना कर्तव्य परम आनन्द के साथ निभाता है। तो हे पाठक ! 'गू' की तरह न अटकें। अन्यथा हरिया निकालने आ जायेगा।

(इंडिया टुडे (हिन्दी) में धारावाही प्रकाशन के दौरान अनेक पाठकों ने 'गू' पर अटक कर मनोहरिया यानी मनोहरश्याम जोशी को जम के गाली सुनाई

हैं, धिक्कारा है। यह एक सहज स्थिति है। जोशी हरिया से ऐसा वैसा कराएँगे जो साहित्य में किसी ने नहीं किया तो पिटनीय होंगे ही। भला बताइए, साहित्य में सण्डास बनाकर, अटके हुए मल का विविध भाँति वर्णन कर वे सरस्वतीजी के पवित्र मन्दिर में बदबू भर देते हैं। अब वीणा बजायें वीणापाणि शौचालय में! यही मनोहर का उपद्रव है जहाँ वे हिन्दी भाषा का शीलभंग करते दिखते हैं।)

मनोहरिया इस वक़्त फ़ार्म में हैं। *कसप* और *कुरुकुरु स्वाहा* के बाद वे एक ऐसी उत्तर-आधुनिक वयस्क कथा कहते हैं जो लेखक बिरादरी को उसी तरह अटका दे रही है जिस तरह गिरवाणदत्तजी का जीवन अटका हुआ रहा। जिन लोगों तक उत्तर-आधुनिकता में 'भाषा-खेल' (ल्योतार) की जानकारी न पहुँची वे सिर पीटेंगे कि देखा साला फिर बदमाशी कर गया।

मनोहरश्याम जोशी एक दुष्ट लेखक हैं। हरिया तो उनसे भी सो गज़ आगे हैं। देखिये न मदुआ हरिया गिरवाणदत्तजी का गू निकालते हुए उस पिटार पर किस होशियारी से क़ब्ज़ा करते हैं कि शराबी, कबाबी हेमन्त देखता रह जाता है जिसमें 'गू' और 'लिंग' का रहस्य बन्द है, जो स्वयं 'गूमालिंग' ही है। 'टीवी बाद के इन दिनों में' टीवी पूर्व के दिनों की कहानी ऐसे ही और इतनी ही खुली-खुली और 'चाहें—तो-आप बना लें' वाले अन्दाज़ में कही जा सकती है।

यदि अपना पाठ बनाने वाला पाठक 'गू' और 'गूमालिंग' द्वारा उत्तेजित स्वर कल्पनाओं में न उलझे अटके तो वह उन कथा-संजालों में उलझ सकता है जो कथा के अनेक पात्रों के भीतर अन्तर्पाठीयता की स्थिति पैदा करके कई जगह पढ़ने वाले को मज़ेदार ढंग से तंग करता है।

जैसे गूमालिंग है कि नहीं है ? हरिया भी है कि नहीं, हैरी स्मिथ है कि नहीं ? यानी यह कथा है कि नहीं ? यह सवाल और ऐसे ही सवालों के संजाल चालू क़िस्म के पाठक को उकताने अटकाने-भटकाने के लिए काफ़ी हैं। लेखक ने 'तंग' करने की कला में उस्तादी हासिल की है हरिया की तरह। मदुआ यानी रिटार्डेड हरिया कहानी में ऐसा 'तंग' करने वाला जीव है जो वैज्ञानिक बुद्धिवादी नीलाम्बर, कौमुदी आदि को भी तंग किये रहता हे और आस्तिक क़िस्म के मुरलीधर ज्यू को भी। और तंग करने की शैली भी ऐसी देसी ठहरी कि लगे मसखरी करता हो। सारी कहानी मसखरी के साथ कही सुनी जाती है। बिरादरियों में मसखरी और खिंचाई के बिना कथा नहीं बनती।

हरिया 'पगलेट' या 'रिटार्डेड' माना जाता है, बिरादरी में। उसके पिता रायसैप बीमार हैं। उनके सारे पुत्र मर-खप चुके हैं। कहते हैं उन्हें शाप दिया है कि किसी पुजारी ने जिसके जंगल कटवाये रायसैप ने। गूमालिंग का यह शाप कहता है कि सौ मौतें देखकर मरोगे।

उनका आख़िरी बेटा है हरिया। हरिया किसी चीज़ से हैरान नहीं होता। जेसा कि डाक्टर नीलाम्बर बहुत खोजबीन के बाद बना पाते हैं (और फिर मर जाते हैं) कि हरिया के सिर में वह नस ही नहीं बनी है जो उन्हें 'हैरान परेशान' होने का अनुभव कराती हो।

कहानी के हरिया दो चीज़ों के विशेषज्ञ हैं। एक कि वे 'बिना घिनाये, बिना अघाये, बिना घबराये, मरते हुए रोगी की सुश्रूषा' कर सकते हैं, मरने के बाद बहुत क़ायदे से हिसाब से उसे फूँक-फुँकवा सकते हैं। वे अपनी युवावस्था तक आते-आते छत्तीस लोगों को फूँक चुके हैं। वे रोगी का गू-मृत, कफ़ थूक, अटका हुआ मल सब कुछ बिना घिनाए करते आए हैं। सारी बिरादरी जानती है। जब बिरादरी के लोग 'शोक मनाने का सुख' लूटते हैं तब हरियाजी हरेक के मरते हुए सगे-सम्बन्धी का नर्क साफ़ करते हैं। ऐसे महान हरिया बिरादरी के लोगों के लिए 'परम मूढ़', 'सनीचर' 'बूढ्ढू' उपहास के पात्र हैं लेकिन वे नियम से पिताश्री का अटका मल निकालते हैं, 'सोशल विजिट' पर जाते हैं और क्लर्की भी निभाते हैं।

दूसरी विशेषता यह कि वे कभी हैरान परेशान नहीं होते। वे मुर्दा नहलाते वक़्त हैरान नहीं होते। सामने मरते व्यक्ति को देखकर परेशान नहीं होते। वे इस जगत प्रपंच को रहस्य नहीं समझते। वे उसकी परवाह तक नहीं करते। चालू क़िस्म का अपना समाज, अपनी बिरादरी जो उसे आनन्दपूर्वक भोगती है, उसे भी देख अचरज में नहीं पड़ते, जिज्ञासा नहीं करते। वे दुनिया के तमाम उन झमेलों (समस्याओं) से उदासीन हैं जो दुनिया को चकित करते रहते हैं। हैरानी हरिया के व्याकरण में बनती ही नहीं। धोखा, छल, कपट, पैसा-धेला किसी पर वे हैरान नहीं होते। एकदम उदासीन सम्प्रदाय के व्यक्ति। लेकिन जैसा कि बिरादरी के लोगों ने हेरान होकर तय कर दिया था कि वे 'पगलैट' हैं, 'मदुआ' हैं, 'रिटार्डेड' हैं। उन्हें नहीं मालूम उन्हें देख लोग हैरान होते हैं। (बहुत बाद में जब कहानी ख़त्म होने लगती है तभी मुरलीधर ज्यू ('हाफ़पैंट' आर. एस. एस. के रहे मुरली बाबू) लोगों से प्रार्थना करते हैं कि "जैसा तप, जैसा प्रायश्चित्त हरिया कक्का ने किया है किसी और ने किया बिरादरी में ? गांधीजी अपना पाख़ाना साफ़ करके महात्मा हो गये लेकिन कक्का तुम्हारे बीमारों की टट्टी-पेशाब-कफ़ साफ़ करके भी तुम्हारी नज़रों में 'गू' ही ठहरने वाले हैं क्या ? तुम आप तो मॉंचो सौंचने तक के लिये हाथ इस्तेमाल नहीं कर सकने वाले ठहरे, क्यों कहते हैं, टिश्यू पेपर चाहिए ठहरा और उस आदमी का तपोबल तुम्हारे पल्ले नहीं पड़ सकने वाला ठहरा जिसने बाबू का ही नहीं, तुममें से भी कितनों के ही रिश्तेदारों का अटका हुआ गू अपने हाथ से निकाल दिया।" (पृ. 102) यह भी हैरानी की बात ठहरी।

ऐसे हरिया के बोदे दिमाग़ में हैरानी का पहला बीज उस दिन पड़ता है जब वह देखता है पिता को नींद नहीं आती है, मल नहीं निकलता है, वे मल हाथ से

खींच कर निकालते हैं। (यह मल विकट रूप से ठोस था) उसी दिन हरिया अपने मौसेरे भाई पत्रकार धरणीधर पाण्डे (धारी) के बातून और किशोर बेटे से 'सोशल विजिट' पर मिलता है। अतुल 'टीवी बाद, का छोकरा है जो बहु-सूचित है, किसी बात पर 'चकित' होना छोड़ चुका है, ज्ञानी है। अतुल से वार्तालाप में शरीर-शास्त्र पर बात करते-करते, अचानक अतुल टिप्पणी करते हैं कि मनुष्य का शरीर भी मशीन ही है। फिर भी फ़र्क़ है। मशीन ठीक की जा सकती है, मशीन के पार्ट आसानी से मिल जाते हैं, शरीर के पार्ट अव्वल तो मिलते नहीं, फिर ठीक लगते नहीं। तब अतुल रायसैप के मल निष्कासन की सुनकर जिज्ञासा करता है कि ये बताइए, आदमी का शरीर मशीन की तरह पूरी तरह उसके वश में क्यों नहीं होता ? बापू के अंग उनका कहना क्यों नहीं मान रहे ? आपके बापू अपने शरीर में कहाँ स्थित हैं ? यहाँ तक भी हरिया हैरान नहीं होता है। तभी अतुल एटलस देखने लगता है और उस महान 'संज्ञा' को बोलता है जिसे सुनकर कभी हैरान न होने वाले हरियाजी हैरान होते हैं और जो इस कहानी की नींव बनती है :

अतुल बोला : 'गूमालिंग'। कुछ देर पहले 'गू' पर चर्चा चल रही थी, सो फिसलकर अतुल ने एटलस में 'गू' से शुरू होने वाला स्थान पकड़ लिया : "अभी हम लोग 'गू' की बात कर रहे थे और यह देखो पश्चिम आस्ट्रेलिया में एक जगह जिसका नाम है 'गूमालिंग'। पहली बार हरिया इस शब्द को सुन जिज्ञासु होते हैं, थोड़ा हैरान होते हैं। कहीं ऐसा शब्द भी हो सकता है ? जिज्ञासु चकित होना शुरू होते हैं कि क्या गूमालिंग में भी लोग रहते होंगे। गूमालिंग में ही क्यों रहते होंगे ? 'गू' से शुरू होने वाले स्थान् में ही क्यों ? अतुल बताता है कि वहाँ हमारे जैसे लोग रहते हैं (आधुनिकतावाद का सार्वभौमिक एकरूप कर दिया गया 'मानवतावाद' यही तो कहता है) अतुल मज़ाक़ में बताता है कि जैसे आप 'गू' निकालते हैं, वहाँ भी कोई निकालता होगा। लेकिन हरिया तो इस पर चकित-थकित रह जाते हैं कि क्या उनका 'डबल' सम्भव है ? जैसा आइने में दिखाई देता है। यहीं पहली बार जीवन में हैरानी प्रवेश करती है हरिया के। वह उनसे अलग नहीं।

यहीं से वह हैरानी भरा सवालों का अधिष्ठान-सवाल, तमाम दर्शनों का जनक सवाल हरिया के सीमित भेजे में मल की तरह अटक जाता है कि "क्या वह दूसरा सचमुच मेरे जैसा है ? वैसा जैसा मुझे आइने में दिखाई देनेवाला होता है ? क्या उसका डैडी मेरे बाबू जैसा होगा साक्षात् ?" (पृ. 27)

जानने की ऐसी दुर्दम्य इच्छा होती है हरिया को जीवन में पहली और अन्तिम बार कि अन्ततः वे गूमालिंग के एक जादुई बिम्ब में निकल जाते हैं और देखते हैं कि वही सब बिम्ब में हो रहा है जो वे देखते करते आये हैं। फिर अचानक वे सोचते हैं कि वे भी इस बिम्ब में घुस जायें और उस दूसरे को पुकारें जो कि हरिया ही है। (और उपन्यासिका के अन्त में हम यही ख़बर पाते हैं कि हरिया

उस बिम्ब में अन्ततः घुस ही गया।)

इसे व्यक्तित्व का विघटन या स्प्लिट पर्सनलिटी या आर. डी. लैंग जैसे न्यो फ्राइडियन का नया 'सीजोफ्रैनिक चित्त' कहा जा सकता है। इसे भारतीय दर्शनों का प्रिय बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद भी कहा जा सकता है लेकिन मनोहरश्याम जोशी इस धोखे को बनाते हुए मसख़री भाषा में दार्शनिक गम्भीरता को बार-बार तोड़कर निकलते जाते हैं। अतुल का गूमालिंग इत्तफ़ाक़ था, सो हरिया के अटका, फिर बन्नो का 'गू' को 'लिंग' कहना हरिया के लिए 'गूमालिंग' बनता जाता है और बढ़ती जाती है उसकी हैरानी। बन्नो, सुल्तान अहमद की बीबी तो बजाप्ता 'पगलैट' है। पगलेट से पगलैट चकित होता है यहाँ। बन्नो जो भूल चुकी है कि उसका पति कौन, वह स्वयं कौन है ?

यहाँ से कुछ फ्रायडियन दार्शनिक सवाल हरिया के दिमाग़ में आने लगते हैं कि क्या गूमालिंग विस्मृति से उपजा एक झूठ है ? यह जो अटके हुए मल के ज़रिए एक दूसरे में अटके हुए पिता-पुत्र का बिम्ब बार-बार उभरता है उसमें कौन-सा गूमालिंग है ? गूमालिंग क्या 'गू' का बना लिंग हुआ ? ऐसे लिंग को ही लोग क्यों पूजते होंगे जो पेशाब करने के लिए बना है और हगने की जगह के पास है ? (पृ. 3) से बच्चों को पैदा करनेवाले को किस बात का पूजना ठहरा ?

पुराने ढंग के रसपरिपाक में डूबे रहने वाले पाठ में इसे 'वीभत्स' 'शौचालय' का शुद्धाद्वैत कहा जा सकता है और तुलना के लिए इन्हीं दिनों प्रकाशित एक अन्य 'दुष्ट' कवि विष्णु खरे की मैला ढोने वालियों से सम्बन्धित कविता की उपमा दी जा सकती है लेकिन बन्नो सुल्तान अहमद या अतुल 'गूमालिंग' की क्रमिक उपसंरचनाएँ भर हैं। 'गू' यानी अटका हुआ मल। अटके मल से अतुल का एटलसी गूमालिंग फिर बन्नों का 'गू' गूमालिंग। शुद्ध शून्य से, हरिया के पगलैट मन से, एक दिन-रात के अटके हुए मल के 'बिम्ब' से धावित और दोलायमान हरिया जैसे 'पगलेट' का दिमाग़ असामान्य हो जाता है। यहीं से कथा बनती है। बिरादरी की कथा।

हरिया नपुंसक है। हरिया को कभी इस बात पर हैरानी नहीं हुई कि जब बाक़ी सारे मर्द औरतों में उत्ता रस लेते हैं तब मुझे जो उनमें कोई ख़ास बात जैसी क्यों नहीं नज़र आती होगी ? हेमुली बोज्यू नामक प्रौढ़ा जब उससे इश्क़ पेच-सा कुछ लड़ाती है तो भी हरिया आकर्षित नहीं होता। लेकिन अटके मल के अटक गए गूमालिंग से अटके लिंग में अटककर वह हैरान होना शुरू होता है कि 'योनि-लिंग' अगर मरने वाले प्राणी ही पैदा करनेवाले ठहरे तो इन्हें पूजा क्यों जाने वाला ठहरा ? (पृ. 35) ये तमाम सवाल अब उसे हैरान करते थे। हरिया सोचता है कि 'अगर भोगने वाला भी मौत द्वारा भोगा जाने वाला ठहरा आख़िर में, अगर यह भोग विलास की दुनिया निस्सार ठहरी तो उसे क्या पूजना जो क्या नाम कहते

हैं, भोग-विलास का ख़ास हथियार ठहरा ? (पृ. 36)

कहने की ज़रूरत नहीं कि यहीं से कहानी में हरिया विरादरी के लिए गुत्थी वन जाता है। विरादरी रोज़ शाम को खाना खाने के बाद पनवाड़ी की दूकान पर चर्चा करती है और हरिया को हर आदमी अपने हित, रुचि और विचार के अनुसार बढ़ाता-घटाता चलता है। इतने सारे उपबन्ध कथा में एक-दूसरे को काटते बनाते चलते हैं।

नीलाम्बर की थीसिस यह रही है कि हरिया का गूमालिंग उनके कमज़ोर दिमाग़ की बहक है, उनका इलाज होना है। वे बार-बार चैकअप कराते हैं लेकिन चैकअप उन्हें इतना पागल नहीं सिद्ध करते कि हास्पीटल में भरती हो जायें। हेमन्त नामक भतीजा ज़रूर चाहता है कि हरिया हस्पताल में डाला जाए ताकि वह गिरवाण के पिटार के माल को हज़म कर सके। मार्क्सवादी नीलाम्बर की कथा गणेशदत्त शास्त्री जैसे हिन्दूवादी की कथा एक-दूसरे को काटती चलती हैं। हरिया द्वारा 'मल पूजन' की जिज्ञासायें शास्त्रीजी के लिए मार्क्सवादी ढंग से व्याख्यायित नहीं की जा सकतीं।

नीलाम्बर के यहाँ मशीन वनाम मनुष्य, मल पूजा वनाम लिंग पूजा की उक्त बहस सुनते-सुनते पिता की तवियत ख़राब होने की ख़बर सुन कर मिर्गी आती है। यहीं से 'पिटार' का जन्म होता है।

फिर उस रात रायसैप मर जाते हैं। तब हरिया उनके पास नहीं होता है। कहानी में एक पाठ यह भी वनता चलता है कि हेमन्त ने पिटार के लालच में, हरिया को नींद की गोली दी और रायसैप के मुँह पर तकिया रख दिया। बहरहाल रायसैप मर गये हैं लेकिन पिटार की चाभी हेमन्त को नहीं मिलती है। वाद में हेमन्त को वहाने से दूर भगाकर रायसैप के लंगोट से हरिया को चावी मिलती है और साथ में मल का एक टुकड़ा। (पाठकजी ! यह मल का वही टुकड़ा है जो अटका रह गया था उस दिन हरिया की कहानी में)।

लेकिन जिस दिन हरिया को नीलाम्बर के यहाँ मिरगी का दौरा पड़ा, जिस दिन 'गू' और 'गूमालिंग' की गहन सैद्धान्तिक की चर्चा वहाँ हुई, जिस शाम हेमन्त ने उन्हें पिता के पास से अलग गोली देकर भेज दिया उस रात 'लेटे लेटे' हैरान होते हरिया ने पाया कि उन्होंने ऐसे ही फालतू सोच-विचार करके 'गूमालिंग' के वारे में जो अटकल लगाई थी, वह सच साबित हो रही थी। अन्यथा 'गूमालिंग' का नाम सुनकर रायसैप का चेहरा फक क्यों हुआ उस दिन ? उसी दिन रायसैप की मार्फ़त उसे ज्ञात हुआ कि गूमालिंग का शाप रायसैप को लगा है, सौ मौतें देखनी होंगी उन्हें। गूमालिंग मरने न देगा। सौ वियोग दिखायेगा। परिवार के सब उनके सामने मरे हैं। यह मदुआ भी मर जायेगा।

दूसरा गुट हेमुली का रहा। हेमुली ने पिरुली को बदला लेने वाली डाइन

बताया जो रायसैप के आख़िरी वीज को भी खा गई।

तीसरा संस्करण तीसरे गुट का रहा जिसमें कामरेड विदुषी कार्यकर्ती कौमुदी त्रिपाठी रहीं कि पिरुली कैंजाओं के ऐसे झूठ हेमुली के सचों से बेहतर हैं।

बिरादरी ने यहीं तपाक से कौमुदी-हेमन्त की टाँका भिड़न्त ठहराकर तीसरी उपकथा भी ख़त्म कर दी।

अब हुआ यह कि दिन बीते तो मुरलीधर ज्यू की कथा के वीभत्स तत्त्व ग़ायब होते गये। 'गूमालिंग' अपने राह दूसरे दार्शनिक अर्थ पाने लगा। आदिम साम्यवाद तक जा पहुँचा विश्वास। उधर गणेशजी के यहाँ वीभत्सता बढ़ती गई। 'गूमालिंग' का घटाटोप भी पिरुली का माना गया। उधर नीलाम्बर वीभत्स वादी कथा के हामी बने जबकि हेमन्त पिरुली का पक्षधर।

अन्त में मुरलीधर ज्यू हरिया की कथा को बिरादरी के भले से जोड़कर हरिया को 'तपोबल' से मुक्त करते हैं। (हम देखते हैं कि जितने व्यक्ति हैं बिरादरी में, उतने ही 'प्रमेय' हैं कथा के और उतनी ही सिद्धियाँ, उतने ही कथांत।)

टीवी वाद के इन दिनों में इसी तरह बिरादरी रोज़ हरिया कथा में बिजी रहती है और नये-नये पेंच लगाती रहती है। सारे कथावाचक सिरे से झूठे मक्कार साबित होते हैं। कहानी का दवाव यहाँ तक आता है कि बिरादरी के लोग जितना ही अनुमान-अनुसन्धान करते चले जाते हैं उतने ही तथ्य और सत्य उनके पास जमा होते जाते हैं। लेकिन उनके विषय में सत्यासत्य का निर्णय करना कठिन होता जाता है।

> (उत्तर-संरचनावाद के अन्तर्गत यही सत्य स्थापित होता है कि कहानी या भाषा का कोई सार्वभौम या सार्वकालिक या 'समग्र मूल्य' नहीं होता और कि जो अर्थ भी मिलता है, वह दूसरी कथा के 'भेद' से तय होता है।) हरिया की कथा के अन्तिम क्षणों में जब मनोहरिया बताते हैं कि बिरादरी ने उनसे कहा लिखने हरिया की कथा और जब टी. वी. आ चुका था, उसने हरेक के घर में नई-नई हैरानी परेशानी भेजनी शुरू कर दी थी। उन दिनों में हरिया की इस हैरानी वाली कथा में किसी की दिलचस्पी नहीं रह गई थी। टीवी के बाद के दिनों में कहानी बनाने वाले लोग ही नहीं बचे। तब बिरादरी के बचे-खुचे लोगों को चिन्ता हुई कि क्या बिरादरी के ख़त्म हो जाने के बाद कहानी भी ख़त्म हो जाएगी हरकुली की ? *(हरिया हरकुलीज की हैरानी' में* असल तोड़ यही है कि क्या इन दिनों भी हैरानी की कथा सम्भव है जब कैमरे ने और तर्कवाद ने लगभग हर हैरानी को 'तथ्य' और 'तर्क' में बदल दिया है)।

यहीं से जाति-बिरादरी जो हरिया की कथा की हर क़दम पर नई-नई व्याख्या करती आई है, कथा में एक आधार की तरह निकल आती है। यथार्थवादी सम्प्रदाय

का अमूर्त समाज नहीं, उत्तर-यथार्थवादी बिरादरी। यानी जाति। जाति के भीतर एक ख़ानदान, एक कुटुम्ब के परिजन। बिरादरी।

इसलिये, भूली जा चुकी बिरादरी के लिए हैरानी की कहानी निश्चित अन्त वाली और निश्चित नये तत्त्वों वाली सम्भव नहीं थी। जब आधुनिकता में डूबे लोगों ने चकित होना छोड़ दिया, जब रोज़मर्रा का मुहावरा बाज़ार की राजीली वस्तुओं में रूप पा गया हो तब हैरानी की कहानी अनन्त अन्त वाली, अन्त तक आरम्भ वाली होनी निश्चित है। यही इस कथा की अन्तर्पाठीयता और खुला-खुलापन है। यहाँ बिरादरी के जितने लोग हैं, उनके लिए हरिया की हर हरकत की व्याख्या-कथा अलग-अलग है। हर पंक्ति में नया श्लेष है। लोग दिनों तक हरिया की बुनावट को खोलते फिरेंगे।

कथान्त अतुल महान ज्ञानी के इस वाक्य से होता है कि 'बात सिर्फ़ इतनी ही है कि (1) मेरे एटलस में आस्ट्रेलिया के नक़्शे में गूमालिंग नामक जगह थी (2) रायसैप का मल आंत में और मल पलंग के नीचे रखे एक गिटार में अटका रहता था (3) हरिया कक्का के पास हरकुलीज साइकिल थी (4) बिरादरी अब उन्हें अधभूलते अधयाद करती रहती है (5) इसीलिए वे 'गू' और 'गूमालिंग' में खोने लगे हैं... ' (पृ. 127)

पोस्ट-मॉडर्निस्ट, अमरीका पलट, अतुल सिद्ध करता है कि आप लिखें चाहें न लिखें। जीयें या मर जायें, हरिया हरकुलीज की हैरानी की कहानी तब तक रहेगी जब तक हमारी बिरादरी रहेगी। क्योंकि हैरानी के बिना कहानी नहीं होती है और कहानी के बिना बिरादरी नहीं होती।

हरिया लिंग-योनिवादी बिरादरी की कहानी है। बिरादरी बिना हैरानी के जीवित नहीं रह सकती। सो जब-जब उसे हैरानी ज़रूरी होगी, वह हरिया की कथा कहेगी, कहानी कहेगी तो जीवित रहेगी नहीं तो मर जायेगी। समूची लोक कथाएँ जातीय कथाएँ इसी तरह बनती हैं और बनती रहेंगी।

> [मनोहरश्याम जोशी के हरिया की कथा में बिरादरी आई, बिरादरी के 'गू' से 'गूमालिंग' बना। फिर बिम्ब बना। अब गूमालिंग विचार बन गया। पाप बोध का, प्रायश्चित्त का विचार। बिरादरी का केन्द्रीय विचार। ऐसे पाठ में हरिया की असल समस्या नामर्दी है। बिरादरी में मर्द कथाएँ मर्दानगी—नामर्दी की दबे-सैक्स की कथाएँ होती हैं लिंग-योनि पूजक हिन्दू समाज के लिए हरिया एक सहज नपुंसक पगलैट है, और जीवन भर अपना गुम हुआ लिंग खोजता है। इसी खोज की कथा है यह। हरिया की कूट-लंपट-कथा। वह कूट भाषा में पढ़ी जा सकती है।]

यहाँ से कहानी गूमालिंग में प्रवेश कर जाती है। गूमालिंग जो एक मुक्ति का मिथ है। आस्ट्रेलिया में दिखने वाला गूमालिंग, उसमें बैठा दूसरा हरिया इस पहले

हरिया उर्फ़ हैरी की तरह है। गैरी स्वयं गिरवाण दत्त ही हैं। मल निकालते-निकालते जो बिम्ब हरिया के मन पर है वही आस्ट्रेलिया के हैरी में भी होगा। उसे भी शाप है जो यहाँ भी है। उसने गैरी की गर्दन मरोड़ने की सोची तो यहाँ हरिया ने भी सोची यानी सुनी। (हरिया हरकुलीज की हैरानी—हैरानी के रूप में हरिया के बेदम दिमाग़ में ही चलती रहती है)।

बहरहाल, दो-दो हरिया और दो-दो रायसैप के बिम्ब-प्रतिबिम्ब या 'स्प्लिट' में आकर भी हरिया फँसते नहीं। हरिया को विश्वास है कि हम बाप बेटा कई-कई समय में, कई-कई स्थानों में रहते हैं। दाढ़ी बनाने के सामने रखे शीशे में जो हरिया है, वह हरिया के गूमालिंग का ही हरिया लगता है। शीशा। छवि। एक बोदा दिमाग़ एक बिम्ब से कहाँ-कहाँ की कथा गढ़ लेता है ? कल्पना का स्वैराचार उत्तर आधुनिक कथा का एक बड़ा खेल है।

अब ज़रा ये प्रस्ताव देखें : हरिया हरामी के प्रस्ताव :

—मल प्राण है। मल निकला तो प्राण निकला। हरिया का पहला प्रस्ताव है।

—शीशा। वही गूमालिंग है। छवि देता है। बताता है कि छवि में जो दूसरा है वह भी हरिया है। हू-ब-हू। वैसा ही। सीजोफ्रेनिया है ? शुद्धाद्वैत है ? क्या है ?

—टी.वी. पूर्व के उन दिनों में शीशा ही छवि देता है, दूसरे के होने को बताता है। टी. वी. बाद के इन दिनों में बिरादरी पनवाड़ी के यहाँ गूमालिंग के ज़रिये, हरिया की कथा जीवित रखती है। क्या हरिया टी. वी. में मनोहरिया की तरह कूद गया है ? क्या टी. वी. से हरिया अपना गुमा हुआ लिंग खोज रहा है ? टी. वी. ने जैंडर बायस क्या तेज़ कर दिया है ? टी. वी. यानी शीशे ने !

—जिस तरह शीशे में झाँककर हरिया बर्बाद हुए, टी. वी. में झाँककर उस दूसरे को पाने वाले हम भी बर्बाद हैं, क्या ऐसा संकेत यहाँ है, टी. वी. में झाँकती बिरादरी हैरान होने के लिए क्या हरिया को फिर-फिर न बनायेगी ?

—विशेष यह कि हरिया शीशे में के दूसरे को सच मानता है। इसीलिये 'गूमालिंग' का अर्थ 'वह जो मेरे जैसा दूसरा' है ?, यह दूसरा क्या 'पाठक' है ? बिरादरी है ? लेखक है ?

बहरहाल ! हरिया कथा में फिर आगे बढ़ते हैं।

[ पिटार में कुछ पुराने फ़ोटो, नंग अधनंग, सहवास के चित्र। पिताश्री मैथुनरत दिखाते हैं। (ये चीज़ें हरिया के नपुंसक संसार को नये झटके देती हैं) गुमालिंग का रहस्य यहीं पूरी तरह खुलता है।

पिटार में निकलता है किन्हीं 'रिग्यांग चो' का पत्र जिसमें रायसैप को जंगल कटवाने से नाराज़ देवता (गूमालिंग) का श्राप कहा है। यही ज्ञात होता है

कि गिरवाणदत्त उसे चुराके लाये थे। यही अपराध हरिया को प्रायश्चित्त के लिए उकसाता है। हरिया तय करता है कि पिटार को गूमालिंग में देना है तभी मुक्ति मिलेगी शाप से।

कहते हैं कि इसके बाद हरिया ने बुढ़िया हेमुली बोज्यू से कामसुख के बारे में विस्तार से प्रश्न किये (यह भी बिरादरी में प्रमाण रहित सत्य था) हेमुली से पिरुली कैंजा नामक प्रौढ़ा सुन्दरी का पता चलाया जो रायसैप के चित्रों में नंगी थी। इस दौर में हरिया का शरीर चिन्तन बढ़ा। डॉक्टर ने इसे ट्यूमर बताया। (हरिया ट्यूमर से नहीं डरा। उसने प्रश्न किया जब मैं नहीं पगला रहा तब मेरे दिमाग़ के कोश क्यों पगला गये। पगलाए कोशों से भी एक पगला प्रश्न करे तो किसके कोश पगलाये हैं ?)

हरिया की इस पर्सनैलिटी में जिज्ञासा बढ़ती तो बढ़ती गई। शरीर चिन्तन से वह दर्शन तक पहुँचे और सोचने लगे कि 'जब मेरे भीतर कई' में हो सकते हैं तो बाहर क्यों नहीं हो सकते ? गुमालिंग में क्यों नहीं हो सकते। यहीं (पृ. 61) पर स्पष्ट होता है कि गूमालिंग हरिया का दूसरा लोक है। शीशे की तरह। बिम्ब की तरह। यह रहा सीजोफ्रेनिक विघटन का भूमण्डलीकरण। यह धरती है जो स्प्लिट दिखती है महान हरियाजी को ! अचानक कितना बड़ा सच।

गूमालिंग की खोज आगे बढ़ती है। अतुल पत्र लिखाता है। हरिया लिखता जाता है। इसी क्रम में पिरुली कैंजा आती है दृश्य में। गूमालिंग की ज्ञाता होकर (बिरादरी फिर भी कहती है कि मामला पिटार का है) पिरुली-गिरवाण प्रसंग खुलता है, पिता के कुकर्मों का पिटारा खुलता जाता है।

(पिरुली के आगमन से यथार्थवाद का पुट आता है कथा में। गिरवाण दत्त जी का कामुक भ्रष्ट पाखण्डी जीवन खुलता जाता है। हरिया उसी मूढ़ भाव से सुनता जाता है लेकिन बिरादरी नहीं मानती। हेमुली नहीं मानती। मुरलीधर नहीं मानते पिरुली का यथार्थवाद, दामोदर मामा नहीं मानते, हेमुली को भी धकियाते हैं सूरज जैसे प्रतापी रायसैप पर कीचड़ उछालती है।)

(जब हरिया गूमालिंग की खोज में निकलता है तो एक क्षेपक एक अंग्रेज़ रिपोर्टर का भी आता है जो हरिया को एक रिजेक्टेड कहानी चार सौ रुपये में बेच जाता है जिसमें वह गूमालिंग का और हिमाचल के कुछ स्थानों का जिक्र कर देता है।)

(यह व्यक्ति हैरी स्मिथ प्योर गप्पख़ोर है ऐसा कहानी के बाद में ज्ञात होता है उसकी कहानी में वही जंगल का क़िस्सा था हरमौर का जिन्हें कटवाया था राय सैप ने। इसी कथा में गूमालिंग 'परममिथ' बनता है। गूमालिंग देवता है। उसे जो जान जाता है वह जाता है 'यानी जिज्ञासा जानलेवा ही हो सकती है।' (पृ. 78-79)।

(अधिकतर ज्ञानीजन परेशान हो सकते हैं कि हरिया के खोपड़े में जब इन प्रश्नों को जगह नहीं तो आते क्यों है ? बिरादरी से बाहर, राष्ट्रवादी, अन्तर्राष्ट्रवादी विचारों से लैस आधुनिकता के ज्ञानदम्भ में पगे लोगों को ट्यूमर के मारे हरिया पगलैट और यह कथा एक प्रलाप लगे तो मनोहरिया को आश्चर्य उसी तरह नहीं होना चाहिए जिस तरह हरिया को नहीं होता।)

हैरी स्मिथ नामक महाझूठे और महासच्चे पियक्कड़ पत्रकार के उसी झूठे सच्चे दस्तावेज़ में 'गूमालिंग' का अर्थ दिया है कि इसका अर्थ है 'मैं ही वह दूसरा' है। यह छाया की तरह है। छायाएँ होती हैं इस जगत में। इस जगत की। इसीलिये परछाई नहीं देखते लोग, देखते हैं तो मर जाते हैं। इसीलिए शीशा नहीं देखते। शीशा देखते ही आदमी ख़तम।

(साहित्य जिन्होंने समाज का दर्पण मान रखा है, गूमालिंग के इस अर्थ के अनुसार जो साहित्य में अपनी छाया खोजते रहते हैं, यथार्थवादी स्कूल की तरह मृत्यु को प्राप्त होते हैं। हरिया हरकुलीज इतना भयावह उत्तर-यथार्थवादी कथाकार ठहरा। हरिया की यह कथा साहित्य की कई यथार्थवादी दुकानों को, पोज़िटिविस्ट सम्प्रदायों को ध्वस्त करती हुई आगे निकल जाती है।)

हैरी स्मिथ की इस 'गप्प' को नीलाम्बर-हेमन्त नहीं मानते। हेमन्त तो गुमा-हूमालिंग को हरिया की हेमुली-पिरुली की शुद्ध बदमाशी मानता है। असल मामला प्रापर्टी के पिटार का ठहरा। हरिया पिरुली के साथ चल देता है पिटार लेकर गूमालिंग की खोज में।

शोध और नक़्शों के सारे मानक ध्वस्त करते हुए एक दिन बिरादरी में पिरुली लौटती है चार महीने बाद। अकेली। यह कहानी उसी के द्वारा बताई जाती है। सुनने वाली बिरादरी होती है। बिरादरी जैसा कि आरम्भ से सभी को कुछ झूठा—कुछ सच्चा या सच्चा या झूठा मानती आयी है, इस बार भी पिरुली की कथा को सच्चा यानी झूठा कहती है। पिरुली कह चुकी है हरिया कहीं मर-खप गया। यानी बिम्ब में समा गया। वह बचते-बचाते कथा सुनाने पहुँची है।

पिरुली सूत्र में बताती है बिरादरी को कि जो हरिया गया था, वह लौटा नहीं ? बिरादरी की जिज्ञासा शान्त करने के लिए वह कहती कि 'सारी बात' समझाऊँ तो समझ में आयेगा। शुरू से शुरू करती है वह (वही आधुनिक कथावाचक का समग्रता वाद। टोटेलिटी जिसके बिना कुछ भी समझ नहीं आता, ऐसा कहा जाता है।)

पिरुली हरिया-लोप की कथा सुनाती जाती है। बीच-बीच में फ़लसफ़े भी देती जाती है। बिरादरी को फ़लसफ़ा अच्छा नहीं लगता। पहली बात

वह बताती है कि हरिया की मूलचिन्ता 'उस दूसरे' के होने और मनुष्यों की याददाश्त को लेकर थी जो अटक जाये तो आदमी दुख भोगता है। पिटार तो वह गूमालिंग को देना चाहता है। रास्ते में जितने लोग मिलते हैं, एक से एक बदमाश हैं। सब पिटार चाहते हैं। अन्त में पिटार को रायसैप द्वारा भोगी हुई रानी की बेटी ले जाती है। यही हरिया 'आइने के पार' चला जाता है। वह ख़ाली पिटार लेकर वापस आ गई। (क्या यह कथा-पूँजी, काम-कुण्ठा और मनोविक्षेप का पेम्टीच है ? ज्ञानी जन सोचेंगे।)

बिरादरी और पिरुलीकृत इस कथा के जवाब हरकुलीज की जान हैं। बिरादरी वाले पिरुली की कहानी ग़लत मानते हैं। टी. वी. पूर्व ज़माने में बिरादरी के लोग कैंजा की कथा में कमज़ोरिया ढूँढ़ते रहते। (पृ. 108) उन्हीं दिनों फिर बिरादरी के कुछ सरकारी अफ़सरों ने हरिया कथा की खोज कराई। कथा के कई संस्करण बने।

हर संस्करण पहले को असत्य सिद्ध करता था। प्रेमकुमारी की कथा को लामा नाक्यांग काटता था, उसकी कथा को लामा पाछेन। इस सबसे पिरुली की कथा कटती थी। बिरादरी में हरिया को लेकर अनेक परस्पर विरुद्ध कथाओं पर विश्वास करने लगे। धीरे-धीरे ध्रुवीकरण होने लगा। कुछ लोग पिरुली का पक्ष लेने लगे, कुछ उसे पिटार की लुटेरी मानने लगे। जिन्हें माल चाहिए था वे कैंजा की कथा के साथ थे (हेमुली और हेमन्त दोनों)। उधर बिरादरी की मूल महानता को खोजने वाले कहते कि देखो तो हमारे परम मूढ़ मदुए तक सिद्ध पुरुष निकलते हैं। (पृ. 113)

पिरुली-कथा का सबसे बड़ा दंड संशयात्माओं को झेलना पड़ा। वे तीन उपकथाओं में बँट गये। पहला वैज्ञानिक गुट था नीलाम्बर धारी का। इनके लिए पिरुली की कथा विज्ञान-सम्मत तर्क सम्मत नहीं थी। लेकिन बिरादरी पूछती थी कि बिरादरी के लोग जो अचानक मिनिस्टर मन्त्री बन रहे थे इसमें हरिया का ही पुण्य है।

संशयात्मा हरिया हरकुलीज की इस अनन्त रूपाकार वाली, अनन्त पाठवाली कथा से भी कष्ट पायेंगे। लेकिन यह स्थिति हरिया को 'हैरान' नहीं करेगी क्योंकि ऐसे पाठक यथार्थ में अटके हुए जो होंगे।

मनोहरश्याम जोशी ने हरिया से एक साथ कई खेल कर दिए हैं।

—उन्होंने कथा के भोलेपन का अन्त कर दिया है। (यही बोद्रीआ की 'छलना' है, कथा की छलना)।

—उन्होंने ज्ञान-अज्ञान के कथित भेद को हरिया के ज़रिये मिटा दिया है।

—उन्होंने पूँजी (पिटार), काम (लिंग, गूमालिंग) और विभक्त-अविभक्त चित्र के भेद मिटा दिये हैं।

—उन्होंने कहानी, हैरानी और बिरादरी के भेद मिटा दिये हैं

—उन्होंने कहानी को 'पाट' में बदल दिया है और जता दिया है कि पाठ के बाहर कहानी नहीं होती। कूट-भाषा का पाठ !

—उन्होंने विमर्श की भाषा को वृत्तान्त की भाषा बना दिया है, वृत्तान्त को विमर्श। सारी कहानी बातचीत की भाषा में, चलती है, एक बिरादरी की बिरादरियत की हिफ़ाजत के साथ।

—हर पाठक अपना पाठ पा सकता है कहानी में। 'गू' का कीड़ा 'गू' का पाठ करेगा। बिम्ब का कीड़ा बिम्ब का; पिटार का कीड़ा पिटार का, काम का कीड़ा काम का।

—हरिया ने कहानी की प्रचलित नई समीक्षा को हिन्दी के अटके हुए मल की तरह अटका हुआ सिद्ध कर दिया है।

—इसीलिये हे पाठक यह समीक्षा नहीं, हरिया के गूमालिंग का रेचक पाठ भर है। जो इसे समीक्षा बनाये सो हरिया की मुक्त सेवा प्राप्त करे।

—अन्त में ! हरिया गुरु यानी मनोहरिया गुरु साहित्यकारों की उपलब्ध बिरादरी को हमेशा ऐसी कहानी देते रहेंगे क्योंकि बिरादरी है तो हैरानी है, हैरानी है तो कहानी है। इसका दूसरा भी सच है कि हैरानी है तो कहानी है, कहानी है तो बिरादरी है।

हैरानी यह है कि टी. वी. के इन दिनों में साहित्यकारों की बिरादरी हैरान होना भूल चुकी है। इसलिए हरियाजी थोड़ा-बहुत हैरान करने आये हैं—अपने गूमालिंग के साथ। सुंगधि पसंद लोग, पाँच सितारा लोग, पण्डे पवित्रता वादी इसे पढ़ेंगे तो अटक जायेंगे, वहीं। सो न पढ़ें यह उनके लिये नहीं है। लिंग-योनि पूजक बिरादरी का यह कथा प्रपंच दस-फ़ीसदी ही कहता है, नब्बे फ़ीसदी पढ़नेवाले पर छोड़ता है, जो जैसा अर्थ लगा ले, यही इसकी छलनात्मक शैली है। यह छलना कूट भाषा के ज़रिए पैदा की गई है। यहीं हिन्दी का वयस्क तत्त्व बनता है।

---